हिन्दी साहित्य
का
आलोचनात्मक इतिहास

[संवत् ७५०—१७५०]

लेखक
डा० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद

चतुर्थ संस्करण]   १९५८   [मूल्य १०)

निवेदन

हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं। उनमें कवियों का विवरण और प्रवृत्तियों का निरूपण स्पष्टता के साथ पाया जा सकता है। किन्तु इधर साहित्य के इतिहास में कई नवीन अन्वेषण हुए हैं। इतिहास लिखने के दृष्टिकोण और शैली में भी नूतन वैज्ञानिक उत्क्रान्ति हुई है। अतः हिन्दी का इतिहास-लेखन अभी पूर्ण नहीं है।

इतिहास-लेखन बहुत कठिन कार्य है। वैज्ञानिक विवेचन की गंभीरता के साथ-साथ इतिहास-लेखक का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। इन दोनों बातों के लिए इतिहास-लेखक को तैयार रहना चाहिए। फिर हिन्दी साहित्य का इतिहास तो बहुत विस्तृत और व्यापक है। वास्तव में इस साहित्य में जितनी जटिलताएँ और गुत्थियाँ हैं, शायद भारतीय साहित्य के किसी इतिहास में न पाई जावेंगी, क्योंकि हिंदी भाषा और साहित्य का विस्तार बहुत प्राचीन काल से अखिल भारतीय रूप में बिखरा हुआ है। अभी तो समुचित रूप से उसकी खोज ही नहीं हो पाई है। खोज की बात तो अलग है—मुझे तो ऐसा लगता है कि बहुत-सी सामग्री जो प्रत्यक्ष फैली पड़ी है, उसका इतिहास-ग्रन्थों में अभी तक उल्लेख भी नहीं हो सका। इतिहास लिखने में वैज्ञानिक काल-क्रम और विकास-क्रम की तो बात ही दूर है।

पूज्य डा० धीरेन्द्र वर्मा, (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग) के डी० लिट्० के संबन्ध में पेरिस जाने पर मुझे बी० ए० के विद्यार्थियों को इतिहास पढ़ाने का अवसर मिला। मेरे हृदय में उसी समय से इतिहास-लेखन की इच्छा उत्पन्न हुई, जिसकी पूर्ति के लिए मैंने परिश्रम करना आरम्भ किया। उस दिशा में इधर कुछ वर्षों के परिश्रम का फल आपके सामने है। साहित्य का इतिहास आलोचनात्मक शैली से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। अतः ऐतिहासिक सामग्री के साथ कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों की आलोचना करना मेरा दृष्टिकोण है। मैंने साहित्य की संस्कृति का आदर्श सुरक्षित रखते हुए पश्चिम की आलोचना-शैली को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। अभी तक की उपलब्ध सामग्री का उपयोग भी मैंने स्वतन्त्रता-पूर्वक किया है। मैं इतिहास-लेखक के उत्तरदायित्व का निर्वाह कहाँ तक कर सका

हूँ, यह आपके निर्णय की बात है। नामानुक्रमणिका तैयार करने में मुझे अपने विद्यार्थी श्री उत्तमचन्द्र श्रीवास्तव एम० ए० और श्री रामप्रसाद नायक बी० ए० (आनर्स) से विशेष सहायता मिली है।

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय
३१ मार्च १९३८

रामकुमार वर्मा

दूसरे संस्करण की भूमिका

ी के विद्वानों और विद्यार्थियों के समक्ष क्षमा प्रार्थी हूँ कि अब तक इस इतिहास का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत नहीं किया जा सका। कुछ तो मेरी अपनी उलझनें थीं और कुछ कागज और प्रेस की कठिनाइयां रहीं जिनके कारण इस संस्करण के प्रकाशन में विलम्ब हुआ।

मैं हिन्दी संसार के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ जिसने मेरे इतिहास को इतना अधिक आदर दिया है। विद्वानों ने उसे यूनीवर्सिटियों के पाठ्य-क्रम में निर्धारित किया है और सभी ऊँची श्रेणी के विद्यार्थियों ने उसे अपना प्रिय ग्रंथ माना है। इन्हें किन शब्दों में धन्यवाद दूँ! मैं प्रयत्न करूँगा कि शीघ्र ही इस ग्रंथ का उत्तरार्ध लिख कर उनकी सेवा में भेंट कर सकूँ।

इस संस्करण के प्रारंभिक प्रकरणों में मैंने कुछ नवीन सामग्री दे दी है जो विस्तार-भय से प्रथम संस्करण में नहीं दी जा सकी थी, क्योंकि तब मेरे मन में एक ही जिल्द में संपूर्ण इतिहास लिखने की इच्छा थी। जब इस जिल्द में इतिहास संवत् १७५० तक ही है तब मैंने रोकी हुई सामग्री भी इसमें जोड़ दी है। आशा है, उस सामग्री से विषय को समझने में और भी सुविधा होगी।

पहले संस्करण में शीघ्रता के कारण कुछ भूलें रह गई थीं जिन्हें इस संस्करण में दूर करने का प्रयत्न किया गया है। संभव है, इस संस्करण में भी कुछ भूलें रह गई हों, क्योंकि पुस्तक लगभग डेढ़ वर्ष में छपी है और मैं एकबारगी समस्त पुस्तक के प्रूफ नहीं देख सका। मुझे आशा है कि जिस प्रकार पहले संस्करण में हिंदी के विद्वानों ने मुझे सुझाव दिये थे, उसी प्रकार इस संस्करण में भी मैं उनसे वंचित नहीं रहूँगा।

इस वर्ष हमने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है और अब हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। मैं तो हिंदी के विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ कि व समस्त प्रतिबंधों से मुक्त होकर अपनी राष्ट्रभाषा के इतिहास को नवीन अन्वेषणों के प्रकाश में लिखने की

चेष्टा करें जिससे हमारी संस्कृति और साहित्य का पारस्परिक संबंध सहज ही स्पष्ट हो जावे ।

इस संस्करण की नामानुक्रमणिका मेरे प्रिय शिष्य श्री जयराम मिश्र एम० ए० ने तैयार की है । धन्यवाद देकर में उन्हें कष्ट नहीं पहुँचाना चाहता ।

साकेत, प्रयाग
दीपावली १९४७

रामकुमार वर्मा

तीसरे संस्करण पर कुछ शब्द

वटवृक्ष की विविध जटाओं की भाँति हिन्दी साहित्य के इतिहास के विविध रूप पिछले कुछ वर्षों में निर्मित हुए हैं । इसका कारण यही है कि विविध विद्वानों ने साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को अपनी विशेष दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया और साहित्य की विविध प्रवृत्तियों का मूल्यांकन नई शैली से हुआ है । साहित्य के इतिहास लेखन में यह प्रयास प्रशंसनीय है ।

वस्तुतः साहित्य और संस्कृति एक ही वृन्त के दो फूल हैं और उनका पोषण एक ही रस से होता है । देश के स्वतंत्र हो जाने के उपरान्त हमारे सांस्कृतिक जागरण ने साहित्य का महत्त्व बढ़ा दिया है और इतिहास-लेखन की आवश्यकता और भी महत्त्व धारण कर रही है । हमें तो यह भी देखना है कि हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने के बाद अन्य प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का पहले क्या सम्बन्ध रहा है और भविष्य में क्या हो सकता है । इस दृष्टि से विद्यापति, मीराँ, नामदेव, तुकाराम तथा संत साहित्य के नानक और बुल्लेशाह की हिन्दी रचनाओं का महत्त्व क्या है ? अन्य प्रान्तीय भाषाओं और साहित्यों ने हिन्दी को किस रूप में समृद्धिशाली बनाया है यह भी इतिहास लेखकों का दृष्टिकोण होना आवश्यक है ।

मैं समझता हूँ कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के स्वरूप निर्धारण में उपर्युक्त कवियों के जो प्रयोग हैं उनका विश्लेषण फिर से एक बार होना चाहिए। इस प्रकार की संभावनाएँ अपने इतिहास में मैंने आरम्भ से ही रखने का प्रयत्न किया है। मैं इस तथ्य की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ ।

विद्वानों और विद्यार्थियों ने समान रूप से मेरे इतिहास को मान्यता प्रदान की है । मैं इसके लिए आभारी हूँ । उन्हीं की प्रेरणा का यह फल है कि इसका तीसरा संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है । मैं लज्जित हूँ कि इसका उत्तरार्द्ध अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका, यद्यपि प्रकाशक महोदय ने इस सम्बन्ध में अनेक बार अनुरोध और आग्रह किया है । मैं दूसरे भाग की सामग्री अधिकांश रूप में संकलित कर चुका हूँ । विशेषकर आधुनिक काल की जिन प्रवृत्तियों में मेरा विकास और

पोषण हुआ है वे तो मेरे अपने अनुभव में प्रत्यक्ष ही हैं। कठिनाई केवल समुचित अवकाश की ही रही है। यदि मेरे प्रिय शिष्य और रिसर्च स्कालर प्रह्लाद दास अग्रवाल ने लेखन कार्य में मुझे सहायता दी तो मुझे आशा ही नहीं विश्वास है कि आगामी छः महीने में यह इतिहास पूर्ण हो जायगा। तब तक के लिए मैं अपने मान्य विद्वानों और विद्यार्थियों से धैर्य्य रखने की प्रार्थना करूँगा।

इस संस्करण में प्रकाशक महोदय ने विशेष सुरुचि और सावधानी का परिचय दिया है अब तो विदेशों में भी इस पुस्तक की माँग हो रही है। विदेश की सुरुचि को ध्यान में रखते हुए भी प्रकाशक महोदय ने इस पुस्तक का नवीन संस्करण प्रस्तुत किया है जिसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। पुस्तक की नामानुक्रमणिका मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव रिसर्च स्कालर ने अत्यंत परिश्रम से तैयार की है।

आशा है कि इस संस्करण से सबको संतोष होगा।

साकेत,
प्रयाग
१९५४
का प्रथम दिन

रामकुमार वर्मा

चौथे संस्करण पर कुछ शब्द

आपके समक्ष "हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास" का चतुर्थ संस्करण रखते हुये मुझे प्रसन्नता हो रही है, इधर रूस-प्रवास के कारण मेरा अधिकांश समय विदेशों में हिन्दी-प्रचार में लगा हुआ है। मैं यह नहीं कह सकता कि भविष्य में मेरी सेवाओं का क्या मूल्य होगा परन्तु यह कार्य्य बहुत बड़े उत्तर-दायित्व का है। ऐसी परिस्थिति में समयाभाव के कारण बहुत चाहते हुये भी नवीनतम सामग्री का समावेश मैं इस इतिहास में नहीं कर सका।

मेरे प्रिय शिष्य प्रह्लाद दास ने यह राय दी कि इस संस्करण को ऐसी परिस्थिति में इसी प्रकार प्रकाशित कर दिया जाय। अतएव प्रस्तुत संस्करण उसी रूप में आपके समक्ष है। भविष्य के लिये जो मेरे वचन हैं, और मित्रों ने जो आग्रह किया है, उसको मैं अवकाश पाते ही पूर्ण करूँगा। मुझे विश्वास है कि इसका परिवर्द्धित संस्करण और हिन्दी साहित्य के "रीति-काल" एवं "आधुनिक काल" का आलोचनात्मक इतिहास मैं शीघ्र ही प्रस्तुत करूँगा।

मास्को इंस्टीट्यूट
ऑफ इंटरनेशनल
रिलेशन, मास्को
२०-५-५८

रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

———

हिन्दी साहित्य
का
आलोचनात्मक इतिहास

—:×:—

विषय-प्रवेश

इतिहास

किसी निर्जन वन-प्रदेश की शैवलिनी की भाँति हिन्दी साहित्य की धारा अबाध रूप से तो अवश्य प्रवाहित होती रही, किन्तु उसके उद्‌गम और विस्तार पर आद्यन्त और विस्तृत दृष्टि डालने का प्रयास बहुत दिनों तक नहीं हुआ। अपभ्रंश-भग्नावशेषों को लेकर हिन्दी के निर्माणकाल के समय (लगभग सं० ७००) से विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी साहित्य का इतिहास बिखरी हुई रत्न-राशि के समान पड़ा रहा; उसके संग्रह करने का प्रयास किसी के द्वारा नहीं हुआ। किसी काल-विशेष के कवि द्वारा किये गये अपने पूर्ववर्ती कवि अथवा भक्त के विषय में उल्लेख अवश्य मिलते हैं, पर वे व्यष्टि रूप से हैं, समष्टि रूप से नहीं। जायसी द्वारा अपने पूर्ववर्ती प्रेम-काव्य के कवियों का उल्लेख, नाभादास द्वारा 'भक्तमाल' में भक्तों और कवियों का विवरण, गोकुलनाथ द्वारा 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में पुष्टि-मार्ग में दीक्षित वैष्णवों का जीवन-चरित्र, कुछ लेखकों द्वारा अनेक कवियों की नामावली और काव्य-संग्रह आदि हमें अवश्य प्राप्त हैं, पर इन्हें हम इतिहास नहीं कह सकते। फिर इन कवियों का निर्देश धर्म की भावना को लेकर किया गया है, व्यक्तित्व अथवा कवित्व को ध्यान में रख कर नहीं। इनमें साहित्य की प्रगति और विचारों की प्रवृत्ति का भी विवरण नहीं है। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने क्रमशः स्वरचित 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' में हिन्दी-गद्य के स्वरूप का निर्देश करते हुए अपनी पुस्तकों के लिखाने का श्रेय फोर्ट विलियम कालेज के प्रिंसिपल जॉन गिलक्राइस्ट को दिया है। हमें उससे तत्कालीन गद्य की एक विशेष

परिस्थिति अवश्य ज्ञात होती है, इतिहास नहीं। राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द ने भाषा के इतिहास पर एक निबन्ध लिखा था, पर साहित्य के इतिहास पर नहीं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की क्रमागत प्रवृत्तियों, विचार-धाराओं और कवि-विवरणों का इतिहास विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी तक नहीं मिलता।

इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी

कवि के नामों का सबसे पहला संग्रह, जो इतिहास के रूप का आभासमात्र है, फ्रेंच साहित्य में गार्सें द तासी-लिखित 'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐंदूई ऐं ऐंदुस्तानी' है। यह ग्रन्थ ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड की प्राच्य साहित्य-अनुवादक समिति की ओर से पेरिस में मुद्रित किया गया। ग्रन्थकार ने महारानी विक्टोरिया को सुल्ताना रजिया के समान योग्य शासिका मानते हुए उन्हीं को यह ग्रन्थ समर्पित किया। इसका प्रथम संस्करण दो भागों में प्रकाशित हुआ। प्रथम भाग संवत् १८९६ (सन् १८३९) में तथा दूसरा भाग संवत् १९०३ (सन् १८४६) में प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण में इस ग्रन्थ के तीन भाग हो गए, जिनका प्रकाशन सं० १९२८ (सन् १८७१) में हुआ। इसमें अँग्रेजी-वर्णक्रम से हिन्दी और उर्दू के कवियों एवं कवयित्रियों का विवरण दिया गया है। पहले उनकी जीवनी है, फिर उनके ग्रन्थों का नाम-निर्देश। ये तीनों भाग १८३४ पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। प्रारम्भ में १४ पृष्ठों की भूमिका है। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में विचार प्रकट किए गए हैं। ग्रन्थकार ने हिन्दी भाषा के अन्तर्गत उर्दू को भी सम्मिलित किया है, जो वास्तव में भाषा की दृष्टि से उचित है। हिन्दी के इस व्यापक अर्थ ने ग्रन्थकार को उर्दू-कवियों की साहित्य-साधना और उनके ग्रन्थोल्लेख का भी अवसर दिया है। इसीलिए ग्रन्थ के आधे से अधिक पृष्ठ उर्दू-कवियों के विवरण में ही लिखे गए हैं। भाषा फ्रेंच है। दुर्भाग्य से इसका अनुवाद अँग्रेजी या किसी भारतीय भाषा में नहीं हुआ। फलतः इसकी सामग्री का उपयोग भारतीय साहित्य के इतिहास-लेखकों द्वारा नहीं हो सका। इसमें हमें एक स्थान पर हिन्दी के प्रधान कवियों की जीवनियाँ तथा काव्य-ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं, यद्यपि इस ग्रन्थ में साहित्य की प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं है। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि हिन्दी साहित्य का प्रथम विवरण हिन्दी-लेखकों द्वारा न लिखा जाकर विदेशी साहित्य में किसी विदेशी द्वारा लिखा जाये। विदेशी भाषा में लिखे जाने पर भी इस ग्रन्थ का महत्त्व है। यह हिन्दी का सबसे प्राचीन विवरण होने के कारण विद्वानों और इतिहास-लेखकों के लिए साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही विशेषताएँ रखता है। हिन्दी में इसका अनुवाद होना बहुत आवश्यक है। महाकवि चन्द से सम्बन्ध रखने वाले अवतरण का अनुवाद डा० उदय नारायण तिवारी ने ज्येष्ठ संवत् १९९३ की 'सुधा' मासिक पत्रिका में किया था।

हिन्दी साहित्य के इतिहास से संबंध रखने वाला दूसरा ग्रन्थ अवश्य हिन्दी में लिखा गया और वह श्री महेशदत्त शुक्ल द्वारा संग्रहीत

भाषा-काव्य-संग्रह

'भाषा-काव्य-संग्रह' है। इसमें संग्रहकर्त्ता ने पहले कुछ प्राचीन कविताएँ-संग्रह की हैं, फिर उन्हीं कवियों का जीवन-चरित्र तथा समय आदि संक्षेप में दिया है। अन्त में कठिन शब्दों का कोष भी है[१]। यह नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से संवत् १९३० में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह के बाद दूसरा संग्रह शिवसिंह सेंगर[२] द्वारा लिखित 'शिवसिंह सरोज' है, जिसका रचना-काल सं० १९४० है। इसमें भी कवियों का विवरण और उनका काव्य-संग्रह है, किन्तु इसमें तासी के ग्रन्थ की अपेक्षा कवियों की संख्या में अधिक

शिवसिंह सरोज

वृद्धि हो गई है। तासी के ग्रन्थ में हिन्दी-कवियों की संख्या ७० से कुछ ऊपर है और 'सरोज' में 'भाषा-कवियों' की संख्या "उनके जीवन-चरित्र और उनकी कविताओं के उदाहरणों' के सहित 'एक सहस्र' हो गई है। 'सरोज' के आधार पर संवत् १९४६ में सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने 'मार्डन वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव् हिन्दोस्तान' लिखा। इसमें शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से यही विशेषता है कि साहित्य के काल-विभाग के साथ

मार्डन वरनाक्यूलर लिट्रेचर आव् हिन्दोस्तान

समय-समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन साहब का ग्रन्थ 'सरोज' की सामग्री से ही बनाया गया है, किन्तु यह उससे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक शैली में लिखा गया है। इसमें कवियों की संख्या ९५२ है।

संवत् १९६६ और १९७१ में बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' के दो भाग प्रकाशित हुए। इनमें

हिन्दी कोविद रत्नमाला

८० आधुनिक लेखकों के जीवन-चरित्र, उनकी कृतियों के निर्देश के साथ दिये गये हैं। इन जीवनियों में इतिहास का कोई सूत्र नहीं है, केवल लेखक-विशेष का साहित्यिक महत्त्व अवश्य बतला दिया गया है।

इतिहास का इतिवृत्तात्मक लेखन सब से प्रथम मिश्रबन्धुओं के 'विनोद' में पाया जाता है। 'विनोद' चार भागों में लिखा गया है,

मिश्रबन्धु विनोद

जिसके प्रथम तीन भाग सं० १९७० में प्रकाशित हुए थे और चतुर्थ भाग, जो साहित्य के वर्त्तमान काल से संबन्ध रखता है, सं० १९९१ में प्रकाशित हुआ। अतः मिश्रबन्धुओं ने साहित्य का अध्ययन कर लगभग

---

१ बाबू राधाकृष्णदास—ना० प्र० पत्रिका भाग ५, पृष्ठ १, संवत् १९०१

२ शिवसिंह सेंगर का जन्म संवत् १८२१ में हुआ था।

२२५० पृष्ठों में अपना 'विनोद' लिखा है। इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। अनेक कवि जो अज्ञात थे प्रकाश में लाए गए हैं और उनके साहित्यिक महत्त्व का मूल्य आँका गया है। कवियों की श्रेणियाँ बनाई गई हैं और उन श्रेणियों में कवियों का वर्गीकरण किया गया है। विनोद के चारों भागों में ४५९१ कवियों का वर्णन है, किन्तु बीच में अन्य कवियों का पता मिलने पर उनके नम्बर "बटे से कर दिए गए हैं।" इस प्रकार 'मिश्रबन्धु विनोद' में ५००० से अधिक कवियों का विवरण मिलता है। यद्यपि कवियों के काव्य की समीक्षा प्राचीन काल के आदर्शों के आधार पर की गई है, पर उनकी विवेचना में हम आधुनिक दृष्टिकोण नहीं पाते। जीवन की आलोचना, कवि का सन्देश, लेखक की अन्तर्दृष्टि और भावों की अनुभूति आदि के आधार पर उसमें कवियों और लेखकों की आलोचना नहीं है। भाषा भी आलोचना के ढंग की नहीं है, किन्तु साहित्य के प्रथम इतिहास को विस्तारपूर्वक लिखने का श्रेय मिश्रबन्धुओं को अवश्य है। उन्होंने अपने दूसरे ग्रन्थ 'हिन्दी नवरत्न' (सं० १९६७) में नौ कवियों[1] की विस्तृत समालोचना की है। उसमें हम कवियों का यथेष्ट निरूपण पाते हैं। इस ग्रन्थ का चौथा संस्करण जो सचित्र, संशोधित और सम्वर्द्धित है, सं० १९९१ में प्रकाशित हुआ।

नवरत्न

संवत् १९७४ में पं० रामनरेश त्रिपाठी द्वारा लिखित 'कविता-कौमुदी' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक के ८९ कवियों का जीवन-विवरण, उनकी कविता के साथ दिया गया है। इसमें कवियों की आलोचना न होकर केवल परिचय मात्र है। सं० १९८३ में इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ जिसमें ४९ आधुनिक लेखकों और कवियों का विवरण है। इस प्रकार 'कविता-कौमुदी' के दोनों भागों में १३८ कवियों का विवरण है।

कविता-कौमुदी

संवत् १९७४ में एडविन ग्रीब्स महाशय ने 'ए स्केच आव् हिन्दी लिट्रेचर' नाम से हिन्दी साहित्य का एक इतिहास लिखा। इस ११२ पृष्ठों की पुस्तिका में लेखक महोदय ने उपर्युक्त सभी पुस्तकों से पूरी सहायता ली है। इन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास के पाँच विभाग किये हैं। धार्मिक काल को दो भागों में विभाजित कर दिया है और हिन्दी के भविष्य पर एक सुन्दर अध्याय

ए स्केच आव् हिन्दी लिट्रेचर

१ वे नौ कवि निम्नलिखित हैं :—

तुलसीदास, सूरदास, देव, बिहारी, त्रिपाठी-बन्धु (भूषण, मतिराम), केशव, कबीर, चन्द और हरिश्चन्द्र।

लिखा है । पुस्तक बहुत ही संक्षिप्त है। इसमें साहित्य की गति-विधि का परिचय मात्र है ।

ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिट्रेचर

संवत् १९७७ में एफ० ई० के० ने 'ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिट्रेचर' नाम से एक इतिहास लिखा । यह भी ११६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें साहित्य की प्रगतियों के दृष्टिकोण से इतिहास की रूपरेखा निर्धारित की गई है । यह ग्रीब्स महाशय की पुस्तक से अधिक वैज्ञानिक ढंग की पुस्तक है, किन्तु इसमें भी साहित्य का परिचय मात्र है ।

ब्रजमाधुरी सार

केवल ब्रजभाषा के २६ प्रमुख कवियों का जीवनवृत्त और उनका मधुर काव्य संकलित कर श्री वियोगी हरि ने संवत् १९८० में 'ब्रजमाधुरी सार' नामक संग्रह-ग्रन्थ प्रस्तुत किया । इस ग्रन्थ के संग्रह की प्रेरणा संग्रहकार को सर्व प्रथम गोलोकवासी पं० राधाचरण गोस्वामी से मिली थी। इस संग्रह में कोई ऐतिहासिक काव्य-मीमांसा नहीं है। कवियों का काव्य-संग्रह काल-क्रमानुसार अवश्य किया गया है। ग्रन्थ में आए हुए प्रत्येक कवि की जीवनी के आदि में नाभा जी का या उन्हीं की शैली में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र या गो० राधाचरण या स्वयं संग्रहकर्त्ता का छप्पय दिया गया है। कविताओं का संग्रह अत्यन्त सुरुचिपूर्ण और माधुर्य से ओतप्रोत है । ब्रजभाषा का काव्य-वैभव इस संग्रह में पूर्णतः संचित है । संवत् १९९० में इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण हुआ । इसमें परमानन्ददास और कुंभनदास के नाम जोड़ कर कवि-संख्या २८ कर दी गई और संग्रह के दो खंड कर दिए गए । पहले खंड में सूरदास से लेकर ललित किशोरी तक और दूसरे में बिहारी, देव, हरिश्चन्द्र, रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न रखे गए । पहले खंड के कवियों ने केवल कृष्ण-भक्ति पर काव्य-रचना की, दूसरे खंड के कवियों ने कृष्ण-भक्ति के अलावा अन्य विषयों पर भी लिखा । इस ग्रन्थ का तृतीय संस्करण संवत् १९९६ में हुआ ।

हिन्दी साहित्य विमर्श

हिन्दी साहित्य के इतिहास को आलोचनात्मक ढंग से समझाने का श्रेय श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को है, जिन्होंने संवत् १९८० में 'हिन्दी साहित्य विमर्श' नामक १९६ पृष्ठ की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक वस्तुतः उनके हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में लिखे गए कुछ निबन्धों का संग्रह है। प्रस्तावना में साहित्य की आत्मा और उसकी रूपरेखा पर गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि डालते हुए हिन्दी साहित्य का आदि काल, संतवाणी-संग्रह, हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि, हिन्दी साहित्य का मध्य काल, हिन्दी-काव्य और कवि-कौशल, हिन्दी

साहित्य और पाश्चात्य विद्वान् और आधुनिक हिन्दी साहित्य विषय पर लेखक ने गम्भीर अनुशीलन किया है। इन निबन्धों में साहित्य की विविध प्रवृत्तियों का पाण्डित्यपूर्ण विभाजन और मूल्यांकन किया गया है तथा कवियों और लेखकों के साहित्यगत व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में दोष यही है कि वह अपने विषय में संश्लिष्टात्मक नहीं है। निबन्ध यद्यपि एक क्रम से सजाये गए हैं, किन्तु वे अलग-अलग हैं। लेखक ने ऐतिहासिक शैली से पुस्तक लिखी भी नहीं है। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रकार का आलोचनात्मक विवेचन एक क्रम से पहली बार किया गया।

हिन्दी

संवत् १९८२ में श्री बदरीनाथ भट्ट ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की रिपोर्टों, 'मिश्रबन्धु विनोद' 'शिवसिंह सरोज' आदि ग्रन्थों की सहायता से ९६ पृष्ठ की हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाली एक छोटी-सी पुस्तिका 'हिन्दी' नाम से लिखी। पुस्तिका की तीसरी आवृत्ति संवत् १९८८ में प्रकाशित हुई। इसमें हिन्दी भाषा और साहित्य की रूप-रेखा मात्र है। वह चलते हुए ढंग से लिखी भी गई है। मनोरंजक भाषा में साहित्य की प्रवृत्तियों और कवियों की आलोचना अवश्य है, किन्तु यह आलोचना विहंगावलोकन के रूप की है। पुस्तक भाषण देने के ढंग पर लिखी गई है और उसमें यत्र-तत्र मनोरंजक उद्धरण भी दे दिए गए हैं। यद्यपि इस पुस्तक से कवियों और लेखकों की अन्तर्दृष्टि और उनकी क्रमागत परम्पराएँ स्पष्ट नहीं होतीं, तथापि उससे हिन्दी भाषा और साहित्य की जानकारी अच्छी हो जाती है। श्री बदरीनाथ भट्ट हास्य-रस के लेखक थे, अतः इस पुस्तक में उनकी भाषा का विनोदमयी हो जाना स्वाभाविक है।

हिन्दी के मुसलमान कवि

सम्वत् १९८३ में श्री अखौरी गंगाप्रसाद सिंह ने 'हिंदी के मुसलमान कवि' नामक ग्रन्थ में १५२ मुसलमान कवियों का जीवन-चरित्र और काव्य संग्रह किया। सन् १९२१ के असहयोग आन्दोलन में हिन्दूमुसलमानों की एकता के फलस्वरूप पूर्व तथा वर्तमान कालीन हिन्दू-मुसलमानों की साहित्यिक एकता का दिग्दर्शन कराने के निमित्त ही श्री रामनारायण मिश्र की प्रेरणा से ग्रन्थ का संकलन हुआ। इस ग्रन्थ की भूमिका खोज और अध्ययन के साथ लिखी गई है। इसमें हिंदी साहित्य के इतिहास की एक रूप-रेखा भी है। कवियों का क्रम ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार है। प्रारम्भ में कवि की जीवनी है, फिर उसकी कविता का अत्यन्त ललित और सुंदर संग्रह है। यद्यपि संकलनकर्त्ता ने जीवनी का विवरण देने में खोज से काम लिया है, तथापि प्राप्त सामग्री का संग्रह एक स्थान पर कर दिया है।

इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि विविध कालों में मुसलमान हिन्दी के कितने समीप थे। इस दृष्टिकोण से संकलनकर्त्ता अपने उद्देश्य में सफल हुआ है।

सुकवि सरोज

संवत् १९८४ में श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने 'सुकवि सरोज' नामक ग्रन्थ में बलभद्र मिश्र, केशवदास, बिहारी लाल आदि १६ कवियों के प्रामाणिक जीवन-चरित्रों के साथ उनकी सुन्दर रचनाओं का प्रकाशन किया। यद्यपि कवियों का चुनाव सनाढ्य जाति के संबन्ध से किया गया है, तथापि इस ग्रन्थ में हिन्दी के प्राय: सभी प्रधान कवि आ गए हैं। संवत् १९९० में इसका दूसरा भाग प्रकाशित हुआ जिसमें गोस्वामी तुल्सीदास से लेकर रामगोपाल तक ७४ सनाढ्य कवियों का विवरण है। ये कवि तीन खंडों में विभाजित किए गए हैं। पहले खंड में सं० १५८९ से सं० १६४० तक के गोलोकवासी कविगण, दूसरे खंड में सं० १६४० से सं० १९०० तक के गोलोकवासी कविगण और तीसरे खंड में सं० १९०८ से वर्त्तमान काल के अन्य कविगण। इस विभाजन से ज्ञात होगा कि संग्रह-कर्त्ता ने कवियों के संकलन में काल क्रम का विचार रक्खा है। इस संग्रह में साहित्यिक प्रगतियों का कोई उल्लेख नहीं है, केवल सनाढ्य कवियों का ही संवत्-क्रम से संग्रह है। जीवन-विवरण में कहीं-कहीं खोजपूर्ण एवं मौलिक बातें कही गई हैं। तुलसीदास सोरों के जन्म-स्थान की बात सर्व प्रथम श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने ही इस ग्रन्थ में कही है। पुस्तक खोज और परिश्रम से लिखी गई है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित शब्दसागर की आठवीं जिल्द में हिन्दी साहित्य के इतिहास की रूप-रेखा यथेष्ट परिष्कृत हुई इसके लेखक थे पं० रामचन्द्र शुक्ल। उसी सामग्री को विस्तारपूर्वक लिख कर शुक्ल जी ने संवत् १९८६ में एक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। इसमें कवियों की संख्या की अपेक्षा कवियों के महत्त्व पर अधिक ध्यान दिया गया है। अभी तक के लिखे हुए इतिहासों में इस इतिहास को सर्वश्रेष्ठ कहना चाहिए। इसमें हमें इतिहास के साथ समालोचना और आधुनिक दृष्टिकोण से कवियों का निरूपण मिलता है। काव्य-धाराओं का विवेचन जैसा इस इतिहास में है वैसा अन्यत्र नहीं। कवि और लेखकों की शैली-विशेष का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं उसके प्रमाण-स्वरूप हमें उपयुक्त उदाहरण भी मिलते हैं। संवत् १९९७ में इसका संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुआ। आधुनिक काल की सामग्री इसमें विशेष रूप से जोड़ी गई, जो अध्ययन के साथ एकत्रित की गई है।

भाषा और साहित्य

सं० १९८७ में रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० का 'हिन्दी भाषा और साहित्य' ग्रन्थ लिखा गया। इसका 'भाषा' भाग बाबू साहब की पूर्व लिखित भाषा-विज्ञान पुस्तक का एक परिवर्तित भाग मात्र है। साहित्य-भाग में हिन्दी की प्रमुख धाराओं, उनके विकास और विस्तार का निरूपण किया गया है। इस साहित्य-भाग में लेखकों और कवियों की कृतियों के उदाहरण नहीं हैं, उनका विवरण अवश्य है। संवत् २००१ में हिन्दी साहित्य-भाग का परिवर्द्धित और परिमार्जित संस्करण प्रकाशित हुआ। पहले की आवृत्तियों से इस संस्करण में अनेक अन्तर हैं, यद्यपि मूल आकार पूर्ववत् ही है। इसका उद्देश्य पहले से यह था कि भिन्न-भिन्न काल की मूल वृत्तियों का वर्णन किया जाय। जिस काल में जैसी राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति थी, उसके वर्णन के साथ उस काल के मुख्य-मुख्य प्रवर्त्तक कवियों का वर्णन भी रहे। यह अंश ज्यों का त्यों है। कवियों के विषय में जो नए अनुसन्धान हुए हैं, उनके आधार पर साहित्यिक स्थिति के वर्णन में आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं और कवियों की कविता के नमूने भी दिए गए हैं। इस अंश में विशेष परिवर्तन है।

हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास

इसी समय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने बाबू रामदीनसिंह रीडरशिप के सम्बन्ध से पटना यूनिवर्सिटी में "हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास" पर व्याख्यान दिया। इसमें भाषा और साहित्य पर पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की गई है और इतिहास का विकास भी अच्छी तरह से दिया है। ७१९ पृष्ठों की इस व्याख्यानमाला से हिन्दी साहित्य की रूपरेखा यथेष्ट स्पष्ट हो गई है।

हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास

एक और इतिहास सं० १९८७ में लाहौर से प्रकाशित हुआ। इसके लेखक श्री सूर्यकान्त शास्त्री हैं। इस साहित्य की रूपरेखा अधिकतर 'के' की 'ए हिस्ट्री आव् हिन्दी लिट्रेचर' से निर्धारित हुई है।[1] इस इतिहास में लेखक ने अँग्रेजी साहित्य के भावों का प्रमाण देते हुए हिन्दी-साहित्य को समझाने की चेष्टा की है। यद्यपि किसी साहित्य का वास्तविक महत्त्व उसी में अन्तर्हित भावना से समझाया जाना चाहिए, अन्य साहित्य, जो अन्य समाज का चित्रण है, किसी भी दूसरे साहित्य के समझाने का साधन नहीं हो सकता, तथापि जहाँ तक विश्व-जनीन भावनाओं से सम्बन्ध है, उनकी तुलनात्मक व्याख्या अवश्य हो सकती है,

१—हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ८

यही दृष्टिकोण शास्त्री जी द्वारा लिया गया ज्ञात होता है। इससे उनके पाण्डित्य और व्यापक ज्ञान का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। साहित्य की विवेचना के साथ उन्होंने अपनी भाषा में गद्यकाव्य की छटा भी छिटका दी है, जो सम्भवतः इतिहास-जैसे विषय के लिए अनुपयुक्त है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि शास्त्री जी ने साहित्य के महान् कवियों को समझाने की चेष्टा की है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

संवत् १९८८ में पं० (अब डाक्टर) रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने एक बहुत बड़ा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। इसमें कवियों और लेखकों की कृतियों के उदाहरण नहीं हैं। यह शायद हिन्दी के सभी इतिहासों से कलेवर में बड़ा है। इसमें हिन्दी साहित्य की सभी ज्ञातव्य बातों का परिचय दिया गया है, पर लेखक ने उन्हें वैज्ञानिक रीति से नहीं समझाया। इस इतिहास में लेखक का अपना कोई निर्णय भी नहीं है। अनेक स्थानों से उपलब्ध की गई सामग्री अवश्य विस्तारपूर्वक दी गई है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

संवत् १९९१ में श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा। इसमें भारतेन्दु जी के पूर्व का इतिहास तो बड़े ही संक्षिप्त रूप में दिया गया है; किन्तु आधुनिक इतिहास का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। इस इतिहास में भी ग्रन्थकार की अपनी कोई धारणा नहीं है। उसने विस्तार से प्रत्येक कवि के विषय में ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं।

साहित्य की झाँकी

संवत् १९९३ में श्री गौरीशंकर सत्येन्द्र एम० ए०, विशारद ने 'साहित्य की झाँकी' नामक पुस्तक प्रस्तुत की, जिसमें उनके सात निबंधों का संग्रह है। ये निबन्ध ऐतिहासिक विचार-धारा को दृष्टि में रखते हुए लिखे गए हैं। "अध्ययन-शैली का स्वरूप उपस्थित करने और साहित्य के अमर-रूप और उसके धारा-रूप की झाँकी कराने के लिए ही यह रचना प्रस्तुत की गई है।" लेखक ने इन निबन्धों में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि हिन्दी साहित्य में विकास की धारा है और उसमें काल और परिस्थितियों का पूर्ण सहयोग है। इस पुस्तक में सात निबन्ध हैं—हिन्दी में भक्ति-काव्य का आविर्भाव, विष्णु का विकास, सूरदास के कृष्ण, अष्टछाप पर मुसलमानी प्रभाव, राम में दो तत्वों की संयोजना, हिन्दी-नाटकों में हास्यरस और भूषण कवि और उनकी परिस्थिति। अंतिम निबन्ध पुस्तक में आए निबन्धों की दृष्टि से काल-व्यतिक्रम बोध करता है, किन्तु "महात्मा गाँधी की प्रेरणा से 'शिवाबावनी' के सम्मेलन के परीक्षा-कोर्स से निकाल देने की चर्चा से हिन्दी, जगत् में 'भूषण' और समस्याओं की अपेक्षा अधिक आधुनिक हो गए थे, इसलिए उसे आधुनिक समस्या समझ कर

ही बाद में दिया गया है।" निबन्ध विशेष अध्ययन और अनुशीलन से लिखे गए हैं।

पुरातत्त्व निबन्धावली

संवत् १९९४ में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'पुरातत्त्व निबन्धावली' में हिन्दी के प्राचीन साहित्य पर बड़ी खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की। यद्यपि इस पुस्तक के निबन्ध भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न पत्रों में निकल चुके थे, तथापि इनका एक स्थान पर संग्रहीत होना आवश्यक था। महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ आदि निबन्ध हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास को स्पष्ट और निश्चित करने में बहुत सहायक सिद्ध होंगे। इन निबन्धों में साहित्य और धर्म की पुरातन परम्पराएँ अध्ययन के साथ लिखी गई हैं। चौरासी सिद्धों के चित्रों के साथ उनका सम्पूर्ण विवरण इस पुस्तक में मिलेगा। यदि पूरी पुस्तक हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास को स्पष्ट करने में लिखी गई होती, तो यह पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय मानी जाती।

माडर्न हिन्दी लिट्रेचर

संवत् १९९६ में डा० इन्द्रनाथ मदन ने अँग्रेजी में 'माडर्न हिन्दी लिटरेचर' नाम का ग्रन्थ लिखा। यह पंजाब यूनिवर्सिटी में पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत थीसिस है। इसमें आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक सक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। विषय-विवेचन वैज्ञानिक दृष्टिकोण से है, किन्तु ग्रन्थ के अंतर्गत अनेक प्रयोगों को आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अनुचित महत्त्व दिया गया है। अँग्रेजी के पाठकों के लिए ग्रन्थ की उपादेयता अस्वीकृत नहीं की जा सकती।

राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा

संवत् १९९६ में पं० मोतीलाल मेनारिया एम० ए० ने 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसमें राजस्थानी भाषा, साहित्य तथा कवियों का विवेचनात्मक परिचय है। वस्तुतः डिंगल को हिन्दी की एक शैली ही मानना चाहिये। यदि हिन्दी साहित्य के चारण-काल में हम डिंगल की कृतियों का समावेश करते हैं, तो कोई कारण नहीं कि आगे के साहित्य में भी हम उनका समावेश क्यों न करें। इस दृष्टि से 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा' को हमें हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। इस ग्रन्थ में लेखक ने राजस्थान के डिंगल और पिंगल दोनों के बहुत प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों को चुना है। यह चुनाव काव्योत्कर्ष, भाषा-शास्त्र और इतिहास की दृष्टि से ही हुआ है। राजस्थानी साहित्य के प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास का यह पहला व्यवस्थित और क्रमबद्ध रूप है। पुस्तक अध्ययन और खोज के साथ लिखी गई है। परिशिष्ट में फुटकर कवियों की कविता के उदाहरण दिए गए हैं।

जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान

संवत् १९९६ में 'जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसके लेखक प्रो० (अब डाक्टर) हीरालाल जैन हैं। 'पुरातत्त्व निबन्धावली' के निबन्धों की भाँति इसके विविध अध्याय भी पत्र-पत्रिकाओं और सभा-मंचों द्वारा जनता तक पहुँच चुके थे। समाज पर इनका प्रभाव अधिक पड़ने की दृष्टि से ही वे अध्याय इस व्यवस्थित और स्थायी रूप में प्रकाशित किए गए। पुस्तक के अध्याय दो भागों में विभक्त हैं। प्रथम भाग जैन इतिहास से सम्बन्ध रखता है और द्वितीय भाग जैन समाज से। प्रथम भाग के तीन निबन्ध ही हमारे साहित्य की संपत्ति हैं। जैन इतिहास की पूर्व पीठिका, हमारा इतिहास और प्राचीन इतिहास-निर्माण के साधन-सम्बन्धी निबन्ध अत्यन्त विद्वतापूर्वक लिखे गए हैं। प्रथम भाग के शेष अध्याय तथा द्वितीय भाग के सभी अध्याय जैनसमाज और जैनधर्म के प्रचार की दृष्टि रखते हैं। हमारे इतिहास के आदि काल में डा० जैन की यह सामग्री लाभप्रद सिद्ध होगी।

हिन्दी साहित्य की भूमिका

विश्व भारती के अहिन्दी-भाषी साहित्यिकों को हिन्दी साहित्य का परिचय कराने की दृष्टि से श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जो व्याख्यान दिए थे, उन्हीं के संशोधित और परिवर्द्धित संकलन से 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' तैयार हुई, जो संवत् १९९७ में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक साहित्यिक और सांस्कृतिक दोनों ही दृष्टिकोणों से लिखी गई है। लेखक ने हिन्दी साहित्य को अखिल भारतीय साहित्य से संबद्ध कर देने की चेष्टा की है और इसीलिये इस पुस्तक के परिशिष्ट में वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों का परिचय कराया गया है। पुस्तक अपने दृष्टिकोण में अत्यन्त मौलिक है। इसमें विद्वान् लेखक ने अपने विस्तृत अध्ययन और गंभीर पाण्डित्य का पूर्ण परिचय दिया है। साहित्य के इतिहास के अध्ययन के लिए जिस अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता हुआ करती है, वही अन्तर्दृष्टि हमें पुस्तक के प्रत्येक प्रकरण में प्राप्त होती है। पुस्तक में चारण-काल पर प्रकाश नहीं है और न आधुनिक काल पर ही विशेष लिखा गया है। भारतीय धर्म और सांस्कृतिक परम्पराओं से काव्य-चिन्तन का पक्ष स्पष्ट किया गया है।

खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास

संवत् १९९८ में श्री ब्रजरत्नदास ने 'खड़ीबोली हिन्दी साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ लिखा। इसमें राष्ट्रभाषा हिन्दी (खड़ीबोली) को तथा उसमें प्राप्त साहित्य को लेकर ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विषय-विवेचन किया गया है। अभी तक के इतिहासों में "ब्रजभाषा, अवधी, डिंगल आदि ही के साहित्य का विशेष रूप से विवरण दिया गया है, खड़ीबोली हिन्दी अर्थात् राष्ट्र-

भाषा पर अधिकतर ध्यान भी नहीं दिया गया है।" स्व० लाला भगवानदीन जी के काशी साहित्य विद्यालय के एक वार्षिक अधिवेशन में स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द जी ने भी कहा था कि "हिन्दी में प्राचीन साहित्य ही कहाँ है, ब्रजभाषा-अवधी का साहित्य हिन्दी का साहित्य नहीं है।" इसी बात को लेकर ब्रजरत्नदास ने खड़ीबोली का इतिहास लिखा है जिसमें चारण-काल से लेकर वर्त्तमान काल के आरम्भ तक खड़ी-बोली साहित्य की अच्छी समीक्षा है। यथास्थान कविताओं के उद्धरण भी दिए गए हैं। पुस्तक अपने दृष्टिकोण से हिन्दी में प्रथम है और इससे खड़ीबोली साहित्य के विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

संत-साहित्य

संवत् १९९८ में श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' ने 'सन्त साहित्य' पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की 'निर्गुण-धारा' का स्पष्टीकरण किया। इसमें महात्मा कबीर से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक के प्रायः सभी निर्गुणोपासक सन्तों की आध्यात्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों की विवेचना की गई है। सन्तों का वर्णन काल-क्रमानुसार है। प्रत्येक परिच्छेद में एक विशिष्ट सन्त का वर्णन उसकी चुनी हुई 'बानियों' के साथ इस प्रकार दिया गया है कि दोनों का एक दूसरे से समर्थन होता चलता है। ग्रन्थ में तीस सन्तों का उल्लेख है। यद्यपि सन्तों के हृदय का रहस्य लेखक ने बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है, तथापि उसकी शैली समीक्षात्मक न होकर भावुकतापूर्ण हो गई है। पुस्तक आलो-चक के द्वारा न लिखी जाकर एक भावुक भक्त के द्वारा लिखी ज्ञात होती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य

प्रयाग विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० (पेरिस) के निर्देशन में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर विशेष कार्य हुआ। संवत् १९९८ में डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय एम० ए०, डी० फिल्० ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें सन् १८५० से १९०० ई० तक के साहित्य-विकास पर अत्यन्त खोजपूर्ण अध्ययन है। यह पुस्तक डा० वार्ष्णेय के अँग्रेजी में लिखे हुए मूल थीसिस का हिन्दी में संक्षिप्त रूपान्तर है, जिस पर उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय ने डी० फिल्० की उपाधि प्रदान की। इस उन्नीसवीं शताब्दी के 'उत्तरार्ध' के हिन्दी साहित्य के इतिहास में तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए विषयों की नवीनता और अनेकरूपता की ओर संकेत किया गया है। साथ ही अपने अध्ययन में लेखक ने ऐतिहासिक समीक्षा का आश्रय भी ग्रहण किया है। स्थान-स्थान पर गद्य और पद्य के अवतरणों से लेखक ने विषय को अधिक स्पष्ट और रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। ऐतिहासिक आधार कुछ शिथिल होते हुए भी लेखक ने साहित्यिक विचारधाराओं का निर्णय करने में सफलता प्राप्त की है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास

संवत् १९९९ में डा० श्री कृष्णलाल एम० ए०, डी० फिल्० ने डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्० के निर्देशन में 'आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास' ग्रन्थ प्रस्तुत किया। यह डी० फिल्० के लिए स्वीकृत उनकी थीसिस 'दि डेवलपमेंट आव् हिंदी लिट्रेचर इन दि फर्स्ट क्वार्टर आव् दि ट्वेंटिएथ सेंचुरी' का रूपान्तर है। अविकल होते हुए भी इस रूपान्तर में कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। यह अध्ययन सन् १९०० से १९२५ ई० तक के साहित्य के विकास पर अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश डालता है। पहली बार वर्त्तमान हिंदी साहित्य के विकास का ऐसा सूक्ष्म, निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस अध्ययन को वर्त्तमान हिंदी साहित्य की दिशा, कविता, गद्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध और समालोचना तथा उपसंहार के अन्तर्गत उपयोगी साहित्य, पत्र-पत्रिकाएँ, गम्भीर साहित्य में विभाजित कर अत्यन्त विश्लेषणात्मक शैली में लेखक ने अपने ग्रन्थ में सुसज्जित किया है। परिशिष्ट में अँग्रेजी से हिंदी और हिंदी से अँग्रेजी का पारिभाषिक शब्द-कोष भी दे दिया है जो हिंदी में आधुनिक आलोचना-शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में विशेष सहायक होगा। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों से हिंदी साहित्य के आधुनिक काल (सन् १८५० से १९२५ ई०) तक का विस्तृत और आलोनात्मक इतिहास प्रस्तुत हो गया है। इस कार्य को सम्पन्न कराने का श्रेय प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष डा० धीरेन्द्र वर्मा को है।

हिन्दी साहित्य-बीसवीं शताब्दी

इसी वर्ष (सं० १९९९ में) श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक साहित्य का अध्ययन 'हिंदी साहित्य-बीसवीं शताब्दी' के रूप में उपस्थित किया। यह पुस्तक विभिन्न समयों पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह है। इसमें बीसवीं सदी के चालीस वर्षों के इक्कीस साहित्यिक व्यक्तियों का उल्लेख किया गया है। लेखक ने अपनी पुस्तक में कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन, कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता-विशालता, रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन तथा काव्य के जीवन-सम्बन्धी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन प्रस्तुत किया है। संक्षेप में, साहित्य के मानसिक और कलात्मक उत्कर्ष का आकलन करना इन निबन्धों का उद्देश्य है, किंतु समस्त पुस्तक लेखक की व्यक्तिगत रुचि और पक्षपात से इतनी अधिक शासित है कि न्याय की अवहेलना हो गई है। पुस्तक के निबन्ध किसी नियमित क्रम में भी नहीं

लिखे गये । लेखक महोदय स्वयं स्वीकार करते हैं, कि "लेखकों की संपूर्ण रचनाओं को सब समय सामने नहीं रक्खा गया है । कहीं-कहीं तो किसी एक ही रचना पर पूरा निबन्ध आधारित है ।" ऐसी अवस्था में पुस्तक में विश्लेषण और विवेचना कहाँ तक संतुलित हो सकती है, यह स्पष्ट है । इन आलोचनाओं में किन्हीं लेखकों और कवियों के प्रति तो कड़े शब्दों का व्यवहार भी हो गया है । ऐसे स्थलों पर लेखक ने आलोचना-गत सहानुभूति—जो ग्रन्थकार का सबसे आवश्यक गुण होना चाहिए—अपने हाथ से खो दी है । आलोच्य विषय में अनेक प्रमुख कवियों या लेखकों की उपेक्षा भी की गई है । मैं समझता हूँ कि यह उपेक्षा वास्तविक उपेक्षा नहीं है क्योंकि यह कृति ग्रन्थ-रूप में कभी नहीं लिखी गई । समय-समय पर लिखे गए निबन्ध—जो उस समय की आवश्यकता या रुचि से लिखे गए थे—ग्रन्थ में संकलित कर दिए गए । यदि कोई कवि या लेखक श्री वाजपेयी जी से अपने संबन्ध में कोई लेख लिखा लेता या स्वयं वाजपेयी जी लिख देते तो वह भी इस ग्रन्थ में सम्मिलित हो जाता और वाजपेयी जी किसी तर्क से उस लेखक की स्थिति अपने ग्रन्थ में मान्य कर भी देते । अतः अपनी महानता से या सौभाग्य से जो लेखक वाजपेयी जी के आलोच्य व्यक्ति बने, वे ही बीसवीं शताब्दी के व्यक्तियों में आ सके और शेष रह गए । लेखक की 'महत्त्वाकांक्षा' से जब ये निबन्ध ग्रन्थ-रूप में आए तो नये निबन्ध लिखने का अवकाश या विचार लेखक महोदय की कार्य-व्यस्तता में स्थान नहीं पा सका । फलतः अपनी रुचि से स्वतंत्र निबन्धों के रूप में लिखे गये ये लेख ग्रन्थ के रूप में आ गए । इन लेखों में चिंतनपक्ष प्रधान है और यही ग्रन्थ की विशेषता है ।

हिन्दी पुस्तक साहित्य

संवत् २००२ में डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'हिंदी पुस्तक साहित्य' (सन् १८६७-१९४२ ई०) लिख कर हिन्दी साहित्य के पिछले ७५ वर्षों की पूर्ण साहित्य-संबन्धी लिखित सामग्री का इतिवृत्त हिन्दी-संसार के समक्ष प्रस्तुत किया । प्रारम्भ में हमारी चिंता-धारा में साहित्य के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा देकर उन्होंने आधुनिक हिन्दी साहित्य का दृष्टिकोण स्पष्ट किया । उपर्युक्त काल के साहित्य को उन्होंने दो युगों में विभाजित किया है। पहला युग सन् १८६७-१९०९ ई० तक है जिसको विगत युग कहा गया है, और दूसरा युग सन् १९०९-१९४२ ई० तक है जिसे वर्त्तमान युग का नाम दिया गया है । दोनों युगों में प्रकाशित हिन्दी के समस्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की सूचनाएँ संग्रहीत की गई हैं । ग्रन्थ में साहित्य शब्द का प्रयोग अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ में किया गया है, जिसमें ललित और उपयोगी साहित्य दोनों ही हैं । ग्रन्थ को उपयोगी बनाने के लिए इसमें विषय-क्रम से बनी हुई सूची, लेखक-नामानुक्रम से बनी हुई सूची तथा पुस्तक-नामानुक्रम से बनी

हुई सूची रखी गई है, साथ ही एक विस्तृत भूमिका में प्रत्येक विषय के साहित्य की विविध विचार-धाराओं का अध्ययन भी किया गया है। साहित्य-निर्माण के लिए लेखक ने सुझाव देने में अपने अध्ययन और चिन्तन का परिचय दिया है। यह ग्रन्थ हमारी आधुनिक साहित्य-संपत्ति का 'बीजक' कहा जा सकता है।

इन विस्तृत इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य छोटे-छोटे इतिहास भी लिखे गए जिनमें निम्नलिखित विशेष अच्छे हैं :—

सं० १९८० हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास—श्री रामनरेश त्रिपाठी
सं० १९८७ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री रमाशंकर प्रसाद
सं० १९८८ हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्घात—श्री मुंशीराम शर्मा
सं० १९८८ हिन्दी साहित्य—श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी
सं० १९८८ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास—श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
सं० १९८८ साहित्य प्रकाश—श्री रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
सं० १९८८ साहित्य परिचय „
सं० १९८९ हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री ब्रजरत्नदास
सं० १९९४ हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास—श्री गुलाब राय
सं० १९९५ हिन्दी साहित्य की रूपरेखा—डा० सूर्यकान्त
सं० १९९५ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इंतिहास—श्री गोपाललाल खन्ना
सं० १९९६ हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री मिश्रबन्धु
सं० १९९७ हिन्दी साहित्य का रेखा-चित्र—श्री उत्तमचन्द्र श्रीवास्तव
सं० १९९७ खड़ीबोली का संक्षिप्त परिचय—श्री रामनरेश त्रिपाठी

इन इतिहासों एवं संक्षिप्त इतिहासों के अतिरिक्त साहित्य के इतिहास के विविध अंगों पर भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। इन अंगों में कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास तथा निबन्ध के ऐतिहासिक ग्रन्थ आते हैं। वे अधिकतर वर्त्तमान काल से ही संबन्ध रखते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है :—

कविता

सं० १९९३ कवि और काव्य—श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी
सं० १९९५ नवयुग काव्य विमर्श—श्री ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल'
सं० १९९७ हिन्दी कविता का विकास—श्री आनन्दकुमार
सं० १९९८ हिन्दी के कवि और काव्य १-३—श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी
सं० १९९८ काव्य कलना (द्वितीय सं०) श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय
सं० १९९९ हिंदी के वर्तमान कवि और उनका काव्य — श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

सं० २००० आधुनिक काव्य-धारा—डा० केसरी नारायण शुक्ल
सं० २००२ हिन्दी गीति काव्य—श्री ओम् प्रकाश अग्रवाल
सं० २००२ हिन्दी काव्य-धारा—श्री राहुल सांकृत्यायन

नाटक

सं० १९८७ हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
सं० १९९५ हिन्दी नाट्य साहित्य—श्री ब्रजरत्नदास
सं० १९९७ हिन्दी नाट्य विमर्श—श्री गुलाब राय
सं० १९९७ हमारी नाट्य-परम्परा—श्री दिनेश नारायण उपाध्याय
सं० १९९८ हिन्दी नाट्य चिंतन—श्री शिखरचन्द्र जैन
सं० १९९९ आधुनिक हिन्दी नाटक—श्री नगेन्द्र
सं० १९९९ एकांकी नाटक—श्री अमरनाथ गुप्त
सं० १९९९ हिन्दी नाटक साहित्य की समालोचना—श्री भीमसेन

कहानी और उपन्यास

सं० १९९६ हिन्दी के सामाजिक उपन्यास—श्री ताराशंकर पाठक
सं० १९९७ हिन्दी उपन्यास—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव
सं० २००१ आधुनिक कथा-साहित्य—श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय

निबन्ध

सं० १९९८ हिन्दी साहित्य में निबन्ध—श्री ब्रह्मदत्त शर्मा
सं० २००२ हिन्दी में निबन्ध-साहित्य—श्री जनार्दनस्वरूप अग्रवाल

आलोचना

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के कालों और विशिष्ट भागों पर भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। ऐसे ग्रन्थ अधिकतर परीक्षाओं के पाठ्य-ग्रन्थों के रूप में ही लिखे गए है। विशेष महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्देश निम्नलिखित है :—

सं० १९९१ हिन्दी साहित्य का गद्यकाल—श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी
सं० १९९५ साहित्यिक—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
सं० १९९७ आधुनिक हिन्दी साहित्य—श्री स० ही० वात्स्यायन
सं० १९९७ नया हिन्दी साहित्य—श्री प्रकाश चन्द्र गुप्त
सं० १९९७ गद्य भारती—{ श्री केशवप्रसाद मिश्र, श्री पद्म नारायण आचार्य }
सं० १९९७ हमारे गद्य निर्माता—श्री प्रेम नारायण टंडन
सं० १९९८ युग और साहित्य—श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
सं० १९९८ संचारिणी—(द्वि० सं०) ,,
सं० १९९९ हिन्दी साहित्य निर्माता—श्री प्रेम नारायण टंडन
सं० २००० हिन्दी साहित्य की वर्त्तमान विचार-धारा—श्री रामशर्मा

सं० २००१ ब्रजभाषा साहित्य में नायिका-निरूपण—श्री प्रभुदयाल मीतल।

साहित्य की सामग्री

हिन्दी साहित्य के इतिहास की सामग्री दो रूपों में मिलती है। एक अन्तर्साक्ष्य के रूप में और दूसरी बाह्य साक्ष्य के रूप में। साहित्य के जितने परिचय-ग्रन्थ हैं, उनके द्वारा मिली हुई सामग्री अन्तर्साक्ष्य के रूप में है और साहित्य के अतिरिक्त अन्य साधनों से मिली हुई सामग्री बाह्य साक्ष्य के रूप में। बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अन्तर्साक्ष्य अधिक विश्वसनीय होता है, अतएव पहले उसी पर विचार करना है। निम्नलिखित परिचय-ग्रन्थों ने हमारे सामने साहित्य के इतिहास की सामग्री प्रस्तुत की है :—

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
१	चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता	गोकुल नाथ[1]	सं० १६२५	इनमें पुष्टि-मार्ग में दीक्षित वैष्णवों की जीवनी पर गद्य में प्रकाश डाला गया है; इनमें अनेक कवि भी ह। अष्टछाप के कवि भी इसी में निर्दिष्ट हैं।
२	भक्तमाल	नाभा-दास	सं० १६४२	१०८ छप्पय छन्दों में भक्तों का विवरण है। इनमें अनेक भक्त-कवि भी हैं। साधारणतया प्रत्येक भक्त के लिए एक छप्पय है जिसमें उसकी विशेषताओं का उल्लेख है।
३	श्री गुरु ग्रन्थ साहब	गुरु अर्जुन देव (संग्रह कर्त्ता)	सं० १६६१	श्री गुरु अर्जुन देव ने प्रमुखतः नानक एवं कबीर, रैदास, नामदेव आदि १६ सन्तों का काव्य संग्रह किया है।
४	मूल गोसाईं चरित	बेणी माधो दास[2]	सं० १६८७	इसमें चौपाई, दोहा और त्रोटक छन्दों में गोस्वामी तुलसी दास का जीवन-चरित्र लिखा गया है। इसमें अनेक अलौकिक घटनाओं का भी समावेश किया गया है।

१. डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार दोनों ग्रन्थ एक ही लेखक के द्वारा नहीं लिखे गए। हिन्दुस्तानी, अप्रैल १९३२, भाग २, संख्या २, पृष्ठ १८३।

२ इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में संदेह है।

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
५	भक्तनामावली	ध्रुवदास	सं० १६९८	११६ भक्तों का संक्षिप्त चरित्र-वर्णन है। अंतिम नाम नाभादास जी का है।
६	कविमाला	तुलसी[1]	सं० १७१२	७५ कवियों की कविताओं का संग्रह। इन कवियों का कविता-काल सं० १५०० से १७०० तक है।
७	कालिदास हजारा	कालि-दास त्रिवेदी	सं० १७७५	२१२ कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह। इन कवियों का कविता-काल सं० १४८० से लेकर १५७५ तक है। इसी के आधार पर शिवसिंह ने अपना 'सरोज' लिखा।
८	काव्य-निर्णय	भिखारी-दास	लगभग १७८२	इस ग्रन्थ में काव्य के आदर्शों के साथ अनेक कवियों का भी निर्देश किया गया है, किन्तु यह निर्देश संक्षिप्त है। कवित्त-संख्या १६ और दोहा-सख्या १७।
९	सत्कवि गिरा-विलास	बलदेव	१८०३	सत्रह कवियों का काव्य-संग्रह जिनमें केशव, चिन्तामणि, मतिराम, बिहारी आदि मुख्य हैं।
१०	कवि नामा-वली	सूदन	१८१०	इसमें सूदन ने दस कवित्तों में कवियों के नाम गिना कर उन्हें प्रणाम किया है।

[1] ये तुलसी, रामचरित-मानस के महाकवि तुलसीदास से भिन्न हैं।

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
११	विद्वान् मोद तरंगिणी	सुब्बा-सिंह	१८७४	४५ कवियों का काव्य-संग्रह जिसमें षट्ऋतु, नखशिख, दूती आदि का वर्णन है।
१२	राग सागरोद्भव-राग कल्पद्रुम	कृष्णानन्द व्यास-देव	१९००	कृष्णोपासक दो सौ से अधिक कवियों का काव्य-संग्रह उनके ग्रन्थों की नामावली-सहित दिया गया है। यह ग्रन्थ तीन भागों में है। इसमें हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, तेलगू, गुजराती, बंगाली, उड़िया, अँग्रेजी, अरबी आदि में लिखे गए ग्रन्थों का भी उल्लेख है।
१३	शृंङ्गार संग्रह	सरदार कवि	१९०५	इसमें १२५ कवियों के उद्धरण हैं। इसमें काव्य के विविध अंगों का निरूपण है।
१४	रस चन्द्रोदय	ठाकुर-प्रसाद त्रिपाठी	१९२०	बुन्देलखंड के २४२ कवियों का काव्य-संग्रह।
१५	दिग्विजय भूखन	गोकुल प्रसाद	१९२५	१९२ कवियों का काव्य-संग्रह।
१६	सुन्दरी तिलक	हरिश्चन्द्र	१९२६	६९ कवियों का सवैया-संग्रह।
१७	काव्य-संग्रह	महेशदत्त	१९३२	अनेक कवियों का काव्य-संग्रह।
१८	कवित्त रत्नाकर	मातादीन मिश्र	१९३३	२० कवियों का काव्य-संग्रह।

संख्या	ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
१९	शिवसिंह सरोज	शिवसिंह सेंगर	१९४०	१००० कवियों का जीवन-वृत्त उनकी कविताओं के उदाहरण-सहित दिया गया है। इसी के आधार पर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आव् हिन्दुस्तानी' लिखा है। हिन्दी भाषा में सर्व-प्रथम इतिहास का सूत्रपात यहीं से माना जाना चाहिये।
२०	विचित्रोपदेश	नकछेदी तिवारी	१९४४	अनेक कवियों के काव्य-संग्रह।
२१	कवि रत्नमाला	देवी प्रसाद मुंसिफ	१९६८	राजपूताने के १०८ कवि-कोविदों की कविता जीवनी-सहित दी गई है।
२२	हफीजुल्ला खाँ हजारा	हफी-जुल्ला खाँ	१९७२	दो भागों में अनेक कवियों का कवित्त और सवैया-संग्रह।
२३	संतबानी संग्रह तथा अन्य संतों की बानी	'अधम'	१९७२	जीवन-चरित्र के सहित २४ संतों का काव्य-संग्रह।
२४	सूक्ति सरोवर	लाला भगवान दीन	१९७९	ब्रजभाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियाँ।
२५	सेलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिट्रेचर	लाला सीताराम	१९७८ से १९८४	साहित्य के अनेक कवियों पर आलोचना और उनका काव्य-संग्रह।

बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत दो रूपों में सामाग्री प्राप्त होती है। पहले रूप में साहित्यिक सामग्री है तथा दूसरे रूप में शिलालेख तथा अन्य प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के निर्देश आदि हैं। हमें अपने साहित्य के इतिहास के लिए निम्न-लिखित मुख्य-मुख्य आलोचनात्मक एवं वर्णनात्मक पुस्तकों से साहित्यिक सामग्री मिलती है :—

ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
१—राजस्थान	टाड	सं० १८८६	राजस्थान के चारणों के निर्देश हैं।
२—हिंदूइज्म एण्ड ब्रह्मनिज्म	मानियर विलियम्स	सं० १९४०	हिंदू धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण में हिंदी-कवियों और आचार्यों के विचारों की आलोचना।
३—नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट	श्यामसुन्दर दास, मिश्रबंधु, हीरालाल	सं० १९५७ से प्रारम्भ १९८८ तक	अनेक अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय एवं उनकी रचना के उदाहरण।
४—कबीर एण्ड दि कबीरपंथ	बेसकट	सं० १९६४	कबीर और कबीरपन्थ के आदर्शों का स्पष्टीकरण।
५—हिस्ट्री आव् दि सिक्ख रिलीजन	मैकालिफ	सं० १९६५	सिक्ख धर्म का आविर्भाव, उसके अन्तर्गत हिंदी-कवियों का भी उल्लेख।
६—इण्डियन-थीज्म	मैकनिकाल	सं० १९७२	हिंदू दार्शनिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण। इस सम्बन्ध में कवियों का उल्लेख।

ग्रन्थ का नाम	लेखक	संवत्	विवरण
७—ए डिस्क्रिप्टिव केटलॉग आव् वार्डिक एण्ड हिस्टारिकल मैन्यूस्क्रिप्ट	डा० एल० पी० टैसीटरी	सं०१९७४	राजस्थान में डिंगल काव्य के अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों के विवरण और उदाहरण।
८—एन आउट लाइन आव् दि रिलीजस लिट्रेचर आव् इण्डिया	फ़र्कहार	१९७७	धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकाश में कवियों पर आलोचना।
९—गोरख नाथ एण्ड दि कन-फटा योगीज	ब्रिग्स	१९९५	गोरखनाथ और नाथ-संप्रदाय का धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन।
१०—राजस्थान में हिंदी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज	मोतीलाल-मेनारिया	१९९९	राजस्थान के अनेक ज्ञात और अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय और उनकी रचना के उदाहरण।

इन ग्रन्थों ने अधिकतर साहित्य के सांस्कृतिक तथा धार्मिक सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डाला है। राजस्थान में अवश्य हम साहित्य की राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में कुछ जान सकते हैं। साधारणतः धर्म के आदर्शों का प्रचार करने वाले कवियों का ही बाह्य साक्ष्य से हमें विवरण मिलता है। कारण यह है कि इस अंग के ग्रन्थ ही धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये हैं।

अन्य बाह्य साक्ष्यों में चंदेल राजा परमाल (परमार्दि देव) के समय के जैन शिलालेख तथा आबू पहाड़ के राजा जेत और शलख के शिलालेख आदि हैं। ऐसे शिलालेख केवल प्राचीन इतिहास पर ही प्रकाश डालते हैं। ऐतिहासिक स्थानों की सामग्री में—

कबीर चौरा, काशी
असी घाट, काशी
कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट

जायसी की समाधि, अमेठी

तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, राजापुर

तुलसीदास के स्थान का अवशेष, सोरों

नरसिंह जी का मंदिर, सोरों

केशवदास का स्थान, टीकमगढ़ और सागर

आदि हैं। इस सामग्री से तत्कालीन कवियों के जीवन-विवरणों पर प्रकाश पड़ता है। यह सामग्री आलोचकों और विद्वानों के विवेचन के लिए विशेष महत्त्व की है।

इस समस्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों की जीवनी और उनकी साधना का पर्याप्त ज्ञान हमें जनश्रुतियों द्वारा प्राप्त होता है। जनश्रुतियाँ यद्यपि विशेष प्रामाणिक तो नहीं होतीं, तथापि उनके द्वारा सत्य की ओर कुछ संकेत तो मिलता ही है।

हमारे इतिहास की विशेषताएँ

हमारे साहित्य की सब से बड़ी विशेषता दर्शन और धर्म के उच्च आदर्श के रूप में है। हृदय को परिष्कृत करने के साथ ही जीवन को पवित्र और सदाचारानुमोदित बनाने में हमारे साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है, यों तो हिन्दू-जीवन में दर्शन और धर्म में पार्थक्य नहीं है। हिन्दी साहित्य के भक्ति-काल में यह बात और भी स्पष्ट है। दर्शन ही धर्म का निर्माण करता है और धर्म ही दर्शन के लिए जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म हमारे साहित्य के निर्माता हैं। दर्शन की जटिल विचारावली का प्रवेश तो हमारे साहित्य में संस्कृत से हुआ और धर्म की भावना का प्राधान्य राजनीतिक परिस्थिति से हुआ। एक बार धर्म की भावना के जागृत होते ही दर्शन के लिए एक उर्वर क्षेत्र मिल गया और हमारे धार्मिक काल की कविता भक्ति की आह्लादकारिणी भावना लिए अवतरित हुई। तुलसी और मीरां की कविता ने हमारे साहित्य को कितना गौरवान्वित किया, यह समय ने प्रमाणित कर दिया है। धर्म का शासन इतने प्रधान रूप से हम साहित्य में देखते हैं कि रीतिकाल में भी भाषा को माँजने वाले कवि धर्म के वातावरण की अवहेलना नहीं कर सके। नायक-नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन आदि में श्री राधाकृष्ण की अनेक शृंगार-चेष्टाएँ—पार्थिवता के बहुत समीप होते हुए भी—प्रदर्शित हुईं। धर्म के आलोचकों ने राधाकृष्ण के इस संबन्ध को आत्मा और परमात्मा के मिलन का रहस्यवादमय रूप दिया है, यद्यपि जीवन की भौतिकता का निरूपण इतने नग्न रूप में है कि ऐसा मानने में हमें संकोच है। जो हो, हम धर्म का अधिकार-पूर्ण प्रभाव साहित्य में स्पष्टतया देखते हैं। आजकल भी ब्रजभाषा-कविता के आदर्श

वही राधाकृष्ण हैं। इस प्रकार चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से हमारे साहित्य ने दर्शन और धर्म की भावना का संचित कोष प्रकारान्तर से हमारे सामने रक्खा है, यही उसकी प्रमुख विशेषता है।

हमारे साहित्य ने इतिहास की बहुत रक्षा की है। चारणों के रासो और ख्यातों ने तथा राजाओं द्वारा सम्मानित राज-कवियों के ऐतिहासिक काव्यों ने साहित्य के सौंदर्य के साथ इतिहास की सामग्री भी सञ्चित कर रक्खी है। 'टाड राजस्थान' के लेखन में चारणों की रचनाओं से बहुत सहायता मिली है।

साहित्य का महत्त्व

इस प्रकार प्रधानतः निम्नलिखित कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा इतिहास के अनेक व्यक्तियों एवं घटनाओं पर प्रकाश डाला है :—

संख्या	कवि	रचना	संवत्
१	नाल्ह	वीसलदेव	१२१२
२	हेमचन्द्र	कुमारपाल चरित	१२१६
३	सोम प्रभूसूरि	कुमार पाल प्रतिबोध	१२४०
४	चन्द	पृथ्वीराज रासो[1]	१२४७
५	धर्मसूरि	जम्बू स्वामी रासो	१२६६
६	मेरुतुंग	प्रबन्ध चिन्तामणि	१३६६
७	अंबदेव	संघपति समरा रासो	१३७१
८	ईश्वरसूरि	ललितांग चरित्र	१५६१
९	केशवदास	वीरसिंह देव चरित्र	१६६४
१०	,,	रतन बावनी	लगभग १६६४
११	भूषण	शिवराज भूषण	१६७४
१२	केशवदास चारण गाडण	गुण रूपक	१६८१
१३	हेमचारण	महाराजा राजसिंह का गुण रूपक	१६८१
१४	बनारसीदास	अर्द्धकथानक	१६९८
१५	श्रीकृष्ण भट्ट	सांभर युद्ध	लगभग १७००
१६	जग्गा चारण[2]	वचनका (?)	१७१५

१—प्रामाणिकता में सन्देह है।

१—राजपूताना में हिन्दी-पुस्तकों की खोज—देवीप्रसाद मुंसिफ, पृष्ठ १२

संख्या	कवि	रचना	संवत्
१७	मान	राजविला	१७५२
१८	"	लक्ष्मण शतक	
१९	"	नीतिनिधान	लगभग १७५२
२०	"	समर सार	
२१	गोरेलाल	छत्रप्रकाश	१७६४
२२	मुरलीधर	जंगनामा	१७६७
२३	हृषीकेश	जगत राज दिग्विजय	१७९६
२४	सूदन	सुजान चरित्र	१८२०
२५	पद्माकर	हिम्मत बहादुर विरुदावली	१८५५
२६	"	जगतसिंह विरुदावली,	लगभग १८५५
२७	गोपाल	भगवंतराय की विरुदावली	१८५५
२८	जोधराज	हम्मीर रासो	१८७५
२९	प्रताप साहि	जैसिंह प्रकाश	१८९१

सूदन का 'सुजान चरित्र' और पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' एवं "जगतसिंह विरुदावली'[1] आदि ग्रन्थ इतिहास की अनेक घटनाओं पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। जहाँ इतिहास की घटनाओं का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलता, वहाँ हमारे साहित्य के इन ऐतिहासिक ग्रन्थों से बड़ी सहायता मिली है। ओरछा के वीरसिंह देव का यथार्थ परिचय हमें इतिहास से नहीं, केशवदास के 'वीरसिंह देव चरित्र' से मिलता है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में अनेक विषय की पुस्तकें भी लिखी गई हैं जिनसे साहित्य के व्यापक और विस्तृत दृष्टिकोण का भी परिचय मिलता है। यद्यपि उन पुस्तकों की रचना अधिकतर पद्य में ही हुई, तथापि काव्य के अतिरिक्त अन्य विषयों पर की गई रचनाओं से हमारे साहित्य की बहुमुखी प्रवृत्ति लक्षित होती है। अतः जो लोग हिन्दी साहित्य को केवल नव रसमय काव्य समझे हुए हैं, उन्हें साहित्य की अन्य विषयक रचनाओं पर भी दृष्टि डालनी चाहिए। संक्षेप में काव्य के अतिरिक्त अन्य जिन विषयों पर रचनाएँ हुई हैं, उनमें मुख्य-मुख्य रचनाओं का विवरण इस प्रकार है :—

---

१ ना० प्र० सभा की खोज रिपोर्ट (१९०६, १९०७ और १९०८) पृष्ठ २

सं० विषय	ग्रन्थ	लेखक	संवत्
१ ज्योतिष			
	तत्त्व मुक्तावली	सितकंठ	१७२७
	समय बोध	कृपाराम	१७७२
	मत चन्द्रिका	फतेहसिंह	१८०७
	भाषा ज्योतिष	शंकर	अज्ञात
	कर्म विपाक	श्री सूर्य	"
२ वैद्यक			
	रामविनोद	रामचन्द्र मिश्र	१५०६
	वैद्य मनोत्सव	नैनसुख	१६४६
	सार संग्रह	गंगाराम	१७१४
	भिषज प्रिया	सुदर्शन वैद्य	१७७६
	हिम्मत प्रकाश	श्रीपति भट्ट	१७३१
	आयुर्वेद विलास	देवसिंह राजा	१७३७
	दयाविलास	दयाराम	१७७६
	सारंगधर संहिता	नेतसिंह	१८०८
	चिकित्सा सार	धीरजराम	१८१०
	वैद्यविनोद	हरिवंश राय	१८२२
	औषधि-विधि	धन्वन्तर	१८३६
	औषधि सार	छत्रसाल मिश्र	१८४२
	वैद्य मनोहर संजीवन सार	नोनेशाह	१८५१
	वैद्यक ग्रन्थ की भाषा	अनन्तराम	१८५७
	वैद्य प्रिया	खेतसिंह	१८७७
	नामचक्र	लछमन प्रसाद	१९००
	शिवप्रकाश	शिवदयाल	१९१०
	निघंटू भाषा	मदनपाल	अज्ञात
	माधव निदान	चन्द्रसेन	"
	ज्वर चिकित्सा प्रकरण अमृत संजीवनी	बाबा साहेब	अज्ञात
३ गणित			
	गुण प्रकाश	फतेहसिंह	१८०७
	गणित सार	भीमजू	१८७३

सं०	विषय	ग्रन्थ	लेखक	संवत्
		गणित चन्द्रिका	धीरजसिंह	१८६६
		भाषा लीलावती	भोलानाथ	अज्ञात
४	राजनीति			
		राजभूखन	कोविद	१७५७
		सभा प्रकाश	बुद्धिसिंह	१८६७
		नृपनीतिशतक	राजा लक्ष्मणसिंह	१६००
		राजनीति के दोहे	देवीदास	अज्ञात
		राजनीति के भाव	देवमणि	,,
५	सामुद्रिक			
		सामुद्रिक	रतनभट्ट	१७४५
		,,	यदुनाथ शास्त्री	१८५७
		,,	दयाराम	अज्ञात
६	संगीत			
		सभा भूषण	गंगाराम	१७४४
		राग रत्नाकर	राधाकृष्ण	१७६६
		रागमाला	रामसखे	१८०४
		रागमाला	यशोदानन्द	१८१५
७	कोष			
		नाममाला नाम मंजरी, नाममाला अनेकार्थ मंजरी	नन्ददास	१६२५
		अमरकोष भाषा	हरिजू मिश्र	१६६२
		शब्द रत्नावली	प्रयागदास	१८६६
८	उपवन-विज्ञान			
		बाग विलास	शिवकवि	१८५७
		उपवन विनोद	भोज	१८६७
९	विविध			
		दस्तूर चिन्तामणि (क्षेत्रमिति)	धीरजसिंह	१८६६
		भोजन विलास (पाकशास्त्र)	प्रयागदास	१८७७
		जुद्ध जोत्सव (सेना-विज्ञान)	जगन्नाथ	१८८७

सं०	विषय	ग्रन्थ	लेखक	संवत्
		सिद्धसागर तंत्र (तंत्रविद्या)	शिवदयाल	१८९३
		सार संग्रह (विविध)	दाराशाह	१७०७
		धनुर्वेद	यशवंतसिंह	अज्ञात

यदि साधारणतया देखा जाय तो वैद्यक विषय विशेष विस्तार से लिखा गया। उसके बाद क्रमशः ज्योतिष, राजनीति, संगीत, कोष, गणित, सामुद्रिक आदि आते हैं।

इतिहास-लेखन में कठिनाइयाँ

हिन्दी साहित्य में अभी तक ऐसे बहुत से स्थल हैं, जिनके निर्धारण में शंका की जाती है। गोरखनाथ का समय, जटमल का गद्य, सूरदास जी की जन्मतिथि, कबीर का चरित्र आदि विषयों पर अभी तक मत निश्चित नहीं हो पाया। उसके दो कारण हैं। एक तो हमारे यहाँ इतिहास-लेखन की प्रथा ही नहीं थी। यदि घटनाओं और व्यक्तियों पर कुछ लिखा भी गया तो उनकी तिथि आदि के विषय में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। 'भक्तमाल', 'वार्ता' आदि में यद्यपि भक्तों और कवियों के चरित्र वर्णित हैं, पर उनमें तिथियों का क्रिंचित् भी निर्देश नहीं है। दूसरे, कवियों ने स्वयं अपने विषय में भी कुछ नहीं लिखा। वे या तो आवश्यकता से अधिक नम्र थे, या अपने सांसारिक जीवन को तुच्छ समझ कर पारलौकिक सत्ता पर दृष्टि गड़ाए हुये थे। 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' अथवा 'हौं प्रभु सब पतितन कौ टीकौ'[1] कह कर वे अपनी हीनता वर्णित करते थे। राष्ट्र-निर्माण की भावना अथवा सम्मिलित संगठन का दृष्टिकोण तो हमारे कवियों के सामने था ही नहीं। प्रत्येक कवि व्यक्तित्व की परिधि में सीमित होकर परमात्मा की प्रार्थना में ही अपने को भुला देना चाहता था, इसीलिए केशवदास के पूर्व तक किसी कवि ने अपना यथेष्ट परिचय ही नहीं दिया। यह बात दूसरी है कि कवि ने ग्लानि अथवा अपनी हीनता के प्रदर्शन में अज्ञात रूप से अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया हो। तुलसीदास ने ही अपने जीवन की घटनाओं का वर्णन अपनी आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर किया है। रीतिकाल में न तो कार्य की भावना ही प्रबल रह गई थी और न आत्मग्लानि से व्यक्तित्व ही क्षुद्र रह गया था। श्रृंगार और श्रृंगार-जनित जागृति ने प्रत्येक कवि को विलासी नहीं तो भावुक तो अवश्य बना दिया था। इसी कारण रीतिकाल में हमें कवियों का यथेष्ट परिचय मिलता है। केशवदास, जो धार्मिक काल की संध्या में देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति उदित होते हैं, अपना परिचय देते हैं[2]। भिखारीदास

---

१ कविप्रिया—कविवंश वर्णन के २१ दोहे। २ प्रियाप्रकाश टीका—ला० भगवानदीन, सं० १९८२, पृष्ठ २१, २२।

तो अपने काव्य-निर्णय में काव्य-कौशल के द्वारा चमत्कारपूर्ण परिचय देने में व्यग्र जान पड़ते हैं। कवियों का पूर्ण परिचय न पाने के कारण हमें इतिहास में कहीं 'लगभग'[1] का सहारा लेना पड़ता है; कभी बाह्य साक्ष्य का[2]। कही हम किसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर कवि का जीवन जानने की चेष्टा करते हैं[3]। कहीं उसकी कविता के उद्धरण[4] अथवा भाषा के विकास के सहारे[5] उससे परिचय प्राप्त करते हैं, किन्तु ऐसे आधार का आश्रय लेने पर हमें कवि-विशेष के जीवन की एक-दो घटनाएँ ही मिलती हैं। उनमें भी कुछ न कुछ सन्देह बना ही रहता है। तिथियों को निश्चयात्मक रूप से न जान सकने के कारण हमें साहित्य के काल-विभाजन में भी कठिनाई पड़ती है। ऐसी परिस्थिति में भाषा तथा शैली में परिवर्तन, धार्मिक दृष्टि-कोण से भेद अथवा राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर ही काल-विभाजन की रेखा खीचनी पड़ती है। कवियों का अपना परिचय देने का संकोच हमारे सामने उनका अक्षम्य अपराध समझा जाना चाहिये।

हिन्दी साहित्य का इतिहास अपने प्रारम्भ से ही उन समस्त सांस्कृतिक परम्पराओं से ओत-प्रोत रहा है, जो हिन्दी के जन्म के पूर्व ही अखिल भारतीय रूप में प्रचलित रहीं। संस्कृत साहित्य में वैदिक धर्म की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ शताब्दियों तक लोकमत का शासन करती रहीं। वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया ने बौद्ध-धर्म को प्रसारित होने का अवसर दिया और यह बौद्ध धर्म न केवल राजनीतिक केन्द्रों में शासक वर्गों की रुचि का विषय रहा, प्रत्युत जनता के विश्वास का मेरुदण्ड बन गया। वैदिक धर्म का शास्त्रीय विवेचन जहाँ एक ओर आचार्यों का बुद्धि-वैभव बन कर रहा, वहाँ बौद्ध धर्म की महायान शाखा जनता की मनोवृत्तियों में परिव्याप्त होकर उनके जीवन के समानान्तर प्रवाहित होती रही। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में समय-समय पर संघर्ष होते रहे और जब शंकर और कुमारिल आदि आचार्यों की प्रतिभा से वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तब भी बौद्ध धर्म के संस्कार जनता के हृदय पर वर्त्तमान ही रहे तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव से चले हुए संप्रदाय जनता को अपनी ओर आकर्षित करते ही रहे।

आठवीं शताब्दी में भी बौद्ध धर्म की महायान शाखा, जिसने जनता में वर्ग-भेद को हटाकर धर्म की साधना का मार्ग अत्यन्त सुगम कर दिया था, आकर्षण का केन्द्र बनी ही रही। यह महायान शाखा आगे चलकर अनेक सम्प्रदायों में विभाजित हो गई, जिनमें वज्रयान और सहजयान संप्रदाय प्रमुख थे। जनता की

---

१ नन्ददास के सम्बन्ध में। २ मीराँ के सम्बन्ध में। ३ शाहजहाँ के इतिहास के आधार पर रहीम के जीवन का विवरण। ४ सूरदास की साहित्य-लहरी का उद्धरण। ५ नरपति-नाल्ह।

सहानुभूति प्राप्त कर ये स्वाभाविक और सरल साधना के सम्प्रदाय पुष्ट होते रहे। ईसा की पहली शताब्दी से प्रारम्भ होकर महायान सम्प्रदाय ने अपने सात-आठ सौ वर्षों की यात्रा में जनता के हृदय में काफी गहरा स्थान बना लिया और वह विविध रूपों में परिवर्तित होकर लोक-रुचि के अत्यन्त समीप आ गया। जब वैदिक-धर्म में शैव सम्प्रदाय को प्रमुखता प्राप्त हुई, तब भी बौद्ध धर्म के संस्कार शैव सम्प्रदाय से प्रभावित होकर नाथ-सम्प्रदाय के रूप में प्रतिफलित हुए। इस प्रकार बौद्ध और शैव-साधनाओं के संयोग से नाथपंथी साधकों का एक नया सम्प्रदाय चला।

बौद्ध धर्म के समानान्तर ही जैन धर्म चलता रहा, यद्यपि जैन धर्म का विकास उतनी व्यापकता से नहीं हुआ जितना बौद्ध धर्म का।

इस प्रकार यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रारम्भ होने के पूर्व ही बौद्ध धर्म और जैन धर्म की प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार जनता के हृदय पर विशेष रूप से अंकित थे और जब हिन्दी का विकास अपनी पूर्ववर्त्ती अपभ्रंश की स्थिति से हुआ, तो इन्हीं धार्मिक संस्कारों से हमारे साहित्य का निर्माण हुआ। फलस्वरूप सिद्धों-द्वारा प्रचारित बौद्ध धर्म के वज्रयान और सहजयान सम्प्रदाय की तथा जैन-आचार्यों-द्वारा प्रचारित जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की रूपरेखा साहित्य में देखने को मिलती है।

काल-विभाग

यों तो देश में मुसलमानों का आगमन ईसा की सातवीं शताब्दी से ही हो गया था, किन्तु देश की विचार-धारा पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं पड़ सका। उन्होंने देश की राजनीतिक परिस्थिति को प्रभावित किया और राजनीतिक परिस्थितियों ने हमारे साहित्य की गति-विधि पर विशेष प्रभाव डाला। ग्यारहवीं शताब्दी में राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अस्तव्यस्त था। संस्कृति का केन्द्र राजस्थान था। वहीं राजपूत वीरों के उत्कर्ष और अपकर्ष का अभिनय हुआ था। यह पारस्परिक द्वेष की आग १४ वीं शताब्दी तक नहीं बुझ सकी। गृह-कलह और मुसलमानों का प्रारम्भिक आतंक राजपूती शौर्य से संघर्ष लेता रहा। चौदहवीं शताब्दी के बाद मुसलमानों ने भारत में अपना राज्य स्थापित कर अपने धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। अब संस्कृति का केन्द्र राजस्थान से हटकर मध्यदेश हो गया। हिंदू धर्म की प्रतिद्वन्द्विता में जब इस्लाम खड़ा हुआ, तो जनता के हृदय में अशान्ति के साथ-साथ क्रान्ति भी जागृत हुई। इस धार्मिक अव्यवस्था के फल-स्वरूप धर्म की जो भावना ईसा से पूर्व शताब्दियों से परम्पराओं के रूप म चली आ रही थी, वह चारों ओर से आत्म-रक्षा और शत्रु-विरोध के रूप में उठी तथा धर्म की मर्यादा में—धर्म की रक्षा में—अनेकों सन्देश कवियों की लेखनियों से निकल पड़े।

यह क्रान्ति सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक आतंक के साथ गूँजती रही। इस समय तक मुसलमान भी यहाँ के वातावरण से परिचित हो गए थे। हिन्दू भी मुसलमानों को देश का निवासी मानने लगे थे। अतएव दोनों में मेल की भावना उत्पन्न हुई और प्रतिक्रिया के रूप में शांति, आनंद और विलास की प्रवृत्तियाँ उठीं। शृंगार-रस से सारा समाज ओत-प्रोत हो गया, यद्यपि वीरत्व के चिन्ह कभी-कभी परिस्थितियों के कारण और कभी-कभी रस-भेद के रूप में दीख पड़ते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक शृंगार की यह अबाध धारा देश को विलासता की गोद में सुलाए रही। इस समय तक संस्कृति का केन्द्र मध्यदेश के साथ दक्षिण में भी हो गया था और साहित्य, कला-कौशल, शिल्प आदि का उत्कर्ष स्पष्ट रूप से सामने आ रहा था। विक्रम की बीसवीं सदी के प्रारम्भ में अँग्रेजों का प्रभाव विशेष रूप से सामने आया। यद्यपि अँग्रेजों का प्रवेश तो भारत में विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी से ही हो गया था, तथापि साहित्य और संस्कृति के निर्माण में उनका कोई हाथ नहीं था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही उन्होंने अपनी सभ्यता का भारत में विस्तार किया। अब संस्कृति का केन्द्र समस्त भारत हो गया और साहित्य का प्रभाव जीवन के प्रत्येक भाग में होने लगा। विविध विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और जीवन की यथार्थ समालोचना की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित हुआ।

इस प्रकार हम राजनीतिक पट-परिवर्तन के साथ साहित्य को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित करते हैं :—

सं०	काल-विभाग	विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार-धारा	विशेष
१	सन्धि-काल	सं० ७५०-१०००	नालन्दा, विक्रम-शिला तथा राजस्थान	आध्यात्मिक	अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी की रूपरेखा, वज्रयान और जैन धर्म की व्याख्या।
२	चारण-काल	स० १०००-१३७५	राजस्थान	लौकिक	पुरानी हिन्दी; काव्य की अपेक्षा भाषा का उत्कर्ष; अधिकतर वर्णनात्मक काव्य; कविता के क्षेत्र में वीर-रस का अधिक महत्त्व, व्यक्तिगत वीरत्व; राष्ट्रभावना का अभाव।

सं०	काल-विभाग	विस्तार	संस्कृति का स्थान	विचार-धारा	विशेष
३	भक्ति-काल	सं० १३७५-१७००	राजस्थान और मध्य देश	पारलौकिक	भाव और भाषा दोनों का उत्कर्ष, वर्णनात्मक काव्य के साथ रीतिकाव्य की प्रधानता, कविता के क्षेत्र में शृंगार और शांत-रस की प्रधानता, धार्मिक भावना का उत्कर्ष, राष्ट्र-भावना का अभाव, रचनात्मक [Constructive] साहित्य का प्रणयन ।
४	रीति-काल	सं० १७००-१९००	राज-स्थान, मध्यदेश और दक्षिण	पारलौकिक के वेष में लौकिक	भाषा का उत्कर्ष, भावों की पुरानी परम्परा का आवर्तन; कला का अधिक प्रदर्शन, वर्णनात्मक कविता का प्राधान्य, भावों का आवश्यकता से अधिक विस्तार, कविता के क्षेत्र में शृंगार-रस का प्राधान्य, मौलिकता का अभाव, कवित्व की अपेक्षा आचार्यत्व का अधिक प्रदर्शन ।
५	आधुनिक काल	सं० १९०२-अब तक	सम्पूर्ण भारत	लौकिक, पार-लौकिक	गद्य का विकास और विस्तार; भावों का नवीन स्वरूप; धार्मिक भावनाओं का आधुनिक दृष्टिकोण; जीवन के सभी विभागों पर दृष्टि-पात; वर्णनात्मक और नीति-काव्य की प्रधानता; राष्ट्र-भावना का सूत्रपात; रचनात्मक साहित्य का प्रणयन ।

हिन्दी साहित्य का विस्तार अनेक बोलियों में पाया जाता है। बोलियों में साहित्य का निर्माण होने के कारण उनके रूप अभी तक वर्त्तमान हैं और साहित्य के साथ जीवित हैं। भण्डारकर के अनुसार हिन्दी की अनेक बोलियाँ हैं। राजस्थान में प्रयुक्त बहुत सी बोलियों में दो प्रधान हैं। मेवाड़ी और उसके समीपवर्त्ती भागों में बोली जाने वाली मारवाड़ी। इन दोनों बोलियों की भौगोलिक स्थिति से यह तो जाना जा सकता है कि वे गुजराती और ब्रजभाषा के बीच की बोलियाँ हैं जिनमें दोनों भाषाओं की विशेषताएँ हैं। उत्तर में ब्रजभाषा है जो मथुरा के समीप बोली जाती है। पूर्व में कन्नौजी है। दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। चौरासी-वैष्णवन की वार्ता और बल्लभी सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों की भाषा जो ब्रजभाषा मानी जाती है, कन्नौजी-व्याकरण के रूप भी रखती है। सुदूर उत्तर में गढ़वाली और कुमायुँनी है जो गढ़वाल और कुमायूँ में बोली जाती है। पूर्व में अयोध्या की बोली अवधी है और दक्षिण में बुन्देली और बाघेली। सुदूर पूर्व में भोजपुरी तथा बिहार और बंगाल की सीमा पर प्रचलित मैथिली तथा अन्य बोलियाँ हैं। डिंगल [राजस्थानी], पिंगल [ब्रजभाषा], अवधी, मैथिली और खड़ीबोली में साहित्य की रचना हुई। वस्तुत: इस समस्त साहित्य का नाम हिन्दी-साहित्य दिया जाना चाहिए। हिन्दी की भिन्न-भिन्न बोलियों में साहित्य का निर्माण होने तथा जन-समाज की व्यापक और शतरूपा वृत्ति का प्रदर्शन करने के कारण हिन्दी साहित्य का दृष्टिकोण विस्तृत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जीवन को सबसे अधिक स्पर्श करने वाले शृंगार और शान्त-रस का परमोत्कृष्ट और विस्तृत निरूपण होने के कारण भी हिन्दी साहित्य विश्व-जनीन भावनाओं को लिये हुए है।

साहित्य का विस्तार

इन बोलियों के आधार पर जिस प्रकार साहित्य-रचना हुई है, उस पर संक्षेप में विचार करना उचित होगा।

सिद्ध-युग का साहित्य

हिन्दी का प्रारम्भ मगही भाषा में उन सिद्धों की कविता में हुआ, जिन्होंने बौद्ध धर्म के 'वज्रयान' सिद्धान्त का प्रचार आठवीं शताब्दी से करना प्रारम्भ किया। ये सिद्ध संख्या में चौरासी माने गए हैं। इन्होंने किसी साहित्यिक भाषा को न लेकर जन-साधारण की भाषा ही में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस भाषा के नमूने साहित्य में सुरक्षित नहीं हैं। इनका अनुवाद भोटिया में हुआ है और ये कविताएँ तिब्बत के स-स्क्य विहार के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली 'स-स्क्य-ब्कं-बुम्' में हैं। इन सिद्धों में सरहपा, शवरपा, लूइपा, दारिकपा, घंटापा, जालंधरपा, कण्हपा और शन्तिपा मुख्य माने गये हैं। सरहपा का समय राहुल जी द्वारा सं० ८२६ माना गया है और डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार सम्वत् ६६०।

अतः सातवीं शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारम्भिक रूप में पाते हैं। इन रचनाओं का वर्ण्य-विषय हठयोग, मन्त्र, मद्य और स्त्री है, जो वज्रयान का मुख्य साधन है। भाषा अपभ्रंश मिश्रित है जिसमें सिद्धान्तों के प्राधान्य के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं पाया।

पुरानी हिन्दी का साहित्य

अपभ्रंश की विकसित अवस्था जब हिन्दी का रूप ले रही थी उस समय जैन आचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्त इस अपभ्रंश से निकलती हुई भाषा में प्रारम्भ कर दिये थे। यद्यपि इस भाषा में जैन धर्म के सिद्धान्त ही लिखे गये हैं, पर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हमें इसमें अपनी भाषा के विकास की सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिल सकती है। जन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय ने हिन्दी में अपने धर्म के प्रचार की चेष्टा भी की। श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने तो अधिकतर गुजराती भाषा का ही आश्रय ग्रहण किया। जैन धर्म के प्रचार पर अधिक ध्यान रहने के कारण कोई भी जैनी उत्कृष्ट कवि नहीं हुआ। उसे अपने सिद्धान्तों को दुहराने से अवकाश ही नहीं मिलता था जिससे वह काव्य के अंग पर विचार करे। सारे जन-साहित्य में एक भी रसनिरूपण-सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं है। उसमें हेमचन्द्र के 'कुमार पाल चरित' से प्रारम्भ होकर धर्मसूरि के 'जम्बू स्वामी रासा' विजय सेन के 'रेवंतगिरि रासा' विजय-चन्द्र के 'नेमिनाथ चउपई' आदि की रचना हुई। इन ग्रंथों में जैन धर्म के सिद्धान्तों की चर्चा के साथ ही इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं की भी रक्षा की गई है। बनारसी-दास (सं० १६४३ जन्म) अवश्य कवि थे, पर उनकी प्रतिभा भी अधिकतर अपने जीवन-वृत्त एवं जैन आदर्शों के लिखने में समाप्त हुई।

राजस्थानी का साहित्य (डिंगल)

नागर अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थान की बोली साहित्यिक रूप में 'डिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें 'वीसलदेवरासो' सब से प्रथम गीति-ग्रन्थ है जो नरपति द्वारा सं० १२१२ में लिखा गया।[१] इसके बाद तो बहुत से प्रबन्ध-काव्य और वर्णानात्मक काव्य लिखे गये जिनमें 'पृथ्वीराजरासो' का भी नाम लिया जाता है, यद्यपि इसके प्रामाणिक होने में अभी हिन्दी के विद्वानों को सन्देह है, इस साहित्य में पृथ्वीराज राठौर का भी नाम सम्मान-सहित है। जिन्होंने 'बेलि क्रिसन रुकमिणी-री' की रचना की। इस साहित्य की रचना अधिकतर चारणों द्वारा हुई। अतएव इसमें वीर और रौद्र रस की प्रधानता है। यद्यपि इस साहित्य में भाषा का अधिक सौन्दर्य नहीं है, तथापि भावों का वर्णन स्वाभाविक और उत्कृष्ट है। इस साहित्य से हमारे देश के इतिहास की भी यथेष्ट रक्षा हुई है। जहाँ ब्रजभाषा में साहित्य की

१—इसकी रचना सं० १०७३ में भी मानी गई है। ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अं १, पृष्ठ ६६।

रचना अधिकतर पद्य में हुई वहाँ इस भाषा में साहित्य की रचना गद्य और पद्य दोनों में हुई है। हमें 'रासो' के साथ-साथ 'बात' और 'ख्यात' की रचना भी मिलती है। इस भाषा के साहित्य का महत्त्व इसलिये भी है कि इसी के द्वारा हमारे साहित्य का क्रम-विकास हुआ है।

ब्रजभाषा का साहित्य (पिंगल)

शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रजबोली में साहित्य की रचना विक्रम की बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुई। उस समय इसका नाम 'पिंगल' था। यह राजस्थानी साहित्य डिंगल के समान मध्य-देश की साहित्यिक रचना का नाम था। इस साहित्य का विस्तार हिन्दी की अन्य बोलियों के साहित्य के विस्तार से अधिक रहा। सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण-पूजा का आश्रय पाकर इस साहित्य ने बहुत उन्नति की। सूरदास, नन्ददास, सीताराम, अष्टछाप के अन्य कवि, सेनापति, बिहारी, चिन्तामणि, रसखान, देव, घनानन्द, पद्माकर तथा रीतिकाल के समस्त कवि इसी साहित्य की श्री-वृद्धि करते रहे। भारतेन्दु ने खड़ीबोली का उद्धार करते हुए भी काव्य की भाषा ब्रजभाषा ही रखी। वर्त्तमान समय में भी ब्रजभाषा के प्रति लोगों की रुचि है, यद्यपि वह रुचि क्षीण अस्तित्व ही लिए हुए है। ओरछा-नरेश का 'देव-पुरस्कार' इस साहित्य की अभिवृद्धि का अब भी स्वप्न देख रहा है। ७०० वर्षों से परिष्कृत होती हुई इस भाषा में सहस्रों कवियों के द्वारा साहित्य की सब से सुन्दर रचना हुई। कृष्ण-भक्ति का साहित्यिक शृंगार इसी ब्रजभाषा में हुआ और ब्रजभाषा का चरमोत्कर्ष कृष्ण-भक्ति में हुआ। दोनों ने एक दूसरे को पा लिया। कृष्ण-भक्ति को ब्रजभाषा से अच्छी भाषा नहीं मिल सकती थी और ब्रजभाषा को कृष्ण-साहित्य से बढ़ कर विषय नहीं मिल सकता था। कृष्ण-भक्ति का यह रूप अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में कोमल और सुकुमार ब्रज की कविता में प्रदर्शित हुआ है, जैसे किसी षोडशी ने रेशमी साड़ी पहन ली हो। ब्रजभाषा की यह साहित्य-रचना हिन्दी की अनुपमेय निधि है। वह उसकी संचित वैभव-श्री है। इसमें नवरस-मयी रचना हुई है, यद्यपि शृंगार और शान्त रस की प्रधानता है।

अवधी का साहित्य

अवधी साहित्य का सब से प्रथम प्रदर्शन आख्यानक कवियों ने अपनी प्रेम-गाथाओं में किया। उन्होंने अर्द्ध मागधी प्राकृत के विकसित रूप में अवधी-भाषा को अपने साहित्य-निर्माण का साधन बनाया। इन प्रेमाख्यानक कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख थे। उन्होंने अवधी का सरल और साधारण रूप ही रखा है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का स्थान नहीं के बराबर है। इस प्रेम-काव्य की धारा के बाद अवधी का प्रयोग राम-साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ कवि तुलसीदास ने किया। तुलसीदास की सर्वोत्तम कृति 'मानस' की रचना इसी भाषा में हुई।

इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी ने अवधी को परिष्कृत कर उसे संस्कृतमय कर दिया है तथापि भाषा का यह गौरव क्या कम है कि उस समय की काव्य-परम्परा में प्रचलित ब्रजभाषा की उपेक्षा कर तुलसी ने अपनी मौलिकता अवधी में दिखलाई। अवधी को ब्रजभाषा के समान साहित्यिक रूप देने का श्रेय तुलसीदास जी ही को है। अलंकारों से परिपूर्ण, रसोद्रेक से ओत-प्रोत, गुणों की गरिमा से विभूषित, तुलसी की अवधी-कविता मानव-जोवन की व्यापक-विनेचना करने में समर्थ हुई है। तुलसी ने राम-काव्य में अवधी के सहारे इतनी सफलता प्राप्त की कि फिर किसी कवि को अवधी में राम-साहित्य लिखने का साहस नहीं हुआ। ब्रजभाषा में तो कृष्ण-साहित्य सूर के बाद भी अनेक कवियों के द्वारा लिखा गया, पर तुलसी द्वारा रचित यह अवधी-कविता संसार के साहित्य में अपना महत्त्व सदैव रख सकेगी।

बुन्देलखंडी का साहित्य

ब्रजभाषा के साहित्य-महत्त्व के कारण यद्यपि अन्य बोलियों का विकास साहित्य-रचना के लिए रुक-सा गया, तथापि बुन्देलखंडी भाषा ने कुछ अंशों में अपने अस्तित्व की रक्षा अवश्य की। सबसे प्रथम रचना जगनिक के द्वारा 'आल्हखंड' की हुई। आल्हखंड का साहित्यिक रूप अप्राप्य है, वह जनता के कंठ की वस्तु है। यही कारण है कि अभी तक उसका प्रामाणिक पाठ नहीं मिल सका। भाषा के क्रमिक विकास और परिवर्तन के कारण उसमें भी परिवर्तन होता रहा। उसका मूलरूप क्या था, यह जानना भी अब कठिन है। आल्हखंड में ब्रजभाषा के कलेवर में बुंदेलखंडी भाषा बैठी हुई है। अनेक बुंदेली क्रियाएँ और शब्द—जैसे मँझोटा (कमरा), खों (को), लाने (लिये), आउन लागे (आने लगे) उसमें पाये जाते हैं। सम्पूर्ण रूप से बुंदेली बोली का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। संवत् १६१२ में ओरछा के व्यास स्वामी ने कुछ पदों की रचना की। निम्बादित्य के शिष्य होने पर उन्होंने 'हरि व्यासी' सम्प्रदाय की स्थापना की और कृष्ण-भक्ति पर पद लिखे। सं० १६५८ में केशव ने 'रामचन्द्रिका' लिखी। रामचन्द्रिका की भाषा ब्रजभाषा अवश्य है, पर उसमें बुंदेली-शब्द बहुतायत से मिलते हैं, 'स्यों' 'जू' 'काकी', 'कठला' शब्द आदि। संवत् १७२३ में ओरछा के राजा सुजानसिंह के भतीजे अर्जुनसिंह की आज्ञानुसार मेघराज प्रधान ने एक प्रेम-कहानी 'मृगावती की कथा' लिखी। गोरेलाल 'लालकवि' ने राजा छत्रसाल की प्रशंसा में 'छत्र-प्रकाश' ग्रन्थ लिखा। उसमें भी बुंदेली का प्रभाव लक्षित है।

मैथिली का साहित्य

पंद्रहवीं शताब्दी में विद्यापति ठाकुर ने मैथिली साहित्य में अपनी पदावली की रचना की। बिहारी भाषा के अन्तर्गत मैथिली बोली ही ऐसी है जिसमें साहित्य-रचना हुई है। यद्यपि मैथिली को मागधी अपभ्रंश से निकलने के कारण हिन्दी के अन्तर्गत मानने में आपत्ति हो सकती है, पर शब्द-भाण्डार की व्यापकता और हिन्दी से मैथिली का अधिक साम्य होने के कारण वह हिन्दी की एक शाखा

ही मान ली गई है। इसीलिए विद्यापति की कविता हिन्दी साहित्य के अंतर्गत मानी जाती है। विद्यापति ने राधाकृष्ण के सौन्दर्य और शृंगार पर अनेक पद लिखे हैं, जो चैतन्य महाप्रभु के द्वारा बहुत प्रचार पाते रहे। अब भी विद्यापति की रचना लोकप्रिय है, यद्यपि वासना का रंग प्रखर होने से वह भक्त जनों को कुछ कम भाती है। "सरस वसन्त समय भल पावलि दछिन पवन बह धीरे" में साहित्यक सौन्दर्य अवश्य है, पर 'सूनि सेज पिय सालइ रे' में भक्ति नहीं मानी जा सकती।

मैथिली में विद्यापति के बाद और भी बहुत से कवि हुए—उमापति, मोद, नारायण, चतुर्भुज, चक्रपाणि, इत्यादि। मनबोध (मृत्यु १८४५ सं०) ने 'हरिवंश' नामक ग्रंथ लिखा, जिसमें कृष्ण का जीवन-वृत्त है। चन्द्र झा ने 'मिथिला भाषा रामायण' की रचना की जो अधिक लोकप्रिय है। इसी प्रकार सहस्र से अधिक पदों की इनकी 'महेश वाणी' है जो मिथिला के प्रत्येक घर और मंदिर की सम्पत्ति है। इन्होंने विद्यापति और गोविन्ददास का काव्य संग्रह भी किया। ये मिथिला के बड़े भारी संगीतज्ञ और कवि हुए। मुंशी रघुनन्दन दास ने तेरह सर्गों में 'सुभद्रा-हरण' महाकाव्य की रचना की। इन्होंने 'वीर बालक' नाम से अभिमन्यु के पराक्रम से संबंध रखने वाला एक 'वीर रसात्मक खंडकाव्य' भी लिखा। महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा के बड़े भाई विन्ध्यनाथ झा तथा गणनाथ झा गीति-काव्य के सफल कवि हुए। विन्ध्यनाथ झा ने करुणरस में अनेक सफल रचनाएँ कीं। इनके अतिरिक्त लालदास, गुणवन्तलालदास, पुलकित लालदास, यदुनाथ झा और गंगाधर सफल कवि हुए। भानुनाथ झा ने हास्यरस की धारा मैथिली में प्रवाहित की।

महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह के शासनकाल (१८८०-१८९८ ई०) में मैथिली साहित्य के सभी विभागों में अभूतपूर्व उन्नति हुई: दर्शन, इतिहास, भूगोल, गणित, कोष, व्याकरण, छन्दशास्त्र, उपन्यास, कहानी आदि में उत्कृष्ट साहित्य लिखा गया। साथ ही मैथिली साहित्य के अनेक केन्द्र स्थापित हो गए। (१) काशी केन्द्र (महामहोपाध्याय मुरलीधर झा के नेतृत्व में), (२) दरभंगा केन्द्र (महा-राजाधिराज, महामहोपाध्याय परमेश्वर झा, चन्द्र झा, विन्ध्यनाथ झा, चेतनाथ झा, सर गंगानाथ झा के नेतृत्व में), (३) जयपुर केन्द्र (विद्यावाचस्पति मधुसूदन झा और पं० रामचंद्र झा के नेतृत्व में), (४) अजमेर केन्द्र (श्री रामचन्द्र मिश्र के नेतृत्व में) कलकत्ता, बनारस और पटना विश्वविद्यालयों में मैथिली को पाठ्यक्रम में स्थान मिल जाने से, उसके साहित्य के प्रकाशन और प्रणयन में विशेष गति-शीलता आ गई। दरभंगा केन्द्र में मैथिली साहित्य परिषद् की स्थापना सन् १९३१ में हुई। महाराजाधिराज सर रामेश्वरसिंह बहादुर तथा महाराजाधिराज सर

कामेश्वर सिंह बहादुर ने इस परिषद् को अधिक प्रोत्साहन दिया। आधुनिक मैथिली में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ। 'मिथिला मोद', 'मिथिला मिहिर', 'मिथिला हित साधन', 'मिथिला प्रभा','मिथिला प्रभाकर' 'मिथिला बंधु' और 'मिथिला पत्र' उनमें प्रमुख हैं। कविता के क्षेत्र में भुवनेश्वरसिंह, सीताराम झा, बद्रीनाथ झा, ईशनाथ झा तथा तंत्रनाथ झा का नाम प्रमुख है। नाटक के क्षेत्र में हर्षनाथ झा ने ख्याति अर्जित की। ये कवि भी थे।[१] हर्षनाथ झा के बाद जीवन झा, मुंशी रघुनन्दन-दास तथा ईशनाथ झा का नाम आता है। उपन्यास के क्षेत्र में महामहोपाध्याय परमेश्वर झा, हरिनारायण झा, जीवन मिश्र, छेदी झा, पुण्यानन्द झा, कांचीनाथ झा, हरिमोहन झा विशेष प्रसिद्ध हैं। निबंधकारों में महामहोपाध्याय मुरलीधर झा, पुलकित लालदास, बलदेव मिश्र, रामनाथ झा, त्रिलोचन झा और डा० उमेश मिश्र प्रमुख है। उपयोगी साहित्य में भी मैथिली की संपत्ति श्लाघ्य है। महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा का 'वेदान्त दीपिका' ग्रन्थ अपनी सरलता और स्पष्टता के लिये प्रसिद्ध है। क्षेमधारी सिंह ने 'सांख्य खद्योतिका' ग्रन्थ लिखा। डा० उमेश मिश्र ने 'प्राचीन वैष्णव संप्रदाय' ग्रन्थ की रचना की। दीनबन्धु झा का 'भाषा विद्योतन' ग्रंथ व्याकरण पर सर्वश्रेष्ठ है। मैथिली के आधुनिक विद्वानों में डा० अमरनाथ झा, डा० सुधाकर झा, डा० उमेश मिश्र, डा० सुभद्र झा और श्री रामनाथ झा का नाम आदर से लिया जाता है।

खड़ीबोली का साहित्य

खड़ीबोली दिल्ली, मेरठ आदि स्थानों के जन-समुदाय की बोली रही है जो समय-समय पर साहित्य में प्रयुक्त हुई। खड़ीबोली में प्रथम लिखने वाले अमीर खुसरो हुए, जिन्होंने अपनी पहेलियों, मुकरियों आदि में इस भाषा का प्रयोग किया। यद्यपि ब्रजभाषा को ही उन्होंने विशेष रूप से प्रश्रय दिया, पर उन्होंने खड़ीबोली को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा। 'एक नार ने अचरज किया' कह कर वे उस समय की बोली में कविता कर हमें भी 'अचरज' में डाल देते हैं। कबीर ने भी फारसी-शब्दों के मेल से अपने समय की खड़ीबोली में कविता की—"हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या" लिखकर वे जन-समुदाय की भाषा के बहुत निकट आ गए हैं। यद्यपि ब्रजभाषा के महत्त्व के कारण खड़ीबोली का प्रचार न हो सका, तथापि समय-समय पर साहित्य में उसके चिन्ह अवश्य मिलते रहे। मुसलमानों ने भी इस बोली का आधार लेकर उसमें फारसी-शब्द मिला कर अपने 'उर्दू' साहित्य की सृष्टि की। आश्चर्य तो इस बात का है कि यह बोली उत्तर की होती हुई भी दक्षिण में पल्लवित हुई और वहीं से भारत के अन्य स्थानों में फैली।

१—इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के वाइस चांसलर डा० अमरनाथ झा ने हर्षनाथ-काव्य ग्रन्थावली सन् १९३५ में प्रकाशित की।

ब्रजभाषा के क्षेत्र से निकल कर लल्लूलाल आदि ने पहले गद्य-रूप में इस खड़ीबोली का प्रचार किया। बाद में हरिश्चन्द्र ने इसकी बहुत उन्नति की। यद्यपि उन्होंने भी इसे पद्य का रूप नहीं दिया, पर उनकी कविता पर इसका प्रभाव दीख पड़ने लगा था। महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में इसने विशेष उन्नति की तथा श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय और मैथिलीशरण गुप्त जैसे उत्कृष्ट कवि इस भाषा में हुए। अब तो खड़ीबोली ही गद्य और पद्य की भाषा है।

अँगरेजी साहित्य के प्रभाव ने हिन्दी साहित्य को अनेक दिशाओं में विकसित होने की प्रेरणा दी। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना तथा उपयोगी साहित्य की रचना में अद्‌भुत प्रगतिशीलता आ गई। कविता में वस्तुवाद की छाया तथा जीवन के संघर्षों का चित्रण हिन्दी-काव्य का विषय बना। साथ ही मध्ययुग से चली आने वाली काव्य की परम्परा ने लोकोत्तर भावनाओं में रहस्य और संकेत के रूपकों की भी रक्षा की। अतः हिन्दी-काव्य का विकास एक ओर तो अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को साथ लिए रहा और दूसरी ओर जीवन में घटित होने वाली अनेक समस्याओं और उनके हल खोजने में सचेष्ट रहा। इसके साथ ही इंडियन नेशनल काँग्रेस ने जो स्वतन्त्रता का संदेश समस्त भारत में फैलाया उससे अनुप्राणित होकर कवियों ने देश-प्रेम और राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत कविताओं की रचना की।

हिन्दी कविता के विकास में प्रमुखतः तीन परिस्थितियाँ देखने में आती हैं। पहली परिस्थिति पूर्णतः वर्णनात्मक है, दूसरी परिस्थिति रहस्यात्मक और तीसरी परिस्थिति वस्तुरूपात्मक और प्रगतिशील है। वर्णनात्मक कविता अधिकतर धार्मिक, पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्तों में सीमित रही। ऋतु-वर्णन, प्राकृतिक दृश्य और वीर-पूजा इन रचनाओं के विषय रहे। श्री मुकुटधर पाण्डेय, श्री मैथिलीशरण-गुप्त और श्री रामचरित उपाध्याय इस क्षेत्र में विशेष प्रमुख थे। रहस्यात्मक कविताओं के दो प्रमुख आधार थे। प्रथम आधार तो उपनिषद् की विचार-धारा से निकली हुई परम्परा रही जिसमें कबीर और मीराँ आदि का नाम आता है और दूसरा आधार अँगरेजी के युगांतरकालीन कवि शेली, कीट्स, बाइरन और वर्डस्वर्थ की रचनाएँ तथा विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य-पुस्तकें थीं। इस क्षेत्र में श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुमित्रानन्दन पंत, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और श्री महादेवी वर्मा के विशेष महत्त्वपूर्ण नाम हैं। वस्तुरूपात्मक रचनाओं ने जीवन की नग्न और विषम परिस्थितियों का विशेष चित्रण किया। किसान और मजदूर इस प्रकार की रचनाओं के प्रमुख विषय रहे। उनकी हृदय-द्रावक परिस्थितियों के तथा पूँजीपति और शोषक वर्ग के कुंभकर्णों की क्रूरता के अनेक चित्र इन रचनाओं में मिलते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में वेग और आक्रोश है और इस स्वतन्त्र और अमर्यादित दृष्टिकोण के कारण काव्य की अनेक मान्यताओं की अवहेलना भी उनमें देखी

जाती है। ऐसे कवियों में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री भगवतीचरण वर्मा, श्री 'बच्चन', श्री नरेन्द्र प्रमुख हैं।

नाटक के क्षेत्र में सर्वश्री माधव शुक्ल, बदरीनाथ भट्ट, गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी और बल्देव प्रसाद मिश्र ने विशेष रचनाएँ कीं; किन्तु इनके नाटकों में घटनाओं की कुतूहलता होते हुए भी चरित्रों का अन्तर्द्वन्द्व और परिस्थितियों का संघर्ष नहीं था। यह अभाव श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने पूर्ण किया। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। चंद्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्षवर्धन के ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक और दार्शनिक आदर्शों पर उन्होंने अपने विविध नाटकों की रचना की। उन्होंने अपने नाटकों में परिस्थितियों की स्पष्ट रूपरेखा और चरित्रों के आंतरिक संघर्षों की संवेदना अत्यन्त कुशलता से स्पष्ट की। उनसे मार्ग-दर्शन पाकर सर्वश्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी' और सेठ गोविन्ददास ने अनेक नाटकों की रचना की।

इन नाटकों के साथ ही साथ एकांकी नाटकों की रचना भी पश्चिमी साहित्य के दिशा-संकेत से हुई। इन नाटकों में चारित्रिक द्वंद्व विशेष रूप से स्पष्ट हुआ है, साथ ही सामाजिक समस्याओं का हल भी खोजा गया है। ऐसे नाटककारों में सर्वश्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सेठ गोविन्ददास और भुवनेश्वर प्रमुख हैं। श्री सुमित्रानंदन पंत ने 'ज्योत्स्ना' नाम से एक प्रतीक नाटक लिखा है जिसमें प्रकृति के विविध विधानों के सहारे भविष्य के मानव-समाज के विकास की अत्यन्त विशद कल्पना की गई है। हिंदी में यह नाटक अपने ढंग का अकेला है।

उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में जीवन के मनोविज्ञान की स्थितियाँ अनेक रूपों में प्रस्तुत की गई हैं। देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी केवल आश्चर्यजनक और चमत्कारपूर्ण घटनाओं की एक काल्पनिक कथाशैली दे सके थे। मुंशी प्रेमचन्द ने जीवन के वास्तविक चरित्रों को घटनाओं की विषमताओं से संघर्ष करते हुए चित्रित किया। उन्होंने हमारे देश के ग्रामीण जीवन का जैसा रूप उपस्थित किया है, वह आगे आने वाले युगों के लिये अध्ययन, मनन और मनोरंजन की सामग्री होगा। सामाजिक आदर्शवाद के साथ प्रेमचन्द ने जीवन के समस्त अनुभव को ग्राम्य जीवन तथा नागरिक जीवन में घटित किया है।

उनके 'सेवासदन', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'गबन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' उपन्यास हमारे समाज के सच्चे और करुण चित्र हैं। उनके 'गोदान' में होरी एक अमर चरित्र है जिसमें भारतीय किसान का जीवन साकार हो उठा है। उपन्यासों के साथ श्री प्रेमचन्द ने अनेक कहानियाँ भी लिखी हैं जो कला की दृष्टि से अभूतपूर्व हैं। प्रेमचन्द के पश्चात् सर्वश्री सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार,

विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक', भगवतीचरण वर्मा और यशपाल आदि अनेक सफल उपन्यासकार और कहानी-लेखक हैं। श्री वृंदावन लाल वर्मा एक सफल ऐतिहासिक उपन्यास-लेखक हैं और वे अपने क्षेत्र में अकेले हैं।

निबंध और समालोचना के क्षेत्र में हिन्दी ने विशेष उन्नति की है। निबन्ध-लेखन जो श्री बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी में आरम्भ किया है, वह श्री महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने अत्यन्त सुथरे ढंग से उपस्थित किया। उनके बाद सर्वश्री माधव प्रसाद, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा और श्यामसुन्दरदास ने उसमें बड़ी उन्नति की। इन लेखकों के बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने निबन्ध-साहित्य को बहुत उत्कर्ष दिया। उन्होंने निबन्ध में मनोविज्ञान के तत्त्व को जोड़ कर अपनी रचनाओं को भाव और कला की दृष्टि से अच्छी तरह सँवारा।

उनका 'चिन्तामणि' ग्रन्थ निबन्ध-साहित्य में सर्वोत्कृष्ट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साथ ही सर्वश्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा और गुलाबराय निबन्ध-लेखन में आदर के साथ स्मरण किए जाते हैं। इन लेखकों ने आलोचना के क्षेत्र को भी अलंकृत किया है। मिश्रबन्धुओं की आलोचना के युग से निकल कर आधुनिक हिंदी पश्चिम की आलोचना-पद्धति का अनुसरण करती हुई नवीन शैलियों में समाचोलना-साहित्य को जन्म दे रही है। आज की आलोचना खोज का आधार लेकर साहित्य की सद्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करती हुई दुष्प्रवृत्तियों को दूर हटा रही है।

ललित साहित्य के साथ ही साथ हिंदी में उपयोगी साहित्य की रचना भी हो रही है। संस्कृति, दर्शन, राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र और पुरातत्त्व विषयों पर स्थायी कार्य हो रहा है। सर्वश्री काशी प्रसाद जायसवाल, डा० भगवानदास, संपूर्णानन्द (संस्कृति); सर्वश्री डा० गंगानाथ झा, बलदेव उपाध्याय, रामदास गौड़, गुलाबराय (दर्शन); सर्वश्री डा० वेणीप्रसाद, डा० ताराचन्द (राजनीति); सर्वश्री डा० गोरख प्रसाद, सत्यप्रकाश, महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव (विज्ञान); सर्वश्री दया शंकर दुबे, भगवानदास केला (अर्थशास्त्र); सर्वश्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राहुल सांकृत्यायन, जयचन्द विद्यालंकार (पुरातत्त्व) साहित्य की रचना में अग्रगण्य हैं। पारिभाषिक शब्दकोष-संग्रह में श्री सुख संपति राय भंडारी का नाम उल्लेख-नीय है।

जीवन-चरित्र लेखकों में श्री बनारसी दास चतुर्वेदी सर्वप्रथम हैं, जिन्होंने श्री सत्यनारायण 'कविरत्न' की जीवनी लिखी। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने मालवीय जी के साथ इकतीस दिन के अनुभवों को लिखा है। श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द ने 'प्रेमचन्द—घर में' लिख कर प्रेमचन्द की मानसिक भाव-भमि पर प्रकाश डाला है।

'आत्मचरित'-साहित्य में सर्वश्री श्यामसुन्दरदास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, वियोगीहरि और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

ग्राम-गीतों के संकलन में श्री रामनरेश त्रिपाठी ने प्रथम प्रयास किया। अब तो मैथिली के लोकगीत और भोजपुरी तथा छत्तीसगढ़ी के लोकगीत भी प्रकाशित हो गए हैं। इस प्रकार खड़ीबोली में हिंदी साहित्य की उन्नति सर्वांगरूप से हो रही है। इस साहित्य को लोकव्यापी बनाने में मासिक पत्रों का भी पर्याप्त श्रेय है जिनमें 'सरस्वती' 'माधुरी' 'हंस' 'विशालभारत' 'विश्ववाणी' 'विश्वमित्र' और 'वीणा' प्रमुख है।

हिन्दी साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में विविध संस्थाएँ विशेष कार्य कर रही हैं। हिंदी साहित्य सम्मेलन, (प्रयाग); नागरी प्रचारिणी सभा, (काशी); हिन्दुस्तानी एकेडेमी, (प्रयाग); राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, (वर्धा); वीरेंद्रकेशव साहित्य परिषद्, (ओरछा) और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, (मद्रास) प्रमुख हैं। हिन्दी जिस गति से उन्नति कर रही है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि निकट भविष्य में ही वह अन्य भारतीय भाषाओं से अधिक समृद्धशालिनी हो जायेगी।

साहित्य की पाठ्य-सामग्री

साहित्य में बहुत से ग्रन्थ ऐसे प्रकाशित हुए हैं, जिनकी पाठ्य-सामग्री अभी तक संदिग्ध है। नागरी प्रचारिणी सभा के परिश्रम से जो ग्रन्थ सुचारु रूप से सम्पादित हुए हैं, उनकी पाठ्य-सामग्री तो किसी प्रकार निश्चित-सी है, किन्तु अन्य ग्रन्थों के पाठ कहीं-कहीं बहुत भ्रमपूर्ण हैं। 'सूरसागर' जैसे महान ग्रन्थ का पाठ अभी तक बहुत संदिग्ध है। कबीर और मीराँ के पाठ्य-भाग तो प्रामाणिक कहे ही नहीं जा सकते। जगनिक का 'आल्हखण्ड' भी बहुत रूपान्तरित है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि हमारे साहित्य के ये ग्रन्थ बहुत काल तक मौखिक रूप में रहे। अतएव समयानुसार भाषा में परिवर्तन होने के कारण उन ग्रन्थों के पाठ में भी परिवर्तन हो गये। 'आल्हखण्ड' अभी तक लोगों के मुख का निवासी है। उसका प्रामाणिक संस्करण अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। मीराँ और कबीर के पद भी बहुत लोकप्रिय होने के कारण जनता में गाए गए। इसीलिये उनके पदों में बहुत परिवर्तन हो गया। हम तो अनेक पदों को आधुनिक भाषा में कबीर और मीराँ के नाम से लिखे हुए देखते हैं। ये प्रक्षिप्त पद कवि की रचनाओं के महत्त्व को कितना घटा देते है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भाषा के विकास की दृष्टि से इन भ्रमात्मक पाठों का संशोधन होना चाहिये। दूसरा कारण यह है कि हमें अभी प्राचीन हस्त-लिखित ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में मिले भी नही हैं, जिनके

आधार पर पुराने ग्रन्थों का प्रकाशन हो। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है जिसके फलस्वरूप कई सुन्दर और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जो अभी तक अन्धकार में थे, प्रकाश में लाये गए हैं, किन्तु यह कार्य यहीं समाप्त नहीं हो जाता। अन्वेषण की अभी बहुत आवश्यकता है। खोज में मिले हुए ग्रन्थों का प्रकाशन भी किसी सम्माननीय संस्था द्वारा होना चाहिए। अभी तक प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों का प्रकाशन जिन संस्थाओं से हुआ है उनमें श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग और गंगा ग्रंथागार, लखनऊ प्रमुख हैं। हिन्दी साहित्य के पुनरुद्धार में प्रेसों का भी बहुत बड़ा हाथ है। अतएव हम अनुभव करते हैं कि जितने महत्त्व की पाठ्य-सामग्री हमें मिलनी चाहिये उतने ही महत्त्व के साथ उसका प्रकाशन भी होना उचित है। यदि इन दोनों बातों पर भविष्य में ध्यान दिया गया तो साहित्य का स्वर्ण-युग निकट होगा।

विषय-प्रवेश की इस संक्षिप्त रूप-रेखा को समाप्त करने के पूर्व हिन्दी भाषा के विकास पर भी दृष्टि डाल लेना समीचीन होगा।

हिंदी भाषा का विकास

भाषा का सम्बन्ध मानव-समाज से है। अतएव मानव-समाज के विकास से भाषा में भी विकास होता है। इस विकास की गति अविदित रूप से चलती है। कालान्तर ही में परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगत होते है। भाषा-परिवर्तन के अनेक कारण हैं। वे दो भागों में विभाजित किये गये हैं—अन्तरंग और बहिरंग। परिवर्तन होने का मुख्य अंतरंग कारण यही है कि भाषा प्रथमतः मुख की निवासिनी है। उसका उच्चारण सदैव एक-सा नहीं होता। उच्चारण की भिन्नता इतनी सूक्ष्म होती है कि उसका परिचय हमें सौ वर्ष बाद ही मिलता है और कुछ शताब्दियों बाद तो भाषा बिल्कुल ही बदल जाती है, उसकी अवस्थाएँ तक बदल जाती हैं। विच्छेदावस्था (Isolating Stage), संयोगावस्था (Agglutinative Stage), विकृतावस्था (Inflectional Stage) और वियोगावस्था (Analytic Stage) की श्रेणी में भाषा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में भी पहुँच जाती है। इस प्रकार भाषा का एक इतिहास हो जाता है जिसमें भाषा के परिवर्तन की परिस्थितियों के सहारे हम अपने समाज की परिवर्तनशील प्रवृत्ति ही का नहीं, अपनी संस्कृति का भी परिचय पाते हैं। हिन्दी भाषा का इतिहास कुछ कम मनोरंजक नहीं है। भाषा-विकास के नियमानुसार वह हमें अपनी भाषा की विभिन्न रूपावली के साथ अपनी संस्कृति के इतिहास की सामग्री के चयन में सहायक है।

किसी भी भू-भाग में भाषा के दो रूप आप से आप हो जाते हैं। कारण यह है कि जन-समाज एक ही प्रकार के व्यक्तियों का समुच्चय न होकर भिन्न-भिन्न बुद्धि और ज्ञान-स्तर (Standard) के व्यक्तियों का समूह है। इसलिए उनकी भाषा में साम्य होते हुए भी भिन्नता के चिह्न पाये जा सकते हैं। जो अधिक परिष्कृत मस्तिष्क वाले हैं, उनकी भाषा अन्य साधारण जनों की भाषा से अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होगी। यही परिष्करण की भावना भाषा में भिन्नता का सूत्रपात्र करती है और यह भिन्नता अन्त में भाषा का स्वरूप ही बदल देती है। उसका कारण यह है कि साहित्य के कठिन नियमों में पड़ कर भाषा का रूप कठिन अवश्य हो जाता है, जिसे जन-साधारण अपने व्यवहार में नहीं ला सकते। अतएव साहित्य के अतिरिक्त जन-साधारण की भाषा भिन्नता लिए हुए प्रवाहित होती रहती है। जब यह जन-साधारण की भाषा भी साहित्य का निर्माण करती है, तो जनता को अपनी भाषा में स्वाभाविकता लाने के लिये फिर किसी सरल भाषा का आविष्कार करना पड़ता है। जब उसमें भी साहित्य-रचना होने लगती है, तो जन-साधारण फिर एक नवीन भाषा का प्रयोग करते हैं। साहित्य-रचना और जन-साधारण की भाषा का यही पारस्परिक वैषम्य भाषा के परिवर्तित होने का रहस्य है।

हमारे देश के प्राचीन आर्यों की भाषा का क्या रूप था, यह हमें प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' से ज्ञात हो सकता है, पर ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक भाषा का एक रूप मात्र है। साधारण जनों की भाषा इससे अवश्य ही कुछ न कुछ भिन्न रही होगी, जिसका स्वरूप हमारे सामने नहीं है। ऋग्वेद की भाषा, जिसने जन-समाज की भाषा से रूप लेकर अपना परिष्करण किया था, स्थिरता का प्रमाण नहीं दे रही है। कारण यह है कि ऋग्वेद की रचना एक ही समय में और एक ही स्थान पर नहीं हुई। आर्यों ने भारत में अपना नया निवास बनाने के लिए जैसे-जैसे पूर्व की ओर प्रस्थान किया, वैसे-वैसे उन्होंने स्थान-विशेष अथवा परिस्थिति-विशेष से प्रभावित होकर समय-समय पर साहित्य-रचना की। सम्पूर्ण ग्रन्थ के निर्माण में आर्यों ने स्थान और समय का न जाने कितना प्रवाह अपने ऊपर से निकल जाने दिया। कंधार, सिन्धु नदी और यमुना नदी के किनारे लिखे गए साहित्य में स्थान के साथ-साथ समय का भी अन्तर है। इस प्रकार तीन स्थानों और तीन कालों में लिखे हुए साहित्य में, जिसकी भाषा समयानुसार परिवर्तित होती गई है, भिन्नता के चिह्न अवश्य ही होंगे। यही कारण है कि ऋग्वेद की ऋचाओं में भाषा-साम्य किसी अंश तक नहीं है। दशम मण्डल के मन्त्रों की भाषा परवर्ती होने के कारण प्रथम मण्डलों के प्राचीन मन्त्रों की भाषा से बहुत भिन्न है। वेदकालीन इस भाषा के साथ ही साथ जन-साधारण की भाषाएँ भी रही होंगी, जो साहित्य के पाश से मुक्त

होंगी । वेद की भाषा तो जन-साधारण की अन्य भाषाओं में से एक भाषा रही होगी, जिसके साहित्यिक रूप में वेद का प्रणयन हुआ होगा ।

इसी वेदकालीन भाषा का अधिक परिमार्जित स्वरूप संस्कृत भाषा के निर्माण में स्थिर हुआ । आर्यों को भय था कि उनकी पवित्र भाषा में कहीं 'दूसरी देशज भाषाओं' के असंस्कृत शब्द न घुस आयें, इसीलिए उन्होंने अपनी भाषा का संस्कार कर उसे 'संस्कृत' नाम से विभूषित किया । यद्यपि उन्होंने अपनी भाषा की पवित्रता की रक्षा तो कर ली, तथापि वह भाषा देव-मन्दिर में अधिष्ठित मूर्त्ति की भाँति ही जड़ होकर रह गई । जन-साधारण की भाषा अपने व्यावहारिक रूप में तरंगिणी की भाँति आगे प्रवाहित होती गई और उसमें भिन्न-भिन्न देशज शब्द भी मिलते गये । स्वाभाविक रूप से अथवा प्रकृति के अनुसार बोली जाने वाली यही 'प्राकृत' भाषा अपना विकास करती गई और आगे चल कर यही हमारी हिन्दी के निर्माण में सहायक हुई ।

अतएव यह स्पष्ट है कि जन-साधारण में स्वाभाविक रूप से बोली जाने वाली प्राकृत ने ही क्रमशः वेदकालीन और संस्कृत भाषा को जन्म दिया । वेदकालीन भाषा किसी अंश तक बोलचाल की भाषा रह सकती है, क्योंकि हम वेदकालीन भाषा का वेद में बहुत व्यापक रूप पाते हैं । कई वर्षों की बोलियों ने क्रमशः परिष्कृत होकर वेद के स्वरूप का निर्माण किया । अतएव कई बोलियाँ जो परिष्कृत होकर वेदकालीन भाषा का रूप बनी होंगी, जन-साधारण में कुछ काल तक तो अवश्य प्रचलित रही होंगी, किन्तु संस्कृत भाषा कभी बोलचाल की भाषा रही होगी, इसमें सन्देह है । नियमों से उसका रूप इतना क्लिष्ट और अग्राह्य बना दिया गया था कि उसका प्रयोग साहित्य ही के लिए उपयुक्त था, बोलचाल के लिए नहीं । धातुओं के अनेक प्रत्यय और उपसर्ग के द्वारा बने हुए अपरिमित अप्रचलित शब्दों का प्रयोग जन-साधारण की बुद्धि के परे था । यास्क और पाणिनि, पूर्व और उत्तर में बोली जाने वाली संस्कृत का निर्देश अवश्य करते हैं । पतंजलि भी संस्कृत के प्रान्तीय विभेदों का वर्णन करते हैं, पर संस्कृत के व्यावहारिक रूप का प्रचलन यदि कहीं होगा तो वह साहित्यिक और शिष्ट समुदाय में ही होगा, क्योंकि उसका रूप कात्यायन और पतंजलि ने इतना व्यवस्थित कर दिया था कि जन-समुदाय उसके प्रयोग में थोड़ी भी स्वतंत्रता न ले सकता होगा । भाषा के विकास का यह काल ई० पू० १५०० से लेकर ई० पू० ५०० तक है ।

संस्कृत का रूप स्थिर हो जाने पर उसकी कठिनता के कारण जन-समाज की भाषा अपने ही क्षेत्र में उन्नति करती गई । संस्कृत के बाद उसका सर्वप्रथम रूप हमें अशोक के शिला-लेखों तथा बौद्ध और जैन धर्म-ग्रन्थों में मिलता है (५०० ई० पू० के बाद) । प्राचीन प्राकृत को पाली नाम भी दिया गया है । पाली में भी साहित्यिक

गांभीर्य आने के कारण उसी के साहचर्य से निकली हुई साधारण भाषा हमारे सामने मध्यकालीन प्राकृत के विशिष्ट रूप में आती है। प्राकृत के इस विकास को तीन भागों में विभाजित किया गया है। प्राचीन (Primary), मध्य-कालीन (Secondary) और उत्तर-कालीन (Tertiary) प्राकृत उसके नाम हैं (१ ई०)। इसे साहित्यिक प्राकृत भी कहा गया है। इस साहित्यिक प्राकृत के चार मुख्य रूप हैं :— महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्ध मागधी। इन्हें वररुचि और हेमचंद्र ने भी प्राकृत का नाम दिया है। इनमें बरार और उसके समीपवर्ती प्रदेश में बोली जाने वाली महाराष्ट्री सबसे प्रधान मानी गई है। यहाँ तक कि नाटकों में शौरसेनी बोलने वाली स्त्रियाँ भी महाराष्ट्री में गीत गाती हैं।[1] शूरसेन अथवा मथुरा में और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बोली जाने वाली प्राकृत का नाम शौरसेनी प्राकृत है। नाटक में साधारणतया स्त्रियों और विदूषक की भाषा यही है। 'कर्पूर-मंजरी' में राजा भी शौरसेनी का प्रयोग करता है। यह प्राकृत संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित हुई, क्योंकि इसका जन्म-स्थान मध्यदेश ही था, जहाँ परिष्कृत संस्कृत का जन्म हुआ था।

पूर्व में बोली जाने वाली भाषा मागधी प्राकृत ही है। नाटकों में निकृष्ट पात्र ही इसका प्रयोग करते थे। इसी से इसका तुलनात्मक मूल्य आँका जा सकता है। शौरसेनी और मागधी के बीच की भाषा का नाम अर्ध मागधी है। इसका भी कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इनके अतिरिक्त वररुचि और हेमचन्द्र एक अन्य प्राकृत का वर्णन करते हैं, जो पश्चिमोत्तर प्रदेश में बोली जाती थी। इस प्राकृत का नाम पैशाची है।

जब साहित्य का निर्माण इन प्राकृतों में होने लगा और वैयाकरणों ने इन्हें व्याकरण के कठिन नियमों में बाँधना प्रारम्भ कर दिया, तो जन-साधारण की भाषा में इस साहित्यिक प्राकृत से फिर अन्तर होना प्रारम्भ हो गया। जिन बोलियों के आधार पर प्राकृत भाषाओं का निर्माण हुआ था वे अपने स्वाभाविक रूप से विकसित हो रही थी। वैयाकरणों ने अपनी साहित्यिक प्राकृत की तुलना में इन्हें "अपभ्रंश" का नाम दिया, जिसका अर्थ है—भ्रष्ट हुई। ईसा की तीसरी शताब्दी में अपभ्रंश आभीर आदि निम्न जातियों की भाषा का नाम था, जो सिंध और उत्तरी पंजाब में बोली जाती थी। निम्न श्रेणी के लोगों की भाषा होने के कारण वह कभी गौरव के साथ नहीं देखी गई। इसके बोलने वाले अधिकतर विदेशी थे, जो श्वेत हूणों के समुदाय में थे। इनका निवास पंजाब और राजपूताने में था। इन विदेशियों में "आभीरी" नामक समुदाय था जिसने सिंध पर विजय

---

१. हार्नली इस मत से सहमत नहीं हैं। वे शौरसेनी और महाराष्ट्री को दो पृथक् भाषा नहीं मानते, उन्हें वे एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं। गद्य में शौरसेनी का प्रयोग होता है और पद्य में महाराष्ट्री का।

प्राप्त की, बाद में गुजरात और राजपूताना भी इनके अधिकार में चला आया। सातवीं शताब्दी में इन लोगों का अधिकार पांचाल तक हो गया। फलस्वरूप इन लोगों की भाषा, जो अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध है, राज-भाषा हुई और उसका प्रचार इनके द्वारा विजित प्रदेश में ही नहीं, वरन् उसके बाहर भी स्थान-विशेष की भाषा के आधार पर होने लगा। इसी वंश के राजा भोज (सं० ९००–९३८) ने अपने राज्य की सीमा और भी बढ़ाई और बिहार प्रान्त भी इन आभीरों के राज्य के अन्तर्गत आ गया। इस समय समस्त उत्तर भारत में भी अपभ्रंश का प्रचार केवल जन-साधारण की भाषा के रूप में ही नहीं, वरन् साहित्य में भी होने लगा। दसवीं शताब्दी में यह भाषा अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची और इसका प्रचार पश्चिम में सिंध से लेकर पूर्व में मगध तक और दक्षिण में सौराष्ट्र तक हो गया। इतना अवश्य है कि कुछ शिष्ट लोगों में अभी तक संस्कृत और प्राकृत के प्रति आकर्षण रह गया था। जब जन-साधारण की बोली प्राकृत के साहित्यिक कारागार से निकलने का प्रयत्न करने लगी, तो प्राकृत के वैयाकरणों ने उसे हीन दृष्टि से देखते हुए 'अपभ्रंश' नाम दे दिया, आभीरों की भाषा के रूप में ऐसी 'भ्रष्ट हुई' प्राकृत का कोई अच्छा नाम नहीं हो सकता था।

वैयाकरणों ने तो अपने व्याकरण के सिद्धान्त से इसे 'भ्रष्ट हुई' साबित किया है, पर वस्तुतः यह अपभ्रंश प्राकृत की विकसित अवस्था का ही नाम है।

यों तो प्रत्येक साहित्यिक प्राकृत का समानान्तर अपभ्रंश-रूप होना चाहिये, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि क्योंकि प्रत्येक प्राकृत की विकसित अवस्था ही अपभ्रंश के रूप में है, किंतु केवल तीन अपभ्रंश ही माने गये हैं। नागर, ब्राचड और उपनागर। मार्कण्डेय अपने प्राकृत-सर्वस्व में अनेक प्रकार के अपभ्रंशों का निर्देश करते हैं। व्याख्या करते हुए वे एक अज्ञात लेखक के मतानुसार २७ अपभ्रंशों की सूचना देते हैं, पर स्वयं मार्कण्डेय के विचार से केवल तीन अपभ्रंश भाषाएँ हैं:—नागर, ब्राचड और उपनागर। अन्य अपभ्रंशों को वे इसलिये भिन्न भाषा नहीं मानते, क्योंकि उनमें पारस्परिक भिन्नता इतनी कम है कि वे स्वतंत्र भाषाओं के अन्तर्गत नही आ सकती।

"अपभ्रंशाः परे सूक्ष्मभेदत्वान् न पृथङ्मताः।"

इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि उन्होंने २७ अपभ्रंश भाषाएँ मानी अवश्य हैं, तथापि वे उनके स्वतंत्र नामकरण के पक्षपाती नहीं हैं। इन भाषाओं में मार्कण्डेय ने पाण्ड्य, कालिंग्य, कारणाट, कांच्य, द्राविड़ आदि को भी सम्मिलित कर दिया है। इसी के आधार पर पिशेल का कथन है कि मार्कण्डेय ने अपभ्रंश के अन्तर्गत

आर्य और अनार्य दोनों प्रकार की भाषाओं का वर्गीकरण किया है ।[१] यद्यपि यह कठिनता से माना जा सकता है कि आर्य और अनार्य भाषाओं में सूक्ष्म भेद ही है और वे स्वतंत्र भाषाओं की संज्ञा से विभूषित नहीं की जा सकतीं । जिस प्रकार प्राकृत में महाराष्ट्री प्राकृत मान्य है, उसी प्रकार अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश का स्थान महत्त्वपूर्ण है । यह मुख्यतः गुजरात में बोली जाती थी । नागर का अर्थ यह भी है कि जो नागर देश में बोली जाती हो । गुजरात के पण्डित नागर कहे जाते थे, अतएव नागर अपभ्रंश का स्थान गुजरात था । प्रसिद्ध जैन आचार्य नागर-पण्डित हेमचन्द्र ने नागर अपभ्रंश ही में अपने ग्रन्थों की रचना की है । हेमचन्द्र की रचना संस्कृत से बहुत प्रभावित है, क्योंकि नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत ही था । शौरसेनी प्राकृत का जन्म मध्यप्रदेश में होने के कारण वह संस्कृत के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकती थी ।

ब्राचड सिंध में बोली जाती थी और उपनागर सिंध के बीच के प्रदेश में अर्थात् पश्चिम राजस्थान और दक्षिण पंजाब में । हम इन अपभ्रंशों के विषय में नागर अपभ्रंश के अतिरिक्त अन्य किसी अपभ्रंश के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं रखते, क्योंकि हेमचन्द ने केवल नागर अपभ्रंश का ही वर्णन किया है । मार्कण्डेय ने भी अन्य अपभ्रंश के विषय में कोई विशेष बात नहीं लिखी । जब साहित्य की शृंखला में प्राकृत 'मृत' भाषा मानी जाने लगी, तो अपभ्रंश में साहित्य-निर्माण होना प्रारम्भ हुआ । छठवीं शताब्दी में अपभ्रंश का स्वर्णकाल प्रारम्भ हुआ, जब उसमें उच्च साहित्य की रचना होनी प्रारम्भ हुई । सुदूर दक्षिण और पूर्व तक में इसका प्रचार हो गया और यह शिष्ट संप्रदाय की भाषा हो गई । अपभ्रंश भाषा दसवीं शताब्दी तक प्रचलित रही, उसके बाद उसे भी 'साहित्य-मरण' के लिए बाध्य होना पड़ा और दसवीं शताब्दी से अपभ्रंश भाषा ने अनेक शाखाओं में विभाजित होकर नवीन नाम धारण किये । फलतः हिन्दी आदि भाषाओं का सूत्रपात हुआ । इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि हमारी भाषा का विकास विकृतावस्था (Inflectional) से वियोगावस्था (Analytic) में हुआ है । हिन्दी आदि भाषाएँ, जो अपभ्रंश से विकसित हुईं, वियोगावस्था की भाषाएँ हैं ।

अपभ्रंश के 'जड़' हो जाने की अवस्था का ठीक-ठीक समय निर्धारित नहीं किया जा सकता । अनुमानतः यह समय १००० ई० के बाद का ही है । अनेक स्थानों में बोले जाने वाले अपभ्रंश अनेक प्रकार की भाषाओं में परिवर्तित हो गये । प्रांतभेद के अनुसार ब्राचड से सिंधी भाषा का जन्म हुआ; नागर या शौरसेनी अपभ्रंश से हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी का विकास हुआ; मागधी

१—अपभ्रंश एकारडिंग टु मार्कंडेय—जी० ए० ग्रियर्सन (जे० आर० ए० एस० १९१३ पृष्ठ ८९५) ।

अपभ्रंश से बंगला, बिहारी, आसामी और उड़िया का, अर्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी का तथा महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी का विकास हुआ।

हमारा उद्देश्य यहाँ केवल हिन्दी के विकास से है। अपभ्रंश से किस प्रकार हिन्दी का सूत्रपात हुआ, यही हमें देखना है।

प्रांत-भेद से तो नागर या शौरसेनी अपभ्रंश अनेक भाषाओं में रूपान्तरित हुई, किन्तु काव्य अथवा रीति-भेद से वह दो भागों में विभाजित हुई। पहली का नाम है डिंगल और दूसरी का पिंगल। डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा का नाम पड़ा और पिंगल ब्रज-प्रदेश की साहित्यिक भाषा का नाम। यहीं से हमारी हिन्दी की उत्पत्ति होती है। किस समय अपभ्रंश ने हिन्दी में परिवर्तित होना प्रारम्भ किया, यह तो अनिश्चित है। अभी तक के इतिहासकारों ने उसकी उत्पत्ति विक्रम सं० ७०० से मानी है।

मिश्रबन्धुओं के अनुसार "हिन्दी की उत्पत्ति संवत् ७०० के आस-पास मानी गई, क्योंकि पुंड अथवा पुष्य नामक हिन्दी का पहला कवि सं० ७७० में हुआ।" उसकी कविता का क्या रूप है, और उसके कितने उदाहरण प्राप्त हुए हैं, इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। साहित्य में केवल पुष्य कवि का नामोल्लेख ही है। पुष्य के परवर्ती कवियों का विवरण भी विवादग्रस्त है और उनकी रचनाएँ भी अभी तक प्रामाणिक नहीं मानी गई। अतएव हिन्दी का प्रारम्भिक काल पुष्य से मानना, जिसके सम्बन्ध में अभी तक कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, किसी प्रकार भी प्रामाणिक न होगा।

—:०:—

पहला

संधिकाल

सिद्ध-साहित्य : जैन-साहित्य

(सं० ७५०—१२००)

हिन्दी साहित्य के विकास-काल को संधिकाल कहना अधिक उपयुक्त है। इस काल में अपभ्रंश की गौरवशालिनी कृतियों के बीच में भाषा-विषयक वह सरलता दृष्टिगोचर होने लगी थी जो जनता की स्वाभाविक मनोवृत्ति से प्रेरित होकर अपने को साहित्यिक विधानों से मुक्त करती है। साहित्यिक जड़वाद से जनता संतुष्ट नहीं होती। वह अपनी चेतना सरल भाषा में विकसित करती है और साहित्यिक शैली के रूढ़ होते ही अपनी स्वाभाविक बोली में अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए सीधे मार्ग का अन्वेषण करती है। किन्तु यह पार्थक्य एक साथ नहीं हो जाता। उसके लिए तो अनेक युगों की आवश्यकता है। अतः जब साहित्य के वृन्त पर जन-भाषा अपनी पंखुड़ियाँ खोलना प्रारम्भ करती है तो उसके ऊपर पुरातन अनुबन्धों का आग्रह तो रहता ही है। जनता के मनोभावों से प्रेरित ऐसे साहित्य में प्राचीन शैली के भीतर नवीन प्रयोगों की कसमसाहट दीख पड़ती है। यह कसमसाहट धीरे-धीरे उभरती हुई अपने पंख खोलती है और अपने लिए साहित्य में मान्यता प्राप्त कर लेती है। अतः अपने विकास में साहित्य ऐसे स्थल पर आता है जहाँ दो भाषाओं या दो शैलियों में सन्धि होती है और साहित्य के इस काल को सन्धिकाल कहना ही अधिक समीचीन है।

अपभ्रंश जब अपनी साहित्यिक शैली में रूढ़ होने जा रहा था तब उसमें जनता की मनोवृत्ति से नवीन प्रयोग हुए जो सिद्धों और जैन कवियों की रचनाओं में पाये जाते हैं। सिद्धों की भाषा जनरुचि के नवीन प्रयोगों के रूप में अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई और जैन कवियों की भाषा नागर अपभ्रंश से। इस प्रकार इन दोनों अपभ्रंशों के क्रोड़ में ऐसी भाषा पोषित होने लगी जो लोकरुचि का आधार पाकर अपने लिए एक आलोकमय भविष्य का निर्माण करने जा रही थी। यद्यपि हिन्दी का विकास मूलतः शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ, अर्धमागधी या नागर अपभ्रंश से नहीं, किन्तु शौरसेनी का देशव्यापी महत्त्व इतना अधिक रहा कि अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश भाषाएँ उसके प्रभाव से अपने को नहीं बचा सकीं। परिणाम-

स्वरूप अर्धमागधी अपभ्रंश और नागर अपभ्रंश के क्रोड़ से निकलने वाली जन-भाषाएँ अपने आदि रूप में शौरसेनी से निकलने वाली हिन्दी के आदि रूप के अत्यन्त निकट आ जाती हैं। यही कारण है कि अर्धमागधी और नागर अपभ्रंश से निकलने वाली सिद्ध और जैन कवियों की भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की छाप लिए हुए है। इस प्रकार इसे हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत स्थान मिलना चाहिए।

सिद्ध-युग

सिद्धों का समय सं० ८१७ से माना जाता है क्योंकि सिद्धों के प्रथम कवि सरहपा का आविर्भाव-काल सं० ८१७ वि० है। ये सिद्ध कौन थे, इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। सिद्धों की परम्परा बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों की एक विकृति ही माननी चाहिए। बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में देश की बदलती हुई परिस्थितियों ने जिन नवीन भावनाओं की सृष्टि की, उन्हीं के परिणाम-स्वरूप सिद्ध-साहित्य की रूपरेखा तैयार हुई। बुद्धदेव का निर्वाण ई० पूर्व ४८३ में हुआ। वे लगभग ४५ वर्ष तक अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। इस प्रकार ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से बौद्ध मत का प्रचार हुआ। यह धर्म अपनी पूर्ण शक्ति के साथ देश-विदेश में अपनी विजय की दुन्दुभी बजाता रहा। वैदिक कर्म-काण्ड की जटिलता और हिंसा की प्रतिक्रिया में, सहानुभूति और सदाचार द्वारा आत्मवाद के विनाश से तृष्णा और दुःखरहित निर्वाण की प्राप्ति करना ही बौद्ध धर्म का आदर्श रहा। ईसा की पहली शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान और हीनयान दो सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। महायान में सिद्धान्त-परम्परा अधिक नहीं रही। उसमें लोक-भावना का मेल इतना अधिक हो गया कि निर्वाण के लिए संन्यास और विरक्ति के पर्याय लोक-कल्याण और आचार की पवित्रता प्रधान हो गई तथा वह वर्ग-भेद से उठ कर एक सार्वजनिक धर्म बन गया। हीनयान में ज्ञानार्जन, पांडित्य और व्रतादि की कठिन मर्यादा बनी रही। बौद्ध धर्म का चिंतन-पक्ष हीन-यान में रहा और व्यावहारिक पक्ष महायान में। यों तो बौद्ध धर्म को समय-समय पर संघर्षों का सामना करना पड़ा—गुप्त वंश के 'परम भागवत' नरेशों द्वारा भी बौद्ध धर्म की गति में बाधा पड़ी, लेकिन उसे सबसे बड़ा आघात ईसा की आठवीं शताब्दी में कुमारिल और शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा में सहन करना पड़ा। लोकरुचि के बौद्ध धर्म-सम्बन्धी संस्कार यद्यपि नष्ट नहीं हुए तथापि उन पर वैदिक धर्म के सिद्धान्तों की छाप पड़ी और महायान का व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञान-कांड से जुड़ गया। शंकर की दिग्विजय में बौद्ध धर्म की लोकमान्य स्वीकृति भी जनता से उठने लगी। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म भारतभूमि से निर्वासित होने लगा और उसने तिब्बत, नैपाल या बंगाल की शरण ली। जो बौद्ध धर्म के अनुयायी भारत में रह गए थे, उन्हें वैदिक धर्म के मत-विशेष से ऐसा समझौता करना पड़ा जिससे वे जनता की

रुचि को अप.. ओर आकर्षित कर सकें। श्री शंकराचार्य के शैव धर्म से प्रभावित होकर तथा जनता को अपने प्रभाव में लाने के अभिप्राय से बौद्ध सम्प्रदाय ने तन्त्र, मंत्र और अभिचार आदि का आश्रय ग्रहण किया जिसमे चमत्कारपूर्ण शक्तियों का आविर्भाव किया जा सके और जनता के हृदय में अपनी मान्यता सुरक्षित रखी जा सके। परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म जो अपनी साधना की सरलता और सदाचार की महानता से, कर्म के परिष्कार में वैदिक धर्म की यज्ञ-सम्बन्धी जटिलता से लोहा लेकर सफल हुआ था, पुनः साधना की उलझनों और मंत्रों की जटिलताओं में आबद्ध होने लगा और योग-समाधि, तन्त्र-मन्त्र और डाकिनी-शाकिनी की सिद्धि में प्रयत्नशील हुआ। यद्यपि बुद्धदेव के समय में भी 'गन्धारी विद्या' या 'आवर्तनी विद्या' मन्त्र-कल्प से प्रचलित थी और बुद्धदेव ने उन्हें 'मिथ्या जीव' की संज्ञा दी थी तथापि उनके कुछ शिष्यों में इस विद्या के प्रति आकर्षण अवश्य था। बुद्धदेव के निर्वाण के बाद तो यह आकर्षण अधिकाधिक मात्रा में बढ़ता गया और जब जनता को अपनी ओर आकर्षित करने की भावना प्रमुख हुई तो मन्त्र-चमत्कार की सिद्धि और भी बढ़ गई। इस प्रकार महायान की यह सरल साधना मन्त्रयान में परिवर्तित हुई और ४०० से ७०० ईस्वी के लगभग अपने प्रचार में व्यापक रूप से कार्य करने लगी। इसी के समानान्तर वाममार्ग का प्रचार हुआ और जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के दृष्टिकोण से मन्त्रों की प्रतिष्ठा होने लगी। इस प्रकार मन्त्रयान के अन्तर्गत वाम मार्ग बौद्ध धम की विकृतावस्था का एक हीन चित्र ही है। बौद्ध धर्म के भिक्षु-जीवन की प्रति-क्रिया वाम मार्ग में बड़ी भीषणता के साथ प्रकट हुई।

मंत्रों द्वारा सिद्धि प्राप्त करने की युक्ति प्रचारित करने वाले साधक 'सिद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए। शंकराचार्य का शैव मत बौद्धों के विरोध में था। अतः जब उत्तर भारत में शैव धर्म का प्रचार अत्यधिक बढ़ा तो बौद्धों के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं रह गया। दक्षिण भारत में उस समय आन्ध्र शासकों का अनुराग बौद्ध धर्म पर बना हुआ था। उनकी राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन) में थी। उसके बाद की राजधानी धान्यकटक बनी। इसके समीप ही श्री पर्वत सिद्धों का महान केन्द्र हुआ। यहीं मंत्रयान का प्रसिद्ध ग्रन्थ "मंजुश्री मूलकल्प" लिखा गया। 'मंजुश्री मूलकल्प' में अनेक तंत्रों और मंत्रों का विधान है। इन तंत्रों और मंत्रों की सिद्धि के लिए दक्षिण का यह श्री पर्वत बहुत प्रसिद्ध है।[1] यहीं पर सिद्धों का स्थान माना गया है। श्री नागार्जुन अपनी साधना से मंत्रयान के प्रसिद्ध आचार्य हुए। यह मंत्रयान ईसा की

---

१ "श्री पर्वते महाशैले दक्षिणा पथसंज्ञिके।
श्री धान्यकटके चैत्ये जिन धातुरे भुवि॥
सिध्यन्ते तत्र मंत्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥" (मंजुश्री मूलकल्प)

सातवीं शताब्दी तक अपनी मंत्र-शक्ति का विकास करता रहा। इसके विकास (?) की चरम अवस्था तो तब आती है जब वह 'भैरवी चक्र' के रूप में सदाचार की अवहेलना करता है। यहीं से मंत्रयान वज्रयान में परिवर्तित होता है। यह समय ई० ८०० के लगभग प्रारम्भ होता है। 'मंजुश्री मूलकल्प' में 'भैरवी चक्र' का निर्देश नहीं है। अतः वह मंत्रयान का ही ग्रन्थ है। बाद में जब मंत्रयान में मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ तो वही वज्रयान में परिवर्तित होता है। इस प्रकार वज्रयान में मंत्रयान के मंत्र और हठयोग के साथ मद्य और मैथुन भी जोड़ दिये गये और महायान अपने ८०० वर्ष के जीवन-क्रम में वज्रयान होकर सदाचार से हाथ धो बैठा। यह वज्रयान ई० ८०० से ११७५ तक चलता रहा। बाद में धीरे-धीरे इसका पतन हुआ।

ईसा की आठवीं शताब्दी में सिद्ध-कवियों की जो रचना 'मगही' भाषा में प्राप्त होती है, उसका एक ऐतिहासिक कारण है। इस शताब्दी में बौद्ध धर्मावलंबी पाल शासकों ने बंगाल और बिहार में अपना आधिपत्य स्थापित किया। उन्होंने बौद्धों के प्रति अपनी संरक्षण-शील प्रवृत्ति का परिचय दिया। यहाँ तक कि बौद्ध विश्व-विद्यालय विक्रमशिला की स्थापना भी उन्हीं के द्वारा हुई। ऐसी स्थिति में सुदूर दक्षिण में चलने वाले वज्रयान को भी यहाँ आकर शरण मिली और राज्य-संरक्षण प्राप्त कर वज्रयान अपने तंत्र और मंत्रवाद के साथ अपने सिद्धान्तों का प्रचार भी पूरी शक्ति से करने लगा। वाम मार्ग और शक्ति-तंत्र का रूप उग्र हो उठा। इसी समय राजा धर्मपाल के शासन-काल (ई० ७६९-८०९) में सिद्ध-कवि सरहपा का आविर्भाव हुआ। बिहार की जन-भाषा में काव्य-रचना करने के कारण सरहपा आदि कवियों की भाषा 'मगही' का पूर्व रूप होना स्वाभाविक ही है।

श्री राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों का नाम निम्न क्रम से दिया है:—

१ लुइपा—कायस्थ
२ लीलापा
३ विरूपा
४ डोम्बिपा—क्षत्रिय
५ शबरपा— "
६ सरहपा—ब्राह्मण
७ कंकालीपा—शूद्र
८ मीनपा—मछुआ
९ गोरक्षपा
१० चोरंगिपा—राजकुमार
११ वीणापा— "
१२ शान्तिपा—ब्राह्मण
१३ तन्तिपा—तँतवा
१४ चमारिपा—चर्मकार
१५ खड्गपा—शूद्र
१६ नागार्जुन—ब्राह्मण
१७ कण्हपा—कायस्थ
१८ कर्णरिपा
१९ थगनपा—शूद्र
२० नारोपा—ब्राह्मण
२१ शलिपा—शूद्र
२२ तिलोपा—ब्राह्मण

२३ छत्रपा—शूद्र
२४ भद्रपा—ब्राह्मण
२५ दोखंधिपा
२६ अजोगिपा—गृहपति
२७ कालपा
२८ धोम्भिपा—धोबी
२९ कंकणपा—राजकुमार
३० कमरिपा
३१ डेंगिपा—ब्राह्मण
३२ भदेपा
३३ तंधेपा—शूद्र
३४ कुकुरिपा—ब्राह्मण
३५ कुचिपा—शद्र
३६ धर्मपा—ब्राह्मण
३७ महीपा—शूद्र
३८ अचिंतपा—लकड़हारा
३९ भलहपा—क्षत्रिय
४० नलिनपा
४१ भुसुकिपा—राजकुमार
४२ इन्द्रभूति—राजा
४३ मेकोपा—वणिक्
४४ कुठालिपा
४५ कमरिपा—लोहार
४६ जालंधरपा—ब्राह्मण
४७ राहुलपा—शद्र
४८ घर्वरिपा
४९ धोकरिपा—शद्र
५० मेदनीपा
५१ पंकजपा—ब्राह्मण
५२ घंटापा—क्षत्रिय
५३ जोगीपा—डोम
५४ चेलुकपा—शूद्र
५५ गुंडरिपा—चिड़ीमार
५६ लुचिकपा—ब्राह्मण
५७ निर्गुणपा—शूद्र
५८ जयानन्त—ब्राह्मण
५९ चर्पटीपा—कहार
६० चम्पकपा
६१ भिखनपा—शूद्र
६२ भलिपा—कृष्ण घृत वणिक्
६३ कुमरिपा
६४ चवरिपा
६५ मणिभद्रा—(योगिनी) गृहदासी
६६ मेखलापा—(योगिनी) गृहपति कन्या
६७ कनखलापा (")
६८ कल कलपा—शूद्र
६९ कंतालीपा—दर्जी
७० धहुलिपा—शूद्र
७१ उधलिपा—वैश्य
७२ कपालपा—शूद्र
७३ किलपा—राजकुमार
७४ सागरपा—राजा
७५ सर्वभक्षपा—शूद्र
७६ नाग बोधिपा—ब्राह्मण
७७ दारिकपा—राजा
७८ पुतुलिपा—शूद्र
७९ पनहपा—चमार
८० कोकालिपा—राजकुमार
८१ अनंगपा—शूद्र
८२ लक्ष्मीकरा (योगिनी) राजकुमारी
८३ समुदपा
८४ भलिपा—ब्राह्मण

इन चौरासी सिद्धों की नामावली देखने से ज्ञात होता है कि इनमें प्रायः

सभी वर्ण के साधक थे। शूद्र सब से अधिक थे, उनके बाद ब्राह्मण, फिर राजकुमार, क्षत्रिय, राजा, कायस्थ, चर्मकार, वणिक् तथा शेष साधकों में मछुआ, तँतवा, गृहपति, धोबी, लकड़हारा, लोहार, डोम, चिड़ीमार, कहार, गृहदासी, गृहपति, कन्या, दर्जी, वैश्य और राजकुमारी आदि की गणना है। इससे ज्ञात होता है कि इन साधकों में न तो वर्ण-भेद था और न वर्ग-भेद। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के साथ ही साथ समाज के विविध व्यवसायों में संलग्न व्यक्ति भी थे। इनमें राजा, राजकुमारी, गृहपति कन्या और गृहदासी भी सम्मिलित थे। इस प्रकार समाज के विविध स्तरों से आए हुए साधकों ने यह सिद्ध कर दिया कि धर्म की भावना जनता के क्रोड़ में पोषित हुई और उसके प्रचार में राज्यवर्ग के साथ जनता का भी सक्रिय सहयोग रहा।

उपर्युक्त चौरासी सिद्धों में अनेक सिद्ध काव्य-रचना में समर्थ हुए। जिन सिद्धों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्य द्वारा किया उन में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१ सरहपा (सं० ८१७) सिद्ध ६
२ शबरपा (सं० ८३७) ,, ५
३ भुसुकुपा (सं० ८५७) ,, ४१
४ लुइपा (सं० ८८७) ,, १
५ विरूपा (सं० ८८७) ,, ३
६ डोम्बिपा (सं० ८९७) ,, ४
७ दारिकपा (सं० ८९७) ,, ७७
८ गुंडरीपा (सं० ८९७) सिद्ध ५५
९ कुकुरिपा (सं० ८९७) ,, ३४
१० कमरिपा (सं० ८९७) ,, ४५
११ कण्हपा (सं० ८९७) ,, १७
१२ गोरक्षपा (सं० ९०२) ,, ९
१३ तिलोपा (सं० १००७) ,, २२
१४ शान्तिपा (सं० १०५७) ,, १२

यद्यपि वज्रयान की परम्परा लेकर ही इन सिद्ध-कवियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, तथापि इनके काव्य को देखने से ज्ञात होगा कि इन्होंने तत्कालीन वज्रयानी वातावरण में अद्भुत क्रांति उपस्थित की। इन्होंने जिस स्वाभाविक धर्म और आचार का प्रतिपादन किया वह वज्रयान के सिद्धान्तों से भिन्न था। इन सिद्धों के दृष्टिकोण में एक विशेष बात यह है कि वह ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म के क्रोड़ में पल्लवित होने वाले महायान, मंत्रयान और वज्रयान से संबंध-विच्छेद-सा करते हुए ये सिद्ध किसी 'धर्म महासुख' की ओर अग्रसर हो रहे हैं जिसमें ईश्वरवाद का प्रतिफलन होता है। यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जब तक वज्रयान का केन्द्र श्री पर्वत पर रहा तब तक तंत्र, मंत्र और अभिचार में माँस, मदिरा और मैथुन का प्रयोग होता रहा क्योंकि सहजचर्या के लिए ये वस्तुएँ आवश्यक समझी जाती थीं। किन्तु जब वह केन्द्र श्री पर्वत से नालन्दा और विक्रमशिला में आया तब

वज्रयान की सहजचर्या में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ और मद्य, स्त्री आदि का व्यवहार वज्रयान की सिद्धि में आवश्यक नहीं रह गया। इतना अवश्य माना जा सकता है कि कुछ सिद्धों ने वामाचार के अनुसार भी स्त्री की चर्चा की है,[१] किन्तु यह प्रवृत्ति सिद्धों में अधिक नहीं रही। यदि किसी अंश तक रही भी तो वह धीरे-धीरे कम होती गई। उन्होंने जीवन को प्राकृतिक रूप के गार्हस्थ्य जीवन[२] में व्यतीत करने पर जोर दिया। यदि उन्होंने कभी स्त्री का निर्देश भी किया तो केवल इसलिये कि संसार-रूपी विष से निवृत्ति पाने के लिये स्त्री-रूपी विष ही की आवश्यकता है।[३] इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि सिद्धों ने वज्रयान को वहीं तक स्वीकार किया है जहाँ तक वह सदाचार के विरोध में नहीं खड़ा होता। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्त होने की सहमति सिद्धों से अवश्य मिलती है और वह इसलिये कि जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करने से साधना के निर्वाह में बाधा पड़ती है। इसीलिये भोग में निर्वाण की भावना सिद्ध-साहित्य में देखने को मिलती है।[४] जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास रखने के कारण ही सिद्धों का सिद्धान्त सहज-मार्ग कहलाता है।

यह सिद्ध-साहित्य विशेषतः चार विद्वानों द्वारा अध्ययन किया गया है। सब से पहले महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने सरहपा और कृष्णाचार्यपा के दोहों के संग्रह 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से प्रकाशित किये। किन्तु इस संग्रह का पाठ बहुत अशुद्ध था। उनके बाद डा० शहीदुल्ला ने इस पाठ का अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन करते हुए मूल को तिब्बत-अनुवाद से मिला कर एक सही संकलन प्रकाशित किया। यह "ला चाँट्स मिसतीक्स द कान्ह ऐंद सरह" है जिसमें भाषा की जाँचपड़ताल के साथ अर्थ भी स्पष्ट किया गया है। तीसरे विद्वान् डा० प्रबोध चन्द्र बागची हैं जिन्होंने राजगुरु हेमराज शर्मा के संग्रह और दरबार लाइब्रेरी के हस्तलिखित ग्रन्थों का अध्ययन करते हुये तिल्लोपादस्य दोहा कोषः, सरहपादीय दोहा सरहपा-

१ तिअड्डा चापी जोइनि दे अंकवाली। कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली॥
जोइनि तइँ बिन खनहि न जीवमि। तो मुह चुम्बी कमल-रस पीवमि॥
चर्यागीत—गुडरीपा

२ जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएँहि तिम घरणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त।
दोहाकोष—कण्हपा

३ जिम विस मक्खइ विसहि पलुत्ता। तिम भव भुञ्जइ भवहि न जुत्ता॥
खण आनन्द भेउ जो जाणइ। सो इह जम्महि जोइ भणिज्जइ॥
दोहाकोष—तिलोपा

४ खाअन्त पिअन्ते सुहहि रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते॥
अइस धैम्म सिज्झइ परलोअइ। णाह पाये दलीउ भअलोअइ॥
चर्यापद—सरहपा

दस्य दोहाकोषः, काण्हपादस्य दोहाकोषः, सरहपादीय दोहासंग्रह : संकीर्ण दोहा संग्रह : को 'दोहाकोष' नाम से प्रकाशित किया। इसमें पाठ्य भाग व्यवस्थित और टिप्पणी सहित है। चौथे विद्वान महापण्डित राहुल सांकृत्यायन हैं जिन्होंने सिद्ध-कवियों का संग्रह 'हिन्दी काव्य-धारा' नाम से किया। इन सिद्ध-कवियों के साथ आठवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक के अनेक जैन तथा चारण-कवि भी हैं किन्तु इन सब कवियों में सिद्ध-कवियों की प्रधानता है। सिद्ध-कवियों की रचनाओं का निकटतम हिन्दी रूपान्तर राहुल जी ने साथ ही दे दिया है जिससे कविता को समझने में आसानी हो। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डा० शहीदुल्ला, डा० प्रवोधचन्द्र बागची और राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध-कवियों की भाषा और काव्य-दृष्टिकोण पर जो प्रकाश डाला है, उससे हिन्दी साहित्य के इतिहास का आदि भाग यथेष्ट स्पष्ट हुआ है। इस प्रकार हिन्दी-कविता का आदि रूप नालन्दा और विक्रमशिला के इन सिद्धों द्वारा बौद्धधर्म के वज्रयान तत्व के प्रचार में मिलता है। ये सिद्ध किसी सुसंस्कृत भाषा का प्रयोग न कर जनता की भाषा का ही प्रयोग करते थे। यह भाषा मागधी अपभ्रंश से निकली हुई मगही है। मागधी से निकलने के कारण डा० बी० भट्टाचार्य सरहपा को बंगाली का प्रथम कवि मानते हैं, किन्तु नालन्दा और विक्रमशिला की भाषा स्पष्टतः बिहारी है। फिर उपर्युक्त दोनों स्थान भी बंगाल में नहीं हैं। अतएव भट्टाचार्य का कथन भ्रमपूर्ण है। यह भाषा 'संध्या भाषा' के नाम से प्रचलित थी।

चौरासी सिद्ध का समय सं० ७९७ से १२५७ तक माना गया है, यद्यपि सिद्ध की परम्परा इसके बाद भी अनेक वर्षों तक चलती रही। इस परम्परा को 'नाथपन्थ' का नाम देना उचित है। यह नाथपंथ मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ द्वारा चलाया गया था[2] जो बारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक अपने चरमोत्कर्ष पर था। इसी ने हमारे साहित्य में संत-साहित्य की नींव डाली, जिसके सर्वप्रथम कवि कबीर (जन्म सं० १४५६) थे। अतः संत साहित्य का आदि इन्हीं सिद्धों को[3], मध्य नाथपन्थियों को और पूर्ण विकास कबीर से प्रारम्भ होने वाली संत-परम्परा में नानक, दादू, मलूकदास, सुन्दरदास आदि को मानना चाहिए। इस प्रकार संत-साहित्य अपने आदि रूप से विकसित होकर शृंखला-बद्ध और नियमित रूप से हमारे सामने अपने सम्पूर्ण इतिहास को लेकर आता है। कबीर ने यद्यपि स्थान-स्थान

---

१ श्री काशीप्रसाद जायसवाल का भाषण।

२ नाथपन्थ चौरासी सिद्धों से निकला है। गोरख सिद्धान्त संग्रह में "चतुर-शीति सिद्ध" शब्द के साथ चौरासी सिद्धों में से आदि नाथ जालन्धरपा तथा अन्य ६ सिद्धों के नाम मिलते हैं। (राहुल सांकृत्यायन)

३ धरती अरु असमानबिचि, दोई तू बड़ा अवध।
षट दर्शन संसे षड्या, अरु चौरासी सिद्ध॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४

पर चौरासी सिद्धों की सिद्धि में शंका है तथापि इससे उनकी विचार-परम्परा में अन्तर ही ज्ञात होता है, विरोध नहीं। नाथपन्थ के हठयोग आदि पर तो कबीर की आस्था थी ही क्योंकि उन्होंने न जाने कितनी बार कुण्डलिनी, इडा पिंगला, सुषुम्णा आदि के सहारे 'अनहद' नाद सुनने की रीति बतलाई है।

सिद्धों की कविता जनता की भाषा से सम्बन्ध रखती थी अतएव साहित्य-क्षेत्र में वह उपेक्षा की दृष्टि से देखी गई। इसीलिए उसके अवतरण कहीं देखने में नहीं आते। सिद्धों की परम्परा का विस्तार ५०० वर्षों तक होने के कारण भाषा में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। अतः इस सिद्ध-युग की भाषा अनेक रूपों में होकर विकसित हुई है।

सिद्धों का विवरण राहुल जी ने तिब्बत के 'स-स्क्य-विहार' के पाँच प्रधान गुरुओं की ग्रन्थावली 'स-स्क्य-ब्कं बुम्' के सहारे दिया है, जो चीन की सीमा के पास 'तेर-र्गा' मठ में छपी है।[1] उसके अनुसार सरहपा आदिम सिद्ध है, जिनका समय सं० ६९० माना गया है।[2] अतएव यह कहा जा सकता है कि वज्रयान का प्रचार सातवीं शताब्दी मे ही प्रारम्भ हो गया था। राहुल जी सरहपा का समय सं० ८१७ मानते हैं, क्योंकि वे महाराज धर्मपाल (सं० ८२६—८६६) के समकालीन थे। जो भी समय निश्चित हो, यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि वज्रयान के प्रचारक सिद्धों ने नियमित रूप से सबसे प्रथम हिन्दी में रचना प्रारम्भ कर दी थी। ये रचनाएँ मगही में हुई और हमें भोटिया में अनुवादित ग्रन्थावली से प्राप्त हुईं जो भोटिया-ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूर में सुरक्षित है। उस समय के सिद्धों के साहित्य पर विस्तारपूर्वक विचार करना अप्रासंगिक न होगा।

सरहपा [सं० ७९७-८२६]

डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा का समय सं० ६९० माना है, किन्तु श्री राहुल सांकृत्यायन के कथनानुसार वे संवत् ८१७ में आविर्भूत हुए। श्री राहुल जी का कथन है कि "भोटिया-ग्रन्थों से मालूम होता है कि बुद्धज्ञान जो सरहपा के सहपाठी और शिष्य थे, दर्शन में हरिभद्र के भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षित के शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बत में हुआ था वहीं से यह भी मालूम होता है कि बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल (७६९-८०९) के समकालीन थे। सरहपा के शिष्य शवरपा लुइपा के गु थे। लूइपा महाराज धर्मपाल के कायस्थ (लेखक) थे। शान्त रक्षित का जन्म ७४० के

१ गंगा—पुरातत्वांक (१९३३), पृष्ठ २२०

२ डा० विनयतोष भट्टाचार्य के मतानुसार—
बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल, खंड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९

करीब, विक्रमशिला के पास सहोर राजवंश में हुआ। फलतः हम सरहपा को महाराज धर्मपाल (७६४-८०९) का समकालीन मान लें तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धों का आरम्भ हम आठवीं शताब्दी के अन्त (८०० ई०) से मान सकते हैं।"[1] उपर्युक्त कथन से निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सरहपा सं० ७९७ से ८२६ तक अर्थात् इन तीस वर्षों के आसपास अवश्य वर्तमान रहे होंये क्योंकि सं० ७९७ सरहपा के समकालीन हरिभद्र के गुरु शान्तरक्षित का जन्म-संवत् है और सं० ८२६ सरहपा के प्रशिष्य लूइपा के आश्रयदाता धर्मपाल के राज्य-काल का प्रारम्भ है।

सरहपा एक ब्राह्मण भिक्षु थे, साथ ही वज्रयान के विशेषज्ञ भी थे। बौद्धों की परम्परा में होने के कारण इन्हें 'राहुल भद्र' और वज्रयानी होने के कारण इन्हें 'सरोज वज्र' भी कहते हैं। प्रारम्भ में इनका निवास-स्थान नालन्दा था। बाद में वज्रयान के प्रभाव में आकर इन्होंने शर (सर) बनाने वाले की कन्या को 'जोगिनि' बना कर उसके साथ आरण्य-वास किया और स्वयं शर (सर) बनाने का कार्य स्वीकार किया। अपने इस कार्य के कारण ही ये 'सरहपा' कहलाये। इनके लिखे हुए ३२ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें 'दोहाकोष' विशेष प्रसिद्धि पा सका। यद्यपि ये वज्रयान के प्रमुख सिद्ध कहे जाते हैं, तथापि इन्होंने जीवन के स्वाभाविक भोगों और वज्रयान के सहज अभिचारों के अतिरिक्त सदाचार के विपरीत कोई बात नहीं लिखी। इनके दृष्टिकोण की रूप-रेखा संक्षेप में इस प्रकार दी जा सकती है:—

सहज संयम
|
पाखंड और आडंबर-विनाश
|
गुरुसेवा
|
सहज मार्ग
|
महासुख की प्राप्ति

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण निम्न लिखित हैं:—

१ जइ पच्चक्ख कि झाणें कीअअ। जइ परोक्ख अन्धार म धीअअ॥
सरहें [णित्त] कड्ढिउ राव। सहज सहाव ण भावाभाव[2]॥
[सहज संयम]

---

१ पुरातत्व निबन्धावली—श्री राहुल सांकृत्यायन (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९३७) पृष्ठ १५५-१५६।

२ यदि प्रत्यक्षं [तदा] ध्यानेन किं क्रियते।
यदि परोक्षं [तदा] अंधकारो मा ध्रियताम्॥

२ जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।
लोमु पाडणें अत्थि सिद्धि ता जुवइ णिअम्बह॥
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख [ता मोरह चमरह]।
उञ्छें भोअणें होइ जाण ता करिह तुरङ्गह॥
सरह भणइ खवणाण मोक्ख महु किम्पि ण भासइ।
तत्त रहिअ काआ ण ताव पर केवल साहइ॥[१]

[पाखंड और आडम्बर-विनाश]

३ गुरु उवएसें अमिअ रसु धावहि ण पीअहु जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहिं तिसिए मरिअउ तेहि॥
चित्ताचित्त वि परिहरहु तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु वअणें दिढ भत्ति करु होइ जइ सहज उलालु॥[२]

[गुरुसेवा]

४ [सहज छड्डि जें णिव्वाण भाविउ]।
णउ परमत्थ एक्क ते साहिउ॥
जोएसु जो ण होइ संतुट्ठो।
मोक्ख कि लब्भइ झाण पविट्ठो॥[३]

[सहज मार्ग]

सरहेण नित्यम् उच्चैः कथितम्।
[यत्] सहज स्वभावो न [तत्र] भावाभावौ॥ दोहाकोष
डा० प्रबोधचन्द्र बागची (कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५ सी)
पृष्ठ १६

१ यदि नग्ना इव भवति मुक्तिः तदा शुनः शृगालस्य [न किम्]।
रोमोत् पाटने अस्ति सिद्धिः तदा युवती नितम्बस्य [न किम्]।
पुच्छ ग्रहणे दृष्टो मोक्षः तदा मयूर चामरस्य [न किम्]।
उच्छिष्ट भोजनेन भवति ज्ञानं तदा हस्ति तुरङ्गस्य [न किम्]।
सरहो भणति क्षपणकानां मोक्षो मह्यं किमपि न प्रतिभासते।
तत्व रहितो कायो न तावत् परं केवलं साधयति॥

उपरलिखित पुस्तक, पृष्ठ १६

२ गुरूपदेशेन अमृत रसो धाव्यते न पीयते यैः।
बहु शास्त्रार्थ मरुस्थली तृष्णया म्रियते तैः॥
चित्ताचित्तमपि परिहर तथा अस्तु यथा बालः।
गुरुवचने दृढ़ भक्तिं कुरु भवति येन सहजोल्लोल॥

उपरलिखित पुस्तक, पृष्ठ २७

३ सहजं परित्यज्य येन निर्वाणं भावितम्। न तु परमार्थः एकोऽपि तेन साधितः॥
योगेषु यो न भवति सन्तुष्टः। मोक्षं किं लभते ध्यान प्रविष्टः॥

उपरलिखित, पृष्ठ १७

१ आइ ण अन्त ण मज्झ णउ भव णउ णउ णिव्वाण ।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण ॥
जहि मण मरइ पवण हो क्खअ जाइ ।
एहु सो परम महासुह रहिअ कहिम्पि ण जाइ ॥१

(महासुख की प्राप्ति)

अन्य प्रमुख सिद्ध कवियों का विवरण इस प्रकार है:—

शवरपा
(सं० ८३७)

शवरपा—शवरो की वेषभूषा में रहने के कारण इनका नाम शवरपाद पड़ा । ये सरहपाद के शिष्य तथा लुइपाद के गुरु थे । इनकी रचनाओं में रहस्योन्मख भावनाएँ और महासुख-प्राप्ति के विचार अधिक हैं । इनके चर्या-पदों से कुछ पंक्तियाँ लीजिए :—

छाड़ु छाड़ु माआ मोहा विषम दुन्दोली । महासुहे विलसन्ति शवरो लइआ सुण-मेहेली ॥२

भुसुकुपा
(सं० ८५७)

भुसुकुपा—ये क्षत्रिय भिक्षु थे । इनका निवास-स्थान नालन्दा में था और ये नालन्दा-नरेश राजा देवपाल (सं० ८६६–९०६) के समकालीन थे । एक बार राजा देवपाल ने इनकी अस्तव्यस्त वेषभूषा देखकर इन्हें 'भसुकु' कह दिया । उस समय से ये 'भुसुकपा' कहलाने लगे । ये तंत्र-संबन्धी तथा रहस्योन्मुख विचारों से ओत-प्रोत रचनाएँ किया करते थे । इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है :—

डहि जो पञ्च पाटण ई दिविसआ णठा । ण जानमि चिअ मोर कहिं गइ पइठा ॥
सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ । निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥३

लुइपा
(सं० ८८७)

लूइपा—ये अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध थे, इसीलिए सिद्धों में इनका स्थान प्रथम है। ये सिद्ध शवर पा के शिष्य तथा राजा धर्मपाल के लेखक थे । अपनी साधना में इतने ऊँचे थे कि उड़ीसा के राजा दारिक पा और उनके मंत्री डेंगीपा तक उनके शिष्य बन गए थ । इन्होंने रहस्यात्मक विचारों से परिपूर्ण रचनाएँ की है। उदाहरण के लिये इनके ये पद लीजिये :—

---

१ आदिर्न अन्तं न मध्यं न तु भवो न तु निर्वाणम् ।
एतत् खलु तत् परम महा सुखं न तु परो न तु आत्मा ॥
यत्र मनो म्रियते पवनश्च क्षयं याति ।
एतदेव खलु तत् परम महासुखं रहितं कुत्रपि न याति ॥

कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५ सी, पृष्ठ २१

२ राग-रामक्री—शवरपादानाम [मेटीरियल्स फार ए क्रिटिकल एडीशन आव् दि ओल्ड बेंगाली चर्यापदाज, पार्ट वन्, प्रबोध चन्द्र बागची, कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९३८] पृष्ट १५५

३ उपरिलिखित पृष्ठ १५४

काआ तरुवर पञ्चवि डाल। चंचल चीए पइठा काल ॥
दिढ़ करिअ महासुह परिमाण। लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण ॥[1]

विरूपा (सं० ८८७)

विरूपा—ये बड़े पर्य्यटनशील सिद्ध थे। इन्होंने नालन्दा, श्री पर्वत, देवीकोट, उड़ीसा आदि स्थानों की यात्रा की। इनका मुख्य स्थान नालन्दा ही था। कण्हपा और डोम्बिपा इनके शिष्य थे। ये अधिकतर तंत्रों में विश्वास करते थे और वज्रयान के सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था रखते थे।

एक से सुण्डिनि दुइ धरे सान्धअ। चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥
सहजे थिर करिं वारुणी सान्धे। जे अजरामर होइ दिढ़ कान्धे ॥[2]

डोम्बिपा (सं० ८९७)

डोम्बिपा—ये क्षत्रिय थे। ये वीणापा और विरूपा के शिष्य थे। इनकी कविता का नमूना इस प्रकार है :—

गंगा जउना मांझे रे वहइ नाइ। तहिं बुड़िली मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाट भइल उछारा। सदगुरु पाअ-पए जाइब पुणु जिणउरा ॥[3]

दारिकपा (सं० ८९७)

दारिक पा—ये लुइपा के शिष्य थे। पहले ये उड़ीसा के राजा थे,बाद में लुइपा से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये। इनके साथ इनके मंत्री डेंगीपा भी शिष्य हुये। गुरु के आदेश से सिद्धि-प्राप्ति के लिये ये अनेक वर्षों तक कांचीपुरी में गणिका की सेवा करते रहे। सिद्धि प्राप्त करने पर य 'दारिकपा, कहे जाने लगे। इनके शिष्य बज्रघण्टापा थे। इन्होंने भी 'महासुख' में विश्वास करते हुये रहस्योन्मुख रचनाएँ लिखी हैं :—

सुन करुण रे अभिनचारें काअवाकचिए। विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें ॥
अलक्ख लक्खइ चिए महासुहें। विलसइ दारिक गअणत पारिमकलें ॥[4]

गुंडरी पा (सं० ८९७)

गुंडरीपा—ये कर्मकार थे। सिद्धलीलापा इनके गुरु थे। इनकी रचना में वज्रयान के अभिचारों का विशेष वर्णन है। उदाहरण निम्नलिखित है :—

तिअड्डा चापी जोइनि दे अङ्कवाली। कमल कुलिश घाण्ट करहूँ विआली। ४
जोइनि तँइ विनु खनहिं न जीवमि। तो मुह चुम्बी कमल रस पीवमि ॥[5]

---

१ कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५ सी पृष्ठ १०७
२ ,, ,, पृष्ठ १०९
३ ,, ,, पृष्ठ १२१
४ ,, ,, पृष्ठ १४०
५ ,, ,, पृष्ठ ११०

कुकुरिपा
(सं० ८९७)

कुकुरिपा—ये ब्राह्मण थे; कपिलवस्तु के निवासी थे और चर्पटी के शिष्य थे। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

दिवसइ बहुड़ी काग डरे भाग्र। राति भइले कामरु जाग्र॥
ग्रइसन चर्या कुक्कुरी पाएँ गाइड़। कोड़ि माझें एकु हिअहिं समाइड़॥[1]

कमरिपा
(सं० ८९७)

कमरि पा—ये उड़ीसा के राजवंशी थे। इन्हे प्रज्ञापारमिता पर पूर्णाधिकार था। इन्होंने अपने गुरु वज्रघण्टा पा के साथ उड़ीसा में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। तन्त्रों पर इनकी विशेष आस्था थी। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

सोने भरिती करुणा नावी। रूपा थोइ नाहिक ठावी॥
वाहतु कामलि गग्रण उवेसें। गेला जाम वाहुडइ कइसें॥[2]

कण्ह पा
(सं० ८९७)

कण्हपा—कर्णाटक में जन्म लेने के कारण इन्हें 'कर्णपा' भी कहा गया है। यों अपने श्याम वर्ण के कारण इन्हें 'कृष्ण पा' या 'कण्ह पा' नाम दिया गया। ये बहुत बड़े विद्वान् थे, साथ ही सिद्धों में सर्वश्रेष्ठ कवि भी थे। ये महाराज देवपाल (सं०-८६६-९०६) के समकालीन थे। इनका प्रमुख स्थान सोमपुरी (बिहार) में था। जालंधरपा इनके गुरु थे। चौरासी सिद्धों में अनेक सिद्ध इनके शिष्य थे। इन्होंने रहस्यात्मक भावनाओं के साथ वज्रगीत भी लिखे हैं, किंतु साथ ही शास्त्रीय रूढ़ियों का पूर्ण शक्ति के साथ खंडन भी किया है। इनकी कविता निम्नलिखित है :—

एवंकार दिढ़ वाखोड़ मोड्डिउ। विविह विग्रापक बान्धण तोड़िउ॥
कण्हु विलसग्र ग्रासव माता। सहज नलनीवन पइसि निविता॥
जिम जिम करिणा करिनिरें रिसग्र। तिम तिम तथता मग्रमल वरिसग्र॥
छड़गइ सग्रल सहावे सूध। भावाभाव वलाग न छूध॥
दशवल रग्रण हरिग्र दशदिसें। अविद्या करिकूँ दम अकिलेसें॥[3]

गोरक्षपा
(सं० ९०२)

गोरक्षपा—ये गोरखपुर के निवासी कहे गए हैं। ये सिद्धों में बड़े प्रभावशाली थे। इन्हें 'नाथ संप्रदाय' का प्रवर्त्तक मानना चाहिए क्यों कि इन्होंने सिद्धों के संप्रदाय से वज्रयान की परंपराओं में विशेष संशोधन करते हुए नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इन्हें ही गोरखनाथ कहा गया है। इनकी कविता का उदाहरण इस प्रकार है :—

---

१ कलकत्ता संस्कृत सीरीज नं० २५ सी, पृष्ठ १०८
२ ,, ,, पृष्ठ ११४
३ ,, ,, पृष्ठ ११५

परतरपवना रहै निरंतरि । महारस सीझै काया अभिअंतरि ॥
गोरख कहै अम्हे चंचल ग्रहिआ । सिउ सक्ती ले निज घर रहिआ ॥[1]

तिलोपा
(सं० १००७)

तिलोपा—सिद्धाचार में तिलो कूटने के कारण ही इनका नाम 'तिलोपा' पड़ा। इनका निवास-स्थान भृगुनगर (बिहार) में था। ये राजवंशी थे। इनके गुरु का नाम विजयपा था जो कण्हपा के प्रशिष्य थे। इनके शिष्य का नाम नारोपा था जो विक्रमशिला में अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। ये जीवन के स्वाभाविक यापन मे विश्वास करते थे और सहज मार्ग के प्रसिद्ध पंडित थे। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जिम विस भक्खइ विसहिँ पलुत्ता । तिम भव भुञ्जइ भवहिँ न जुत्ता ॥
खण आणंद भेउ जो जाणइ । सो इह जम्महिँ जोइ भणिज्जइ ॥[2]

शान्तिपा
(सं० १००७)

शान्तिपा—ये बड़े पर्यटनशील थे। उडन्तपुरी, विक्रमशिला, सोमपुरी, मालवा और सिंहल में इन्होंने ज्ञानार्जन करते हुए धर्म-प्रचार किया। ये बहुत बड़े विद्वान् थे। इन्हें आयु भी बहुत बड़ी मिली। पाण्डित्य के कारण इन्हे "कलि-काल सर्वज्ञ" भी कहा गया है। इनकी कविता का उदाहरण इस प्रकार है :—

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसू । आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसू ॥
तउ से हेरुण ण पाविअइ । सान्ति भणइ कि ण स भाविअइ ॥[3]

इन कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध-कवियों ने भी अपने सिद्धांतों का प्रचार कविता द्वारा किया जिनमें ततिपा, महीपा, भदेपा, धर्मपा आदि का नाम लिया जा सकता है। उपर्युक्त कवियों की रचनाओं से ज्ञात हो सकता है कि सिद्ध-साहित्य की रूपरेखा क्या थी। संक्षेप में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

वर्ण्यविषय

सिद्ध-कवियों ने वज्रयान धर्म का प्रचार किया। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि वज्रयान में तंत्र की प्रधानता थी और अपने उत्कर्ष में धर्म का आश्रय लेकर उसमें मद्य और मैथुन का प्रचार भी हो गया था। इन सिद्ध-कवियों ने यद्यपि तंत्र और हठयोग का अनुसरण किसी मात्रा में तो किया, किंतु मद्य और मैथुन को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। सदाचार में उन्होंने आस्था रखी और जीवन के स्वाभाविक यापन में उन्होंने अपना विश्वास प्रकट किया। जीवन की नैसर्गिक प्रवृत्तियों का अनुचित रूप से दमन या प्रश्रय वे धार्मिक जीवन के लिए हितकर नहीं समझते थे। तिलोपा ने तो संसार के विष को

१ गोरख बानी—डा० पीतांबरदत्त बडथ्वाल (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)
२ हिन्दी काव्य धारा—राहुल सांकृत्यायन (किताब महल, इलाहाबाद, १९४५) पृष्ठ १७४
३ मैं० फा० ए०, पृष्ठ १३१

सहज संयम
सदाचार
मध्यम मार्ग
गुरु उपदेश
काया तीर्थ
क्रियात्मक भाव
प्रतिक्रियात्मक भाव
भोग में निर्वाण १
कमल-कुलिश-साधना २
रहस्यगीत ३
१ पाखंड-खंडन
२ मंत्र-व्यर्थता
३ संप्रदाय-अवहेलना
महासुख
[शून्य तत्व]
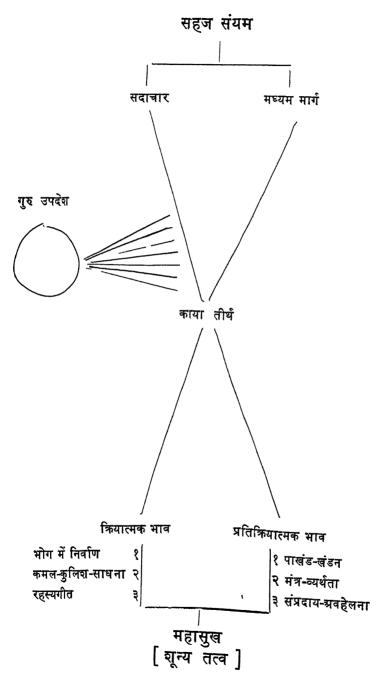
(३) जिस भाषा में किसी प्रकार की अभिसंधि, रहस्य या अभिप्राय हो। वज्रयान के सिद्धान्तों में निहित गूढ़ार्थ या व्यंजना-सम्पन्न किसी भाव को स्पष्ट करने की यह भाषा है।

मेरे विचार से ये तीनों ही अर्थ व्यर्थ हैं। पहले अर्थ में स्पष्टता और अस्पष्टता की बात भ्रामक ही है। प्रत्येक भाषा जब जन-समुदाय के उपयोग में आती है तो उसमें अनेक देशज शब्दों के मिश्रण से साहित्यिकता के नाते अस्पष्टता आ ही जाती है। इस दृष्टिकोण से उसे प्रकाश और अन्धकार के मिश्रण का रूपक देना उपयुक्त ज्ञात नहीं होता। ऐसी स्थिति सें 'उर्दू' जो हिन्दी में अरबी-फारसी शब्दों के मिश्रण से बनी है, साहित्यिक मापदण्ड के अनुसार किसी अंश तक अस्पष्ट होने के कारण, भविष्य के किसी इतिहास में 'संध्या भाषा' के नाम से पुकारी जा सकती है।

दूसरा अर्थ तो बिलकुल ही भ्रष्ट है। बंगाल और बिहार की सीमा तो राजनीतिक सुविधाओं के कारण आधुनिक काल में बना दी गई है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन उचित ही है कि 'इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं।'[1] अतः यह अर्थ तो भाषा के क्षेत्र में अनर्थ ही है।

तीसरा अर्थ 'अभिसंधि-सहित या अभिप्राय-युक्त भाषा' भी ठीक नहीं है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का अधिकांश भाग जिसमें गूढ़ार्थ, व्यंजना या अभिप्राय है, 'सन्ध्या-भाषा' की परिभाषा में आ जावेगा।

मेरे विचार से तो सन्ध्या भाषा का सीधा-सादा अर्थ यही है कि वह भाषा जो अपभ्रंश के सन्ध्याकाल या 'समाप्त होने वाले काल' में लिखी गई। सिद्धों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश के क्रोड से निकलती हुई जनता की आधुनिक भाषा के निर्माण में अग्रसर होती है। इसलिए इस भाषा से अपभ्रंश भाषा की अन्तिम अवस्था ज्ञात होती है। 'सन्ध्याकाल' का प्रयोग किसी अवस्था के अन्तिम भाग की सूचना देने के लिए होता ही है, अतः इस शब्द को साधारण अर्थ में ही लेना चाहिए। विशेष कर सहजयान के सिद्धों के विचारों के अनुरूप मुझ इस शब्द का 'सहज' अर्थ लेना ही युक्तिसंगत जान पड़ता है। व्यर्थ की खींच-तान या गूढ़ार्थ खोजने की चेष्टा साहित्य और भाषा के क्षेत्र में सत्य का समर्थन नहीं करती।

रस

सिद्ध-कवियों की रचना में विशेष कर शृंगार और शान्त रस हैं। किन्हीं सिद्धों की कविता में वज्रयान के प्रभाव से कहीं-कहीं उत्तान शृंगार अवश्य हो गया है। उदाहरणार्थ भुसुकुपा ने लिखा है :—

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ३४

अध राति भर कमल विकसिउ । बतिस जोइणी तसु अङ्ग उल्हसिउ ।
चालिअउ ससहर मागे अवधूइ । रअणहु सहजे कहेइ ॥
—रागकामोद, २७

या गडरीपा ने लिखा है :—
तिअड्डा चापी जोइनि दे अँकवाली । कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली ।
जोइनि तइँ बिनु खनहिं न जीवमि । तो मुह चुम्बी कमल-रस पीवमि ॥
—चर्यागीति ४

तथापि अनेक सिद्धों ने इस शृंगार का संकेत साधना-क्षेत्र में करते हुए भी इससे ऊपर उठने का आग्रह किया है और उसकी परिणति शान्त रस में की है। भुसुकुपा ने लिखा ही है :—
डहि जो पञ्च पाटण इन्दि विसआ णठा । ण जानभि चिअ मोर कँहि गइ पइठा
सोण तरूअ मोर किम्पि ण थाकिउ । णिअ परिवारे महासुहे थाकिउ ॥
—चर्यापद, ४९

सदाचार और मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए सिद्धों ने रूढ़ियों का खंडन किया है और 'महासुख' की प्राप्ति का आदर्श स्थापित किया है। ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं में 'शान्ति' और 'आनन्द' की भावना का रहना अनिवार्य है। उनके शान्त रस में निराशावाद नहीं है। और उसका कारण यह है कि वे संसार के दुःख को या उसकी नश्वरता को देखते हुए भी उसे छोड़ने का आदेश नहीं देते। वे स्वाभाविक रूप से संसार को ग्रहण करते हुए भी उसके उपयोग की शिक्षा देते हैं। उनके अनुसार शरीर को तीर्थ की भाँति मानते हुए उसके द्वारा साधना-मार्ग पर अग्रसर होना ही सबसे आवश्यक बात है। जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया। निराशावाद के भीतर से आशावाद का सन्देश देना—संसार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उसका आदर्श था जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकालकर मनुष्य को 'महासुख' के शीतल सरोवर में अवगाहन कराना।

काव्य के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए इन सिद्धों की रचना में चाहे 'रस' का परिपाक न हुआ हो फिर भी उसमें जो अलौकिक आनन्द और आत्म-सन्तोष का प्रवाह है उससे उसे 'अलौकिक रस' की संज्ञा दी जा सकती है। यही 'अलौकिक रस' कबीर, मीराँ, दादू आदि की रचनाओं में है जिनमें काव्य-लक्षणों की उतनी अधिक व्यवस्था नहीं है जितनी मनोवैज्ञानिक रस-संचार की। यह रस अपनी पूर्णता में किसी काव्य-लक्षण की अपेक्षा नहीं रखता।

छन्द

यों तो इस साहित्य की अधिकांश रचना चर्यागीतों में हुई है, तथापि इसमें दोहा, चौपाई जैसे लोकप्रिय छन्द भी प्रयुक्त हुए हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि यह साहित्य जनता की बोली में उसी के जीवन-परिष्करण के लिए लिखा गया था। अतः जनता के हृदय में पैठ जाने वाले छोटे-छोटे छन्दों और गीतों में ही इस साहित्य की रचना हुई। सिद्ध-कवियों के लिए दोहा बहुत प्रिय छन्द रहा है। यह अधिकतर सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ वर्णन-विस्तार है, वहाँ चौपाई छन्द है। यों कहीं-कहीं सोरठा और छप्पय भी है, किन्तु दोहे का प्राधान्य सर्वत्र है।

सहजयान की चर्या में गीतों की शैली विशेष रूप से प्रयुक्त है। ये चर्यागीत विशिष्ट राग-रागनियों में लिखे गए हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि राग-रागनियों का संकेत स्वयं सिद्धों द्वारा हुआ है, अथवा बाद में जोड़ दिया गया है। सम्भावना तो यही है कि स्वयं सिद्धों द्वारा यह उल्लेख हुआ होगा क्योंकि सिद्धों में संगीत-साधना की रुचि भी थी। सिद्ध-परम्परा में एक सिद्ध हैं जिनका नाम वीणापा है। इनके सम्बन्ध में यह उल्लेख है कि ये वीणा बजाते हुए अपने पदों का गान किया करते थे।

विशेष

विशेष—(१) सिद्ध-साहित्य का महत्त्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम माना जाने वाला चारण-कालीन साहित्य तो केवल मात्र तत्कालीन राज-नीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध-साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचार-धारा का एक स्पष्ट उल्लेख है। अतः इस साहित्य ने हमारे धार्मिक विकास की श्रृंखला को और भी मजबूत बना दिया है। इस साहित्य के अध्ययन से हम सिद्ध-संप्रदाय, नाथ-संप्रदाय और संत-संप्रदाय में एक ऐसी विकासो-न्मुख विचार-परम्परा पाते हैं जिससे हमारे इतिहास की धार्मिक रचनाओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

(२) इस साहित्य की भाषा ने भाषा-विज्ञान-विशारदों के समक्ष बड़ी मनोरंजक सामग्री प्रस्तुत की है। 'संध्या भाषा' में अपभ्रंश से निकलती हुई जन-भाषा की रूप-रेखा जितना अधिक ऐतिहासिक महत्त्व रखती है, उतना अधिक साहित्यिक भी। नालन्दा और विक्रमशिला के समीपवर्त्ती भागों की यह 'संध्या भाषा' हमें तत्कालीन अन्य साहित्यिक और धार्मिक केन्द्रों की जन-भाषा खोजने के लिए सचेष्ट बनाती है।

(३) सिद्ध साहित्य की रचना में हमें 'रहस्यवाद' का बीज मिलता है। हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद जिस प्रकार विकसित हुआ है, उसे समझने के लिए

सिद्ध-साहित्य का रहस्यवाद एक बड़ी महत्त्वपूर्ण पृष्ठ-भूमि उपस्थित करता है। उसमें जो मनोविज्ञान है, उसे यदि आधुनिक रहस्यवाद के मनोविज्ञान से मिलाया जाय तो हमें शताब्दियों से पोषित होने वाली मनोवैज्ञानिक क्रियाओं की एक बड़ी मनोरंजक शृंखला मिलेगी। साहित्य के अन्वेषकों के लिए यह निमंत्रण किसी 'एटहोम' से कम आकर्षक नहीं है।

जैन साहित्य

जैन धर्म के संस्थापन की एक परंपरा है। जैन-पुराणों का कथन है कि मनुष्य को संसार का सर्वप्रथम ज्ञान चौदह कुलकरों ने सिखलाया। सबसे प्रथम कुलकर का नाम 'प्रतिश्रुति' था जिन्होंने मनुष्यों को सूर्य और चन्द्र का ज्ञान दिया। कुलकरों के पश्चात् श्री ऋषभदेव हुए जो धर्म के प्रथम सस्थापक हुए। उन्होंने जनता को 'असि, मसि और कृषि' का उपदेश दिया। अपनी ज्येष्ठ पुत्री 'ब्राह्मी' के लिए उन्होंने लेखन-कला और लिपि का निर्धारण किया। इसीलिए उस लिपि का नाम 'ब्राह्मी लिपि' हुआ। श्री ऋषभदेव जी के पश्चात् होने वाले अनेक तीर्थंकरों का वर्णन जैन-ग्रंथों में है। नेमिनाथ बाइसवें तीर्थंकर हुए जिन्होंने श्री ऋषभदेव द्वारा संस्थापित धर्म को आगे बढ़ाया। तेइसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ थे। इनके समय का समर्थन इतिहास-सम्मत प्रमाणों से होता है। चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर थे जिन्होंने जैन धर्म को अत्यन्त व्यवस्थित रूप देकर उसका संगठन किया। श्री महावीर के समय से ही जैन धर्म का सर्वमान्य इतिहास हमें प्राप्त होता है।

वेंवर, व्हीलर, जैकोबी, हार्नले, आदि विदेशी विद्वानों नें तथा डा० हीरालाल जैन, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री अगरचन्द्र नाहटा, श्री जुगलकिशोर मुख्तार आदि देशी विद्वानों नें जैन धर्म का अध्ययन कर उसका इतिहास हमारे सम्मुख उपस्थित किया है, किन्तु अभी तक ये विद्वान् उस अपभ्रंश साहित्य का पूर्ण अन्वेषण और अध्ययन नही कर सके हैं जो प्राचीन पुस्तक-भंडारों में सुरक्षित है और जिसके अध्ययन के बिना जैन धर्म की धार्मिक और ऐतिहासिक परंपरा पूर्ण रूप से नहीं समझी जा सकती। अपभ्रंश साहित्य का उद्धार कारंजा जैन ग्रंथमाला द्वारा धीरे-धीरे हो रहा है। आशा करनी चाहिए कि इस प्रकार अन्य जैन ग्रंथ-मालाएँ प्रकाशित होंगी जिससे जैन धर्म की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ेगा।

जैन धर्म वस्तुतः बौद्ध धर्म की अपेक्षा हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। उसमें परमात्मा की स्थिति तो मानी गई है, किन्तु वह सृष्टि का नियामक[१] न होकर केवल चित् और आनन्द का अनन्त स्रोत है। वह एक ऐसी आदर्श सत्ता है जो संसार से परे है तथा संसार-चक्र से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सम्पूर्ण तथा एक विशुद्ध एवं परम आत्मा है। प्रत्येक जीव अपनी साधना से—अपने पौरुष से—परमात्मा

१ નિયમ કરનેવાલા, વ્યવસ્થા યા વિધાન કરનેવાલા

हो सकता है। उसे उस परमात्मा से मिलने की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा की भावना में तो केवल एक ऐसे आदर्श की कल्पना है जिसे प्रत्येक जीव अपने कार्यों से प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार यद्यपि हिन्दू धर्म के विशुद्ध चैतन्य और आनन्दमय परमात्मा का रूप जैन धर्म में भी है तथापि वह परमात्मा 'ब्रह्म' की शक्ति-सम्पन्नता और प्रभुत्व से रहित है।

जैन धर्म की परमात्मा-विषयक भावना किस प्रकार बनी, इस सम्बन्ध में तीन अनुमान हो सकते हैं। पहला अनुमान तो यह हो सकता है कि जैन धर्म के सिद्धान्तों की कल्पना उसी समय हो गई होगी जब हिन्दू धर्म में बहुदेववाद का प्रचार रहा हो और उसमें किसी एक सर्वशक्तिशाली देवता या ब्रह्म की भावना न बन पाई हो। दूसरा अनुमान यह हो सकता है कि जीव को संसार में ऊँची से ऊँची सिद्धि-प्राप्ति में सक्षम बनाने की भावना से एक महान आशावाद का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया हो और तीसरा अनुमान यह हो सकता है कि हिन्दू धर्म के ब्रह्म-विषयक दार्शनिक सिद्धान्तों की यह एक प्रतिक्रिया हो। मेरे दृष्टिकोण से तो दूसरा अनुमान ही सही हो सकता है और उसका कारण यह है कि जैन धर्म ने अपने क्रोड़ में दर्शन को उतना अधिक प्रश्रय नहीं दिया जितना संसार के चेतन रूपों के प्रति अपार श्रद्धा को। जैन धर्म तो जड़ पदार्थों में भी आत्मा की स्थिति मानता है। इस प्रकार जीव के विस्तार और उसके विकास की जितनी लम्बी परिधि खीची जा सकती है, उतनी जैन धर्म ने खींचने की चेष्टा की है। उसमें जीव की उन्नति की अपरिमित सम्भावनाएँ हैं। यह जीव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। वह अपने कर्मो का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ही लेता है। इन्हीं कर्मो से उसे सुख-दु:ख का भोग भोगना पड़ता है। यदि वह चाहे तो अपने पुरुषार्थ और क्रिया-कौशल से अपने शुद्ध कर्मों का निर्माण करते हुए स्वयं परमात्मा हो सकता है। जीवन की परिस्थितियों में अपने कर्मों का परिष्करण करके साधना के उच्चतम सोपान तक चढ़ने की प्रेरणा ने ही जैन धर्म को 'ब्रह्म' की कल्पना से परे रखा। उसमें परमात्मा केवल शुद्ध आत्मा है, जो जीव की कर्म-विषयक सफलता या विफलता से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। वह केवल विशुद्धता का एक आदर्श है, एक प्रतीक है।

जिस प्रकार जीव अपने ही कर्मों से शासित है, उसी प्रकार यह संसार भी अपनी प्राकृतिक शक्तियों से चल रहा है। किसी ब्रह्म या परमात्मा ने उसका निर्माण नहीं किया। इसके अन्तर्गत वस्तुओं की अनुभूति अनेक दृष्टिकोणों से है। द्रव्य, काल, क्षेत्र आदि अवस्था-विशेष से प्रत्येक वस्तु नित्य या अनित्य मानी जाती है। इस प्रकार जैन धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह 'अनेकान्त'[१] न्याय से संसार की ओर दृष्टिपात करता है। इसी सिद्धान्त में जैन धर्म का आचार अपनी चरम अवस्था को पहुँच गया है।

जैन धर्म में अनुमान और कल्पना की अपेक्षा जीवनगत सत्य ही मान्य है। उसमें जीवन के प्रति चरम श्रद्धा का विकास हुआ है। आचार को सुदृढ़ अनुशासन में रख कर सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव के प्रति भी दया और करुणा का व्यवहार करना कर्म का आदर्श है। न केवल मनुष्यों, जन्तुओं और वनस्पतियों में जीव है प्रत्युत प्रकृति के तत्त्वों में भी जीवन का निवास है। इस परिस्थिति में ऐसी सावधानी से जीवन व्यतीत किया जाय जिससे किसी जीव की हानि या हिंसा न हो। शीतल जल में जीवाणुओं का निवास है, इसलिए शीतल जल न पिया जाय; शस्य में जीव है, इसलिए भिक्षान्न से उदर-पोषण किया जाय; मार्ग में छोटे-छोटे जीव चलते हैं, इस लिए मार्ग बुहार कर चला जाय; आदि आचरण-सम्बन्धी कितने ही आदर्श जैन धर्म में मान्य हुए। इस भाँति उसमें अहिंसा ही परम धर्म समझा गया।

इस अहिंसा ने जैन धर्म में त्याग की भावना का सूत्रपात किया। यह त्याग न केवल इन्द्रियों के अनुशासन में है प्रत्युत कष्ट-सहन में भी है। स्वादिष्ट भोजन का परित्याग, सुविधाजनक वस्तुओं का परित्याग, यहाँ तक कि वस्त्रों का परित्याग भी जैन साधुओं का आदर्श हो गया। शरीर को कष्ट-सहन करने की क्षमता प्रदान करने में शरीर के लोमों का लुंचन और उपवास भी साधना का अंग बन गया।

श्री महावीर इस धर्म के बड़े प्रभावशाली प्रचारक हुए। ईसा की छठीं शताब्दी पूर्व जैन धर्म बौद्ध धर्म के समानान्तर लोकमान्य हुआ। श्री महावीर ने अपनी तपस्या और जितेन्द्रियता से जो आत्म-ज्ञान प्राप्त किया उससे उन्होंने जैन धर्म को बड़े व्यावहारिक ढंग से संसार के समक्ष रखा। उन्होंने कर्म-काण्ड और वर्ण-भेद हटा कर ब्राह्मण और शूद्र को समान रूप से मुक्ति का अधिकारी बतलाया। उन्होंने परिभ्रमण करके साधारण जनता को उन्हीं की भाषा में उपदेश दिया। उन्होंने 'मुनि संघों' की स्थापना की जो गृहस्थों को आचार का आदर्श बतला सकें।

श्री महावीर का जन्म कुण्डग्राम (वैशाली) में हुआ था। मगध के क्षत्रिय वंशों की परंपराओं में पोषित होकर इनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से सदाचार की ओर गई। जब इनकी तीस वर्ष की अवस्था में पिता सिद्धार्थ और माता त्रिशला की मृत्यु हो गई तो इन्होंने संयास ले लिया और बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। अड़तालीस वर्ष की अवस्था में इन्हें श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति हुई और इन्होंने तीस वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार किया। 'जन' 'जिन' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'विजय प्राप्त करने वाला।' संसार के आकर्षणों पर जो विजय प्राप्त करने में समर्थ हो सके वह 'जैन' है। जैन धर्म के अनुयायी 'निर्ग्रन्थ' कहलाते थे। 'निर्ग्रन्थ' का अर्थ भी 'बन्धनों से रहित' है। सम्राट् अशोक (ई० पू० २७५) का जो स्तम्भ दिल्ली में पाया गया है, उसकी आठवीं प्रशस्ति में 'निगन्थ' (निर्ग्रन्थ) का उल्लेख है। सम्राट् अशोक ने जिस प्रकार अन्य धर्मों के लिए 'धर्म महामात्रों' की नियुक्ति की थी, उसी प्रकार

"निगन्थ' पन्थ के लिए भी व्यवस्था थी। इससे यह स्पष्ट है कि सम्राट् अशोक के शासन-काल में 'निगन्थ' (जैन) धर्म अन्य धर्मों के समान ही प्रचलित था। इसका समर्थन कवि कल्हण की 'राज-तरंगिणी' के प्रथम अध्याय से भी होता है जिसमें अशोक का काश्मीर में जैन धर्म प्रचार निर्दिष्ट है :—

यः शान्त वृजिनो राजा प्रपन्नो जिन शासनम्।
शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले ॥

यही नहीं यह भी सत्य है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से भी अधिक प्राचीन है। बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है कि श्री महावीर के शिष्यों ने अनेक बार बुद्धदेव से शास्त्रार्थ किया है। श्री महावीर के संन्यास लेने के पूर्व भी यह जैन धर्म प्रचलित था।[1] इंडियन एंटीकरी में प्रो० कर्न का कथन है कि जहाँ तक अहिंसा का सम्बन्ध है, अशोक के नियम बौद्धों के सिद्धान्तों की अपेक्षा जैनों के सिद्धान्तों से अधिक साम्य रखते हैं।[2] श्री महावीर का निर्माण-समय पावापुरी (पटना) में ईस्वी पूर्व ५२७ माना जाता है।

जैन-संप्रदाय

मौर्य-काल में जैन धर्म दो भागों में विभक्त होने लगता है। इस काल में जैन के दो प्रसिद्ध आचार्य हुए, भद्रबाहु और स्थूलभद्र। भद्रबाहु ने दिगम्बर सम्प्रदाय चलाया और स्थूलभद्र ने श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय में तीर्थंकरों की नग्न प्रतिमा का पूजन होता है तथा दिगम्बर साधु भी वस्त्रों का परित्याग कर नग्न रहते हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय में तीर्थंकरों की मूर्तियों को वस्त्रों से सुसज्जित कर पुष्प और धूप से पूजते हैं। इस संप्रदाय के जैन श्वेत-वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर संप्रदाय के लोगों का यह विश्वास है कि जब तीर्थकर वीतराग थे तब उन्हें सामाजिक नियमों से वस्त्राभूषणों की आवश्यकता ही क्या थी ? इस दृष्टि से दिगम्बर साधुओं में त्याग, संयम और कष्ट-सहन साधना का विशिष्ट अंग माना जाता है। हरिषेण-कृत आराधना कथाकोष (रचना सं० ९८९) में भद्रबाहु की कथा में यह लिखा गया है कि "भद्रबाहु ने बारह वर्षों के घोर दुर्भिक्ष पड़ने का भविष्य जान कर अपने तमाम शिष्यों को दक्षिणापथ तथा सिंधु आदि देशों की ओर भेज दिया, पर वे स्वयं वहीं रह गए और उज्जयिनी भव (निकट ?) भद्रपद देश (स्थान ?) में पहुँच कर उन्होंने अनशनपूर्वक समाधि-मरण करके स्वर्ग प्राप्त किया।'

भद्रबाहु मुनिर्धीरो भय सप्तक वर्जित :।
पंपा क्षुधा श्रमं तीव्रं जिगाय सहसोत्थितम् ॥ ४२ ॥

---

१ सेकरेड बुक ऑव् दि ईस्ट—भाग २२, ४५—(डा० जेकोबी)

२ इंडियन एंटीकरी, भाग ५, पृष्ठ २०५

श्वेताम्बर संप्रदाय की अपेक्षा दिगम्बर संप्रदाय का प्रचार अधिक हुआ।[1]

जैन-साहित्य

जैनों के धर्मग्रंथ 'आचाराङ्ग सूत्र' और 'उपासक दशा सूत्र' कहे गए हैं जिनमें क्रमशः जैन भिक्षुओं और जैन उपासकों के आचरण-सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन है। ४५४ ई० में देवर्धिगणि द्वारा गुजरात में समस्त जैन धर्म के ग्रंथों का आलेखन हुआ। इनकी भाषा प्राकृत ही थी। आगे चल कर अपभ्रंश में जैन धर्म का समस्त वैभव व्यक्त हुआ। जब अपभ्रंश में आधुनिक भाषाओं के चिह्न दृष्टिगत हुए तो श्वेताम्बर संप्रदाय का साहित्य अधिकतर गुजराती में लिखा गया और दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य हिन्दी में। संभव है, श्वेताम्बरों का साहित्य किसी अंश तक हिन्दी में भी लिखा गया हो, पर अभी तक उसकी खोज़ नहीं हो पाई।

वास्तव में हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और विकास में जैन धर्म का बहुत हाथ रहा है। अपभ्रंश में ही जैनियों के मूल सिद्धान्तों की रचना हुई। अपभ्रंश का विकास हिन्दी में होने के कारण हिन्दी की प्रथमावस्था में भी इन सिद्धान्तों पर रचनाएँ हुईं। अतएव भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् हिन्दी के प्रारंभिक रूप का सूत्रपात करने में भी जैन-साहित्य का महत्त्व है।

स्वयंभू देव

हिन्दी के जैन कवियों में सबसे पहला नाम स्वयंभू देव का आता है। ये अपभ्रंश भाषा के महाकवि थे। किन्तु इन्होंने अपने ग्रंथ 'पउम चरिउ' (पद्म चरित्र—जैन रामायण) में ऐसी अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया है जिसमें प्राचीन हिन्दी का रूप इंगित है। इनका समय विक्रम की आठवीं शताब्दी ज्ञात होता है। इसका कारण यह है कि इन्होंने अपने ग्रंथ 'पउम चरिउ' और 'रिट्ठिनेमि चरिउ' में अपने पूर्ववर्ती कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। इन कवियों में एक रविषेणाचार्य हैं। रविषेण के 'पद्म चरित' का लेखन-काल विक्रम सं० ७३४ है। अतः स्वयंभू देव का समय सं० ७३४ के बाद है। अब यह देखना है कि स्वयंभू देव का उल्लेख कब और किसके द्वारा हुआ है। सर्वप्रथम स्वयभू देव का उल्लेख महाकवि पुष्पदंत ने किया है।[2] महाकवि पुष्पदंत ने अपने महापुराण का प्रारंभ सं० १०१६ में

---

१ इन दो संप्रदायों के अतिरिक्त एक संप्रदाय और है जिसका नाम 'यापनीय' संघ है। इस संघ में भी प्रतिमाएँ वस्त्ररहित पूजी जाती हैं, किन्तु साधना में श्वेताम्बर संप्रदाय का प्रभाव अधिक है। 'यापनीय संघ' को दिगंबर और श्वेताम्बर संप्रदाय का मिलन-विन्दु कहा जा सकता है।

२ चउमुहु सयंभु सिरिहरिसु दोणु। णालोइउ कइ ईसाणु बाणु। १-५॥
(मैंने चतुर्मुख, स्वयंभू, श्रीहर्ष, द्रोण, कवि ईशान और बाण का अवलोकन नहीं किया।)

किया । अतः स्वयंभू देव का समय सं० ७३४ से १०१६ के बीच ठहरता है । लगभग ३०० वर्षों की लंबी अवधि में ठीक संवत् खोजना कठिन है । श्री नाथूराम 'प्रेमी' इस अवधि में स्वयंभू देव का काल संवत् ७३४ से ८४० के बीच मानते हैं । राहुल सांकृत्यायन सं० ८४७ के लगभग अनुमान करते हैं । इस सम्बन्ध में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है । अभी हमें इसी से संतोष करना चाहिए कि स्वयंभू देव विक्रम की आठवीं शताब्दी में हुए ।

स्वयंभू देव के पिता का नाम मारुतिदेव और माता का नाम पद्मिनी था । मारुतिदेव भी कवि थे । अपने पिता का संकेत करते हुए[1] वे स्वयंभू-व्याकरण में उनका एक दोहा उदाहरण के रूप में देते हैं ।[2] स्वयंभू देव स्वयं अपभ्रंश के छंद-शास्त्र और व्याकरण-शास्त्र के आचार्य थे । वे अपने आचारों में भिक्षु या मुनि नहीं थे, वे थे एक श्रेष्ठ उपासक । 'पउम चरिउ' संधि (सर्ग) ४२ और २० के पद्यों में उनकी दो पत्नियों का उल्लेख मिलता है । प्रथम का नाम आइच्चंबा (आदित्याम्बा) और दूसरी का नाम सामिअब्बा था । संभव है, उनकी और भी पत्नियाँ रही हों । इन पत्नियों से उनके अनेक पुत्र हुए जिनमें सब से छोटे का नाम त्रिभुवन स्वयंभू था । ये त्रिभुवन स्वयंभू भी कवि थे । इस प्रकार इस कुल में काव्य की परम्परा का विशेष मान था । त्रिभुवन कवि होने के साथ ही बड़े विद्वान् और वैयाकरण थे । इन्होंने अपने पिता स्वयंभू देव की रचनाओं की सफलता के साथ पूर्ति की । यद्यपि यह पूर्ति पिता के अधूरे ग्रंथों की नहीं थी तथापि जहाँ कहीं प्रसंग स्पष्ट नहीं हुए, वहाँ उनकी स्पष्टता के लिए त्रिभुवन ने अनेक 'कड़वकों' और 'सन्धियों' की रचनाएँ कीं[3] । उदाहरण के लिए 'पउम चरिउ' में बारह हजार श्लोक हैं । इन श्लोकों में नब्बे संधियाँ हैं । उन संधियों का विवरण इस प्रकार है :—

विद्याधर काण्ड—	२०	सन्धि
अयोध्या काण्ड—	२२	,,
सुन्दर काण्ड—	१४	,,
युद्ध काण्ड—	२१	,,
उत्तर काण्ड—	१३	,,
कुल ५ काण्ड	९०	सन्धियाँ

इन ९० सन्धियों में स्वयंभू देव की ८३ संधियाँ है और त्रिभुवन की ७ ।

१ तहा य माउर देवरस । ४-६ ।।

२ लद्धउ मित्त भमतेण रअणाअरचदेण ।
सो सिज्जंते सिज्जइ वि तह भरइ भरंतेण ।। ४-६ ।।

३ एक कड़वक = आठ यमक
एक यमक = दो पद
संधि = सर्ग

यों तो त्रिभुवन ने ८३ नं० की सन्धि की पुष्पिका में भी अपना नाम दे दिया है और इस प्रकार ८३ सन्धि से ९० सन्धि तक ८ सन्धि होती हैं, किन्तु ग्रन्थ के अन्त में त्रिभुवन ने अपनी राम-कथा को सात सन्धि वाली (सप्त महा सर्गांगी) ही कहा है। इससे अनुमान होता है कि त्रिभुवन ने ८३ नं० की सन्धि में अपनी कथा की ही पृष्ठ-भूमि बनाने के लिए कुछ 'कड़वक' ही जोड़े होंगे। अन्तिम सात सन्धियों के बिना भी 'पउमचरिउ' ग्रन्थ पूर्ण है। त्रिभुवन की सन्धियों में अवान्तर कथाएँ ही हैं। उदाहरण के लिए सीता या बालि की कथा या मारुत-निर्वाण या हरि-मरण। इस प्रकार जो ग्रन्थ स्वयंभू देव के हैं, वे त्रिभुवन स्वयंभू की रचनाओं को भी सम्मिलित किये हुए हैं।

स्वयंभू देव ने चार ग्रन्थों की रचना की है :—

१—पउमचरिउ (पद्म चरित्र—जैन रामायण)

२—रिट्ठणेमि चरिउ (अरिष्टनेमि चरित्र—हरिवंश पुराण)

३—पंचमि चरिउ (नागकुमार चरित)

४—स्वयंभू छन्द

स्वयंभू देव बहुत अच्छे कवि थे। उन्होंने जीवन की विविध दशाओं का बड़ा हृदयाकर्षक वर्णन किया है। 'पउम चरिउ' में वे विलाप और युद्ध लिखने में विशेष पटु हैं। उन्होंने नारी विलाप, बन्धु विलाप, दशरथ विलाप, राम विलाप, भरत विलाप, रावण विलाप, विभीषण विलाप आदि बड़े सुन्दर ढंग से लिखे हैं। युद्ध में वे योद्धाओं की उमंगें, रण-यात्रा, मेघवाहन युद्ध, हनुमान युद्ध, कुम्भकर्ण युद्ध, लक्ष्मण युद्ध बड़े वीरत्व-पूर्ण ढंग से स्पष्ट करते हैं। प्रेम-विरह गीत, प्रकृति-वर्णन, नगर-वर्णन और वस्तु-वर्णन भी वे बड़े विस्तार और स्वाभाविक ढंग से लिखते हैं। उदाहरण देखिए :—

रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी विलाप—(करुण रस)

आयहि सोआरियहि, अट्ठारह हिव जुवइ सहासेहिं।
णव घण माला डंबरेहिं, छाइउ विज्जु जेम चउपासेहिं॥
रोवइ लंकापुर परमेसरि। हा रावण! तिहुयण जण केसरि॥
पइ विणु समर तूरु कहों वज्जइ। पइ विणु बालकील कहो छज्जइ॥
पइ विणु णवगह एक्कीकरणउ। को परिहेसइ कंठाहरणउ॥
पइ विणु को विज्जा आराहइ। पइ विणु चन्द्रहासु को साहइ॥
को गंधव्व वापि आडोहइ। कण्णहों छवि-सहासु संखोहइ॥
पइ विणु को कुवेरु भंजेसइ। तिजग विहुसणु कहों बसें होसइ॥
पइ विणु को जमु विणवारेसइ। को कइलासु ढरणु करेसइ॥
सहस किरणु णल कुब्वर सक्कहु। को अरि होसइ ससि वरुणक्कहु॥
को णिहाण रयणइ पालेसइ। को वहुरूविणि विज्जा लएसइ॥

घत्ता—सामिय पइँ भविएण विणु, पुप्फ विमाणेँ चडवि गुरुभत्तिएँ।
मेरु सिहरेँ जिण मन्दिरइँ, को महं खेसइ वंदण हत्तिए।

हनुमान का युद्ध-वर्णन—(वीररस)

हणुवंत रणे परिवेडिज्जइ णिसियरेहिं। णं गयण-यले बाल-दिवायरु जलहरेहिं।
पर-वलु अणंतु हणुवंत एक्कु। गय-जूहहों णाइ इंदु थक्कु॥
आरोक्कइ कोक्कइ समुहु धाइ। जहि जहि जेंथट्ट तहि तहि जें थाइ।
गय-घड भड थड भंजंतु जाइ। वंसत्थलें लग्गु दवग्गि णाइ।
एक्कू रहु महाँहवें रस विसट्टु। परिभमइ णाइँ वलें भइय वट्ट।
सो णवि भडु जासु ण मलिउ माणु। सो ण धयउ जामु ण लग्गु वाणु।
सो णवि भडु जासु ण छिण्णु गत्तु। तं णवि विमाणु जहि सरु ण पत्तु।

घत्ता—जगडंतु-बलु मारुइ हिंडइ जहिं जें जहिं।
संगाम महिहिं रुंड णिरंतर तहि जें तहिं॥

आचार्य देवसेन

डा० हीरालाल जैन ने बरार प्रदेश के कारंजा नामक स्थान के दो बड़े प्राचीन शास्त्र-भाण्डारों को देख कर अनेक ग्रन्थों की खोज की है, जिनमें अपभ्रंश भाषा से निकली हुई प्राचीन हिन्दी के रूप जैन आचार्यों के ग्रन्थों में मिलते हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी मुनिजिनविजय और श्री नाथूराम 'प्रेमी' के परिश्रम से अनेक जैनाचार्यों और उनके ग्रन्थों का परिचय प्राप्त हुआ है। इनमें प्रमुख आचार्य श्री देवसेन सूरि हैं। ये श्री विमलसेन गणधर के शिष्य थे।[१] श्री देवसेन का आविर्भाव-काल विक्रम की दसवीं शताब्दी है। कवि ने अपने ग्रंथ 'दर्शनसार' में उसकी रचना-तिथि विक्रम संवत् ९९० लिखी है।[२] अतः यह स्पष्ट है कि देवसेन विक्रम की दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध में हुए।

दर्शनसार के देखने से अनुमान होता है कि ये भगवत् कुन्द कुन्दाचार्य अन्वय के आचार्य थे।[३] इन्होंने अपने ग्रंथ में जैन धर्म के अनेक सङ्घों की उत्पत्ति लिखी है और उन्हें 'जैनाभास' का नाम दिया है। उन्होंने केवल आचार्य कुन्दकुन्द की प्रशंसा की है अतः वे आचार्य कुन्दकुन्द के अनुयायी अवश्य रहे होंगे। इनका स्थान धारा नगरी (मालवा) था।

आचार्य देवसेन ने जैन धर्म के सिद्धान्तों का बड़ा विशद विवेचन किया है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में इनका 'नयचक्र' बहुत

---

१ सिरि विमल सेण गणहर हर सिस्सो णामेण देवसेणो ति।
अबुह जण बोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं॥—देवसेन रचित भावसंग्रह

२ रइओ दंसण सारो हारो भव्वाण णवसए नवए।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माह सुद्ध दसमीए॥ ५४॥ दर्शनसार

३ जैन साहित्य और इतिहास—(श्री नाथूराम 'प्रेमी'), पृष्ठ १२०

प्रसिद्ध है। इसे लघु 'नयचक्र' का नाम भी दिया गया है। 'लघु' विशेषण किसी दूसरे बड़े ग्रन्थ से भिन्नता प्रदर्शित करने के लिए लगा दिया गया है। किन्तु "वृहत् नयचक्र' जो जैन-साहित्य में इन्ही के नाम से प्रसिद्ध है वास्तव में इनके शिष्य माइल्ल धवल का लिखा हुआ है। ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'दव्व सहाव पयास' (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) है। पहले यह ग्रन्थ 'दोहाबन्ध' में था, किन्तु पीछे से किसी शुभंकर के कहने से प्राकृत में गाथा-बन्ध कर दिया गया।

सुणि ऊण दोहरत्थं सिग्धं हसिऊण सुहंकरो भणव।
एत्थण सोहइ अत्थो गाहा बंधेण तं भणइ॥
दव्व सहाव पयासं दोहय बंधेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहा बंधेण य रइयं माइल्ल धवलेण॥

'गाथा' प्राकृत का परिचायक है और दोहा अपभ्रश या अपभ्रंश से निकलती हुई पुरानी हिन्दो का। अतः यह स्पष्ट है कि 'दव्व सहाव पयास' पहले पुरानी हिन्दी में था। बाद में धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण जैन आचार्य माइल्ल धवल द्वारा अधिक गम्भीर प्राकृत में कर दिया गया। इस उल्लेख से यह सरलता से जाना जा सकता है कि इस काल में प्राकृत रचना का आधार पुरानी हिन्दी का रूप अथवा अपभ्रंश से परिवर्तित होता हुआ जन-भाषा का रूप होगा तो पुरानी हिन्दी या अपभ्रंश से उद्भूत जन-भाषा इस समय तक यथेष्ट उन्नति कर चुकी होगी, जिससे कि उसमें ग्रंथ-रचना हो सके। और यदि पुरानी हिन्दी में ग्रन्थ रचना होने की परिस्थिति आ गई होगी तो वह जन-साधारण में इससे भी पहले—कम से कम सौ वर्ष पहले—तो अवश्य बोली जाती होगी। अतएव जैन-ग्रन्थों के आधार पर भी पुरानी हिन्दी का रचना-काल विक्रम की आठवी शताब्दी से आरम्भ हो गया होगा।

आचार्य देवसेन का 'नयचक्र' श्वेताम्बराचार्यों द्वारा भी मान्य रहा। नयचक्र में वर्णित नय, उपनय और दोनों मूलनय भी श्वेताम्बराचार्य श्री यशोविजय द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं। इसमें नयों के अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान, द्रव्य, गुण आदि का कोई वर्णन नहीं है जो माइल्ल धवल द्वारा रचित 'दव्व सहाव पयास' में है। अतः 'नयचक्र' मूल मालूम होता है, उसी में अन्य प्रसंगों को जोड़ कर 'दव्व सवाह पयास' की रचना हुई। स्वयं माइल्ल धवल अपनी गाथा के अन्त में देवसेन को 'नयचक्र' के कर्त्ता मानते हुए उन्हें प्रणाम करते है :—

सिय सद्द सुणय दुणय दणु देह विदारणेक्कवर वीरं।
तं देवसेण देवं णय चक्कयरं गुरुं णमइ॥

'नयचक्र' के अतिरिक्त आचार्य देवसेन के अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख है। दर्शनसार, भावसंग्रह, आराधनासार और तत्वसार तथा सावय धम्म दोहा उनके अन्य ग्रन्थ हैं। आचार्य देवसेन दिगम्बर सम्प्रदाय के ऐसे कवि और आचार्य थे जिनसे जैन धर्म के सिद्धान्त-दर्शन में अत्यधिक योग मिला।

'सावयधम्म दोहा' में देवसेन ने गृहस्थों के लिए सिद्धान्त-प्रतिपादन किया है। इसलिए यह बिना किसी प्रतिबन्ध के गृहस्थों में प्रचलित रहा। इसके विपरीत 'नयचक्र' भिक्षुओं या साधुओं के लिए है। उसका विषय 'पाण्डित्यपूर्ण न्याय' है। यही कारण है कि किसी शुभंकर ने धार्मिक गौरव के लिए उसका 'गाहा' में परिवर्तन करा कर प्राकृत रूप दिला दिया और 'दोहा रूप' नष्ट करा दिया। 'सावय धम्म' के सार्वजनिक विषय ने उसके रूप की रक्षा की। यह ग्रंथ मालवा में लिखा गया। फलस्वरूप इस पर नागर अपभ्रंश का प्रभाव है। यह भाषा हिन्दी के कितने समीप है, तथा ग्रन्थ के सिद्धान्त कितने व्यावहारिक और स्पष्ट हैं यह कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है[1] :—

भोगों का प्रमाण—

भोगहं करहि पमाणु जिय, इंदिय म करि सदप्प।
हुंति ण भल्ला पोसिया, दुद्धें काला सप्प ॥६५॥

(हे जीव! भोगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को बहुत अभिमानी मत बना। काले साँपों का दुग्ध से पोषण करना अच्छा नहीं होता।)

कुपात्र दान का फल—

दंसण रहिय कुपत्ति जइ दियणइ ताह कुभोउ।
खार घडइं अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होउ ॥८१॥

(दर्शन-रहित कुपात्र को यदि दान दिया जाता है तो उससे कुभोग प्राप्त होता है। खारे घड़े में डाला हुआ जल भी खारा हो जाता है।)

हय गय सुणहहं दारियहं मिच्छा दिट्ठिहिं भेय।
ते कुपत्त दाणं धिघवइं फल जाणहु बहु भेक ॥८२॥

(घोड़े, हाथी, कुत्ता व वेश्याओं के भोग मिथ्या दृष्टियों के भोग हैं। इन्हें कुपात्र दान-रूपी वृक्ष के नाना प्रकार के फल जानो।)

सुपात्र दान की महिमा—

इक्कु वि तारइ भव जलहि बहु दायार सुपत्तु।
सुपरोहणु एक्कु वि बहुय दीसइ पारहु णित्तु ॥८५॥

(एक ही सुपात्र अनेक दातारों को भव समुद्र से तार देता है। अच्छी एक ही नौका बहुतों को पार लगाती देखी जाती है।)

कृपण की सम्पत्ति—

काइं बहुत्तइं संपयइं जइ किविणहं घरि होइ।
उवहि णीरु खारें भरिउ पाणिउ पियइ ण कोइ ॥८६॥

---

1 सावय धम्म दोहा—(सम्पादक—डा० हीरालाल जैन) कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, बरार १९३२

(बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृपण के घर हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका पानी तक कोई नहीं पीता।)

पात्रदान थोड़ा भी बहुत है—

धम्म सरूवें परिणवइ चाउ वि पत्तहं दिएणु।
साइय जलु सिप्पिहिं गयउ मुत्तिउ होइ रवण्णु॥६१॥

(पात्र को दिया हुआ दान धर्मस्वरूप परिणमित होता है। स्वातिजल सीप में पड़कर रमणीय मोती बन जाता है।)

धर्म से धन प्राप्ति—

धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउ भांति।
जलु कडढंतहं कूवयहं अवसइं सिर घडंति॥६६॥

(धर्म करने वालों के धन होता है, भ्रांति न करना चाहिये। कूप से जल काढ़ने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।)

पाप से सुख नहीं—

सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय णरु पावेण।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदुउ दिट्ठउ केण॥१५३॥

(हे जीव! पाप से यहाँ कोई नर सुखी नहीं हुआ। कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने देखी है?)

माइल्ल धवल

श्री माइल्ल धवल श्री देवसेन आचार्य के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु की रचना 'नयचक्र' को अपने ग्रन्थ 'दव्व सहाव पयास' में अन्तर्गभित कर उसे गाहा रूप दिया। इनका समय भी दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनकी रचना का नमूना देखिए :—

दारिय दुण्य यदणुयं पर अप्प परिक्खति क्ख खर धारं।
सव्वण्हु विण्हु चिण्हं सुदसणं णमह णय चक्कं॥

ये १८०० श्लोकों से रचित हरिवंश पुराण के कर्त्ता भी हैं। इन्होंने जैन धर्म के चरित्र-नायकों का वर्णन किया है।

महाकवि पुष्पदन्त

महाकवि पुष्पदंत जैन-साहित्य के अत्यन्त प्रसिद्ध महाकवि थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'णाय कुमार चरिउ' (नाग कुमार चरित) के अन्त में अपने माता-पिता का संकेत करते हुए सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है।[1] उसके अनुसार इनके पिता प्रथमतः शिव-भक्त थे, किन्तु बाद में किसी जिन संयासी के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हो गए थे। पिता के सम्प्रदाय-परिवर्तन के साथ ये भी जैन हो गए। पिता का नाम केशव भट्ट था और माता का नाम मुग्धा देवी।

---

१ सिव भत्ताइं मि जिण सण्णासें वे वि मयाइं दुरियणिण्णासें।
वंभणाइं कासवरिसि गोत्तइं गुरुवयणामिय पूरियसोत्तमं॥

रचनाओं की भाषा देखते हुए अनुमान होता है कि ये उत्तरी भारत के ही निवासी होंगे क्योंकि दक्षिणी भाषाओं का इनकी रचना पर कोई प्रभाव नहीं है। इनकी भाषा को ब्राचड़ अपभ्रंश या उसी से प्रभावित भाषा माननी चाहिए।

कवि में आत्म-सम्मान की मात्रा विशेष रूप में थी। एक बार निर्जन वन में पड़े रहने पर जब 'अम्मइय' और 'इन्द्र' नामक व्यक्तियों द्वारा कारण पूछा गया तब इन्होंने कहा—

णउ दुज्जन भउँहा वंकियाइं, दीसंतु कलुसभावंकियाइं।
वर णरतरु धवलच्छिहे होड़ु म कुच्छिहे मरउ सोणिमुहणिग्गमे।
खल कुच्छिय पहुवयणइं भिउडियण यणइं म णिहालउ सुरुग्गमे॥...

(दुर्जनों की बंकिम भौंह देखना उचित नहीं, चाहे गिरि-कन्दराओं में घास खाकर भले ही रह जाय। मा के कुक्ष से उत्पन्न होते ही मर जाना ठीक है, किन्तु राजा के टेढ़ी भृकुटी के नेत्र देखना और उसके दुर्वचन सुनना उचित नहीं।)

यही कारण है कि उन्होंने अपने लिए 'अभिमान मेरु', 'काव्य रत्नाकर', 'कविकुल तिलक' आदि की उपाधियाँ जोड़ी हैं। जहाँ मानसिक रूप से वे अपने को इतना गौरव देते थे, वहाँ वे शरीर से बहुत दुर्बल और कुरूप थे।[1] इनका एक गुण विशेष था और वह यह कि ये शरीर-सम्पत्ति से हीन होते हुए भी सदैव प्रसन्न-चित्त रहा करते थे। इनके नाम के अनुरूप उनकी दंत-पक्ति पुष्प के समान धवल थी।[2]

महाकवि पुष्पदंत के दो आश्रयदाता थे। प्रथम राष्ट्रकूट वंश के महाराजाधिराज कृष्णराज (तृतीय) के महामात्य भरत और दूसरे महामात्य भरत के पुत्र नन्न जो आगे चल कर महामात्य नन्न हुए। इन्हीं दोनों के प्रोत्साहन से महाकवि पुष्पदंत ने अनेक ग्रंथों की रचना की जिनमें निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं :—

१—तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकारु (त्रिषष्टि महापुरुष गुणालंकार)—इसी ग्रंथ को 'महापुराण' भी कहा गया है। इसमें दो खंड हैं : आदि पुराण और उत्तर पुराण। आदि पुराण में ८० और उत्तर पुराण में ४२ संधियाँ हैं। इसमें त्रेसठ महापुरुषों के चरित्र हैं। आदि पुराण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का चरित्र है, उत्तर पुराण में बाकी २३ तीर्थंकर तथा उनके समकालीन पुरुषों के चरित्र हैं। इन दोनों में लगभग २० हजार पद्य होंगे। इसके निर्माण में महामात्य भरत की प्रेरणा थी क्योंकि ग्रंथ की प्रत्येक सन्धि में भरत का गुण-गान है।

२—णाय कुमार चरिउ (नाग कुमार चरित्र)—यह ग्रंथ, महामात्य नन्न की प्रेरणा से लिखा गया। यह एक खंड-काव्य है जिसमें नौ संधियाँ हैं। पंचमी के उपवास का फल कहने वाले नागकुमार का चरित्र इसका विषय है।

---

१ कसण सरीरें सुद्ध कुरूवें मुद्धाएवि गब्भ सम्भूवें॥ उत्तर पुराण ११

२ सिय दंत पंति धवली कयासु ता जंपइ बरवाया विलासु।

३—जसहर चरिउ (यशोधर चरित्र) यह भी नन्न की प्रेरणा से लिखा गया। इसमें चार सन्धियाँ हैं। इसमें यशोधर नामक पुरुष का चरित्र कहा गया है। यह खंड-काव्य भी 'णाय कुमार चरिउ' के समान सुन्दर है।

४—कोश ग्रन्थ—यह देशज शब्दों का एक कोष है। इससे महाकवि का भाषा पर अधिकार ज्ञात होता है।

महाकवि पुष्पदंत एक महान् पंडित और प्रतिभाशील कवि थे। इनका काव्य-पक्ष अत्यंत विस्तृत और उत्कृष्ट था। अलंकारों का प्रयोग इनकी निरीक्षण और अध्ययन-शक्ति का परिचायक है। इनकी कविता के उदाहरण देखिए :—

सन्ध्या-वर्णन

अत्थमिइ दिणेसरि जिह सउणा। तिह पंथिय थिय माणिय सउणा।
जिह फुरियउ दीवय दित्तियउ। तिह कंताहरणह दित्तियउ।
जिह संझा राएँ रंजियउ। तिह वेसा राएँ रंजियउ।
जिह भुवणुल्लउ संतावियउ। तिह चक्कुल्लुवि संतावियउ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइँ मिलियाइँ। तिह दिसि दिसि जारइ मिलियाइँ।
जिह रयणिहि कमलइँ मउलियाइँ। तिह विरहिणि वयणइँ मउलियाइँ॥ आदि

(तिसट्ठि महापुरिष गुणालंकारु—महापुराण)

युद्ध-वर्णन

संगाम भेरीहिं, णं पलय मारीहिं। भुअणं गसंतीहिं गहिरं रसंतीहि।
सण्णद्ध-कुद्धाइँ उद्धुद्ध चिंधाइँ। उववद्ध तोणाइ गुण-णिहिय वाणाइँ।
करिं चडिय जोहाइँ चम चामरोहाइँ। छत्तं धयाराइँ पसरिय वियाराइँ।
वाहिय तुरंगाइँ चोइय मयंगाइँ। चल धूलि कविलाइँ कप्पूर धवलाइँ॥ आदि

(णाय कुमार चरिउ)

धनपाल

श्री धनपाल अपभ्रंश भाषा के बहुत प्राचीन कवि हैं। उनकी भाषा जनता की भाषा के बहुत समीप है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश-व्याकरण में अपभ्रंश का जो रूप दिया है, उससे भी पहले की भाषा में महाकवि धनपाल की रचना है। इस प्रकार इनका आविर्भाव-काल विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ प्रसिद्ध है। वह है 'भविसयदत्त कहा' (भविष्यदत्त कथा)। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के थे तथा धक्कड़ वैश्य थे। इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

धक्कडवणिवंसि माएसरहो समुब्भविण।
धणसिरि देवि सुएण विरइउ सरसइ संभविण॥ ६॥ भविसयदत्त कहा।

इस प्रकार वणिकवंश के माएसर पिता और धनश्री देवी माता से इनका जन्म हुआ था। 'भविसयदत्त कहा' के रचयिता धनपाल के अतिरिक्त जैन साहित्य में अन्य दो धनपाल कवियों का उल्लेख मिलता है। पहले धनपाल तो वाक्पतिराज

मुंज की कवि-सभा के रत्न थे जिन्हें मुंज की ओर से 'सरस्वती' की उपाधि मिली थी। इन्होंने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए 'पाइअ लच्छी नाम माला' (प्राकृत लक्ष्मी नाम माला) कोष की रचना की थी। तत्पश्चात् राजा भोज के लिए 'तिलक मंजरी' नामक ग्रंथ की रचना की थी; यह 'तिलक मंजरी' एक गद्य-काव्य है जो अपनी शैली में समस्त जैन-साहित्य में अद्वितीय है। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे और विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। दूसरे धनपाल पालीवाल जाति के थे। इन्होंने प्रथम धनपाल के 'तिलकमंजरी' नामक ग्रन्थ की कथा का सार 'तिलक मंजरी कथा-सार' में लिखा है। ये दिगम्बर सम्प्रदाय के अंतर्गत थे। इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है।

'भविसयदत्त कहा' के कवि धनपाल की रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

दिट्ठि कुमारि वियणि सोवण धरिं। लच्छि नाइँ नव कमल दलंतरि।
जिण सासणि छज्जीव दया इव। पंडिय मरणि सुगइ वरिमाइव॥
मुहु मारुइण मलय वणराइव। सिंहल दीवि रयण विख्याइव।
सोहइ दप्पणि कील करंती। चिहुर तरंग भंग विवरंती॥
सो फलि हंतरेण सा पिक्खइ। सावि तासु आगमणु न लक्खइ॥
घत्ता०—नं वम्मह भल्लि विंधण सील जुवाण जणि।
तहि पिक्खिवि कंति विंभिउ झत्ति कुमारिमणि॥

मुनि रामसिंह

मुनि रामसिंह जैन-रहस्यवाद के बहुत बड़े कवि हुए। इनकी विचार-धारा बहुत कुछ सिद्ध-कवियों की विचार-धारा से साम्य रखती है। इनका 'पाहुड़ दोहा' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। 'पाहुड़ दोहा' में देवसेन कृत 'सावयधम्म-दोहा' के उद्धरण हैं। अतः इनका समय देवसेन के समय (सं० ९९०) के बाद ही होगा। पुनः 'पाहुड़ दोहा' के छन्द आचार्य हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत हैं। हेमचन्द्र का समय सं० ११५७ है अतः मुनि रामसिंह का आविर्भाव सं० ९९० से ११५७ के बीच हुआ होगा। डा० हीरालाल मुनि रामसिंह का आविर्भाव-काल सं० १०५७ के लगभग मानते हैं।

मुनि रामसिंह जैन-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। इनकी विचार-धारा प्रायः वही है जो प्रायः सिद्धों के काव्य में पाई जाती है। सरहपा, गुण्डरीपा, वीणापा, डोम्बिपा के चर्या-पदों के दृष्टिकोण के समानान्तर ही मुनि रामसिंह ने 'पाहुड़ दोहा' की रचना की। इनका दृष्टिकोण यही है कि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना सबसे बड़ा सुख है। तीर्थों में स्नान करने से आत्मा शुद्ध

१ 'समस्त श्रुत ज्ञान' को 'पाहुड़' कहा है। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धान्त-संग्रह को 'पाहुड़' कहते थे। 'पाहुड़' का संस्कृत रूपान्तर 'प्राभृत' किया जाता है जिसका अर्थ उपहार है। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रन्थ के नाम का अर्थ 'दोहा का उपहार' ऐसा ले सकते हैं। [डा० हीरालाल जैन]

नहीं होती। आत्मा की शुद्धि तो राग द्वेष आदि प्रवृत्तियों को रोकने से ही होती है। इन्द्रिय-सुख न तो स्थायी है और न कल्याणकारी। वह हृदय को अनन्त दोषों से भर देता है। ऊपरी वेष भी अहंकार को उत्पन्न करता है। साधना का सबसे सरल उपाय आत्मानुभव है। इसीलिए मुंडन, केशलुंचन और वस्त्र-परित्याग से कोई संसार से विरक्त नहीं हो सकता, संसार-परित्याग करने का सरल मार्ग तो प्रत्याहार द्वारा संसार के विषयों से मन को खींच लेना है। ईश्वर न तो मूर्ति में है और न मन्दिर में। ईश्वर तो हृदय के भीतर निवास करने वाला है इसलिए आत्म-दर्शन की बड़ी आवश्यकता है। इसी आत्म-दर्शन में ब्रह्म-सुख की अनुभूति होती है और इसी में कवि का रहस्यवाद पोषित हुआ है। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

[1]अप्पाए वि विभावियइं णासइ पाउ खणेण।
सूरु विणासइ तिमिर हरु एक्कल्लउ रिंमिसेण ॥ ७५ ॥

(आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाता है। अकेला सूर्य एक निमेष में अन्धकार के समूह का विनाश कर देता है।)

जोइय हियडइ जासु पर एकु जिणिवसइ देउ।
जम्मण मरण विवज्जियउ तो पावइ परलोउ ॥ ७६ ॥

(हे योगी ! जिसके हृदय में जन्म-मरण से विवर्जित एक परमदेव निवास करता है वह परलोक प्राप्त करता है।)

ताम कुतित्थइं परिभमइं धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति ॥ ८० ॥

(लोग तभी तक कुतीर्थों को परिभ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता करते हैं जब तक वे गुरु के प्रसाद मे देह के देव को नहीं जान लेते।)

पंडिय पंडिय पंडिया कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि ॥ ५८ ॥

(हे पण्डितों में श्रेष्ठ पण्डित ! तूने कण को छोड़ कर तुष को कूटा है। तू ग्रन्थ और उसके अर्थ से संतुष्ट है, किन्तु परमार्थ को नहीं जानता। इसलिए तू मूर्ख है।)

हत्थ अहुट्ठहं देवली बालहं णा हि पवेसु।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥ ९४ ॥

(साढ़े तीन हाथ का जो छोटा सा देवालय है वहां बाल का भी प्रवेश नहीं हो सकता। संत निरंजन वहीं निवास करता है। निर्मल होकर गवेषणा कर।)

---

१ पाहुड़ दोहा—(मुनि रामसिंह) डा० हीरालाल जैन, (कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, सं० १९९०)

मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तुण मुंडिया !
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ। संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥ १३५ ॥

(हे मूँड़ मुँड़ाने वालों में श्रेष्ठ मुण्डी ! तूने सिर को मुँड़ाया, किन्तु चित्त को न मूँड़ा। जिसने चित्त का मुंडन कर डाला, उसने संसार का खंडन किया।,

श्री अभयदेव सूरि

श्री अभयदेव सूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य थे। व्याख्या और टीका करने की अपूर्व पटुता के कारण इन्हें 'नवांग वृत्तिकार' भी कहा गया है। इनका जन्म सं० १०७२ वि० में हुआ था और संवत् १०८८ में इन्हें आचार्य-पद प्राप्त हुआ था। लगभग ८-९ वर्ष की अवस्था ही में आप जैन साधु हो गए थे। कहा जाता है कि जैन धर्म में दीक्षा लेने के बाद ही श्री अभयदेव सूरि के शरीर में कुष्ट रोग हो गया। धीरे-धीरे व्याधि ने उग्र रूप धारण कर लिया। अनेक प्रकार की औषधियाँ की गईं, किन्तु उनका रोग दूर नहीं हुआ। अन्त में सूरि जी ने खंभायत के समीप सेढ़ि नदी के किनारे भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के समक्ष खड़े होकर स्तुति रूप में 'जय तिहुअण' स्तोत्र की रचना की। उसी समय श्री पार्श्वनाथ की कृपा से इनका कुष्ट रोग दूर हो गया।

श्री सूरि बड़े प्रभावशाली पुरुष थे। इनकी विद्वत्ता सर्वमान्य थी। भगवान महावीर-उपदेशित प्राकृत (अर्धमागधी) अंग-साहित्य पर सूरि जी की संस्कृत टीकाएँ श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में विशेष प्रामाणिक समझी जाती हैं। इन्होंने निम्न-लिखित अंगों पर टीकाएँ लिखीं :—श्री स्थानांग सूत्र, श्री समवायांग सूत्र, श्री भगवती सूत्र, श्री ज्ञाता धर्म कथा सूत्र, श्री उपासक दशा सूत्र, श्री अन्तकृत दशा सूत्र, श्री अनुत्तरो पातिक दशा सूत्र, श्री प्रश्न व्याकरण सूत्र, श्री विपाक सूत्र, पंच निग्रंथी प्रकरण, पंचाशक वृत्ति, आगम अष्टोत्तरी और काल-स्वरूप निर्णय। यों तो उपर्युक्त सभी कृतियाँ संस्कृत में हैं तथापि इनकी कृतियाँ अपभ्रंश में सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। इनका 'जय तिहुअण' स्तोत्र अपभ्रंश की लोकभाषा में है। यह स्तोत्र ३० गाथाओं में समाप्त हुआ है। इसका रचनाकाल संवत् १११९ माना जाता है। श्री सूरि जी का देहावसान सं० ११३५ में हुआ।

'जय तिहुअण' स्तोत्र में से कुछ गाथाएँ इनकी कविता के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं :—

तुहु सामिउ तुहु माय बप्पु तुहु मित्त पियंकरु। तुहु गइ तुहु मइ तुहु जिताणु तुहु गुरु खेमंकरु॥
हउँ दुहभर भारिउ वराउ राउ निब्भग्गह। लीणउ तुह कम कमल सरणु जिण पालहि चंगह॥

(तुम्हीं स्वामी हो, तुम्हीं माता-पिता हो और तुम्हीं प्रिय मित्र हो। तुम्हीं गति हो, तुम्हीं मति हो, तुम्हीं त्राणकर्त्ता हो और तुम्हीं क्षेम करने वाले गुरु हो। मैं

भारी दुःख से भरा हुआ बेचारा, तथा अभागियों में प्रमुख हूँ। तुम्हारे चरण-कमलों में लीन हूँ। शरण दो और मुझ स्वस्थ कर पोषित करो ।)

श्री चन्द्रमुनि

श्री चन्द्रमुनि जैन-साहित्य के उत्कृष्ट कवियों में से थे। इनमें काव्य-प्रतिभा अत्यन्त प्रखर थी। कथा-लेखन की प्रणाली बौद्ध जातकों द्वारा बहुत प्रचलित हो गई थी। श्री चन्द्रमुनि ने उसी शैली का अनुकरण अपनी जैन धर्म की कथाओं में किया। इन्होंने महा-कवि पुष्पदंत के 'उत्तर पुराण' और रविषेण के 'पद्म चरित' के टिप्पण लिखे तथा 'पुराणसार' आदि ग्रन्थों की रचना की। ये श्रीनन्दि के शिष्य थे तथा धारा नगरी में निवास करते थे। इनका आविर्भाव-काल सं० १०८० के लगभग है। ये भोजदेव के समकालीन थे।[१] इनके उत्तर पुराण-टिप्पण की श्लोकसंख्या १७०० है। कुछ लोगों ने श्री चन्द्रमुनि और श्री प्रभाचन्द्र मुनि को एक ही माना है क्योंकि प्रभाचन्द्र मुनि ने भी 'उत्तर पुराण' और 'पद्म चरित' के टिप्पण लिखे हैं, किन्तु प्रभाचन्द्र मुनि श्री चन्द्रमुनि से भिन्न थे। जहाँ श्री चन्द्रमुनि ने धारापति भोजदेव का उल्लेख किया है वहाँ श्री प्रभाचन्द्र मुनि ने धारा-पति जयसिंह देव का उल्लेख किया है। 'पुराण-सार' ग्रन्थ में ही श्रीचन्द्रमुनि की कथा-शैली प्रस्फुटित हुई है।

कनकामर मुनि

कनकामर मुनि—इनका दूसरा नाम कनकदेव भी है। ये 'करकंडु चरिउ' के रचयिता थे। इनका आविर्भाव-काल सं० १११७ माना गया है। ये ब्राह्मण वंश के थे, किन्तु बाद में जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

संसार भमंतहँ कवणु सोक्खु। असुहावउ पावइ विविह दुक्ख॥
णरयालइँ णाणा णारएहिं। चिरकियहिं णिहम्मइ वइरएहिं॥
हियएण वि चिंतहुँ सक्कियाइँ। तहिं भुत्तइँ पवरइँ दुक्कियाइँ॥
अवरुप्परु जाइ विरुद्धएहिं। तिरियाण मज्झे उप्पण्णएहिं॥ आदि॥

णयणंदि मुनि

श्री णयणंदि मुनि कुन्द-कुन्दाचार्य की परम्परा में दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन मुनि थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है :—

---

१ धारां पुरि भोज देव नृपते राज्ये जयात्युच्चकैः
श्री मत्सागरसेनतो यतिपतेर्ज्ञात्वा पुराणं महत्।
मुक्त्यर्थं भवभीति भीत जगता श्रीनन्दि शिष्यो बुधः
कुर्वे चारु पुराण सार ममलं श्रीचन्द्र नामा मुनिः॥

—'पुराणसार' ग्रन्थ का अंतिम श्लोक।

इस परम्परा के अनुसार वे माणिक्यनंदि के शिष्य थे।

> एत्थ सुदंसण चरिए पंचणमोक्कार फल पयासयरे।
> माणिक्कणंदितइ विज्जसीसण णयणंदिणा रइए॥
>
> (सुंदसण चरिउ—सन्धि १२)

(यह सुदर्शन चरित जो पंच नमस्कार फल प्रकाशित करने वाला है माणिक्य-नंदि के विद्या-शिष्य णयणंदि द्वारा रचित हुआ।)

ये धारा नगरी (अवंती) के अधिपति राजा भोज के समकालीन थे। इन्होंने एक सुन्दर काव्य-ग्रंथ की रचना की जिसका नाम सूदंसण चरिउ (सुदर्शन चरित) है। यह ग्रन्थ बारह सन्धियों में लिखा गया। इसका रचना-काल विक्रम ११०० के अनन्तर का है। यह ग्रन्थ एक प्रेम-कथा को लेकर लिखा गया है, किंतु इस कथा की व्यजना में 'पंच नमस्कार' का फल घटित किया गया है। अर्हंत्, सिद्ध, आचार्य उपाध्याय और साधु को नमस्कार करने का फल प्रत्येक उपासक के लिए मोक्ष का कारण है। ग्रन्थ के बीच-बीच में धार्मिक प्रकरण रख दिए गए है। धार्मिक व्यंजना के साथ प्रेम-कथा कहने की इस शैली का महत्त्व इसलिए अधिक होना चाहिए कि आगे चल कर प्रेमाख्यानक काव्य में सूफी-कवियों ने भी इसी सांकेतिक शैली का अनुसरण किया है। बहुत सम्भव है कि जैन-कवियों की यह शैली सूफी-कवियों के सामने रही हो और उन्होंने 'सुदंसण चरिउ' के कथानक के समानान्तर अपने कथानकों की रचना करते हुए अन्त में उसे सूफी-सिद्धान्तों के प्रतीकों में घटित किया हो।

'सुदंसण चरिउ' की कथा का सारांश निम्नलिखित है—

'मगध देश के राजगृह नामक नगर में श्रेणिक महाराज राज्य करते थे। उनकी पट्टमहिषी का नाम चेल्लना देवी था। एक समय वर्धमान ऋषि राजगृह पधारे। उनके आगमन की सूचना पाकर राजा नगर-निवासियों के सहित उनके दर्शनार्थ पहुँचा। राजा के प्रार्थना करने पर ऋषि उपदेश प्रारम्भ करते हैं—भरत क्षेत्रान्तर्गत अंगदेश में चम्पापुर नामक सुन्दर नगर था। वहाँ महाराज धाड़ी वाहन राज्य करते थे। उनकी महारानी अभया थी। चम्पापुर में ऋषभदास नामक एक अत्यन्त

समृद्धिशाली श्रेष्ठि रहता था। उसकी पत्नी का नाम अरुहदासी था। एक गोपाल श्रेष्ठि का परिचित था। गंगा में स्नान करते समय गोपाल दैवयोग से मर जाता है। मरते समय पंच परमेष्ठि स्मरण करने के कारण उसे ऋषभदास के घर में जन्म मिलता है और उसका नाम 'सुदर्शन' रखा जाता है। बड़े होने पर सुदर्शन का विवाह सागरदत्त श्रेष्ठि की पुत्री मनोरमा से होता है। सुदर्शन बहुत रूपवान् था। धाड़ी वाहन राजा की रानी अभया उस पर आसक्त हो जाती है और वह अपनी चतुर परिचारिका पण्डिता के द्वारा सुदर्शन को बुलवाती है। सुदर्शन किसी प्रकार आता है। सब प्रकार अपने को असफल पाकर निराश होकर कुटिल अभया चिल्ला उठती है—'लोगो, दौड़ो, यह बनिया मुझे मारे डालता है....., कर्मचारी दौड़ कर आते हैं और उसे बन्दी बना लेते हैं। एक 'वितर' (दैवी पुरुष) प्रकट होकर सुदर्शन की रक्षा करता है। धाड़ी वाहन और 'वितर' में युद्ध होता है, धाड़ी वाहन परास्त होकर सुदर्शन की शरण में आता है। यथार्थ समाचार का पता लगने पर धाड़ी वाहन सुदर्शन को राज्य देकर विरक्त होना चाहता है। सुदर्शन भी विरक्त होना चाहता है। अभया और पंडिता दोनों मर जाती हैं, सुदर्शन मरणोपरान्त स्वर्ग को जाता है। पंच नमस्कार का माहात्म्य कह कर थोड़ा सा परिचय देकर कवि ग्रंथ को समाप्त करता है।'[1]

ग्रंथ में यद्यपि शृंगार रस प्रधान है, तथापि उसका पर्यवसान शान्त रस में हुआ है। जहाँ एक ओर स्त्री के सौन्दर्य-चित्रण और आकर्षक परिस्थितियों में कवि ने अपनी कल्पना और सौन्दर्य-दर्शन की अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है, वहाँ बीच-बीच में जैन धर्म के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण से उसने अपने को अनुभव-सिद्ध जैन मुनि भी सिद्ध किया है। नायिका-भेद, नख-शिख, प्रकृति-चित्रण के रसानुकूल प्रसंग-ग्रन्थ में बड़ी मनोहारिता से प्रस्तुत किए गए हैं। संस्कृत-साहित्य की रीति-परिपाटी और हिन्दी साहित्य की रीति-शैली की संधि-भूमि इसी ग्रन्थ में दीख पड़ती है। जैन-साहित्य में यह शैली अधिक विकसित नहीं हुई क्योंकि उस पर 'धर्म' का कठिन प्रतिबन्ध था। 'वैराग्य' ने 'अनुराग' को उभरने का अवसर नहीं दिया। इसी ग्रन्थ में कवि को अपनी कथा में अनेक उपदेश के प्रसंग रखने पड़े हैं। फिर भी 'सुदंसण चरिउ' एक प्रेम-काव्य है भले ही वह धर्म के क्रोड़ में पोषित किया गया है।

इस ग्रन्थ में कवि 'णयणंदि' की कविता का उदाहरण देखिए :—

'सुदर्शन' के सौन्दर्य-दर्शन के लिए युवतियों की आकांक्षा—

सुहि सहिउ णयरि हिंडतु भाइ। उडगण समाणु ससि गयणि णाइ।
ता सरद समुद्दु तहु तरुणि जूहु। सुर करिंहि णाइ करिणी समूहु।

---

१ सुदंसण चरिउ—श्री रामसिंह तोमर (विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ४, अंक ४, पृष्ठ २६३)।

काहिवि रइ सुद्दु हुउ दशणेण। पुणरुत्तत्थं किं फंसणेण।
कवि भणइ मणहरा हरण लेहि। बोल्लावंती पडिवयणु देहि।
कवि गिरि विमुक्क इत्तिउ करेइ। पवण हय केलि जिम थरहरेइ।
कवि भणइ रक्खिमइ एक वार। बिरहें मारंतिहि णिव्वियार।
सिहि तविय सिला इव हउ जितत्त। पर कज्जुव तुहु सीयलउमित्त ॥ ३—११

श्री जिनवल्लभ सूरि

श्री जिनवल्लभ सूरि श्री जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे। ये बहुत बड़े विद्वान् और बड़े प्रभावशाली विधिमार्गी जैन थे। इनकी 'संघपट्टक' नामक संस्कृत-रचना बहुत प्रसिद्ध है। उसमें इन्होंने चैत्य-वासियों का शिथिल आचार बहुत अच्छी तरह वर्णित किया है। चित्तौड़ के श्रावकों ने भगवान महावीर का जो मन्दिर बनवाया था, उसके एक स्तंभ पर उक्त 'संघपट्टक' के चालीसों पद्य खुदे हुए हैं। प्राचीन हिन्दी में जो इनका ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, वह 'वृद्ध नवकार' है। श्री जिन-वल्लभ सूरि जैन धर्म के उत्कृष्ट प्रचारकों में कहे गए हैं। इनमें काव्य-प्रतिभा से अधिक धर्म का आवेश था।

श्री जिनदत्त सूरि

श्री जिनदत्त सूरि श्री जिनवल्लभ सूरि की भाँति विधिमार्गी जैन थे। ये धवलक (गुजरात) के निवासी थे। यद्यपि ये जाति के वणिक् थे, तथापि आगे चलकर जैन साधु हो गए थे। इनके ग्रन्थों में 'चाचरि', 'कालस्वरूप कुलक' और 'उवएस रसायण' (उपदेश रसायन) प्रसिद्ध हैं। इनका आविर्भाव-काल संवत् ११५० के लगभग माना गया है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जोव्वणत्थ जा नच्चइ दारी। सा लग्गइ सावयह वियारी॥
तिहि निमित्तु सावयसुय फट्टहिं। जंतिहिं दिवसिहिं धम्मह फिट्टहिं॥
बहुय लोय रायंध सपिच्छहि। जिह मुह पंकउ विरला वंछहि॥
जणु जिण भवणि सुहत्थ जु आयउ। मरइ सु तिक्ख कडक्खिहिं घायउ॥

योगचन्द्र मुनि

श्री योगचन्द्र मुनि प्रसिद्ध दोहाकार थे। इनके ग्रन्थ का नाम 'योगसार' है जिसमें आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है। इनकी भाषा बहुत साफ-सुथरी है। इस भाषा में हिन्दी अपने स्पष्ट रूप में आने को प्रस्तुत होती हुई जान पड़ती है। उदाहरण-स्वरूप एक सोरठा इस प्रकार है :—

जीवा जीवह भेउ जो जाणइ जो जाणियउ। मोक्खह कारण येउ भणइ जो इहि भणिउ॥

(जीव और अजीव का भेद जो जानता है, वही वास्तव में जानकार है। जो उसे मोक्ष का कारण कहता है, वही वास्तव में कथनकार है।)

आचार्य हेमचन्द्र

जैन सन्तों में सबसे अधिक प्रसिद्ध साहित्यकार श्री हेमचन्द्र सूरि हैं। भाषा के प्रयोग और पाण्डित्य के दृष्टिकोण से इनका महत्त्व अद्वितीय है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का एक साथ प्रयोग इनके भाषा-ज्ञान का पूर्ण परिचायक है। इनका जन्म संवत् ११४५ में हुआ। इनके जन्म का नाम चंगदेव था, पीछे हेमचन्द्र हुआ। गुजरात के सोलंकी सिद्धराज जयसिंह ने इनका बड़ा सम्मान किया। उन्हीं के लिए हेमचंद्र सूरि ने अपना व्याकरण बनाया, जो 'सिद्ध हैम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिद्धराज के बाद जब उनका भतीजा कुमारपाल राजा हुआ तो हेमचंद्र की प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई, क्योंकि कुमारपाल के राजा होने की भविष्यवाणी इन्होंने पहले ही कर दी थी। संवत् १२१६ में हेमचंद्र ने जैन धर्म स्वीकार किया। उसी के बाद हेमचंद्र ने कुमारपाल के द्वारा जैन सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रचार कराया। कुमारपाल पर तो इनका इतना प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने जैन धर्म ग्रहण करने पर हेमचंद्र के उपदेशानुसार शिकार खेलना, मांस खाना आदि अपने राज्य में बन्द करा दिया था।[1] हेमचंद्र ने अपनी रचना के अवतरणों में कृष्ण-कथा, राम-कथा, वीर रस, शृंङ्गाररस, हिन्दू धर्म, जैन धर्म आदि का वर्णन किया है। इस प्रकार इन्होंने जीवन के भिन्न-भिन्न विभागों का बड़ा सजीव चित्रण किया है। संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण में इन्होंने उदाहरण-स्वरूप केवल वाक्य या पद ही दिए हैं, किन्तु अपभ्रंश के उदाहरण में इन्होंने सम्पूर्ण गाथा एवं छंद दे दिए हैं। कारण यह था कि संस्कृत और प्राकृत का साहित्य जिज्ञासुओं के सामने था, उसके समझाने के वाक्य या पद यथेष्ट थे, पर अपभ्रंश शिष्ट समाज में अधिक प्रचलित न होने के कारण सीमित-सा था, इसलिए उसके सम्पूर्ण उदाहरण देने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार उन्होंने अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी के जीवित उदाहरण सुरक्षित कर साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया। ये उदाहरण हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के दिए हैं, जिसमें हेमचन्द्र के पूर्व की भाषा का भी ज्ञान होता है। यह सामग्री अनुमानतः संवत् १०२९ के आस-पास की मानी गई है, अतएव हेमचन्द्र की कविता में ही शताब्दियों की भाषा के नमूने मिलते हैं। इसीलिए उनका 'सिद्ध हैम' या 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' और 'कुमारपाल चरित्र' (जिसमें आठ सर्गों में कुमारपाल का जीवन-चरित्र वर्णित है) प्राकृत व्याकरण और भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझे गए हैं। उनमें अपभ्रंश के भी उदाहरण हैं। गुजरात में होने के कारण इनकी भाषा का 'नागर' अपभ्रंश रूप अधिक स्पष्ट है।

---

१ हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता—डा० वेणीप्रसाद (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) पृष्ठ ५८५।

आचार्य हेमचन्द्र ने विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनका प्रसिद्ध 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ महाराजा कुमारपाल की इच्छानुसार ही लिखा गया था। इनके ग्रन्थों में 'प्राकृत व्याकरण' 'छन्दानुशासन' और 'देशी नाममाला कोष' प्रसिद्ध हैं। इनका देहावसान संवत् १२२९ में हुआ। इनकी रचना का नमूना निम्नलिखित है :—

भल्ला हुआ जो मारिआ वहिणि महारा कंतु। लज्जेज्जंतु वयंसियहु, जइ भग्गा घर एंतु॥
जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु, छिज्जइ खग्गिण खग्गु। तहिं तेहइ भड़ घड-निवहि, कंतु पयासइ मग्गु॥
कंतु महारउ हलि सहिए, निच्छइं रूसइ जासु। अत्थिहिं सत्थिहिं हत्थिहिं वि ठाउ वि फेडइ तासु॥
अम्हे थोवारिउ वहुअ कायर एव भणंति। मुद्धि निहालहिं गयण यलु, कइ जण जोण्ह करंति॥
खग्ग विसाहिउ जहिं लहहु, पिय तहिं देसहिं जाहुँ। रण दुब्भिक्खें भग्गइ विणु जुज्झे न वलाहुँ॥
पुत्तें जाएं कवण गुणु अवगुणु कवणु मुएण। जा वप्पी की भुँहडी चंपिज्जइ अवरेण॥

(प्राकृत व्याकरण)

गयणुप्परि कि न चड़हिं किं नरि विक्खरहिं दिसिहि वसु,
भुवण सय संतावु हरहि कि न किरवि सुहारसु।
अंधयारु कि न दलहिं पयडि उज्जोउ गहिउल्लओं,
किं न धरिज्जहिं देवि सिरहँ सइँ हरि सोहिल्लओं।
कि न तणउ होहि रयणारहु, होहि कि न सिरि भायरु।
तुवि चंद निअवि मुहु गोरिअहि, कुवि न करइ तुइ आयरु॥

हरिभद्र सूरि

श्री हरिभद्र सूरि चन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनके समय के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। डा० जैकोबी ने हरिभद्र सूरि का समय ईसा की नवीं शताब्दी माना है। मुनि श्री जिनविजय ने 'हरिभद्र सूरि का समय निर्णय' शीर्षक लेख में इनका आविर्भाव-काल संवत् ७५७ और ८२७ के बीच निश्चित किया है। श्री नाथूराम प्रेमी इन्हें आठवीं शताब्दी का मानते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन के मत से श्री हरिभद्र सूरि संवत् १२१६ के लगभग हुए। जितने भी प्रमाण अभी तक उपस्थित हुए हैं उनमें मुनि श्री जिनविजय का मत अधिक समीचीन और युक्तिसंगत माना जाना चाहिए।

श्री हरिभद्र सूरि श्वेताम्बराचार्य थे। इनका स्थान वाणगंगा के किनारे पईठाण (गुजरात) में माना जाता है। इनके अनेक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें 'ललित विस्तरा' 'धूर्ताख्यान' 'जसहर चरिउ' 'सम्बोध प्रकरण' और 'णेमिणाह चरिउ' प्रमुख हैं। इनकी कविता का उदाहरण 'णेमिणाह चरिउ' से लीजिए :—

पुरुष सौन्दर्य

नील कुंतल कमल नयणिल्लु विवाहरु सियदसणु । कंबुग्गीवु पुर अररि उरयलु ।
जुय दीहर भुय जुयल वयण ससि जिय कमल उप्पल ।
पउम दलारुण करचलणु, तविय कणय गोरंगु
अट्ठ वरिस वउ पहु हुयउ समहिय विजिय अणंगु ॥

(णेमिणाह चरिउ)

शालिभद्र सूरि

श्री शालिभद्र सूरि प्रसिद्ध जैन साधु थे। इनका आविर्भाव-काल सं० १२४१ माना गया है। ये गुजरात-निवासी थे। इनका ग्रन्थ 'बाहुबलि रास' प्रसिद्ध है। मुनि श्री विजय ने इसका सम्पादन किया है। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

सेना-यात्रा

अहि उग्गमि पूरव दिसिहिं पहिलउं चालिय चक्क। धूजिय धरयल थरहरएँ चलिय कुलाचल चक्क ॥
पूठि पियाणु तउ दियएं भुयबलि भरह नरिंदु तु। पिडि पञ्चायण पर दलहँ हलियलि अवर सुरिंदु ॥
वज्जिय समहरि संचरिय सेनापति सामंत। मिलिय महाधर मंडलिय गाढिम गुण गज्जंत ॥
गणयडतू गयवर गुडिय, जंगम जिमि गिरि शृङ्ग। सुंड दंड चिर चालवइँ वेलइँ अंगिहिं अंग ॥
गंजइ फिरि फिरि गिरि सिहरि भंजइँ तरुअर डालि। अंकुस वसि आवइँ नहीं करइँ अपार अणालि ॥
हीसइँ हसमिसि हणहणइँ तरवर तार तोषार। खंदइँ खुरलइँ खेडविय, मान मानइँ असुवार ॥

(बाहुबलि रास)

सोमप्रभ सूरि

श्री सोमप्रभ सूरि का आविर्भाव-काल सं० १२५२ माना गया है। ये एक प्रसिद्ध जैन साधु थे और अनहिलवाड़ (गुजरात) के निवासी थे। जैन धर्म-सम्बन्धी जो उपदेश हेमचन्द्र ने कुमारपाल को दिए थे, उन्हीं का इन्होंने अपने ग्रन्थ 'कुमारपाल प्रतिबोध' में निरूपण किया है। इस ग्रन्थ में पाँच प्रस्ताव हैं। इसमें संस्कृत और प्राकृत दोनों का उपयोग किया है, किन्तु बीच-बीच में अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के उदाहरण भी मिल जाते हैं। जहाँ वे कुमारपाल का कर्त्तव्य और इतिहास वर्णन करते हैं वहाँ तो वे अपभ्रंश का प्रयोग नहीं करते, किन्तु जहाँ कथाओं को रोचक बनाने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ वे जन-साधारण में प्रचलित अपभ्रंश में लिखे गए अज्ञात कवियों के दोहे रख देते हैं, जिनमें उक्तियाँ, वियोग-वर्णन, ऋतु-वर्णन और कहावतें हैं। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

नीति

वसइ कमलि कल हंसी जीव दया जसु चित्ति। तसु पक्खालण जलिण होसइ असिव निवित्ति ॥
आभरण किरण दिप्पंत देह। अहरीकय सुरबहु रूवरेह ॥
घण कुंकुम कद्दम घर दुवारि। खुप्पंत चलण नच्चंति नारि ॥
तीयइ तिन्नि पियारंई कलि कज्जलु सिंदूर। अन्नइ तिन्नि पियारइँ, दुद्धु जँवाइउ तूर ॥

वेस विसिट्ठइ वारियइ, जइवि मणोहर गत्त। गंगाजल पक्खालियवि, सुणिहि कि होइ पवित्त ॥
नयणिहिं रोयइ मणि हसइ, जणु जाणइ सउ तत्तु। वेसि विसिट्ठह तं करइ, जं कट्ठह करवत्तु ॥

श्री जिनपद्म सूरि का अविर्भाव-काल सं० १२५७ है। ये जैन साधु थे और गुजरात-निवासी थे। इनकी रचना 'थूलिभद्द फागु' प्रसिद्ध है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जिनपद्म सूरि

श्रृंगार

काजलि अंजिवि नयणजुय, सिरि संथउ फाडेई। बोरि यावडि कांचुलिय पुण, उर मंडलि ताडेई ॥
कन्न जुयल जसु लहलहंत किर मयण हिंडोला। चंचल चपल तरंग चंग जसु नयण कचोला ॥
सोहइ जासु कपोल पालि जणु गालि मसूरा। कोमलु विमलु सुकंठ जासु वाजइ सँखतूरा ॥
लवणिम रस भर कूवडीय जसु नाहिय रेहइ। मयणराइ किर विजय खंभ जसु ऊरू सोहइ ॥
जसु नह पल्लव कामदेव अंकुसु जिम राजइ। रिमिझिमि रिमिझिमि पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥
नव जोवन विलसंति देह नवनेह गहिल्ली। परिमल लहरिहिं मदमयंत रइ-केलि पहिल्ली ॥
अहर बिंब परवाल खण्ड वर चंपावन्नी। नयन सलूणिय हाव भाव बहुगुण सम्पुन्नी ॥
इय सिणगार करेवि वर, जब आवी मुणिपासि। जो एवा क उतिगि मिलिय, किंनर आकासि ॥

(थूलिभद्द फागु)

श्री विनयचन्द्र सूरि का आविर्भाव-काल भी सं० १२५७ माना गया है। ये जैन साधु थे और गुजरात के निवासी थे। इनके ग्रन्थों में 'मल्लिनाथ महाकाव्य' 'पार्श्वनाथ चरित', 'कल्पनिरुक्त' 'नेमिनाथ चउपई' और 'उवएस माला कहाणय छप्पय' प्रसिद्ध हैं। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

विनयचंद्र सूरि

विरह-वर्णन (बारह मासा)

माह मासि माचइ हिम रासि। देवि भणइ मइ प्रिय लइ पासि ॥
तइ विणु सामिय दहइ तुसारु। नव नव मारिहि मारइ मारु ॥
इहु सखि रोइसि सहू अरन्नि। हत्थि कि जामइ धरणउ कन्नि ॥
तउ न पती जिसि माहरि माइ। सिद्धि रमणि रत्तउ नमि जाइ ॥
कंति बसंतइ हियड़ा माहि। वाति पहीजउँ किमहि लसाइँ ॥
सिद्धि जाइ तउ काह त बीह। सरसी जाउत उगसेण धीय ॥
फागुण वागुणि पन्न पडंति। राजल दुःक्खि कि तरु रोयंति ॥
गब्भि गलिवि हउ काइ न मूय। भणइ विहंगल धारणि धूय ॥
अजिउ भगिउ करि सखि विम्भासि। अछइ भला वर नेमिहि पास ॥
अनुसखि मोदक जउ नवि हुंति। छुहिय सुहाली किन रुच्चंति ॥

(नेमिनाथ चउपई)

श्री धर्मसूरि महेन्द्रसूरि के शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल सं० १२६६ माना जाता है। इनका 'जम्बू स्वामी रासा' ग्रंथ प्रसिद्ध है। इनकी रचना का उदाहरण इस प्रकार है :—

धर्मसूरि

जिण चउविस पय नमेवि गुरु चरण नमेवि । जंबू स्वामिहिं तणं चरिय भविउ निसुणेवि ॥
करि मानिध सरसत्ति देवि जीयरयं कहाणउ । जम्बू स्वामिहिं गुण गहण संखेवि बखाणउ ॥
जम्बू दीवि सिरि भरहखित्ति तिहिं नयर पहाणउ । राजग्रह नामेण नयर पहुवी वक्खाणउ ॥
राज करइ सेणिय नरिंद नरवरहं जु सारो । तासु तणइ बुद्धिवंत मति अभय कुमारो ॥

विजयसेन सूरि

श्री विजयसेन सूरि का आविर्भाव-काल सं० १२८८ के लगभग माना गया है। ये वस्तुपाल मन्त्री के गुरु थे। इनका 'रेवंतगिरि रासा' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

परमेसर तित्थेसरह पय पंकज पणमेवि । भणिसु रासु रेवंतगिरि अंबिक दिवि सुमरेवि ॥
गामागर पुर वण गहण सरिं सरवरि सुपएसु । देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ॥
जिणु तहिं मंडल मंडणउ मरगय मउड महंतु । निम्मल सामल सिहर भर रेहइ गिरि रेवंतु ॥
तसु सिरि सामिउ सामलउ सोहग सुंदर सारु । ···इव निम्मल कुल तिलउ निवसइ नेमि कुमारु ॥
तसु मुहदंसंणु दस दिसवि देस दिसंतरु संघ । आवइ भाव रसालमण उद्दलि रंग त रंग ॥
पोरवाडकुल मंडणउ नंदणु आसाराय । वस्तुपाल वर मंति तहि तेजपालु दुइ भाइ ।
गुर्जर धर धुरि धवल वीर धवल देवराजि । विउ बँधवि अवयारियउ समऊ दूसम माझि ।

मेरुतुंग

श्री मेरुतुंग का आविर्भाव-काल सं० १३६० के लगभग है। इन्होंने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की रचना कर प्राचीन ऐतिहासिक व्यक्तियों और राजाओं के चरित्रों का कथारूप में संकलन किया। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, हेमचन्द्र, वस्तुपाल, तेजपाल आदि के वृत्त मेरुतुंग ने बड़ी सावधानी से लिखे हैं जिनसे बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री की रक्षा हो गई है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' की रचना सं० १३६१ में हुई। इस ग्रन्थ में अपभ्रंश के जो नमूने मिलते है वे अधिकतर उद्धृत ही किए गए हैं, मौलिक रूप से नहीं लिखे गए। कुछ दोहे धाराधिपति राजा भोज के चाचा मुंज के नाम पर हैं। अतएव ये उद्धृत दोहे मेरुतुंग के पूर्व की भाषा का परोक्षरूप से परिचय देते हैं। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

मंजु भणइ मुणालवइ जुव्वणु गयउ न झूरि । जइ सक्कर सयखंड थिय, तो इस मीठी चूरि ॥
जा मति पाछइ संपजइ सा मति पहिली होइ । मुंजु भणइ मुणालवइ विघन न वेढ़इ कोइ ॥
जइ यहु रावणु जाइयों, दह मुहु इक्कु सरीरु । जननि वियंभी चिंतवइ, कवनु पियइए खीरु ॥
कसु करु पुत्र कलत्र धी, कसु करु करसण बाड़ि । आइवु जाइवु एकला, हत्थ (सु) विन्नवि झाड़ि ॥

अम्बदेव सूरि

श्री अम्बदेव सूरि का आविर्भाव काल सं० १३७१ के लगभग है। ये नागेन्द्र गच्छ के आचार्य पासडसूरि के शिष्य थे। ये अणहिलपुर पट्टन (गुजरात) के निवासी ज्ञात होते हैं। ये एक प्रसिद्ध जैन साधु थे। शाह समरा संघपति द्वारा शत्रुंजय तीर्थ के उद्धार होने पर इन्होंने 'संघपति समरा रासा' ग्रन्थ का निर्माण किया।

समरा शाह का शत्रुंजय की ओर प्रस्थान

जयतु कान्ह दुह संघपति चालिया । हरिपालो लंढुको महाधर द्वढ़ थिया ॥
वाजिय संख असंख नादि काहल दुडुदुडिया । घोडे चडइ सल्लार सार राउत सींगडिया ॥
तउ देवालउ जोत्रि वेगि धाघरि रवु झमकइ । सम विसम नवि गणइ कोई नवि वारिउ थक्कइ ॥
सिंजवाला धर धडहडइ वाहिणि बहु वेगि । धरणि धडक्कइ रजु उडए नवि सूझइ मागो ॥
हय हीसय आरसइ करह वेगि वहइ बहल्ल । सादकिया थाहरइ अवरु नवि देई बुल्ल ॥
निसि दीवी झलहलहि जेम ऊगिउ तारायणु । पावल पारु न पामियए वेगि वहई सुखासणु ॥
आगे वाणिहि संचरए संघपति साहु देसलु । बुद्धिवंतु बहु पुंनिवंतु परिकमिहि सुनिश्चलु ॥
पाछे वाणिहि सोमसीहु साहु सहजा पूतो । सांगणु साहु दूणिगह पूत सोमजिनि जुत्तो ॥

राजशेखर सूरि

श्री राजशेखर सूरि संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखर से भिन्न हैं जो कर्पूर मंजरी नाटिका के प्रणेता थे । ये राजशेखर गुजरात-निवासी जैन साधु थे । इनका 'नेमिनाथ फाग' ग्रन्थ प्रसिद्ध है । इनका आविर्भाव-काल सं० १३७१ के लगभग माना गया है । इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है :—

शृंगार वर्णन

किम किम राजल देवितणउ सिणगारु भणेवउ । चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुमि कसतूरी सारी । सीमंतइ सिंदूर रेह मोतीसरिसारी ॥
नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले । मोती कुण्डल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले ॥
नरतिय कज्जल रेह नयणि मुँह कमलि तंबोलो । नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो ॥
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला । करैं कङ्कण मणि वलय चूड खलकावइ बाला ॥
रुणुझुणु रुणुझुणु रुणुझुणएं कडि घाघरियाली । रिमझिमि रिमझिमि रिमझिमिएं पयनेउर जुयल ी॥
नहि आलत्तउ वलवलउ सेअंसुय किंमिसि । अंखडियाली रायमइ प्रिउ जोअइ मनरिसि ॥

बाद की शताब्दियों में जैन आचार्यों द्वारा ग्रन्थ लिखे गए । पन्द्रहवीं शताब्दी में श्वेताम्बराचार्य विजयभद्र ने 'गौतम रासा' की रचना की, विद्धणू ने 'ज्ञान पंचमी चउपई' और दयासागर सूरि ने 'धर्मदत्त चरित्र' लिखा । इसी प्रकार जैन-कवियों द्वारा आगे भी रचना होती गई, किन्तु उनका महत्त्व भाषा-विज्ञान की दृष्टि से न होकर धार्मिक, साहित्यिक और ऐतिहासिक ही रह जाता है । अतएव इस काल में जैन-साहित्य की परवर्ती शृङ्खला पर विचार न कर, उसकी प्रस्तुत विशेषताओं पर ही विचार करना अधिक उचित होगा ।

वर्ण्य-विषय

जैन-साहित्य की रचना का क्षेत्र जीवन के सभी विभागों में फैला हुआ है । जहाँ भावों के दृष्टिकोण से उसमें चरम व्यापकता है, वहाँ शैली के दृष्टिकोण से भी वह अत्यंत विस्तृत है । भाव-पक्ष के चार विभाग किये जा सकते हैं :—

१ प्रथमानुयोग——(तीर्थंकरों की जीवनियाँ)
२ करणानुयोग——(विश्व-वर्णन)
३ करणानुयोग——(श्रावकों का चित्रण)
४ द्रव्यानुयोग——(सांसारिक वर्णन)

इस प्रकार यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि लौकिक पक्ष और अलौकिक पक्ष——दोनों ही में जैन-आचार्यों और कवियों ने अपनी अमित साधना और अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। जैन-साहित्य के पुराणों और काव्यों की कथावस्तु प्रमुख रूप से त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्रों (त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित) से सम्बन्ध रखती हैं। त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्गीकरण इस प्रकार है :—

१	तीर्थंकर	२४
२	चक्रवर्ती	१२
३	बलदेव	९
४	नारायण	९
५	प्रति नारायण	९
	कुल	६३

चौबीस तीर्थंकरों के चरित्रों में जैन-आचार्य और जैन-कवियों की परम आस्था है। ये चौबीस तीर्थंकर निम्नलिखित हैं :—

नाम	जन्मस्थान	प्रतीक
१ ऋषभदेव	अयोध्या	वृषभ
२ अजितनाथ	,,	हस्ति
३ सम्भवनाथ	श्रावस्ती	अश्व
४ अभिनन्दननाथ	अयोध्या	वानर
५ सुमतिनाथ	,,	क्रौंच
६ पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कोकनाद
७ सुपार्श्वनाथ	काशी	स्वस्तिका
८ चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	चन्द्रकला
९ पुष्पदन्त	काकण्डी	मकर
१० शीतलनाथ	बद्रिकापुरी	श्रीवत्स
११ श्रेयांसनाथ	सिंहपुरी	गरुड़
१२ वासु पूज्य	चम्पापुरी	महिष
१३ विमलनाथ	कांपिल्य	वाराह
१४ अनन्तनाथ	अयोध्या	बाज

नाम	जन्मस्थान	प्रतीक
१५ धर्मनाथ	रत्नपुरी	वज्रदण्ड
१६ शान्तिनाथ	हस्तिनापुर	मृग
१७ कुंथुनाथ	,,	अज
१८ अरहनाथ	,,	मीन (नंद्यावर्त्त)
१९ मल्लिनाथ	मिथिलापुरी	कुम्भ
२० मुनि सुव्रत	कुशाग्र नगर (राजगृह)	कच्छप
२१ नमिनाथ	मिथिलापुरी	नीलकमल
२२ नेमिनाथ	सौरिपुर (द्वारिका)	शंख
२३ पार्श्वनाथ	काशी	फणि
२४ महावीर	कुन्दपुर	सिंह

इन तीर्थंकरों के चरित्र के अतिरिक्त नारायण और बलदेव के चरित्र भी विशेष रूप से लिखे गए। 'पउम चरिउ' में पउम (पद्म) राम का चरित्र अनेक कवियों द्वारा लिखा गया। इसी के आधार पर 'जैन रामायण' का सूत्रपात हुआ। यह 'जैन रामायण' अनेक घटनाओं में 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण' या 'रामचरितमानस' से भिन्न है। 'जैन रामायण' में महाराज दशरथ की पटरानी का नाम अपराजिता है। यही पद्म (राम) की माता थीं। बड़े होने पर पद्म (राम) ने महाराजा जनक को अपनी वीरता से बहुत प्रभावित किया। महाराजा जनक के अनेक शत्रुओं को भी राम ने पराजित किया। उन्होंने शत्रुओं को नष्ट करने में महाराजा जनक की अनेक प्रकार से सहायता की। पद्म (राम) की इस वीरता से महाराजा जनक इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपनी पुत्री सीता को पद्म (राम) से ब्याह देने का विचार किया। किन्तु एक कठिनाई थी। विद्याधर कुमार चन्द्रगति के लिए सीता पहले से ही वाग्दत्ता थीं। इस कठिनाई को हल करने के लिए महाराज जनक ने स्वयंवर की व्यवस्था की। इसी स्वयंवर में पद्म (राम) और सीता का विवाह हुआ, आदि। 'पद्म चरित' में जैन-मुनि-दीक्षा का प्रभाव बहुत घोषित किया गया है। दशरथ, जनक और पद्म (राम) ने मुनि-दीक्षा लेकर मोक्ष का अधिकार प्राप्त किया। आचार्य रविषेण, गुणभद्र तथा हेमचन्द्र ने इस कथा को विविध शैलियों में लिखा है।

इसी प्रकार 'महाभारत' की कथा भी जैन-कवियों द्वारा विविधता में लिखी गई है। पुन्नार संघ के आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में 'महाभारत' की कथा का वर्णन किया है। सकल कीर्ति, देव प्रभसूरि, शुभचन्द्र आदि इस इतिवृत्ति के लिखने में विशेष रूप से सफल हुए हैं।

जैन-साहित्य में प्रेमकथाएँ अनेक रूपों में लिखी गईं। वे प्रेमकथाएँ पूर्ण भौतिक उत्कर्ष में हैं, किन्तु इन भौतिक उत्कर्षों में नश्वरता की भावना लेकर अलौकिक पक्ष या आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत किया गया है। 'बिजली की प्रभा' या 'श्वेत केश' का आधार लेकर नायक की विरक्ति का सूत्रपात होता है और अन्त में कथा का पर्य्यवसान मोक्ष में होता है। इन प्रेम-कथाओं में शृंगार-चेष्टाएँ, रूप की आकर्षणशक्ति तथा अनेक प्रकार की हृदयाकर्षक क्रीड़ाएँ वर्णित हैं। इनका स्पष्टीकरण कवियों ने पूर्ण सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण से किया है। इसके अनन्तर लौकिक प्रेम में एकाएक प्रतिक्रिया होती है। किसी जैन मुनि या तपस्वी के प्रभाव से दीक्षा तथा कठिन तपस्या का द्वार उद्घाटित होता है। अन्त में मोक्ष का आदर्श प्रस्तुत कर दिया जाता है।

जैन धर्म का दार्शनिक पक्ष पूर्ण रूप से तर्क पर आधारित है। 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्त' इसकी पृष्ठ-भूमि है। 'स्याद्वाद' या 'अनेकान्त' का अर्थ सापेक्ष्य दृष्टिकोण है। एक ही वस्तु अनेक दृष्टिकोणों से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए मै अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र हूँ, बहिन की अपेक्षा से भाई हूँ, भाँजे की अपेक्षा से मामा हूँ। एक होकर मै अनेक भावों से मान्य हूँ, किन्तु पिता या माता की अपेक्षा से पुत्र होकर भी बहिन की अपेक्षा से पुत्र नहीं हूँ। यदि दोनों 'अपेक्षा' से वर्णन किया जाय तो मैं पुत्र हूँ और पुत्र नहीं भी हूँ। 'हूँ' और 'नहीं हूँ' एक साथ ही कहना अनिर्वचनीय है। इसी कारण विश्व के व्यवहारों का कथन करना विचारों की शैली से परे है। संसार की विविध वस्तुओं को विविध दृष्टिकोणों से देखने से एक ऐसी उदार दृष्टि प्राप्ति होती है जिससे विरोध की भावना हटती है और प्रेम का प्रसार होता है।

जैन धर्म में मुख्यतः सात तत्त्वों की मीमांसा है। वे सात तत्त्व निम्नलिखित है :—

१ जीव—चैतन्य गुण सम्पन्न सत्ता।
२ अजीव—शरीर आदि जड़ पदार्थ।
३ आस्रव—शुभाशुभ कर्म के द्वार।
४ कर्मबन्ध—अध्यात्म और कर्म का पारस्परिक सम्मिलन।
५ संवर—शुभाशुभ कर्मों का प्रतिकार।
६ निर्जरा—पूर्व संचित कर्मों से स्वतन्त्रता।
७ मोक्ष—संपूर्ण कर्मों का विनाश।

मोक्ष में प्रवेश करने के लिए तीन मार्ग (रत्नत्रयी) हैं :—

१ सम्यक् दर्शन—सर्व तत्वों में अन्तर्दृष्टि।

२ सम्यक् ज्ञान—वास्तविक विवेक ।

३ सम्यक् चरित्र—दोषरहित पवित्र आचरण ।

सम्यक् चरित्र के दो रूप हैं :—

१ श्रावकाचार—ये आचार गृहस्थों के लिए हैं ।

२ श्रमणाचार—ये आचार मुनियों के लिए हैं ।

इन दोनों आचारों में अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है ।

जैन दर्शन के सिद्धान्तों का रेखा-चित्र निम्न प्रकार से हो सकता है :—
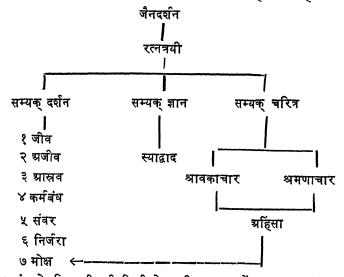
भाषा अपभ्रंश से निकलती हुई हिन्दी के प्राचीन रूप हमें इस समय की भाषा में मिलते हैं। इस पर विशेष कर नागर अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है और उसी के व्याकरण के अनुसार शब्द-योजना है। यह भाषा अधिकतर पद्य रूप में ही है, गद्य रूप में कम। वादीयसिंह का 'गद्य चिन्तामणि' तथा धनपाल का 'तिलक मंजरी' गद्यकाव्य के अच्छे उदाहरण हैं। आगे चल कर जैन आचार्यों ने गद्य में यथेष्ट रचना अवश्य की है। इस समय यदि हमें कहीं गद्य के दर्शन होते हैं तो वे केवल टिप्पणियों के रूप ही में। जैन-साहित्य में उनका नाम 'टब्बा' है।

रस जैन-साहित्य सम्पूर्ण रूप मे शान्त रस में लिखा गया है। यद्यपि श्रृंगार रस का भी अनेक कथानकों में पूर्ण परिपाक हुआ। प्रेम-काव्यों में तो इस रस को उभरने का पूर्ण अवसर मिला है। मेरुतुंग का यह दोहा—

एऊ जम्मु नग्गुहं गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु। तिक्खां तुरिय न माणियाँ गोरी गली न लग्गु ।।

(यह जन्म व्यर्थ ही गया। भटों के शीश पर खंग भंग नहीं हुआ। न तेज घोड़े ही दौड़ाये और न गोरी (सुन्दर स्त्री) ही गले से लगी) काव्यों की अन्तर्दृष्टि का संकेत करता है।

इस प्रकार के उदाहरण उसी स्थल पर पाये जाते है, जहाँ किसी ऐतिहासिक पुरुष का चरित्रांकण हो अथवा किसी प्रेम-कथा का वर्णन हो। साधारणतया जैन-साहित्य में तो जैन धर्म ही का शान्त वातावरण व्याप्त है। सन्त के हृदय में शृंगार कैसा ? फलतः इतने बड़े साहित्य में ऐसे ग्रन्थ कम हैं जिनमें केवल अलंकार-निरूपण या केवल नायिका-भेद है। संस्कृत अथवा प्राकृत में जैन विद्वानों के बनाये हुए शृंगार-रसपूर्ण ग्रन्थ अवश्य हैं, पर अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी म अपेक्षाकृत कम। उसका कारण यही था कि अपभ्रंश अथवा पुरानी हिन्दी में ग्रन्थ लिखते समय उन आचार्यो के हृदय में धर्म-प्रचार की भावना प्रधान रूप से रही होगी। वे साहित्य की अपेक्षा धर्म को अधिक प्रधान मानते थे। इसीलिए तत्व-सिद्धान्तों में ही उनके धर्म का निरूपण हुआ है। जयपुर के एक पुस्तक-भण्डार की सूची में दीवान लालमणि के 'रस-प्रकाश' अलंकार-ग्रन्थ का उल्लेख है। सेवाराम द्वारा भी एक 'रस-ग्रन्थ' की रचना बतलायी जाती है, पर इन दोनों में से एक भी ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सका।[1]

छन्द

जैन-साहित्य में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। चरित्र, रास, चतुष्पदी, चौढालिया, ढाल, सिज्झाय, कवित्त, छन्द, दोहा आदि। किन्तु इस काल की कविता में दोहे की ही प्रधानता है। इस प्रकार की रचना (प्रबन्ध चिन्तामणि में) 'दोहा-विद्या' के नाम से कही गई है। रड्डा का प्रयोग भी यथेष्ट किया गया है।

विशेष

१—जैन-साहित्य द्वारा इतिहास की विशेष रक्षा हुई है। पौराणिक चरित्र के अतिरिक्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के चरित्र भी लिखे गये हैं। हेमचन्द्र का 'कुमारपाल चरित', सोमप्रभु सूरि का 'कुमारपाल प्रतिबोध', धर्मसूरि का 'जम्बू स्वामी रासा', विजयसेन सूरि का 'रेवंतगिरि रासा', अंबदेव का 'संघपति समरा रासा', मेरुतुंग का 'प्रबन्ध चिन्तामणि', विजयभद्र का 'गौतम रासा', ईश्वर सूरि का 'ललितांग चरित्र' आदि इतिहास की प्रधान घटनाओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। अतएव इस साहित्य का महत्त्व भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी होते हुए इतिहास-सम्बन्धी भी है।

---

१ हिन्दी जै०·सा० का इतिहास—(नाथूराम प्रेमी), पृष्ठ १५

२—जैन-साहित्य में अनुवादित ग्रन्थों की अधिकता है। स्वतन्त्र ग्रन्थ कम ह । पूर्ववर्ती कवियों के ग्रन्थों अथवा छन्दों के उद्धरण ही साहित्य का कलेवर बढ़ाने में सहायक हुए हैं । कारण यह है कि हिन्दी जैन-साहित्य अधिकतर गृहस्थ या श्रावकों द्वारा लिखा गया है । गृहस्थ या श्रावकों को भय था कि वे स्वतन्त्र ग्रंथ-रचना करते समय कहीं धर्म-विरुद्ध कोई अनुचित बात न कह दें । अतएव उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का ही अनुसरण किया और उन्हीं के ग्रन्थों को अनुवादित किया ।

३—जैन-साहित्य में कोई बड़ा लक्षण-कवि नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि प्रत्येक आचार्य का आदर्श धर्म की व्यवस्था करना प्रमुख था, काव्य का शृंगार करना गौण। इसीलिए काव्य-लक्षणों पर बहुत कम कवियों का ध्यान गया। केवल सिद्धान्तों के प्रतिपादन में अच्छी कविता नही हो सकती । प्रसिद्ध जैन-कवि बनारसी दास (जन्म सं० १६४३) ने शृंगार रस की रचनाओं का एक संग्रह किया था। पर जैन होने के कारण उन्हें बाद में इस विषय से इतनी घृणा हो गई कि उन्होंने उसे यमुना में बहा दिया, जिससे उसका अस्तित्व ही न रहे ।

संधिकाल का उत्तरार्ध

विविध संप्रदाय

१. नाथ-संप्रदाय

संधिकाल के उत्तरार्ध में सिद्धों के वज्रयान की सहज साधना 'नाथ-संप्रदाय' के रूप में पल्लवित हुई। जीवन के जिस रूप को सिद्धों ने कर्म-काण्डों के जाल से मुक्त कर 'सहज रूप' दिया था—उसे संप्रदाय के रूप में आगे बढ़ाने का श्रेय नाथों को ही दिया जाना चाहिए। इस प्रकार नाथ-संप्रदाय को सिद्ध-संप्रदाय का विकसित और शक्तिशाली रूप ही समझना चाहिए । सिद्धों की विचार-धारा और उनके रूपकों को लेकर ही नाथ-वर्ग ने उसमें नवीन विचारों की प्रतिष्ठा की और उनकी व्यंजना में अनेक तत्वों का सम्मिश्रण किया। इस शैली का अनुसरण करते हुए उन्होंने निरीश्वरवादी 'शून्य' को ईश्वरवादी 'शून्य' बना दिया।

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरंजन आपै आप।
सुंनि कै परचै भया सथीर। निहचल जोगी गहर गंभीर ॥[1]

कुछ विद्वानों का मत है कि नाथ-संप्रदाय का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ

[1] गोरखबानी (डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल) पृष्ठ ७३ [हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९९] शून्यवाद (The Doctrine of VOID)

है। 'यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाए मार्ग को ही अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता'।[1] किंतु यह मत भ्रान्तिपूर्ण है। सन्त 'लोगों' ने भी तो नाथ 'लोगों' के दिखाए मार्ग को अपना साधन चुना था फिर उनको क्या महत्त्व कहीं मिला? वस्तुतः बात यह है कि सिद्धों ने जिस पथ की ओर संकेत किया था, उसे राजमार्ग बनाने का कार्य नाथ-संप्रदाय के संतों ने किया। सिद्धों की विचार धारा को अपना कर उसे व्यापकता देते हुए नाथ-संतों ने उसे नवीन और प्रगतिशील सिद्धान्तों से समन्वित किया। प्रत्येक धार्मिक विचार-धारा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि युगों और परिस्थितियों के अनुकूल उसमें संशोधन, परिवर्तन और परिमार्जन हुआ है। बौद्ध धर्म इस बात का द्योतक है, राम-साहित्य में भी इस विकास की परंपरा देखी जा सकती है। इसी भाँति मन्त्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ-संप्रदाय की विकासोन्मुखी परंपरा समझनी चाहिए।

यह निस्संदेह माना जा सकता है कि नाथ-संप्रदाय पर कौल-पंथ के कुछ प्रभाव हैं। कौल-पंथ में अष्टांग योग की जो भावना है वह साधना-रूप में नाथ-संप्रदाय में अवश्य चली आई है, किंतु अभिचारों में प्रवृत्ति का तीव्र-तम विरोध नाथ-संप्रदाय ने किया है। इसका प्रमुख कारण यही है कि अभिचारों और क्रिया-पक्ष में प्रवृत्ति होने पर जीवन के सहज रूप में विकृति की संभावना होने लगती है और तब ऐसे पथ का अनुसरण करना हिंस्र व्याघ्र की गर्दन का आलिंगन करने, विषैले सर्प से क्रीड़ा करने अथवा नंगे कृपाण की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान भयानक हो जाता है। अष्टांग योग की साधना वज्रयान की साधना में भी रही। यह बात दूसरी है कि नाथ-संप्रदाय में अष्टांग योग की साधना सीधे वज्रयान से न आई हो; किंतु मेरे विचार से सम्भावना तो यही है कि वज्रयान के संशोधित रूप सहजयान को अपनाते हुए नाथ-संप्रदाय ने वज्रयान के योग को भी अपना लिया हो। नाथ-संप्रदाय के इस अष्टांग योग में रसायन का भी प्रभाव है। इस रसायन से योग की प्रारम्भिक अवस्थाओं में शरीर का 'काया-कल्प' कर लेना[2] नाथ-संतों की साधना का आवश्यक अंश रहा है। जब तक शरीर चैतन्य और तेजयुक्त नहीं रहेगा तब तक उसके द्वारा साधना अविरत रूप से नहीं हो सकेगी।

कुछ तो अष्टांग योग* और रसायन की कष्टसाध्य क्रियाओं के कारण नाथ-सम्प्रदाय लोक-धर्म के रूप में प्रचलित नहीं हो सका और कुछ नाथ-सन्तों के साधना-

१ नाथ संप्रदाय—श्री पूर्णगिर गोस्वामी बी० ए० [सरस्वती, भाग ४७, खंड १, संख्या २, पृष्ठ १०१]

२ बरसवै दिन काया पलटिबा, यूं कोई बिरला जोगी।

गोरखबानी—पृष्ठ ६५

* अष्टांग योग -
यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि.

इनका मुख्य स्थान गोरखनाथ (गोरखपुर) में है। ये नेपाल में भी कुछ दिनों रहे और शैवमत का प्रचार करते रहे।

अनेक रंगरूप की न दन्त-कथाओं के आधार पर वास्तविक तथ्य की खोज बहुत कठिन है। इतना तो निश्चित है कि इन्होंने नेपाल को महायान बौद्धमत से शैवमत में रूपान्तरित किया। सम्भवतः ये स्वयं हिमालय-वासी रहे हों, जहाँ बौद्धमत के साथ-साथ शिव-पूजा भी प्रचलित रही हो, क्योंकि पंजाब के उत्तर में हिमालय के प्रदेश में अभी तक कनफटे योगी हैं, जो शिव का पूजन करते हैं। यदि गोरक्ष-राज्य से गोरखनाथ का सम्बन्ध है तो ये शिव के रूप भी माने जा सकते हैं, क्योंकि गोरक्ष-राज्य के संरक्षक-देवता शिव हैं। ऐसी स्थिति में गोरक्ष के नाथ शिव-रूप ही हो सकते हैं। गोरखनाथ के संरक्षण में गोरखों ने नेपाल पर विजय प्राप्त की थी, जो उस समय बौद्ध आर्य अवलोकितेश्वर (मत्स्येन्द्रनाथ) के संरक्षण में था। इस प्रकार नेपाल भी गोरखों के प्रभाव में आया। यह प्रमाण नेपाल की धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों में भले ही लागू हो, पर इससे गोरखनाथ की भारत-प्रसिद्धि पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

गोरखनाथ का अभी तक कोई सम्बद्ध विवरण नहीं मिलता। यह सन्ताप की बात अवश्य है कि जिन गोरखनाथ का भारत के धार्मिक इतिहास में इतना बड़ा महत्त्व है, उनके विषय में प्रामाणिक अन्वेषण अभी तक संतोषजनक रूप से नही हुआ।

मराठी-साहित्य में ज्ञानेश्वरी का बड़ा मान है। उसके लेखक हैं श्री ज्ञानेश्वर महाराज। पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए० ने मराठी में 'श्री ज्ञानेश्वर चरित्र' नामक एक पुस्तक लिखी है, जिसका अनुवाद हिन्दी में श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे ने किया है।[1] उसके अनुसार श्री ज्ञानेश्वर महाराज के प्रपितामह श्री त्र्यम्बक पंत थ जो गोरखनाथ के समकालीन थे। त्र्यम्बक पंत के सम्बन्ध में श्री पांगारकर लिखते हैं :—

"त्र्यम्बक पंत ने यज्ञोपवीत होने के पश्चात् देवगढ़ जाकर वेदशास्त्र का अध्ययन किया। इनकी पूर्व वयस देवगढ़ के यादव राजाओं की सेवा में व्यतीत हुई और उत्तर वयस में इन्होंने श्री गोरखनाथ की कृपा से भगवच्चिन्तन का आनन्द लिया। इन्होंने पांच वर्ष तक बीड के देशाधिकारी का काम किया। शाके ११२९ (संवत् १२६४) प्रभव-नाम संवत्सर चैत्र शुक्ल ५ इन्दुवासर प्रातःकाल घटि ११ का एक राजाज्ञापत्र भिंगारकर महोदय ने प्रकाशित किया है। उससे यह मालूम

१ प्रकाशक—गीता प्रेस गोरखपुर, प्रथम संस्करण १९९०

होता है कि जैत्रपाल महाराज ने दस सहस्र यादव मुद्रिका पर उन्हें बीड देश का अधिकारी नियुक्त किया।"[1]

"इस बात का उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि राजसेवा और कुटुम्बभरण में ही सारी आयु गँवा दी। अब उन्होंने शेष जीवन भगवच्चरणों में लगा कर सार्थक करने का निश्चय किया। कर्म-धर्म-संयोग से इसी समय गोरखनाथ महाराज तीर्थाटन करते हुए आपेगाँव में पधारे। त्र्यम्बक पंत उनकी शरण में गए और उनके अनुग्रह-पात्र हुए।"[2]

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि त्र्यम्बक पंत के पूर्व वयस का समय संवत् १२६४ है जब इन्होंने बीड देश के देशाधिकारी का कार्य हाथ में लिया। इन्होंने केवल पाँच वर्ष तक ही इस कार्य को सम्हाला। इसके बाद पुत्र की मृत्यु के उपरान्त इन्हें वैराग्य आ गया और इन्होंने सं० १२७० के लगभग अपनी उत्तर वयस में गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया। इस तिथि के निर्देश से ज्ञात होता है कि गोरखनाथ सं० १२७० में वर्त्तमान थे और वे इतने प्रसिद्ध अवश्य हो गए थे कि उनका शिष्यत्व एक देशाधिकारी कर सके। अतएव इस आधार पर इनका आविर्भाव-काल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का मध्यकाल ठहरता है।

त्र्यम्बक पंत के ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द पन्त और उनकी सहधर्मिणी निराबाई के सम्बन्ध में लिखा गया है कि गोविन्द पन्त और निराबाई दोनों को गोरखनाथ के शिष्य गैणीनाथ से ब्रह्मोपदेश प्राप्त हुआ था।[3] गोरखनाथ की शिष्य-परम्परा में गैणीनाथ हुए थे। अतएव ये गोरखनाथ जिनसे त्र्यम्बक पंत को ज्ञान-लाभ हुआ था; हठयोग के प्रवर्त्तक गोरखनाथ ही थे, इस नाम के अन्य कोई नहीं। ज्ञानेश्वरी के रचयिता श्री ज्ञानेश्वर ने भी अपनी गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए गोरखनाथ जी का नाम लिया है।[4]

---

१ श्री ज्ञानेश्वर चरित्र, पृष्ठ ३८

२ ,, ,, ,, पृष्ठ ४०

३ ,, ,, ,, पृष्ठ ४१

४ क्षीरसिंधु परिसरीं। शक्तीच्या कर्णं कुहरीं।
नेणों कैं श्री त्रिपुरारीं। सांगीत लें जें॥ ५२॥
ते क्षीर कल्लोला आँत। मकरोदरीं गुप्त।
होता तयाचा हात। पैठें जालें॥ ५३॥
तो मत्स्येन्द्र सप्तश्रृङ्गी। भग्नावयवा चौरंगीं।
भेटला कीं तो सर्वाङ्गी। संपूर्ण जाला॥ ५४॥
मग समाधी अव्यत्यया। भोगावी वासना मया।
ते मुद्रा श्री गोरक्ष राया। दिधली मीनीं॥ ५५॥
तेणें भोगाब्जनी सरोवर। विषय विध्वंसै कवीर।

इस उद्धरण के अनुसार श्री ज्ञानदेव की गुरु-परम्परा इस प्रकार है :—

श्री ज्ञानेश्वर चरित्र से ज्ञात होता है कि इस गुरु-परम्परा के साथ श्री ज्ञानेश्वर की वंशावली पूर्ण साम्य रखती है। श्री गोरखनाथ के समकालीन थे श्री त्र्यम्बक पन्त, जो श्री ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। श्री गैणीनाथ के समकालीन थे श्री गोविन्द पन्त और उनकी सहधर्मिणी निराबाई। और विट्ठलपन्त तो निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर महाराज के पिता ही थे। श्री निवृत्तिनाथ का जन्म-समय सं० १३३० और श्री ज्ञानेश्वर महाराज का सं० १३३२ माना गया है।[1] श्री गोरखनाथ श्री ज्ञानेश्वर के प्रपितामह त्र्यम्बक पंत के समकालीन थे। श्री त्र्यम्बक पन्त का समय सं० १२५० है, अतः गोरखनाथ का ममय भी यही मानना चाहिए अर्थात् वे तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। स्पष्टता के लिये श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वंशावली आगे दी जाती है :—

ति ये पदीं काँ सर्वेश्वर। अभिषेकिले ॥ ५६ ॥
मग तिटीं ते शांभब। अद्वयानंद वैभव।
संपादिले सप्रभव। श्री गैणीनाथा ॥ ५७ ॥
तेणें कलिकलित भूतां। आला देखोनि निरुता।
ते आज्ञा श्री निवृत्ति नाथा। दिधली ऐसी ॥ ५८ ॥
ना आदि गुरु शङ्करा। लागोनि शिष्य परम्परा।
बोधाचा हा संसरा। जाला जो आमुतें ॥ ५९ ॥

श्री ज्ञानेश्वरी—पृष्ठ ५४३

[तुकाराम जावजी (मुम्बई) सन् १९०४]

१ श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र (गीता प्रेस, गोरखपुर) सं० १९९०
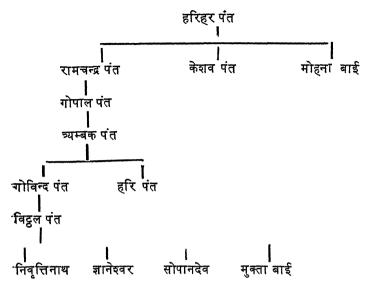
गोरखनाथ के काल-निर्णय में यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था। उसने चौदहवीं शताब्दी में कनफटे पंथ का प्रचार कच्छ में किया।[1] यदि धर्मनाथ का काल चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना जावे तो गोरखनाथ का काल सरलता से तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है। इस साक्ष्य से भी गोरखनाथ तेरहवी शताब्दी के मध्य में हुए।

श्री ज्ञानेश्वरी का प्रमाण अधिक विश्वसनीय ज्ञात होता है, यद्यपि अनेक विद्वानों ने गोरखनाथ के आविर्भाव के सम्बन्ध में अपनी विवेचना और तर्क के आधार पर विविध संवत् निर्दिष्ट किए हैं। डा० शहीदुल्ला गोरखनाथ का आविर्भाव सं० ७२२ में मानते ह। राहुल सांकृत्यायन ने उनका समय सं० ६०२ निर्धारित किया है। डा० मोहनसिंह के मतानुसार गोरखनाथ का समय विक्रम की नवीं और दशवीं शताब्दी है। डा० बड़थ्वाल ने यह समय सं० १०५० निश्चित किया है। डा० फ़र्कहार गोरखनाथ का समय सं० १२५७ मानते हैं।

यदि गोरखनाथ सिद्धों की परम्परा में होने वाले गोरक्षपा ही है और उन्हीं के द्वारा वज्रयान के प्रभावों को लेकर शैवमत के क्रोड़ में नाथ-सम्प्रदाय पोषित हुआ तो श्री राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार उनका समय सं० ६०२ है। किन्तु यह भी सम्भव है कि गोरखनाथ का समय सिद्धों की परम्परा में होते हुए भी दसवीं शताब्दी के बाद हो क्योंकि चौरासी सिद्धों की परम्परा सं० १२५७ तक चलती रही। यदि हम सिद्धों की परम्परा के उत्तरार्ध में श्री गोरखनाथ का आविर्भाव मानें तो उनके काल-निर्णय में श्री ज्ञानेश्वरी के प्रमाण को भी सार्थकता चरितार्थ हो सकती

१ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, पृष्ठ ३२८-३३०

है और सिद्धों की परम्परा में रहते हुए भी श्री गोरखनाथ तेरहवीं शताब्दी के मध्य में हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में गोरखनाथ सिद्धों की परम्परा में अन्तिम या अन्तिम से कुछ पहले के सिद्ध रहे होंगे। सिद्धों की परम्परा में वे नवें सिद्ध माने गए हैं, किन्तु ज्ञात होता है कि यह स्थान उन्हें अपने महत्त्व के कारण मिल गया है, वस्तुत: वे बहुत पीछे के सिद्ध रहे होंगे। यह वैसी ही स्थिति है जिसमें सरहपा सिद्धों के क्रम में छठे स्थान के अधिकारी होकर भी अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और अनुभूति के कारण सिद्ध-कवियों में प्रथम माने जाते हैं।

श्री गोरखनाथ के सम्बन्ध में अभी पूर्ण प्रामाणिक खोज नहीं हो पाई। जो सामग्री अभी तक उपलब्ध हुई है उसकी पूर्ण विवेचना करने के उपरान्त सिद्धों की परम्परा और श्री ज्ञानेश्वरी के प्रमाण की सार्थकता मानते हुए मैं गोरखनाथ का समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग ही स्थिर कर सका हूँ।

गोरखनाथ धर्म की जिस शाखा-विशेष के प्रवर्त्तक माने जाते हैं वह शाखा दार्शनिकता की दृष्टि से तो शैवमत के अन्तर्गत है और व्यावहारिकता की दृष्टि से पतंजलि के हठयोग से सम्बन्ध रखती है। गोरखनाथ का मत जो धर्म-साहित्य में नाथपन्थ के नाम से विख्यात है उसकी महत्ता सिद्धों के वज्रयान की विकसित अवस्था मानी जा सकती है। इस नाथ-सम्प्रदाय ने चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य और धर्म का शासन किया। इसमें अनुभूति और हठयोग का प्रधान स्थान है और इन्हीं विशेषताओं ने कबीर के निर्गुणपन्थ का बहुत कुछ साधन-रूप निर्धारित किया। 'गोरख-सिद्धान्त-संग्रह' में जहाँ स्वतन्त्र हठयोग का निर्देश है वहाँ दूसरी ओर चौरासी सिद्धों के छ: प्रधान शिष्यों का भी वर्णन है। इस प्रकार नाथपन्थ को हम सिद्धयुग और संतयुग के बीच की अवस्था मान सकते हैं।

नाथपन्थ में ईश्वर की भावना शून्यवाद में है, जो सम्भवत: वज्रयान से ली गई है। इसी 'शून्य' को कबीर ने आगे चलकर 'सहस्रदलकमल' का 'शून्य' माना है, जहाँ अनहदनाद की सृष्टि होती है और ईश्वर की ज्योति के दर्शन होते हैं। इस शून्यवाद का इतिहास लिखते हुए श्री क्षितिमोहन सेन अपने ग्रन्थ 'दादू' में लिखते हैं[१] :—

---

१ "महायान शाधनाय शून्य तत्वटि क्रमश: नाना भावे शूखे ओ ऐश्वर्यं भरिया उठिते लागिलण क्रमे माध्यमिक मतवादे बुद्ध, धर्म, ईश्वर शबाई शून्य होइया उठिलेन। वज्रयान योगाचार प्रभृति मतवादीदेर कृपाय शून्यई क्रमे होइया दाँड़ाइल विश्वेर मूलतत्व। शून्य छाड़ा विश्वजगत् देवदेवी प्रभृति किछूइ किछू नय, शबई माया।

एइ शून्यइ क्रमे अलख निरञ्जन होइया नाथ पन्थ निरञ्जन पन्थ प्रभृतिदेर मध्ये स्थान पाइल। गोरखनाथ प्रभृति योगीदेर मतवादेओ इहा बेश स्थान जमाइया बशिल। औघड़ प्रभृति बारपन्थीदेर मध्येओ शून्यवादेर गौरवमय स्थान। चौरासी शिद्धादेर उपदेशे शून्य एकटि खूब बड़ कथा।" दादू—श्री क्षितिमोहन सेन, पृष्ठ १७६

(विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता)

"महायान की साधना में शून्य का महत्त्व ही अनेक प्रकार से सुख और ऐश्वर्यपूर्ण हो क्रमानुसार परिवर्द्धित हुआ। इसके बाद बौद्धधर्म के मध्यकाल में बौद्धधर्म और भी शून्य से सम्बद्ध हो गया। वज्रयान के योग और आचार मताव-लम्बियों की कृपा से तो शून्यवाद ही आगे चल कर विश्व का मूल तत्त्व हो गया। शून्य को छोड़ कर संसार में देवी-देवताओं का अस्तित्व ही कुछ न रह गया। शून्य के अतिरिक्त सभी माया है :

यही शून्य क्रमानुसार अलख निरंजन होकर नागपन्थ, निरंजनपन्थ आदि मतों में स्थान पा गया। गोरखनाथ आदि योगियों के मत में तो इसने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया। औघड़ पन्थ आदि बारपंथियों मे तो शून्यवाद का स्थान गौरवपूर्ण है। चौरासी सिद्धों के उपदेशों में एक मात्र शून्य की ही गुणगाथा का विस्तार है।"

गोरखनाथ ने इसी शून्यवाद का प्रचार किया है। इसी कारण उन्हें योग की साधना को महत्त्व देना पड़ा। यह योग नाथपन्थ का आवश्यक अंग है जिसका प्रचार चौदहवीं शताब्दी में समस्त उत्तर भारत में हुआ।

नाथपंथ के अनुयायी 'कनफटे' कहलाते हैं क्योंकि ये अपने कानों के मध्य भाग को फाड़ कर उसमें बड़ा छेद कर लेते हैं। वे इस छेद में स्फटिक का कुण्डल भी धारण करते हैं। ये अनुयायी दो भागों में विभक्त हैं। एक तो वे जो भारत के उत्तर-पूर्वीय भाग के निवासी हैं और गोरखनाथ को अपना गुरु मानते हैं। दूसरे वे जो पश्चिमी भारत के निवासी हैं और धर्मनाथ से अपनी वंश-परम्परा मानते हैं।

गोरखनाथ धर्म-साहित्य के एक बड़े संत-कवि हैं। उनकी ग्रन्थरचना संस्कृत में ही अधिक कही जाती है। उनकी बहुत सी संस्कृत-पुस्तकें आज भी उपलब्ध हैं, पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह है। उनकी लिखी संस्कृत-पुस्तकों में प्रधान निम्नलिखित हैं :—

गोरक्ष शतक, चतुर्शीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिन्तामणि, योगसिद्धान्त पद्धति, विवेक मार्तण्ड और सिद्धसिद्धान्त पद्धति।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखबानी' (जोगेसुरी बानी, भाग १) में श्री गोरखनाथ की रचनाओं का संग्रह प्रकाशित किया है[१]। इस 'गोरखबानी' में निम्नलिखित रचनाएँ संगृहीत हैं :—

'सबदी', 'पद' (राम सामग्री), 'सिष्या दरसन,' 'प्राण संकली', 'नरवै बोध', 'आत्म बोध', 'अभै मात्रा जोग', 'पन्द्रह तिथि', 'सप्तवार', 'मछीन्द्र गोरखबोध', 'रोमावली', 'ग्यान तिलक' और 'पंच मात्रा'।

---

१ प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण १६६६।

उर्युक्त १३ रचनाएँ डा० बड़थ्वाल द्वारा प्रामाणिक मानी गई हैं, शेष रचनाएँ जो 'गोरखबानी' में संगृहीत हैं, सन्देह की 'छाया' से ग्रस्त हैं :—

'गोरष गणेश गुष्टि', 'ज्ञानदीप बोध', 'महादेव गोरष गष्टि', 'सिस्ट पुराण', 'दयाबोध', 'कुछ पद', 'सप्तवार नवग्रह', 'ब्रत', 'पंच अग्नि', 'अष्ट मुद्रा', 'चौबीस सिद्धि', 'बतीस लछन', 'अष्ट चक्र' और 'रह रासि'।

मैं 'अभै मात्राजोग' को छोड़कर शेष १२ रचनाओं को प्रामाणिक मानता हूँ।

मिश्रबन्धुओं ने उनके दस ग्रन्थ प्रामाणिक समझे हैं :—'गोरखबोध', 'दत्त-गोरख संवाद', 'गोरखनाथ जी के पद', गोरख जी के स्फुट ग्रन्थ', 'ज्ञान सिद्धान्त योग', 'ज्ञान तिलक', योगेश्वरी साखी', 'नरवै बोध', 'विराट पुराण' और 'गोरखसार'[1]

मिश्रबन्धुओं द्वारा मान्य उपर्युक्त पुस्तकों में से कुछ तो गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा लिखी ज्ञात होती है, किन्तु कौन पुस्तकें स्वयं गोरखनाथ द्वारा लिखी गई हैं और कौन उनके शिष्यों द्वारा, यह कहना कठिन है। 'गोरखनाथ जी के पद' पुस्तक स्वयं गोरखनाथ की लिखी हुई न होगी, क्योंकि पुस्तक का शीर्षक ही लेखक के लिए आदर-सूचक है। कोई भी संत अपने नाम को 'जी' प्रत्यय के साथ न लिखेगा। अतः यह पुस्तक तो गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा ही लिखी गई होगी, जिन्होंने अपने गुरु को आदर-सूचक प्रत्यय के साथ स्मरण किया है। इसी प्रकार 'दत्तगोरख संवाद' ग्रन्थ भी गोरखनाथ द्वारा न लिखा गया होगा क्योंकि देवता दत्तात्रेय की भावना को विवाद के लिए गोरखनाथ अपने मन में ला ही नहीं सकते थे। संभवतः शिष्यों ने गोरखनाथ की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए इस प्रकार की पुस्तकों की रचना की होगी।

इन्हीं नामों के अनुरूप हमें कुछ ग्रंथ कबीर के भी मिलते हैं, जैसे 'कबीर गोरख की गोष्ठी' 'कबीर जी की साखी', 'मुहम्मद बोध' आदि। हम तीनों ग्रन्थों को कबीर द्वारा न लिखा हुआ मान कर उनके शिष्यों द्वारा लिखा हुआ मानते हैं। कबीर गोरख के समकालीन भी नहीं थे, अतः उनकी 'गोष्ठी' तो किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार मुहम्मद भी कबीर से ज्ञान-लाभ नहीं कर सकते और कबीर अपने को 'कबीर जी' नहीं लिख सकते। कबीर के शिष्यों ने ही उनके नाम से इन ग्रंथों की रचना की होगी। यही सिद्धान्त मिश्रबन्धुओं द्वारा मान्य गोरखनाथ के ग्रन्थों पर भी घटित होता है।

गोरखनाथ ने अपने नाथ-पन्थ के प्रचार के लिये जन-समुदाय की भाषा का आश्रय ग्रहण किया। गौतम बुद्ध ने भी अपने मत का प्रचार संस्कृत को छोड़

१ मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २४१.

कर जन-समुदाय की भाषा पाली में किया था । सर्वसाधारण को अपने सिद्धान्त समझाने के लिए गोरखनाथ भी जन-भाषा में कुछ लिखने के लिए बाध्य हुए । पर उनके ग्रन्थ पूर्ण प्रामाणिकता के साथ अभी निश्चित नहीं हो सके हैं । मिश्र-बन्धुओं का कथन है कि "इस महात्मा ने प्रायः ४० छोटे-बड़े ग्रंथ रचे और ब्रजभाषा-गद्य में भी एक अच्छा ग्रंथ बनाया । सो ये महात्मा गद्य के प्रथम कवि हैं[1] ।"

हिन्दी के सभी इतिहासकारों ने गोरखनाथ की रचना का निम्नलिखित अवतरण उद्धृत किया है :—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है । हैं कैसे परमानन्द, आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि को । जिन्ही के नित्य गायै तै शरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है । मैं जु हौं गोरिष सो मछन्दर नाथ को दण्डवत् करत हौं । हैं कैसे वे मछन्दर नाथ । आत्मा ज्योति निश्चल है अन्तःकरन जिनि कौ अरु मूलद्वार तै छइ चक्र जिनि नीकी तरह जानै । अरु जुग काल कल्प इनिकी रचना तत्व जिनि गायो । सुगन्ध को समुद्र तिनि कौ मेरी दण्डवत ।। स्वामी तुमे तो सतगुरु अम्है तो सिष, सब्द एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस ।"

यह अवतरण सम्भवतः इसलिए उद्धृत किया जाता है कि इसमें गोरख का नाम प्रथम पुरुष में है । गोरखनाथ अधिकतर पूरब और उत्तर के निवासी थे, अतः इन्हें साधारणतः पूरबी गद्य का प्रयोग करना चाहिये था । इसके विपरीत उनके द्वारा लिखा हुआ यह अवतरण ब्रजभाषा में है । फिर इसमें 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि शब्द विशेष हैं, जिन्हें पण्डित रामचन्द्र शुक्ल राजस्थान के शब्द मानते हैं ।[2] जिस समय ब्रजभाषा में कविता की शैली का जन्म ही नहीं हुआ था और वह साहित्य में मान्य भी नहीं थी, उस समय एक पूरब का निवासी अपने प्रान्त की भाषा में न लिख कर सुदूर ब्रज-भाषा के अप्रचलित गद्य में अपना ग्रन्थ लिखे, यह बात विश्वसनीय नहीं जान पड़ती । यह माना जा सकता है कि गद्य का यह अवतरण परवर्ती काल में गोरखनाथ के किसी शिष्य ने (जो राजपूताने का निवासी होगा ?) अपने पन्थ-प्रवर्त्तक गोरखनाथ के नाम से लिख दिया हो ।

नाथ-सम्प्रदाय प्रधान रूप से निवृत्तिमार्गी ज्ञान-योग के अन्तर्गत 'नाथ' का अर्थ इस सम्प्रदाय में 'मुक्तिदान करने वाला' माना गया है[3] । मुक्ति का दान वही कर सकता है जो स्वयं 'मुक्त' हो । अतः नाथ-सम्प्रदाय में संसार के बन्धनों से मुक्त होने की ही विधि विशेष रूप से मान्य है । संसार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध,

१ मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ११२

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ४८०

३ अस्माकम्मते शक्तिः सृष्टिं करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्तिं ददाति ।—गोरक्ष सिद्धान्त संग्रहः

विषयों से स्वतन्त्रता तभी मिल सकती है, जब वैराग्य की भावना मन में स्थिर हो जावे। यह वैराग्य गुरु की सहायता से ही हो सकता है। अतः नाथ-सम्प्रदाय अपने क्रियापक्ष में गुरु-मन्त्र या गुरु-दीक्षा से प्रारम्भ होता है। गुरु भी शिष्य की दृढ़ता और योग्यता देखकर उसे दीक्षा देता है। वह उपवासादि और कठिन संयम से उसकी कठिन परीक्षा लेता है। जब शिष्य के अत्यन्त कठिन-साध्य आचरणों से गुरु को सन्तोष हो जाता है, तब वह उसे दीक्षा देने को प्रस्तुत होता है। नाथ-सम्प्रदाय इसीलिए एक व्यापक सम्प्रदाय नहीं बन पाया। उसमें शिष्यों को आकर्षित करने का कोई प्रलोभन नहीं है। किन्तु जितने भी शिष्य उसमें दीक्षित होते हैं वे अपने साधना-मार्ग पर अत्यन्त दृढ़ रहते हैं। सम्प्रदाय के प्रचार की अपेक्षा उसमें मर्यादा-रक्षण का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसीलिए इस सम्प्रदाय के कुछ आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली में, या उल्टबाँसी में, या विचित्र रूपकों में दिए जाते हैं जो साधारण जनता की समझ से बाहर होते हैं। जब तक कोई व्यक्ति उस रहस्यात्मक शैली से परिचित न हो तब तक वह उल्टबाँसियों या विचित्र रूपकों के अर्थ समझने में समर्थ नहीं होता।

वैराग्य की भावना जब हृदय में दृढ़ता से स्थिर हो जाती है तब वह अपनी अभिव्यंजना में तीन मार्ग ग्रहण करती है। पहला मार्ग इन्द्रिय-निग्रह का है, दूसरा प्राण-साधना का और तीसरा मन-साधना का है। पहला मार्ग सब से प्रमुख है। नाथ-सम्प्रदाय में इंद्रिय-निग्रह पर बड़ा जोर दिया गया है। इन्द्रियों के लिए सब से बड़ा आकर्षण 'नारी' है। इस इन्द्रिय-निग्रह पर श्री गोरखनाथ ने सम्भवतः इसीलिए इतना जोर दिया कि उन्होंने बौद्ध-विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम बौद्ध धर्म के अधःपतन में देखा हो, अथवा कौल-पद्धति या वज्रयान में उन्होंने भैरवी और योगिनी रूप नारियों की ऐंद्रिक उपासना में धर्म को विकृत होता हुआ देखा हो। उन्होंने कौल-पद्धति में मद्य और मानवी की ओर प्रवृत्ति की भयानकता का अनुभव किया हो। प्रवृत्ति में लीन होकर निवृत्ति की ओर बढ़ना वैसा ही कठिन है जैसे शर्बत पीते हुए उसका स्वाद न लेना। सभी साधकों में इतनी क्षमता नहीं कि सुन्दरी को देखकर, उसका स्पर्श पाकर, उसका निकटतम साहचर्य पाकर उसके भीतर कंकाल का रूप देख सकें। 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन-सर मारे'।, जैसी अवस्था योग की चरमावस्था को पहुँचे हुए साधकों की भी हो सकती है। संयम में जकड़ी हुई इंद्रियाँ थोड़ा सा भी 'सुयोग' पाकर विद्रोह कर उठती हैं और साधना में उनकी प्रतिक्रिया होने लगती है। इसी को विज्ञानियों ने 'अविद्या' कहा है। महात्मा तुलसीदास ने इस परिस्थिति का कितना सुन्दर स्पष्टीकरण आगे के दोहे में किया है :—

कवने अवसर का भयउ, गयेउ नारि विस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि, यतिहिं 'अविद्या' नास॥

यहाँ 'नारि विस्वास', 'जोगसिद्ध', 'यतिहिं' और 'अविद्या' साभिप्राय रखे हुए ज्ञात होते हैं। नारी पर विश्वास करना 'जोग-सिद्धि' के लिए घातक है। इसी 'अविद्या' को दर्शन की पुस्तकों में 'आत्मा की अन्धकारमयी रजनी' (The Dark Night of the Soul) कहा गया है। इसीलिए नाथ-सम्प्रदाय में इन्द्रिय-निग्रह के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'नारी' को रखा गया है। गोरखनाथ ने इस सत्य का अनुभव किया था और इसीलिए उन्होंने इस सम्प्रदाय को नारी से दूर रखने का अनुशासनपूर्ण आदेश दिया। इस इन्द्रिय-निग्रह में आसन की दृढ़ता मानी गई और उससे 'बिन्दु' का स्थैर्य माना गया है। इन्द्रिय-निग्रह के उपरान्त प्राण-साधना का स्थान है। प्राण-साधना का तात्पर्य शरीर के अन्तर्गत प्राण-वायु के नियमित संचालन और कुम्भकादि से है। इस साधना में प्राणायाम की सिद्धि की आवश्यकता होती है। प्राणायाम की सिद्धि में जप फलीभूत होता है। प्राण-साधना के बाद मन-साधना है। मन-साधना का तात्पर्य यह है कि संसार की विविध मायिक प्रवृत्तियों से मन को खींच कर अपने अंतःकरण की ओर ही उन्मुख कर देना। मन की जो स्वाभाविक गति बहिर्जगत की ओर है उसे उलट कर अन्तर्जगत की ओर करना ही मन की साधना की कसौटी है। इसी उलटने की क्रिया से संसार के व्यापारों में विरोध भासित होता है और यही दृष्टिकोण 'उलट बाँसियों' का आधार है। इसी को मानसिक वृत्तियों का 'विपर्यय' कहा गया है।

इन्द्रिय-निग्रह से आसन, प्राण-साधना से प्राणायाम और मन-साधना से प्रत्याहार सिद्ध होने पर साधक में नाड़ी-साधन और कुंडलिनी-जागरण की शक्ति उत्पन्न होती है। इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ी के सचेतन होने पर मूलाधार चक्र के त्रिकोण में स्थित निम्नमुखी कुंडलिनी तेज सम्पन्न होकर जागृत होती है और सुषुम्णा नाड़ी के भीतर ही भीतर ऊपर की ओर बढ़ती है। अपने बढ़ने की क्रिया में वह मेरुदण्ड के समानान्तर सुषुम्णा नाड़ी पर स्थित मूलाधार, स्वाधिष्ठान मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्रों को भेदन करती हुई तालुमूल से सिर तक स्थित सहस्रार के ब्रह्म रंध्र का स्पर्श करती है। इस क्रिया की अनवरत साधना में रसायन या रस-विद्या की सहायता से शरीर की दुर्बलताओं और विकारों को दूर कर काया-कल्प आदि करने के भी विधान हैं। योग साधना में शरीर का ध्यान नहीं रहता, समाधि में शरीर की क्रियाएँ भी रुक जाती हैं और यदि समाधि की अवधि लम्बी हो गई तो शरीर-रक्षा का ध्यान शिष्यों को ही विशेष रूप से करना पड़ता है। शरीर को नष्ट होने से बचाने के लिए काया-कल्प से शरीर को विशेष

बलिष्ठ करने की आवश्यकता है। षट्चक्र-भेद की स्थिति के समानान्तर 'अजपा जाप' का प्रतिफलन होता है। यह 'जाप' बिना जपे ही होता रहता है। इस जाप में जिह्वा की आवश्यकता नहीं होती। शरीर के रोम-रोम से यह 'जाप' स्वाभाविक रूप से साँस के आने-जाने के समान ही होता रहता है। साधना की अन्य क्रियाओं में लीन रहते हुए भी साधक इस 'अजपा जाप' मे कभी अन्तर और व्याघात होता हुआ नहीं देखता।

षट्चक्र-भेद की स्थिति के बाद सुरति-शब्द योग की अनुभूति होती है। यह शब्द-योग 'अनाहत नाद' से सम्बन्ध रखता है जो कुंडलिनी के द्वारा षट्चक्र भेदन के उपरान्त सहस्रार या सहस्रदल कमल में होता है। इस 'अनाहत नाद' का सुख अनिर्वचनीय है। इसी में 'शून्य' की महत्ता और व्यापकता समझ में आती है। यह शून्य जहाँ प्रकृति के समस्त अनुबन्धों का निराकरण करता है वहाँ वह अध्यात्मवाद की समस्त अनुभूतियों की सम्भावना के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है। यह 'शून्य' ऐसी अवस्था का द्योतक है जहाँ द्वैत का विनाश होकर सत्, चित्, आनन्द की अनुभूतियाँ शरीर में प्रकट होती हैं। यह 'शून्य' शरीर, मनस् और प्रज्ञा के परे है। यही 'परम सुख' है। सिद्धों ने अपनी साधना का यही चरम ध्येय माना है। इसीलिए कि सिद्ध निरीश्वरवादी बौद्ध-धर्म की परम्परा में हुए थे, उन्होंने इस 'परम सुख' में 'ब्रह्मानंद' की स्थिति नही देखी, किन्तु नाथ-सम्प्रदाय 'शैव-धर्म' की स्फूर्ति से अनुप्राणित हुआ था। अतः उसने इस शून्य में शिव और शक्ति की ज्योति देखी और इस प्रकार सिद्धों के लक्ष्य से आगे चलकर उसने निश्चित विश्वास के साथ 'ईश्वरवाद' की भावना की प्रतिष्ठा की। 'शिव' और 'शक्ति' की ज्योति में लीन होकर साधक 'असंप्रज्ञात समाधि' का अधिकारी होकर 'कैवल्य मोक्ष' प्राप्त करता है।

'शिव' ही नाथ-सम्प्रदाय के 'आराध्य देव' हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम योग की शिक्षा पार्वती (शक्ति) को दी। मत्स्येन्द्रनाथ ने उस शिक्षा को मछली का रूप धारण कर चोरी से सुना। इस प्रकार योग की शिक्षा पाकर मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने शिष्य गोरखनाथ को उसी का ज्ञान दिया। गोरखनाथ अपनी साधना और अनुभूति में अपने गुरु की महत्ता से भी आगे बढ़े। गुप्त रूप से योग की शिक्षा सुनने के कारण जब मत्स्येन्द्रनाथ मोह में फँस जाने के लिए अभिशप्त हुए तो गोरखनाथ ने ही उनका उद्धार किया था। गोरखनाथ ने योग-मार्ग का जो प्रचार किया उसमें 'शिव' और 'शक्ति' को आदि तत्त्व माना गया है।

संक्षेप में नाथ-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का रेखा-चित्र इस प्रकार से समझा जा सकता है :—

गुरु मन्त्र
वैराग्य
इन्द्रिय-निग्रह
प्राण-साधना
मन-साधना
आसन
(स्थैर्य)
प्राणायाम
(जप)
प्रत्याहार
(विपर्यय)
रसायन
सिद्धि
नाड़ी साधन
कुंडलिनी जागरण
षट्-चक्र-भेद
(अजपा जाप)
सुरति शब्द योग
[अनाहत]
शून्य
[सहज]
शिव
निरंजन
शक्ति
असंप्रज्ञात समाधि
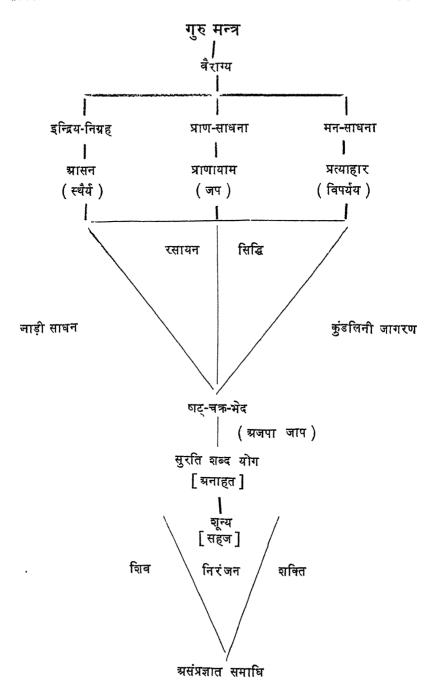
गुरु गोरखनाथ ने अपने सिद्धान्तों की मीमांसा जन-भाषा के आश्रय में 'सबदियों' और पदों में की है। उदाहरणस्वरूप सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से उनकी कविता का नमूना निम्नलिखित है :—

गुरु-महिमा—

गुर कीजै गहिला निगुरा न रहिला, गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ॥
दूधैं धोया कोइला उजला न होइला, कागा कंठै पहुप माल हंसला न मैला ॥[१]

वैराग्य—

आसति छै हो पिडता नासति नांही। अनभै होय परतीति निरंतरि मांही ॥
ग्यांन षोजि अमे विग्यांन पाया। सति सति भाषंत सिध सति नाथ राया ॥[२]

इन्द्रिय-निग्रह—

भोगिया सूते अजहूँ न जागे। भोग नहीं रे रोग अभागे ॥
भोगिया कहै भल भोग हमारा। मनसइ नारि किया तन छारा ॥[३]

प्राण-साधना—

आसण वैसिवा पवन निरोधिवा, थांन मांन सब धन्धा ॥
बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं लज दीसै चंदा ॥[४]

मन-साधना—

नाथ बोलै अमृत बांणी। बरिषैगी कंबली पांणी ॥
गाडि पडरवा बांधिलै षूंटा। चलैं दमामा बजिले ऊंटा ॥[५]

रसायन-सिद्धि—

सास उसास बाइ कौ भषिबा। रोकि लेहु नव द्वारं ॥
छठै छमासि काया पलटिबा। तब उन मैंनी जोग अपारं ॥[६]

नाड़ी-साधना—

अवधू ईड़ा मारग चन्द्र भणीजै। प्यंगुला मारग भानं ॥
सुषमनां मारग बांणी बोलिये, त्रिय मूल अस्थांनं ॥[७]

कुंडलिनीजागरण, षट्चक्र-भेद, अजपा जाप और अनाहत नाद—

छसै सहंस इकीसौं जाप। अनहद उपजै आपहि आप ॥
बंकनालि मैं ऊगै सूर। रोम रोम धुनि बाजै तूर ॥[८]

---

१ गोरखबानी—पृष्ठ १२८
२ ,, ,, ६७
३ ,, ,, १३८
४ ,, ,, २६
५ ,, ,, १४१
६ ,, ,, १६
७ ,, ,, ३३
८ ,, ,, १२४

शून्य—

सुरहट घाट अम्हे बणिजारा। सुंनि हमारा पसारा ॥
लेण न जाणौ देण न जाणौ। एहा वणज हमारा ॥ [१]॥

शिव-शक्ति—

यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त का जीव ॥
यहु मन ले जै उनमन रहै। तौ तीन लोक की बातां कहै ॥ [२]॥

सहज—

सहज गोरषनाथ वणिज कराई।
पञ्च बलद नौ गाई ॥
सहज सुभावै बाषर लाई।
मोरे मन उड़ियांनी आई ॥ [३]॥

इस समस्त साधना-पद्धति के साथ नाथ-पंथ में उन सभी रूढ़ियों का खंडन है जो सिद्ध-सम्प्रदाय में पाया जाता है। सदाचार का आश्रय लेकर काया में तीर्थ की अनुभूति मानी गई है तथा साधना के प्रतिक्रियात्मक भाव से पाखंड-खंडन, मन्त्र-व्यर्थता और सम्प्रदाय-अवहेलना की प्रबल-भावना भी गोरखनाथ ने अपने शिष्यों के सामने रखी है। इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय सिद्धों की 'सहज' भावना का ऐसा परिवर्द्धित रूप है जिसमें धर्म की वास्तविक अनुभूति की ओर संकेत किया गया है। लौकिक जीवन को हृदयंगम करते हुए भी उसमें ऊपरी रंग-रूप की ओर से उपेक्षा दिखलाई गई है। इसी मनोभाव में माया की अवहेलना की गई है जो आगे चलकर सन्त-सम्प्रदाय में चेतावनी का प्रमुख अंग बनी। गोरखनाथ ने नाथ-सम्प्रदाय को जिस आन्दोलन का रूप दिया, वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहाँ दूसरी ओर धर्म को विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर कठोर आघात भी किया गया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रख कर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरखनाथ ने किया।

नाथ-सम्प्रदाय म 'नवनाथ' की चर्चा की जाती है। परवर्ती कवियों ने भी "चौरासी सिद्ध' और 'नवनाथ' की ओर संकेत किया है। कबीर ने भी लिखा है: 'सिध चउरासीह माइआ महि खेला' और 'नावै नाथ सूरज अरु चन्दा।'[४] इन 'नवनाथों' में पृष्ट ११८ पर लिखित 'नाथ' आते हैं।

१ गोरखबानी पृष्ठ १०४
२ ,, ,, १८
३ ,, ,, १०४
४ सन्त कबीर, पृष्ठ २१९-२२० (साहित्य भवन, इलाहाबाद)

१ आदिनाथ
२ मत्स्येन्द्रनाथ
३ गोरखनाथ
४ गाहिणीनाथ
५ चर्पटनाथ
६ चौरंगीनाथ
७ ज्वालेन्द्रनाथ
८ भर्तृनाथ
९ गोपीचन्दनाथ

यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे तथापि गोरखनाथ ने जिस श्रद्धा और भक्ति से मत्स्येन्द्रनाथ की भक्ति की थी उससे स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को योग के प्रथम अधिकारी और आचार्य मान लिये जाने का आशीर्वाद दिया था। इन 'नवनाथों' में सभी की रचनाएँ प्राप्त नहीं हैं; प्राप्त रचनाओं के साथ उनका विवरण नीचे दिया जाता है :—

आदिनाथ

आदिनाथ इस सम्प्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य भले ही रहे हों, किन्तु परवर्त्ती सन्तों द्वारा वे 'शिव' मान लिए गए हैं। इस विश्वास से यह विचार भी पुष्ट होता है कि शिव ही इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ

मत्स्येन्द्रनाथ को मीननाथ और मछन्दरनाथ भी कहा गया है। ये गोरखनाथ के गुरु थे। ये चौथे बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये नेपाल के आराध्यदेव रूप से गोरखनाथ के पूर्व मान्य रहे। इन्होंने योग की शिक्षा आदिनाथ (शिव) से प्राप्त की। सागर के तट पर शिव जी योग-विद्या का रहस्य पार्वती को समझा रहे थे। पार्वती को नींद आ गई, किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ मछली रूप में उस योग-विद्या के रहस्य को सुनते रहे। उनके इसी कार्य से उनका नामकरण हुआ।

यह किम्बदन्ती भी है कि मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप (आसाम) से आए थे और वे गोरखनाथ द्वारा किये गए बारह वर्ष के अवर्षण को दूर करने में कृतकार्य हुए। यह भी कहा जाता है कि चोरी से योग-विद्या का रहस्य सुनने के कारण शिव जी ने उन्हें शाप दिया कि 'यद्यपि तुम योग-रहस्य से परिचित हो गए फिर भी तुम्हें मोह के पाश में आबद्ध होना पड़ेगा।' फल स्वरूप जब वे सिंहल द्वीप गए तो वहाँ की रानी पद्मावती के रूप पर आसक्त होकर वहीं रहने लगे। जब गोरखनाथ को अपने गुरु के पतन की गाथा मालूम हुई तो वे सिंहल द्वीप गए। वहां उन्होंने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को रानी पद्मावती के अन्तःपुर में पाया। उन्होंने उनकी योग-विद्या का स्मरण दिला कर उनका विवेक जागृत किया। मत्स्येन्द्रनाथ को ज्ञान हुआ और वे रानी पद्मावती को छोड़कर फिर योगारूढ़ हुए। पद्मावती से उत्पन्न अपने दोनों

पुत्रों—पारसनाथ और निमिनाथ (जो आगे चल कर जैन तीर्थंकर हुए) को लेकर वे फिर नेपाल चले आए।

इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

जल कुआ है मांछली, खग कुआ है मोर।
सेवक चाहे राम कूं ज्यौ च्यंतवत चन्द चकोर॥
यों स्वारथ को जीवड़ो, स्वारथ छाड़ि न जाय।
जब गोरख किरपा करी, म्हारो मनवो समझायो आय॥
जोगी सोई जोगी रे, जुगत रहै उदास।
तात नीरं जग पाइया, यो कहे मच्छन्द्रनाथ॥[1]

इस रचना पर राजस्थानी प्रभाव का कारण स्पष्ट नहीं है। मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा रचित संस्कृत की किसी कौलीय पुस्तक का पता अवश्य लगा है,[2] किन्तु वह अभी तक प्रकाश में नहीं आई।

गोरखनाथ गोरखनाथ का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है।

गाहिणीनाथ गाहिणी नाथ गोरखनाथ के शिष्य थे। इन्होंने ज्ञानेश्वर महाराज के पितामह श्री गोविन्दपन्त को ब्रह्मोपदेश दिया था। ये ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल के भी गुरु कहे जाते हैं। इन्हें गैनीनाथ या गाहिनीनाथ भी कहा गया है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।

चर्पट नाथ मनुखेत पत्तन में चर्पटनाथ का जन्म हुआ। ये जाति के ब्राह्मण थे। इनका पूर्वनाम श्री चरकानन्द नाथ था। ये कही गोरखनाथ के और कहीं बाला नाथ के शिष्य कहे गए हैं। इनकी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है :—

इक लाल पटा एक सेत पटा। इक तिलक जनेऊ लमक लटा।
जब लहीं ऊलटी प्राण घटा। तब चरपट भूले पेट नटा।
जब आवैगी काल घटा। तब छोड़ि जाइगे लटा पटा।
सुणि सिखवंती सुणि पतिवंती इस जग महि कैसे रहणां।
अखी देखन कंणी सुनण मुख सो कछू न कहना
बकते आगे स्रोता होइ रहु थौक आगै मसकीना
गुरु आगे चेला होइबो एहा बात परबीना
मन महि रहना भेद न कहना बोलिबो अमृत बानी
अगला अगन होइबा औधू आप होइबा पानी

---

१ गोरखनाथ एण्ड मिडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म—डा० मोहनसिंह (लाहौर, १९३७) परिशिष्ट, पृष्ठ २

२ नाथ-सम्प्रदाय—सरस्वती, फरवरी १९४६, पृष्ठ १०५

इहु संसार कंटिकों की बाड़ी निरख निरख पगु धरना
चरपट कहै सुनहु रे सिधो हठि करि तपु नहीं करना
जाणि के अजाणि होय बात तूं ले पछाणि
चेले होइआं लाभु होइगा गुरु होइआं हांन।
अंदरि गंगा बाहरि गंदा। तू की भूलिओ चरपट अंधा। [१]

चौरंगीनाथ

चौरंगीनाथ ही 'पूरन भगत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये गोरखनाथ के शिष्य थे। इनकी वंश-परम्परा के सम्बन्ध में यह किंवदंती भी है कि एक खत्रानी सुन्दरी जब सियालकोट के समीप आइक नदी में स्नान कर रही थी तो नाग वासुकि उसके गौर शरीर और अप्रतिम सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए। उन दोनों के संयोग से उस खत्रानी सुन्दरी को एक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका नाम शालिवाहन रखा गया। नाग वासुकि की सहायता से शालिवाहन बड़ा प्रतापी राजा हुआ और उसने अतुल वैभव प्राप्त किया। वह सियालकोट का राजा हुआ। उसी शालिवाहन के दो पुत्र हुए जिनमें ज्येष्ठ का नाम पूरन भगत हुआ। अपनी विमाता के प्रणय की अवहेलना करने के कारण इनकी आँखें फोड़ दी गईं और हाथ पैर काट कर इन्हें कुएँ में डाल दिया गया। ये बारह वर्ष तक उसी कुएँ में पड़े रहे। बाद में गोरखनाथ ने मत्स्येन्द्रनाथ के प्रभाव से उन्हें सुन्दर शरीर से संपन्न (चौरंगी) बनाकर किसी कुमारी की बटी हुई रस्सी के सहारे ऊपर खींचा।

ज्वालेन्द्रनाथ

ज्वालेन्द्रनाथ गोपीचन्द्र के गुरु थे। गोपीचन्द की माता मैनावती भी ज्वालेन्द्रनाथ से प्रभावित थी। मैनावती आध्यात्मिक दृष्टि से अपने पुत्र गोपीचन्द को चाहती थी, किन्तु गोपीचन्द ने इसका सांसारिक दृष्टि से दूसरा ही अर्थ लगाया। मैनावती के मनोभावों में ज्वालेन्द्रनाथ का हाथ देखकर गोपीचन्द ने ज्वालेन्द्रनाथ का प्राणान्त करने का निश्चय किया। उन्होंने ज्वालेन्द्रनाथ को कुएँ में डाल दिया, किन्तु वे मरे नहीं। अपने योग-बल से कुएँ में समाधि लगाकर बैठ गए। गोरखनाथ ने कुएँ पर आकर ज्वालेन्द्रनाथ से निकलने की प्रार्थना की। ज्वालेन्द्रनाथ मौन रहे। तब गोरखनाथ ने गोपीचन्द की प्रतिमा कुएँ पर रख कर उनसे बाहर आने का आग्रह किया। गोरखनाथ जानते थे कि यदि स्वयं गोपीचन्द को कुएँ पर खड़ा किया जायगा तो गोपीचन्द भस्म हो जायेंगे। हुआ भी यही। श्री ज्वालेन्द्रनाथ के योग-बल से गोपीचन्द की प्रतिमा जल कर भस्म हो गई। दुबारा प्रतिमा रखने पर भी ऐसा ही हुआ। अन्त में गोपीचन्द को अत्यंत विनय और प्रार्थना से खड़े

---

१ गोरखनाथ एंड मिडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म (डा० मोहन सिंह) परिशिष्ट, पृष्ठ २३

करते हुए गोरखनाथ ने ज्वालेन्द्रनाथ को कुएँ से बाहर निकलने का अनुरोध किया। ज्वालेन्द्र प्रसन्न हुए और वे गोपीचन्द को अमरत्व का आशीर्वाद देते हुए कुएँ से बाहर निकले।

भर्तृनाथ

भर्तृनाथ का दूसरा नाम भर्तृहरि या भरथरी भी प्रसिद्ध है। ये जालन्धर-पा के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु से प्रार्थना की कि मुझे धर्म का कोई विशिष्ट चिन्ह दीजिये। जालन्धरपा ने उनके कानों के मध्य में छेद कर उसमें कुण्डल डाल दिया। भर्तृनाथ के योग-धारण के सम्बन्ध में कथा है कि वे एक बार शिकार खेलने के लिए गए। उन्होंने शिकार में देखा कि शिकार (पारधी) को नाग ने काट लिया। पारधी की स्त्री अपने पति को चिता पर रख कर और अपने माँस को काट-काट कर सती हो गई। यह दृश्य देखकर भर्तृनाथ ने अपनी रानी पिंगला की परीक्षा करनी चाही। उन्होंने वह कथा पिंगला से कही। पिंगला ने कहा कि 'मैं तो तुम्हारी मृत्यु का संवाद मात्र सुनते ही सती हो जाऊँगी।' कुछ दिनों बाद जब भर्तृहरि फिर शिकार को गए तो उन्होंने झूठमूठ अपनी मृत्यु का संवाद प्रचारित कर दिया। रानी पिंगला संवाद सुनते ही चिता में भस्म हो गई। घर आकर भर्तृहरि ने जलती हुई चिता देखी। वे शोक में डूब गए। उसी समय वहाँ गोरखनाथ पहुँचे। उन्होंने यह दृश्य देखकर अपना भिक्षा-पात्र जमीन पर गिर जाने दिया। जब वह भिक्षा-पात्र गिर कर टूट गया तो ये भर्तृहरि की भाँति ही रोने लगे। भर्तृहरि ने कहा कि 'भिक्षा-पात्र के टूटने पर आप क्यों रोते हैं? वह तो दूसरा भी मिल सकता है।' गोरखनाथ ने 'कहा आप पिंगला की मृत्यु पर क्यों रोते हैं? पिंगला तो फिर जीवित हो सकती है।' गोरखनाथ ने चिता पर जल डाल दिया और चिता से २५ रानियाँ पिंगला रूप की उठ खड़ी हुईं। दुबारा जल डालने पर केवल एक पिंगला रानी रह गई। भर्तृहरि का मोह दूर हुआ और वे योगी हो गए। पिंगला को माता कह कर उन्होने भिक्षा प्राप्त की और गोरखनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया।

गोपीचन्दनाथ

गोपीचन्द का विवरण ज्वालेन्द्रनाथ के प्रसंग में आ ही गया है। गोपीचन्द ने जब राज्य छोड़ा तो उनकी रानियों, पुत्रियों और माता ने उन्हें रोकने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उन्होंने स्नेह-बन्धन तोड़कर योग-साधना में ही जीवन की सार्थकता समझी। भर्तृहरि गोपीचन्द के नाम से जनता में अनेक लोक-गीत प्रचलित हैं। इन लोक गीतों में संसार की नश्वरता और वैभव-विलास की निस्सारता बड़े भावनामय शब्दों में कही गई है। साथ ही योग के सिद्धान्तों को अत्यंत व्यावहारिक रूप से समझाने

का प्रयत्न किया है। भर्तृहरि और गोपीचन्द्र के गीतों ने शताब्दियों तक जिस धार्मिक जीवन में आस्था रखने का संदेश दिया है, वह बड़े-बड़े तत्ववादियों द्वारा नहीं दिया जा सका।

इन लोक-गीतों ने नाथ-संप्रदाय के प्रभाव को जनता के हृदयों में दूर तक पहुँचा दिया और योग की कठिन साधनाएँ भी जीवन के लिए अत्यंत हितकर रूप में उपस्थित हो सकीं।

गोरखनाथ के शिष्यों ने बहुत सी रचनाएँ की है, पर वे किसी शिष्य विशेष के नाम से सम्बद्ध नहीं है, जिस प्रकार कबीर के शिष्य धर्मदास की रचनाएँ हैं। कहा जाता है कि गोरखनाथ के किसी शिष्य ने 'काफिर बोध' और 'अवलि सलूक' नाम की रचनाएँ 'किसी बादशाह' का ध्यान आकृष्ट करने के लिए की थी। उस समय जब मुसलमानों का धार्मिक अत्याचार बढ़ रहा था, गोरखनाथ के शिष्यों ने उसका विरोध अपनी रचनाओं द्वारा किया था। उन्होंने इस बात की घोषणा की थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रभु के सेवक हैं और योगी उन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखते।[१]

अतः जहाँ गोरखनाथ के शिष्य एक ओर योग के द्वारा धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे, वहां दूसरी ओर वे तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर कुछ छन्द भी लिख दिया करते थे। उन्होंने ऐसी रचना कितनी की है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। गोरखनाथ और उनके शिष्यों के ग्रन्थों की पूरी खोज होने पर ही उनकी शैली पर विश्वस्त रूप से प्रकाश डाला जा सकेगा।

२—शृंगारी और मनोरंजक साहित्य

सिद्ध और जैन कवियों ने यद्यपि धार्मिक जीवन की व्यवस्था की ओर पूर्ण बल से जनता का ध्यान आकर्षित किया था तथापि उन्होंने अपने लक्ष्य की ओर चलते हुए संसार की पूर्ण उपेक्षा नहीं की थी। उन्होंने आध्यात्मिक जीवन के निर्माण में लौकिक जीवन के विकारों की ओर सकेत अवश्य किया था और यह संकेत अपने समस्त पार्थिव आकर्षणों के साथ था। किसी भी रोग का निदान उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके लक्षणों की पूर्ण व्याख्या न कर दी जाये। इसी प्रकार संसार की माया का तिरस्कार उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि माया के समस्त आकर्षणों और प्रलोभनों की व्याख्या करते हुए उनके पाश

१ हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे हम जोगी न रखें किस ही के छन्दे।।
—काफिर बोध, ६

दि निर्गुन स्कूल ऑव् हिन्दी पोयेट्री—पृष्ठ ६
—डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल

से मुक्त होने का उपाय न बतला दिया जाये। ऐसे प्रसंगों में सिद्ध और जैन कवियों ने क्रमशः रूपकों और कथानकों का आश्रय लेकर माया के आकर्षणों की गृढ़िकना का परिपूर्ण चित्रण किया है। माया के आकर्पणों में नारी प्रमुख है। अतः नारी का रूप-वर्णन, उसकी वेष-भूषा, उसके संयोग और वियोग की अवस्थाएं, उसके हास-विलास में ऋतु-वर्णन आदि विषयों पर संधिकाल के सिद्ध और जैन कवियों ने यथेष्ट लिखा है। यह बात अवश्य है कि उन्होंने इन समस्त आकर्षणों की नश्वरता दिखला कर उनके सौन्दर्य और वैभव को नींव में डाल कर अपने आध्यात्मिक जीवन का प्रसाद खड़ा किया है। उन्होंने 'प्रेय' को साधना में रख कर 'श्रेय' की सिद्धि की ओर संकेत किया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने 'प्रवृत्ति' का परिष्कार कर 'निवृत्ति' का पथ प्रशस्त किया।

इन कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कवियों का भी वर्ग था जिन्होंने संसार के सौन्दर्य वर्णन में एकमात्र लौकिक दृष्टिकोण ही लिया है। उन्होंने संसार के वस्तुवाद का यथातथ्य चित्रण करते हुए जीवन की उपयोगिता और उसकी नैतिक दृष्टि की ओर ध्यान दिया। उन्होंने संयोग और वियोग के बड़े हृदयाकर्षक चित्र खींचे। ऐसे चित्रों में प्रकृति-वर्णन और उसके अनुरूप संयोग या वियोग की बड़ी सुदर मनोवैज्ञानिक झांकियां हैं। कभी-कभी केवल मनोरंजनार्थ कौतूहलजनक शब्द-चमत्कार भी प्रस्तुत किए गए हैं। ऐसे कवियों में तीन प्रमुख हैं—अब्दुर्रहमान, बब्बर और अमीर खुसरो। संभव है, इन कवियों के अतिरिक्त और भी कवि हुए हों, किन्तु सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आंदोलनों ने उन्हें विस्मृति के गर्त में डाल दिया है। इन तीनों कवियों का विस्तारपूर्वक विवेचन करना उचित है।

अब्दुर्रहमान

अब्दुर्रहमान जुलाहा-वंश में उत्पन्न एक यशस्वी मुसलमान कवि थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १०६७ है। ये मुल्तान निवासी थे। इनकी कविता पर भारतीय आदर्शो का बड़ा प्रभाव है। यद्यपि ये मुसलमान थे तथापि इनकी कविता में हिन्दू संस्कारों की आत्मा निवास कर रही है। इनका संनेह-रासय (सदेश रासक) ग्रंथ प्रसिद्ध है। इसमें एक वियोगिनी का सदेश विविध ऋतुओं के उद्दीपन से बड़े स्वाभाविक क्रिया-कलापों में वर्णित है। अब्दुर्रहमान की कविता में प्रौढ़ता तथा सजीवता है। इनकी शैली विशेष मँजी हुई है। कविता को देखने से ज्ञात होता है कि इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की होगी, जो अब प्राप्त नहीं है। उनकी रचना का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

कहवि इय गाह पंथिय! मनाएवि पिउ। दोहा पंच कहिज्जसु, गुरु विणएण सँउ॥
पिअ बिरहानल संतविउ, जइ वच्चइ सुरलोइ। तुअ छड्डिवि हिय अट्ठियह तं परवाडिण होइ॥

कंत जु तइ हिअयट्ठियह, विरह विडंवइ काउ। सप्पुरिसइ मरणाअहिउ परपरिहव-संताउ ॥
गरुअउ परिहवु किन सहउ, पइ पीरिस निलएण। जिहि अंगिहि तू विलसियउ ते दद्धा विरहेण॥
विरह परग्गिह छावडह, पहराविउ निरबक्खि। तट्टी ते गुण हुउ हियउ, तुअ संमाणिय पिक्खि ॥
महण समत्थिम विरह सउ त अच्छहु विलवंति। पालीरूअ पमाण पर धण सामिहि झुम्मंति ॥
संदेसड़उ सवित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ। जो कणंगुलि मूंदडउ सो बाहडी समाइ ॥
लहसिउ अंसु उद्धसिउ, अंगु विलुलिय अलय, हुय उब्बिर वयण खलिय बिबरीय गय।
कुंकुम कणय सरिच्छ कंति कसिणा बरिया, हुइय मुंध तुय विरहि णिसायर णिसियरिया ॥[1]

बब्बर का आविर्भाव काल सं० ११०७ माना गया है। ये राजा कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इनका निवास-स्थान त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर, मध्यप्रान्त) था। इनकी रचना-शैली भी प्रौढ़ है।

बब्बर

इनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ देखने में नहीं आता, स्फुट रचनाएं ही प्राप्त होती हैं। इन्होंने नारी का जो सौन्दर्य वर्णन किया है, उसका नमूना देखिए :

रे धणि! मत्त मअंगज गामिणि, खंजण लोअणि चंदमुही।
चंचल जोब्बण जात ण जाणहि, छइल समप्पहि काइ णही ॥
सुंदर गुज्जरि णारि, लोअण दीह विसारि। पीण पओहर भार लोलिअ मोत्तिअ हारि ॥
हरिण सरिस्सा णअणा, कमल सरिस्सा वअणा। जुवअण चित्ता हरिणी, पिय सहि दिट्ठा तरुणी ॥
चल कमल णअणिआ, खलिअ थल वसणिआ। हसइ पर णिअलिआ, असइ धुअ बहुलिया ॥
महामत्त कामंग पाए ठवीआ। महा तिक्ख बाणा कडक्खे धरीआ ॥
भुआ पास भौंरा धणुहा समाणा। अहो णाअरी काम राअस्स सेणा ॥

संधि काल की संध्या में अमीर खुसरो ने साहित्य को विविध रंगों से रंजित किया। जब कि लौकिक साहित्य के आदर्श निश्चित नहीं थे और रचनाएं धर्म या राजनीति के संकेतों पर नाचती थीं, उस समय विनोद और मनोरंजन की प्रवृत्तियों को जन्म देना

अमीर खुसरो

साधारण काम नहीं था। यही अमीर खुसरो की विशेषता थी। साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति अपभ्रंश मिश्रित काव्य की रचनाओं तक ही सीमित थी। पूर्व में उससे भी गम्भीर धर्म की भावना गोरखनाथ के शिष्यों द्वारा प्रचारित हो रही थी, उस समय अमीर खुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्म-शासन की सुदृढ़ और कठोर शृंखला से मुक्त कर आनन्द और विनोद के स्वच्छन्द वायुमंडल में विहार करने की स्वतंत्रता देना। यही अमीर खुसरो की मौलिकता थी।

साहित्य जिस पथ पर चल रहा था, उस पथ का अनुसरण खुसरो ने नहीं किया, यद्यपि उन्होंने अपने समय के इतिहास की रक्षा अपनी रचनाओं में अवश्य

१ हिंदी काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन (किताब महल, इलाहाबाद) पृष्ठ २६८—८

की। अपनी 'किरानुस्सादैन' नामक मसनवी में उन्होंने चंगेज खाँ के नेतृत्व में मंगोलों के आक्रमण का वर्णन किया है। यह वर्णन अतिरंजित अवश्य है, क्योंकि खुसरो मंगोलों के द्वारा कैद कर लिये गए थे और बहुत सताए गए थे।[1]

काव्य की दो भाषाएँ अभी तक मान्य थी। एक तो राजस्थानी जिसमें डिंगल काव्य की रचना हो रही थी और दूसरी अपभ्रंश से निकली हुई हिन्दी जिसमें सिद्ध और जैन कवियों की रचनाएँ थीं। ये दोनों साहित्यिक भाषाएँ हो गई थीं। अमीर खुसरो जन-साधारण की भाषा खड़ीबोली को साहित्यिक रूप देने में सबसे पहले सफल हुए। इस सम्बन्ध में इतिहास के सामने उनकी रचना यथेष्ट मात्रा में है।

अमीर खुसरो का वास्तविक नाम अबुलहसन था। इनकी काव्य-प्रतिभा की चकाचौंध में अबुलहसन बिलकुल ही विस्मृत होकर रह गया। 'अमीर खुसरो' नाम ही सब जगह प्रसिद्ध हो गया। उनका जन्म एटा जिला के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। बालपन ही में ये निजामुद्दीन औलिया के शिष्य हो गए थे। ये बलबन के दरबार में उसके पुत्र मुहम्मद के काव्य-विनोद के लिए नौकर रख लिए गए। धीरे-धीरे बढ़कर ये दरबार के राजकवि हो गए। इन्होंनें अपने जीवन-काल में राजनीतिक हलचलों का जितना अधिक अनुभव किया था, उतना हिन्दी के किसी भी कवि ने नहीं किया। गुलाम वंश के पतन से लेकर इन्होंने तुगलक वंश का आरम्भ तक देखा था। खिल्जी वंश का शासन-काल तो इनके जीवन-काल का मध्य युग था। इस प्रकार इन्होंने दिल्ली के सिंहासन पर ग्यारह बादशाहों का आरोहण देखा था। दरबारी होने के कारण इनकी कविता मुसलमानी आदर्शों के आश्रय में पोषित हुई। यही कारण है कि वह बड़ी रसीली और मनोरंजक है। फारसी के अप्रतिम विद्वान् होते हुए भी इन्होंने हिन्दी की उपेक्षा नहीं की—उस हिन्दी की, जो दिल्ली के आसपास बोली जाती थी। अनायास ही इन्होंनें खड़ी बोली हिन्दी को प्रथम बार कविता में स्थान दिया। यही कारण है कि ये खड़ी बोली के आदि कवि क जाते हैं। इस प्रकार ये युग-परिवर्तनकारी हुए। जब निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई तो ये बड़े दुःखित हुए। उसी शोक में संवत् १३८२ में इनकी मृत्यु हो गई।

खुसरो ने हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया। जहाँ इन्होंने फारसी में अनेक मसनवियाँ लिखीं,[2] वहाँ हिन्दी को भी नहीं भुलाया। इन्होंने खड़ी बोली

---

१ मिडीवल इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद), पृष्ठ १७१

२ मसनवी किरानुस्सादैन, मसनवी मतलउल अनवार, मसनवी शीरीं व खुसरो, मसनवी लैला व मजनूँ, मसनवी आईने इस्कन्दरी, मसनवी हश्त खिजनामह, मसनवी बिहिश्त, मसनवी नूह सिपहर, मसनवी तुगलक नामा आदि।
दि हिस्ट्री ऑव् इंडिया (हैनरी इलियट) भाग ३, पृष्ठ ५५६

हिन्दी में कविता कर मुसलमानी शासकों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित किया और खालिकबारी की रचना कर हिन्दी, फारसी और अरबी को परस्पर समझने का मौका दिया। उसमें हिन्दी, अरबी और फारसी के समानार्थवाची शब्दों का समूह है, जिससे इन तीनों भाषाओं का ज्ञान सरल और मनोरंजक हो गया है।

अभी तक साहित्य किसी नरेश के यशोगान में अथवा जीवन के महत्त्वपूर्ण गंभीर स्वरूप के वर्णन ही मे अपनी सार्थकता समझता था, पर खुसरो ने साहित्य में ऐसे भावों की सृष्टि की जिनसे साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल गया। साहित्य जीवन की मनोरंजक वस्तु हो गया। ऐसा हिन्दी साहित्य में पहली बार हुआ।

खुसरो ने हिन्दी को किसी प्रकार भी अरबी या फारसी से हीन और तुच्छ नहीं माना। वे अपनी 'आशिका' नामक रचना में हिन्दी की प्रशंसा जी खोल कर करते हैं:—

"किन्तु मेरी यह भूल थी, क्योंकि यदि आप इस विषय पर अच्छी तरह से विचार करें तो आप हिन्दी भाषा को फारसी से किसी प्रकार भी हीन न पावेंगे। वह भाषाओं की स्वामिनी अरबी से कुछ हीन अवश्य है, पर राय और रूम (परशिया के शहर) में जो भाषा प्रचलित है, वह हिन्दी से हीन है। यह मैंने बहुत विचारपूर्वक निर्धारित किया है।

"हिन्दी अरबी के समान है, क्योंकि इन दोनों में से कोई भी मिश्रित नहीं है। यदि अरबी में व्याकरण और शब्द-विन्यास है तो हिन्दी में भी वह एक अक्षर कम नहीं है। यदि आप पूछें कि उसमे काव्य-शास्त्र है तो हिन्दी किसी प्रकार भी इस क्षेत्र में हीन नहीं है। जो व्यक्ति तीनों भाषाओं का ज्ञाता है, वह समझ लेगा कि मैं न तो भूल कर रहा हूँ और न अतिशयोक्ति ही।"[१]

खुसरो की भाषा के सम्बन्ध में डाक्टर सैयद महीउद्दीन कादरी का कथन इस प्रकार है:—

"यह वह जमाना है कि हिन्दोस्तान के हर हिस्से में अजीमुश्शान लिसनी इन्किलाबात हो रहे थे और नई जबानें आलमेंवुजूद में आ रही थी। चुनांचे खुसरो ने भी इन तब्दीलियों की तरफ इशारा किया है और पंजाब में और देहली के अतराफ व अक्नाफ जो बोलियां इस वक्त मुरव्वज थी उनके मुख्तलिफ नाम गिनाए हैं।...इनकी जबान ब्रजभाषा से मिलती-जुलती है। यह यकीन के साथ नहीं कहा

१ दि हिस्ट्री ऑव् इंडिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियन्स, दि मुहमडन पीरियड, भाग ३, परिशिष्ट पृष्ठ ५५६ (हैनरी इलियट)

जा सकता कि जिस जबान में वह शअरगोई करता था वह वही थी जो आम तौर पर हिन्दू मुसलमान बोलते थे ।"[1]

डाक्टर साहब अपने वक्तव्य में भूल कर गए हैं। खुसरो की जबान ब्रजभाषा नहीं थी। ब्रजभाषा के शब्दों का आ जाना ही ब्रजभाषा नहीं है। जब तक किसी भाषा के क्रियापद और कारक-चिह्नादि व्याकरण की दृष्टि से प्रयुक्त न हों तब तक उस भाषा का प्रयोग पूर्ण रूप से नहीं माना जा सकेगा। यही बात खुसरो की कविता में है। शब्द चाहे ब्रजभाषा के भले ही हों पर क्रिया और कारक-चिह्न आदि खड़ीबोली के हैं। ऐसी स्थिति में खुसरो की भाषा को ब्रजभाषा न मान कर खड़ीबोली मानना अधिक समीचीन होगा।

डाक्टर कादरी तो खुसरो को खालिकबारी का कर्त्ता मानने में भी सन्देह करते हैं। वे कहते हैं :—

"आम तौर पर अमीर खुसरो को खालिकबारी का जो हिन्दुस्तानी और इस्लामी जबानों की एक मन्जूम फरहंग है, मुसन्निफ समझा जाता है। मगर हाल ही में खास तौर पर महमूद शेरानी की तहकीक और तफतीश से यह साबित हो चुका है कि यह बहुत बाद के जमाने की किताब है।"[2]

जब तक कि महमूद शेरानी की तहकीक पर पूर्ण विचार न हो जाये तब तक इस सम्बन्ध में कुछ कहना बहुत ही कठिन है।

डा० ईश्वरीप्रसाद खुसरो के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"खुसरो केवल कवि ही नहीं था, वह योद्धा भी था और साथ ही क्रियाशील मनुष्य भी। उसने अनेक चढ़ाइयों में भाग भी लिया था, जिनका वर्णन उसने अपने ग्रन्थों में किया है। उसके ग्रन्थों की विस्तृत समालोचना करना यहां असम्भव है, क्योंकि उसके लिए तो एक ग्रन्थ अलग ही चाहिए। इतना कहना पर्याप्त होगा कि वह एक प्रतिभावान कवि और गायक था, जिसकी कल्पना की उड़ान भाषा के साधन से विषयों की विविध रूपावली लिए हुए है। जिस चकित कर देने वाली सरलता और सौन्दर्य से वह मानवी उद्वेगों और रागात्मक प्रवृत्तियों का वर्णन करता है तथा प्रेम और युद्ध की चित्रावली प्रस्तुत करता है, वह उसे सर्वकालीन महाकवियों की पंक्ति में बिठलाने में समर्थ है। वह गद्य-लेखक भी था और यद्यपि

१ उर्दू शहपारे (जिल्द अव्वल) पृष्ठ १०
मक्तबए इब्राहीमिया, हैदराबाद, दखन
डाक्टर सैयद महीउद्दीन कादरी एम० ए०, पी-एच० डी०

२ उर्दू शहपारे, जिल्द अव्वल, पृष्ठ १०

हम उसकी शैली में मार्दव नहीं पाते, क्योंकि उसके 'खजायन-उलफतूह' में अर्थ कल्पनातीत हो गया है, तथापि वह गद्य-काव्य का आचार्य कहा जा सकता है। कवि होने के अतिरिक्त खुसरो गायनाचार्य भी था। वह संगीत-शास्त्र का ज्ञाता था, जैसा कि १४ वीं शताब्दी के गायक गोपालनायक के साथ उसके वाद-विवाद से ज्ञात होता है।"[१]

डा० ईश्वरीप्रसाद आदि विद्वानों ने खुसरो की प्रशंसा अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों में की है। उन्होंने उसे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में बिठला दिया है। उसने जीवन का जो चित्रण किया है, उसके लिए उसे महाकवि या कवियों में राजकुमार (The Prince among Poets) कहा है। खुसरो की जो कविता हमें प्राप्त है, उसमें तो जीवन की विवेचना नहीं के बराबर है। सम्भव है, उसने फारसी में जो रचनाएँ की हैं, उनमें जीवन की महान् समस्याओं पर प्रकाश डाला हो, अथवा हिन्दी में ही कुछ रचनाएं इस प्रकार की हों, जो अब अप्राप्य हैं। पर जितनी कविता खुसरो की आज तक प्राप्त हो सकी है, उसमें तो जीवन के किसी गम्भीर तत्व का निरूपण नहीं है, उसमें जीवन की विवेचना भी नहीं है। उसमें न तो हृदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई सन्देश ही। वह केवल मनोरंजन की सामग्री है। जीवन की गम्भीरता से ऊब कर कोई भी व्यक्ति उससे विनोद पा सकता है। पहेलियों, मुकुरियों और दोसखुनों के द्वारा उन्होंने कौतूहल और विनोद की सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो उस विनोद में अश्लीलता भी आ गई है। उन्होंने दरबारी वातावरण में रह कर चलती हुई बोली से हास्य की सृष्टि करते हुए हमारे हृदय को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। खुसरो की कविता का उद्देश्य यहीं समाप्त हो जाता है।

खुसरो ने जो सबसे बड़ा काम किया है, वह यह कि उन्होंने तत्कालीन काव्य आदर्शों में बंध कर जन-साधारण की बोली में हिन्दी रचना की। इससे हम तत्कालीन बोलचाल की भाषा का स्वरूप जान सकते हैं। काव्य-आदर्शों के कारण भाषा कहीं-कहीं कृत्रिम हो जाया करती है। भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए उसे अलंकारों से सम्बद्ध करना एक प्रयास हो जाता है; उसकी शब्दावली सुसंस्कृत और तत्सम हो जाती है, पर जन-साधारण की भाषा में स्वाभाविकता और प्रवाह पर किसी प्रकार का आघात नहीं होता। वह हृदय की वस्तु होती है और उसमें सजीवता रहती है। यही विशेष गुण खुसरो की हिन्दी कविता में है। दिल्ली की खड़ी बोली हिन्दी कितनी सरस, स्वाभाविक और मनमोहक रूप में लिखी जा सकती है, यह खुसरो की कविता से भली प्रकार ज्ञात हो सकता है। काव्य के आदर्श की भाषा न लेकर जन-समाज की भाषा ग्रहण करने में ही खुसरो की विशेषता है।

१ मिडीवल इंडिया (डा० ईश्वरीप्रसाद), पृष्ठ ६१६

खुसरो ने दूसरा काम यह किया कि उन्होंने साहित्य की तत्कालीन अव्यवस्थित परिस्थितियों में फारसी के समान-सिंहासन पर हिन्दी को आसीन किया। खालिकबारी कोष लिख कर उन्होंने अरबी, फारसी और हिन्दी की त्रिवेणी को जन्म दिया। इन तीनों के पर्यायों से उन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं की भाषा और संस्कृति जोड़ने का प्रयत्न किया। यदि यथार्थ में पूछा जाये तो उर्दू का जन्म खुसरो की कविता में ही हुआ। उसमें अरबी और फारसी शब्द हिन्दी कविता में सादर बिठलाये गए हैं। यद्यपि खुसरो ने हिन्दी को अरबी के समान विशुद्ध और अमिश्रित भाषा ही माना है, तथापि उन्होंने अपनी नवीन हिन्दी शैली में उसे अरबी, फारसी से मिश्रित अवश्य कर दिया है। यही से उर्दू का प्रारम्भ होता है। आँख की पहेली में खूसरो की भाषा वर्त्तमान उर्दू से कितना साम्य रखती है :—

ऐनमैन है सीप की सूरत, आँखों देखी कहती है।
अन खावे ना पानी पीवे, देखे से वह जीती है॥
दौड़-दौड़ जमी पर दौड़े, आसमान पर उड़ती है।
एक तमाशा हमने देखा, हाथ पाँव नहिं रखती है॥[1]

भाषा का इतना चलता रूप होना खुसरो की कविता के लिए घातक भी हुआ। बहुत सी पहेलियाँ और मुकरियां प्रक्षिप्त रूप से खुसरो की कविता में आ गईं और वे सब इस प्रकार मिल गईं कि उनको अलग करना बहुत कठिन हो गया। जहां भाषा की सरलता और उसके व्यावहारिक रूप नें खुसरो की कविता को आज तक सजीव और सरल रखा, वहां उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी सन्देह को स्थान मिला।

खुसरो की कविता निम्नलिखित धाराओं में प्रवाहित हुई है :—

१. गजल

ऊपर कहा ही जा चुका है कि खुसरो की कविता में गम्भीरता के लिए कोई स्थान नहीं। उन्होंने उसे विनोद और हास्य की प्रवृत्तियों से भर रखा है। यदि गम्भीर रचनाएँ उन्होंने की भी हों, जो जीवन की परिस्थितियों का उद्घाटन करती हैं, तो वे हमें अप्राप्य है। विरह वर्णन की एक गजल अवश्य प्राप्त है, जिसमें स्त्री के व्याकुल हृदय का चित्र है। पर उस गजल की एक पंक्ति में फारसी और दूसरी पंक्ति में ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली रखी हुई है; जिससे उस गजल में विनोद की मात्रा आ ही जाती है। वह गजल इस प्रकार है :—

जै हाल मिस्कीं मकुन तगाफ़ुल दुराय नैना बनाए बतियाँ।
कि ताबे हिजराँ न दारम ए जां न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग २, सम्वत् १९७८), पृष्ठ २८३

शबाने हिजराँ दराज चूं जुल्फ व रोजे वसलत चु उम्र कोताह ।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ॥
यकायक अज दिल दो चश्मे जादू वसद फरेब म बेबुर्द तसकीं ।
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी को हमारी बतियाँ ॥
चु शमअ सोजाँ चु जर्र: हैराँ हमेश: गिरियाँ बइश्क आँ मेह ।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आए न भेजी पतियाँ ॥
बहक्क रोजे विसाल दिलवर कि दाद मा रा फरेब खुसरो ।
स पीत मन की दुराए राखूँ जो जान पाऊँ पिया की गतियाँ ॥[१]

२. इतिहास

खुसरो ने इतिहास भी लिखा है, पर वह सब फारसी भाषा में है। उन्होंने मसनवियों में वर्णनात्मक ढंग से तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं पर प्रकाश डाला है। हिन्दी में इस प्रकार की कोई भी रचना प्राप्त नहीं है।

३. कोष

खुसरो ने फारसी, अरबी और हिन्दी का एक कोष लिखा है, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है। उस विशाल कोष का केवल संक्षिप्त रूप ही मिलता है, जो 'खालिकबारी' नाम से प्रसिद्ध है। डाक्टर कादिरी इसे खुसरो का लिखा हुआ नहीं मानते। उनके अनुसार 'खालिकबारी' खुसरो के बहुत बाद की रचना है।

४. संगीत

खुसरो संगीतज्ञ थे, अत: इन्होंने संगीत पर भी कुछ लिखा है। कहा जाता है कि बरवा राग में लय रखने की रीति इन्होंने ही प्रारम्भ की। कव्वाली में इन्होंने अनेक नये राग निकाले जिनका प्रचार अभी तक है। इनके बसन्त के पद बहुत ही लोकप्रिय हैं।

५. पहेलियाँ

पहेलियों के लिए तो खुसरो प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार की पहेली और मुकरी कहने वाला हिन्दी साहित्य में एक भी नहीं है, इस क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। इन पहेलियों में जहां कौतूहल है, वहां रसिकता और विनोद की मात्रा भी पूरी है। ये पहेलियां छः प्रकार की हैं :—

(अ) अन्तर्लापिका (जिसका उत्तर पहेली में ही छिपा हुआ है) उदाहरणार्थ:—
श्याम वरन और दाँत अनेक। लचकत जैसे नारी। दोनों हाथ से खुसरो खींचे और कहे तू आ री॥
(आरी)

(आ) बहिर्लापिका (जिसका उत्तर पहेली में न होकर बाहर से सोचकर बतलाया जाता है) जैसे :—

---

१ आबेहयात—(मुहम्मद हुसेन आजाद) नवाँ संस्करण, १९१७, इस्लामिया स्टीम प्रेस, लाहौर

श्याम बरन की है एक नारी, माथे ऊपर लागे प्यारी।
जो मानुस इस अरथ को खोले, कुत्ते की वह बोली बोले।

(भौं)

(इ) मुकरी (जिसमें एक प्रश्नोत्तर रहता है। 'ऐ सखी साजन ?' के रूप में प्रश्न किया जाता है और उसका उत्तर निषेध कर (मुकर कर) दिया जाता है। इसीसे इसका नाम 'मुकरी' पड़ा। अलंकारशास्त्र में उसे अपह्नुति कहते हैं।) जैसे :—

मेरा मोसे सिंगार करावत, आगे बैठ के मान बढ़ावत।
वासे चिक्कन ना कोउ दीसा, ऐ सखी साजन ? ना सखि सीसा॥

(ई) दो सखुना (जिसमें दो या तीनों प्रश्नों का एक ही उत्तर हो) जैसे:—

रोटी क्यों सूखी ? बस्ती क्यों उजड़ी ?
—खाई न थी।
सितार क्यों न बजा ? औरत क्यों न नहाइ ?
—परदा न था।

(उ) बराबरी या सम्बन्ध (जिसमें दो अर्थों के शब्दों को कौतहल के साथ घटित किया जाय) जैसे :—

१. घोड़े और बजाज में क्या सम्बन्ध है ? उत्तर—थान, जीन।
२. आदमी और गेहूँ ,, ,, बाल।
३. गहने और दरख्त में ,, ,, पत्ता।

(ऊ) ढकोसला (जिसमें बेमतलब शब्दावली हो) जैसे :—

पीपल पकी पपोलियाँ, झड़ झड़ पड़े हैं बैर। सर में लगा खटाक से, वाह वे तेरी मिठास॥
ला पानी पिला

चारणकालीन रक्तरंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धत स्वरों में गूँज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गम्भीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्म-शासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण कविता हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के लिए सदैव स्मरणीय रहेगा।

३—प्रेम-कथा साहित्य

मुल्ला दाऊद

ख़ुसरो का नाम जब समस्त उत्तरी भारत में एक महान् कवि के रूप में फैल रहा था, उसी समय मुल्ला दाऊद का नाम भी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आता है। मुल्ला दाऊद की एक प्रेम-कहानी प्रसिद्ध है, उसका नाम है 'चंदाबन' या 'चंदावत'।

यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्य है[1] और इसके सम्बन्ध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से ज्ञात नहीं है। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह कथा मुसलमान लेखक के द्वारा लिखी जाने के कारण मसनवी के आधार पर लिखी गई होगी। अमीर खुसरो ने स्वयं कई मसनवियाँ लिखी हैं और वे उस समय के साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। बहुत सम्भव है, मुल्ला दाऊद ने भी उन्हीं मसनवियों की शैली में अपनी प्रेमकथा लिखी हो। इस प्रेमकथा का महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि इसी प्रेम-परम्परा को लेकर प्रेम-साहित्य के कवि कुतुबन, मंझन, जायसी आदि ने अपनी प्रेम-कथाएँ लिखीं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रेम-कहानी में कोई आध्यात्मिक व्यंजना है या नहीं, अथवा सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है या नहीं, जैसा कि परवर्ती प्रेम-काव्य के कवियों ने किया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'नंदाबन' की भाषा का क्या स्वरूप है। यदि इस प्रेम-कथा की कोई प्रामाणिक प्रति मिल सकी तो वह प्रेम-काव्य की परम्परा पर यथेष्ट प्रकाश डालने में सहायक हो सकेगी।

मुल्ला दाऊद अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन था। अलाउद्दीन खिलजी सन् १२९६ में राजसिंहासन पर बैठा।[2] उसकी मृत्यु २ जनवरी सन् १३१६ में हुई।[3] अतः अलाउद्दीन खिलजी का राजत्वकाल सन् १२९६ से सन् १३१६ सं० १३५३ से सं० १३७३ तक मानना चाहिए। इसके अनुसार मुल्ला दाऊद का कविता-काल संवत् १३७५ के आसपास ही है। श्री मिश्रबन्धु मुल्ला दाऊद का कविताकाल सं० १३८५ मानते हैं और डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सं० १४९७ (सन् १४४०)। श्री मिश्रबन्धु द्वारा दिया हुआ सम्वत् तो किसी प्रकार माना भी जा सकता है, पर डा० बड़थ्वाल द्वारा दिया हुआ संवत् तो अलाउद्दीन के बहुत बाद का है। वे मुल्ला दाऊद का आविर्भावकाल सन् १४४० मानते हुए उसे अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन मानते हैं।[4] अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु तो सन् १३१६ में ही हो गई थी। फिर यदि मुल्ला दाऊद सन् १४४० में हुआ तो वह अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन कैसे हो सकता है? अतः डा० बड़थ्वाल का दिया हुआ मुल्ला दाऊद का समय अशुद्ध है।

अस्तु, संधिकाल के उत्तरकाल में डिंगल साहित्य के अस्पष्ट प्रवाह के साथ पाँच महान् कवि हुए। गोरखनाथ, अब्दुर्रहमान, बब्बर, अमीर खुसरो और

१ इसकी एक प्रति बीकानेर में प्राप्त हुई, किंतु इस प्रति की प्रामाणिकता में अभी डा० धीरेन्द्र वर्मा को सन्देह है।

२ मिडीवल इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद), पृष्ठ २१९

३ ,, ,, ,, पृष्ठ २७८

४ दि निर्गुण स्कूल आव् हिन्दी पोयेट्री (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल), पृष्ठ १०

मुल्ला दाऊद। इन सभों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की रचनाएँ कीं। गोरखनाथ ने हठ-योग साहित्य सम्बन्धी, अब्दुर्रहमान और बब्बर ने शृङ्गार संबंधी, अमीर खुसरो ने मनोरंजक साहित्य संबंधी और मुल्ला दाऊद ने प्रेम-कथा साहित्य संबंधी। इस प्रकार संधिकाल के उत्तर युग की प्रवृत्तियाँ परस्पर किसी प्रकार साम्य नहीं रखतीं। इतना अवश्य ही मान लिया जा सकता है कि प्रेम-कथा साहित्य संबंधी रचनाओं का सूत्रपात शृंगार साहित्य संबंधी मनोवृत्ति से हुआ। प्रेम-कथा साहित्य में जो लौकिक दृष्टिकोण वर्त्तमान है, वही शृंगार सम्बन्धी साहित्य में भी है। दोनों का उद्भव एक ही मनोविज्ञान से होता है। अंतर केवल इतना ही है कि शृंगार संबंधी साहित्य मुक्तक या अधिक से अधिक वर्णनात्मक है और प्रेम-कथा साहित्य घटनात्मक और इतिवृत्तात्मक है। इन समस्त साहित्यिक प्रयोगों में सब से बड़ी बात यह है कि प्रत्येक शैली का अपना व्यक्तित्व या वर्ग है और इससे संधिकालीन साहित्य इन्द्रधनुष की भांति विविध रंगों की रेखाओं में समानान्तर होते हुए भी अलग अलग है। उसकी विविधता में ही सौन्दर्य है।

संधिकाल के साहित्य का सिंहावलोकन

संधिकाल हमारे साहित्य के इतिहास में ऐसा पुण्य पर्व समझा जाना चाहिए जिसमें शताब्दियों की धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ हमारी भाषा में अवतरित हुईं और उनके द्वारा जैन मत के विकास का पूर्ण इतिहास हमें प्राप्त हुआ। संसारव्यापी धर्मों का अपने समस्त चिन्तन और अनुशीलन पक्ष से जन-भाषा में रूपान्तरित होना हमारे साहित्य के लिए गौरव का विषय है। यह बात दूसरी है कि हमारी भाषा इतनी समृद्धिशालिनी न रही हो जिसमें इतने उदात्त विचारों की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक हो सके। उस समय भाषा विकास के पथ पर अग्रसर हो रही थी। उसमें नवीन जीवन के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे थे। वह अपने पुराने पल्लवों को छोड़ कर नूतन किसलयों से सुसज्जित होती हुई वसंत-श्री की शोभा धारण करने जा रही थी। यद्यपि उस समय की हमारी जन-भाषा संस्कृत या पाली की उत्कृष्टतम साहित्यिक गरिमाओं से संपन्न नहीं थी, तथापि यही क्या कम है कि वह अपने निर्माण-पथ पर शैशव की विकासोन्मुखी अनन्त शक्तियों से समन्वित थी। फिर एक बात और है—संधिकालीन साहित्य से हमें अपनी भाषा की शोभा-श्री की वैभवमयी गाथा भले ही प्राप्त न हो? हमें भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अपनी भाषा के इतिहास की क्रमबद्ध रूप रेखा तो प्राप्त होती ही है। इस प्रकार संधिकालीन साहित्य हमारे साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

वर्ण्य विषय

इस साहित्य का वर्ण्य विषय प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक है। इसके अतिरिक्त राजनीति के आश्रय से उसमें लौकिक विषयों पर भी रचनाएँ हुईं। शृंगार का उदय हुआ और जीवन के आमोद-प्रमोद के साथ मनोरंजन का सूत्रपात भी हुआ। इस भांति संधि युग के साहित्य का स्पष्टीकरण निम्नलिखित रेखा-चित्र से ज्ञात हो सकता है :—
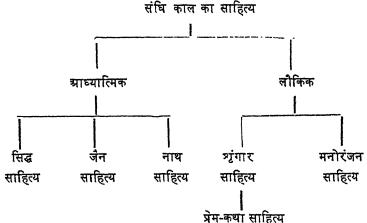
जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस काल का साहित्य प्रमुखतः धार्मिक और दार्शनिक था। यह साहित्य प्रतिक्रियात्मक रूप से धार्मिक रूढ़ियों के विद्रोह में खड़ा हुआ। सिद्ध साहित्य वज्रयान के क्रोड़ में पोषित होकर भी उससे अनुशासित नहीं हुआ, वह सहजयान का मार्ग लेकर स्वतंत्र सा हो गया। जैन साहित्य अत्यंत प्राचीन होते हुए भी—बौद्ध धर्म के समानान्तर चल कर—श्रावकाचार के रूप में नैतिक मापदण्डों के निर्माण में—शक्ति संपन्न हुआ। नाथ साहित्य शैव धर्म से स्फूर्ति पाकर सिद्ध-साहित्य के संशोधन में और भी कृतकार्य हुआ। इस प्रकार इन सभी धर्मों में एक ऐसा वेग था जो अपने चारों ओर के वातावरण को परिष्कृत करने में पूर्ण सक्षम था। इन सभी धार्मिक आंदोलनों में एक बात समान रूप से वर्तमान रही और वह यह कि इनमें अन्धविश्वासों और रूढ़ियों के लिए कोई स्थान नहीं था। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक उपयोग करने तथा उन्हें स्वाभाविक क्षेत्रों में ले जाने का आदर्श सभी में मौजूद था। इस भावना के होते हुए भी इन तीनों के जीवनगत दृष्टिकोण में अन्तर था। सिद्ध-संप्रदाय प्रवृत्तिमार्गी था; जैन संप्रदाय प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से पूर्ण था। और नाथ-सम्प्रदाय संपूर्णतः निवृत्ति मार्गी था। किन्तु जीवन के लौकिक पक्ष से साधना में बल प्राप्त करने की अंतर्दृष्टि तीनों में ही वर्तमान थी।

इन तीनों साम्प्रदायिक साहित्यों में दार्शनिक पक्ष का महत्त्व भी भिन्न-भिन्न है। जन साहित्य में सबसे अधिक दार्शनिक तत्व हैं, इसके अनन्तर सिद्ध साहित्य में है, फिर नाथ साहित्य में । ऐसा ज्ञात होता है कि युग के विकास के साथ दार्शनिक पक्ष निर्बल होता गया और व्यावहारिक पक्ष, सबलता प्राप्त करता गया। इसका कारण यह मालूम होता है कि बौद्ध और वैदिक धर्म परस्पर के संघर्षों में अपनी विजय के लिए जनमत की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे और जनमत के व्यावहारिक बुद्धि-तत्व से सम्बन्ध स्थापित कर अधिक से अधिक हृदयों में प्रवेश कर जाना चाहते थे। इस लिए बौद्ध और वैदिक धर्मों में अनेक वैकल्पिक सिद्धान्त प्रवेश करने लगे और शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करते हुए भी वे जनता के सामने क्रिया-पक्ष की सरलता लेकर आए। फलस्वरूप उनमें व्यावहारिक पक्ष सबल हो गया। जैन धर्म को इस प्रकार का संघर्ष नहीं करना पड़ा। वह तो अपने उपासना मार्ग में सौम्य और वैराग्य पूर्ण जीवन में उपेक्षा भाव से रहा। इसलिए यद्यपि उसने जीवन के व्यवहार में आने वाले क्रिया-कलापों पर ध्यान अवश्य दिया, श्रावकों और श्रमणों के लिए सिद्धान्त वाक्य निर्धारित किए तथापि उसके सामने आचार्यों द्वारा स्थिर किए गए ऐसे शास्त्रीय आदर्श रहे कि परवर्ती कवियों और सन्तों को पूर्व निश्चित साधनाओं से हटने का साहस ही नहीं हुआ।

इन धार्मिक सिद्धान्तों के साथ लौकिक जीवन के स्पष्टीकरण की प्रवृत्ति भी रही। जहां धार्मिक सिद्धान्तों के विवेचन में लौकिक पक्ष रहा वहां वह केवल उपदेश का माध्यम ही रहा। लौकिक जीवन के रूपकों के आश्रय से धार्मिक जीवन का स्पष्टीकरण होता रहा, किन्तु जहां लौकिक जीवन स्वतंत्र रूप से रहा, वहां तो कवियों ने अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत करने में बड़ी स्वतंत्रता के साथ काम लिया। या तो प्रेम-कथाओं की सृष्टि की गई जिनमें शृंगर रस की बड़ी मोहक तरंगें उठाई गई या संयोग या वियोग के ऐसे प्रसंग उठाए गए जिनमें लौकिक जीवन सत्य की स्थिरता लेकर भावनाओं में अमर हो गया। जहां ये दोनों बातें नहीं हुईं वहां केवल विनोद या मनोरंजन की सामग्री उपस्थित की गई। पहले प्रकार की रचनाओं में अबदुर्रहमान और बब्बर का दृष्टिकोण है और दूसरे प्रकार की रचनाओं में अमीर खुसरो का। किन्तु ऐसी रचनाएँ धार्मिक भावनाओं के सामने अधिक नहीं उभर सकीं। वे केवल राजदरबारों या किसी आश्रयदाता के प्रोत्साहन से ही लिखी जा सकीं। उनमें जनता के हृदय की ध्वनि नही थी, केवल नरेशों या विलासी वर्ग के व्यक्तियों के विनोद या उच्छृङ्खल जीवन की प्रतिध्वनि मात्र थी। यदि ऐसा न होता तो अमीर खुसरो की बहुत सी पहेलियां और मुकरियां अश्लीलता की सीमा स्पर्श न करतीं।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि संधिकाल में आध्यात्मिक और लौकिक जीवन——दोनों पर ही रचनाएँ लिखी गई और दोनों ही अपने क्षेत्रों में चरम स्थिति को पहुँची हुई हैं।

भाषा

संधि काल की भाषा अपभ्रंश से निकलती हुई आधुनिक भाषाओं के शैशव की स्थिति में है। इस प्रकार की भाषा में तीन बातें स्पष्टतः देखी जा सकती हैं :—

१. नवजात भाषा होने के कारण उसमें प्रयोगों की अनेक रूपता है।

२. उसमें साहित्य के संस्कार नहीं देखे जाते। जब उसमें साहित्य की परिपाटियों का सूत्रपात ही होता है तो वह भावाभिव्यंजन की साधारण शैली ही लिए होती है।

३. उसमें पदावलीगत लालित्य कम रहता है।

४. प्राचीन भाषा की शैलियों का ही उसमें अनुकरण होता है।

संधिकाल की भाषा में ये चारों लक्षण पाये जाते हैं। नवजात होने के कारण वह अपनी परिस्थितियों से शासित है। वह अभी तक बड़े भू-भाग की मान्य भाषा या काव्य भाषा नहीं हो पाई है। सिद्धों की वाणी में वह मगही के रूप लिए हुए है, जैन कवियों की वाणी में उस पर राजस्थानी प्रभाव है, अब्दुर्रहमान की रचना पर पश्चिमी प्रभाव है, बब्बर की रचना बुंदेलखंडी से प्रभावित है और अमीर खुसरो की मुकरियां और पहेलियां दिल्ली की खड़ी बोली से शासित हैं। इन सभी कवियों ने किन्हीं विशिष्ट साहित्यिक संस्कारों से अपनी रचनाएँ नहीं लिखीं। यदि कुछ संस्कार हैं भी तो वे अपभ्रंश या फ़ारसी के हैं। सरल भावाभिव्यंजन और भावों के अनुसार भाषा लिखने के प्रयास उनमें अवश्य देखे जा सकते हैं। संधिकाल में नवीन भाषाओं का अस्तित्व दीख पड़ने लगता है। एक बात पर सहसा ध्यान आकर्षित हो जाता है और वह यह कि यदि अमीर खुसरो के बाद ब्रजभाषा के बजाय खड़ी बोली हिन्दी में नियमित और अविरत रूप से रचनाएँ होती रहतीं तो आज की खड़ी बोली हिन्दी कविता कितनी परिमार्जित हो गई होती, इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। संधि काल की भाषाएँ अपने प्रगति के पथ पर अग्रसर हो गई थीं और उनमें जनभाषा होने के नाते इतनी अधिक गति आ गई थी कि धर्म की कृतियां आगे चल कर नवरसमयी हो सकीं।

रस

इस समय की रचनाओं में शान्त और शृंगार ये दो रस प्रमुख हैं। गौण रूप से हास्यरस भी अमीर खुसरो की पहेलियों या मुकरियों द्वारा ध्यान आकर्षित करता है। धर्म की साधना में शान्त रस का उद्रेक पूर्ण सफलता के साथ हुआ है। लौकिक जीवन से संबंध रखने वाले रूपकों में या प्रेम-कथा की इतिवृत्तात्मकता में शृंगार रस भी यथेष्ट मात्रा

में वर्तमान है। अमीर खुसरो की कुछ रचनाओं में श्रृंगार ही श्रृंगार है और मुल्ला-दाऊद ने तो अपनी प्रेम कहानी ही श्रृंगार का आधार लेकर लिखी है। इसके बाद कौतूहल और विनोद में हास्यरस की सृष्टि हुई है। यदि प्रयास करके देखा जाय तो अद्‌भुत रस के दर्शन भी हो सकते हैं, किन्तु यह रस केवल दो स्थानों पर वर्तमान है। पहला स्थान तो ईश्वरीय विभूति की आश्चर्यजनक सीमाओं के चित्रण में है और दूसरा स्थान गोरखनाथ की 'उल्टबाँसियों' में। किन्तु ऐसे स्थल अपेक्षाकृत कम ही हैं। महत्त्व के दृष्टिकोण से रसों का निम्नलिखित क्रम दीख पड़ता है :—

शान्त, श्रृंगार, हास्य और अद्‌भुत।

रसों की विविधता होते हुए भी यह समझ लेना चाहिए कि कविगण रस की अपेक्षा भावाभिव्यंजन को प्रमुखता देते थे।

छन्द

रस की विवेचना में यह स्पष्ट हो चुका है कि कवियों ने शैली की अपेक्षा भावाभिव्यंजना पर अधिक ध्यान दिया है। इस प्रकार उन्होंने विविध छन्दों के लिखने की मनोवृत्ति का परिचय नहीं दिया। सिद्ध कवियों की रचना अधिकतर दो शैलियों में मिलती है। पहली तो गीत शैली है जिसमें उन्होंने चर्या गीतों की रचना की है। दूसरी शैली 'दोहा' की है। सिद्ध कवियों ने अनेक 'दोहा-कोष' लिखे हैं। 'दोहा' लिखने की शैली को जैन कवियों ने बहुत अपनाया। उन्होंने तो आचार संबंधी ग्रंथ लिखने मे 'दोहा' छंद को ही प्रधानता दी। कुछ स्थलों पर उन्होंने 'चौपाई' छंद भी लिखा है। यद्यपि 'चौपाई' छंद का प्रयोग कुछ सिद्ध कवियों द्वारा भी हुआ है। तथापि जैन कवियों ने 'दोहा' छंद के साथ 'चौपाई' का मेल बड़ी सुन्दर रीति से किया है। स्वयंभू देव ने अपने 'पउम चरिउ' (जैन रामायण) में तो 'दोहा-चौपाई' का प्रयोग ही अधिकतर किया है। संभव है, राम-काव्य के महाकवि तुलसीदास ने स्वयंभू देव का 'पउम चरिउ' देखा हो और उसी शैली के अनुकरण में—'दोहा-चौपाई' शैली में—अपना 'रामचरित मानस' लिखा हो। जैन कवियों ने 'दोहा' छंद के अतिरिक्त अन्य छंदों का प्रयोग भी किया है जिनका उल्लेख पृष्ठ १४२ पर है। जिन कवियों ने प्रेम-कथा या श्रृंगार वर्णन के प्रसंग लिखे हैं उन्होंने छंदों में विविधता लाने का प्रयत्न अवश्य किया है। विविध छंदों में 'पद्धरि' और 'हरिगीतिका' विशेष प्रिय देखा जाता है। अमीर खुसरो ने अधिकतर 'बहरों' का अनुकरण किया है। जहां उन्होंने हिन्दी के छंद रखे हैं वहां चौपाई छंद प्रधान है। चौपाई के अतिरिक्त कहीं-कहीं सार, ताटंक और दोहा छन्द भी हैं, किन्तु सब छंदों में चौपाई ही खुसरो को विशेष प्रिय रही। उनकी सारी मुकरियाँ तो इसी छंद में है।

सिगरी रैन मोहि संग जागा। भोर भया तब बिछुरन लागा॥
वाके बिछुरत फाटै हिया। ए सखि साजन ? ना सखि दिया॥

खुसरो के ये दो दोहे भी बहुत प्रसिद्ध है :—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस ।।
खुसरो रैन सोहाग की, जागी पी के संग। तन मेरो मन पीउ कों, दोऊ भये एक रंग ।।

खुसरो का ताटंक छंद यह है :—

घूम घुमेला लहँगा पहने एक पाँव से रहे खड़ी।
आठ हाथ हैं उस नारी के, सूरत उसकी लगे परी ।।
सब कोइ उसकी चाह करे हैं मुसलमान हिन्दू-छत्री।
खुसरू ने यह कही पहेली दिल में अपने सोच जरी ।।

(छतरी)

यहाँ अन्त में दो गुरु होने के बदले लघु गुरु हैं। भुट्टे की पहेली में अन्त में अवश्य दो गुरु हैं :—

सर पर जटा गले में झोली, किसी गुरू का चेला है।
भर-भर झोली घर को धावै, उसका नाम पहेला है ।।

सार छन्द का उदाहरण इस प्रकार है :—

अंधा, बहिरा, गूँगा बोले, गूँगा आप कहावै। देख सफेदी होत अंगारा गूँगे से भिड़ जावै ।।

कहीं-कहीं खुसरो ने छन्दों के साथ बड़ी स्वतन्त्रता ली है :—

क्या करूँ बिन पाँवों के तुझे ले गया बिन सिर का।
क्या करूँ लंबी दुम के, तुझे खा गया बिन चोंच का लड़का ।।

(जाल)

उनके ढकोसले और दोसखुने तो पद्य की सीमा से बाहर है। कहीं वे गद्य में हैं, कहीं गद्यमय पद्य में।

संधिकाल में गद्य-शैली के आविर्भाव की चर्चा भी है। कुछ इतिहास लेखकों के अनुसार गोरखनाथ ने नाथपंथ के प्रचार के लिए जन-समुदाय के गद्य का आश्रय ग्रहण किया। उनके गद्य के कुछ अवतरण भी प्रायः उद्धृत किए जाते है, किन्तु जब तक किसी प्रामाणिक प्रति से उनके गद्य के अवतरणों का समर्थन नहीं हो जाता, तब तक इस संबंध में कुछ भी प्रामाणिक रूप से स्थिर करना उचित प्रतीत नहीं होता।

दूसरा प्रकरण

चारणकाल

(अ) डिंगल साहित्य

यह कहा जा चुका है कि अपभ्रंश के अन्तिम काल में जब हिन्दी का प्रारम्भ हुआ तो काव्य-परम्परा के आधार पर हिन्दी दो भागों में विभाजित हुई—डिंगल और पिंगल। डिंगल राजस्थान में नागर अपभ्रंश से प्रभावित हिन्दी की साहित्यिक भाषा का नाम है और पिंगल मध्यदेश की भाषा का। हमें यहाँ पर डिंगल भाषा पर विचार करना है।

टेसीटरी डिंगल पर अपना मत प्रदर्शित करते हुए लिखते हैं :—

डिंगल का न तो 'डगर' से कोई संबंध है और न राजपूताने के चारण और पंडितों द्वारा बतलाए हुए किसी विचित्र और अद्भुत शब्द रूपावली से ही है। वह केवल एक विशेष रूप है, जिसका अर्थ है "गड़बड़" (अनियमित), अर्थात् जो ऊँचे कवित्व के अनुसार नहीं है। सम्भवतः जो 'असंस्कृत' है।[१]

कुछ लोगों का कथन है कि मध्यदेश के पिंगल नाम से प्रसिद्ध हिन्दी के समानान्तर ही डिंगल शब्द की सृष्टि हुई है।[२] तीसरा मत यह है कि डिंगल शब्द की उत्पत्ति डिम् (डम् ?) गल से हुई है।[३] डिम् (डम् ?) का तात्पर्य डमरू-ध्वनि से है और गल का तात्पर्य है गले से; गले से डमरू की ध्वनि के समान गुंजित होने वाली। ताण्डव नृत्य करने वाले प्रलयंकर महादेव के हाथ में डमरू बाजे से वीर और रौद्र रस की जागृति होती है। इसी प्रकार डमरू के समान ध्वनि करने वाली कविता जो वीरों के हृदय में उत्साह और क्रोध भर दे, वहीं डिंगल कविता है।

डिंगल काव्य पिंगल से अपेक्षाकृत प्राचीन है। जब ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई और उसमें काव्य-रचना की जाने लगी, तब दोनों में अन्तर बतलाने के लिए दोनों का नाम करण हुआ। इतना तो निश्चय है कि ब्रजभाषा में काव्य-रचना के पूर्व से ही राजस्थान में काव्य-रचना होने लगी थी। अतएव पिंगल के आधार पर डिंगल

---

१ जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल :
भाग १०, अङ्क १०, १९१४, पृष्ठ ३७६

२ ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अङ्क २, पृष्ठ २२४

३ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

नाम होने की अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है डिंगल के आधार पर 'पिंगल' शब्द का उपयोग किया गया होगा। इस कथन की सार्थकता इससे भी ज्ञात होती है कि पिंगल का तात्पर्य छन्दशास्त्र से है। ब्रजभाषा न तो छन्दशास्त्र ही है और न उसमें रचित काव्य छन्दशास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही है। अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि ब्रजभाषा काव्य में छन्दशास्त्र पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है और सम्भवतः यही कारण है कि उसका नाम 'पिंगल' रखा गया है।

डिंगल साहित्य का इतिहास जानने के पूर्व यह अधिक युक्तिसंगत होगा, यदि हम उस समय की राजनीतिक परिस्थिति पर भी थोड़ा विचार कर लें, क्योंकि राजनीतिक परिस्थितियों ने डिंगल साहित्य पर यथेष्ट प्रभाव डाला है।

सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध से हिन्दू राज्य की केन्द्रीभूत सत्ता का विनाश होना प्रारम्भ हुआ। विभाजक शक्तियों का इतना अधिक प्राबल्य हुआ कि साधारण घटनाओं ने ही राज्यों के उत्थान और पतन का बीज बोना प्रारम्भ किया। उत्तर-पश्चिम से आने वाले मुसलमानों ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया और बारहवीं शताब्दी में उत्तर भारत का अधिकांश भाग मुसलमानों के अधिकार में आ गया। यह काल भारत के प्राचीन इतिहास की वृद्धावस्था का ही है जिसमें शक्ति का अभाव है, विवशता का अवलम्ब है। इस काल का इतिहास अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र है, किसी एक महान् राज्य अथवा राजनीतिक केन्द्र का इतिवृत नहीं। ये छोटे-छोटे राज्य शिशुओं की भांति छोटी-छोटी बात पर झगड़ना भी खूब जानते थे।[१] आठवीं सदी में काश्मीर और कन्नौज में यथेष्ट संघर्ष हुआ, यद्यपि काश्मीर नरेश ललितादित्य ने कन्नौज को काश्मीर में नहीं मिलाया; शायद यह संभव भी न था। कन्नौज का संघर्ष मगध से भी हुआ, फिर गुर्जर राज्य से भी और कन्नौज गुर्जर राज्य में मिला लिया गया, किन्तु कन्नौज की प्रधानता बनी ही रही। देवपाल और विजयपाज के समय में कन्नौज की अवनति होनी प्रारम्भ हो गई। जयपाल (संवत् १०७६) के समय में तो चन्देल और कछवाहों ने उसे और भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्त में राठौर जयचन्द (संवत् १०९७) के समय में उसकी दशा ठीक हुई। जयचन्द ने कन्नौज को समृद्धिशाली बनाने में यथेष्ट परिश्रम किया और उसे वैभव से पूर्ण किया। कन्नौज का मुसलमानों के द्वारा पतन होना स्वतंत्र हिन्दू राज्यों के अस्तित्व की अन्तिम स्थिति थी। वास्तव में मुसलमानों के अन्तिम आक्रमणों के पहले कन्नौज सुसंगठित और शक्तिशाली राज्य हो गया

१ विंसेन्ट ए० स्मिथ (इंपीरियल गजेटियर ऑव् इंडिया,
भाग २, पृष्ठ ३०१)

तोमर हिसार और दिल्ली के निकटवर्ती स्थानों मे राज्य करते थे। कहते हैं, तोमर वंश ने ही दिल्ली की नींव डाली, पर दिल्ली का महत्त्व अनंगपाल द्वितीय (संवत् ११०६) के बाद ही प्रकट हुआ। तोमर और चौहान सदैव परस्पर के शत्रु थ। अन्त में चौहान ने दिल्ली को संवत् १२१० में विजय कर ही लिया। रुहेलखण्ड और उत्तरी अवध भार और अहीर वंश के अनेक राजाओं के अधिकार में था। दशवीं शताब्दी के अन्त में राजपूत के बाछल वंश ने उस प्रान्त में अपना शासन स्थापित किया।

मेवाड़ में गहलोत वंश शासन करता था। उनका प्रथम सरदार बप्पा था, जिसने भीलों की सहायता से मेवाड़ में राज्य स्थापित किया था। उसके पुत्र गुहिल ने चित्तौड़ पर अधिकार प्राप्त कर लिया, जो गहलोत वंश के हाथों में ८०० वर्ष तक रहा। यही गहलोत वंश आगे चल कर सीसोदिया वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तेरहवीं शताब्दी के बाद तो इस वंश की मर्यादा समस्त राजस्थान में स्थापित हो गई।

सबसे बड़ा और शक्तिशाली वंश चौहानों का था, जो एक बड़े क्षेत्र में बिखरा हुआ था। आबू पर्वत से लेकर हिसार तक और अरावली से लेकर हमीरपुर की सीमा तक इनका प्रभुत्व था। ये अपने-अपने राज्यों में नाममात्र की स्वतंत्रता के साथ विभाजित थे। सब से शक्तिशाली शाखा साँभर झील के आसपास थी। यह शाखा ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में बढ़कर समस्त चौहानों की अधिपति बन बैठी, साँभर नरेश ही सब से बड़े राजा हो गए। इनकी राजधानी अजमेर थी।

अजमेर की प्राचीनता और उनके नाम के सम्बन्ध में 'पृथ्वीराज-विजय' के पांचवें सर्ग के लम्बे अवतरण के आधार पर डा० मारिसन एक लेख लिखते हैं। ७७ वें पद्य से अजयराय का वर्णन प्रारम्भ होता है और ४० पद्यों से अधिक में लिखा जाकर सर्ग के अन्त तक चलता है। ६६ वें पद्य में लिखा है कि अजयराज ने एक नगर का निर्माण किया। [(रा) जा नागरं कृतवान्] इसके बाद उसके वैभव और उत्कर्ष का वर्णन है। अन्तिम पद्य में लिखा है कि उसके पुत्र का नाम अर्णोराज था, जिसे उसने अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाया था। उसके राज्य का वर्णन छठें और सातवें सर्ग के प्रारम्भिक भाग में है। उसके समय का निर्धारण 'पृथ्वीराज-विजय', गुजरात के इतिहास और कुमारपाल के चित्तौड़गढ़ शिलालेखों के विवरणों से ज्ञात हो सकता है। 'पृथ्वीराज-विजय' के सप्तम सर्ग से ज्ञात होता है कि अर्णोराज ने गुजरात के जयसिंह सिद्धराज की कन्या कांचनदेवी से दूसरा विवाह किया। (गूर्जरेन्द्रों जयसिंहस्तस्मै यां दत्तवान्सा कांचनदेवी रात्रौ च दिने च सोमं सोमेश्वरसंज्ञमजनयत्।) इस प्रकार वह गुजरात के राजा जिन्होंने सन्

१०६४ से ११०३ (सं० ११५०-११६६) तक राज्य किया, के परवर्ती भाग में समकालीन थे।

गुजरात के इतिहास में हेमचन्द्र के 'द्वयाश्रय कोष' तथा अन्य इतिहास जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल का अर्णोराज के विरुद्ध सफल युद्ध करने का वर्णन करते हैं। चित्तौरगढ़ शिलालेख सिद्ध करता है कि इस युद्ध की समाप्ति सं० १२०७ (सन् ११४९-५०) या उसके कुछ ही पूर्व हुई। अर्णोराज के द्वितीय पुत्र विग्रहराज चतुर्थ या वीसलदेव के अजमेर शिलालेख (सं० १२१०) से ज्ञात होता है कि उसकी (अर्णोराज) की मृत्यु सं० १२०७ और १२१० के बीच में अवश्य हुई होगी।[1]

इन तिथियों से यह ज्ञात होता है कि अर्णोराज ने विक्रम की १२ वीं शताब्दी के चतुर्थांश में राज्य किया और उसके पिता ने सं० ११००—११२५ के बीच में या उसी के आस-पास। अजमेर नगर भी उसी समय बना होगा। 'पृथ्वी-राज विजय' का महत्त्व आधुनिक इतिहास या 'हम्मीर महाकाव्य' या फ़िरिश्ता से अधिक है क्योंकि 'पृथ्वीराज विजय' की रचना पृथ्वीराज द्वितीय के समय में अथवा १२वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में हुई थी। 'हम्मीर महाकाव्य' १४वीं शताब्दी के अन्त की रचना है और फ़िरिश्ता ने २०० वर्ष बाद सोलहवीं शताब्दी के अन्त में लिखा। फिर 'पृथ्वीराज विजय' अकेला ही ग्रंथ है, जिसमें चौहानों का वंश-परिचय उनके शिलालेखों से मिलता है। अन्य संस्कृत ग्रन्थों के द्वारा दिया हुआ परिचय परस्पर विरोध रखता है और उसमें काल-दोष स्पष्ट है।

इन सब बातों से पता चलता है कि 'पृथ्वीराज-विजय' का कथन ही स्पष्ट और ठीक है कि अजय (बीसवाँ शाकम्भरी चौहान) अजमेर का निर्माता था।[2] उसकी परम्परा में चौहान वंश का सब से बड़ा राजा पृथ्वीराज था, जिसका शासन-समय सं० १२२६ (सन् ११७२) से सं० १२४९ (सन् ११९२) तक है।

संक्षेप में यदि चारणकाल की राजनीतिक परिस्थितियों पर विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि राठौर, सोलंकी, पँवार, कछवाहा, परिहार, चन्देल, तोमर, भार, अहीर गहलोत, और चौहान वंश इस समय राजनीति का शासन कर रहे थे। राजनीतिक परिस्थिति बहुत अनिश्चित थी। परस्पर युद्ध करने में ये राजे सदैव सन्नद्ध रहा करते थे और अपने राज्य को अपनी मर्यादा के सामने तुच्छ समझते

---

१ पृथ्वीराज विजय सप्तम सर्ग—

प्रथमः सुधवासुतस्तदानीं परिचर्यां जनकस्य तामकार्षीत्।
प्रतिपाद्य जलाञ्जलिं धरायै विदधे यां भृगुनन्दनोजनन्यै॥

२ आरिजिन ऑव् दि टाउन ऑव् अजमेर—

(जी० बुलर,—जे० आर० ए० एस० भाग २६, पृष्ठ १६२-१६३)

थे। कोई ऐसा वर्ष नहीं था जब कि इन राजाओं में से किसी में पारस्परिक विग्रह न होता हो। इन सब राजाओं के सामने मुसलमानी आतंक अपनी निर्दयता और उच्छृङ्खलता के साथ अनेक रूप रखा करता था। अपनी मर्यादा और गौरव की रक्षा करने के लिये युद्ध-वीर राजपूत युद्ध-दान के लिए सदैव प्रस्तुत रहा करते थे। देश की शान्ति रक्त-धारा में बही जा रही थी।

इस प्रकर राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव होने के कारण साहित्यिक क्षेत्र में भी शान्ति नहीं रही। राजस्थान राजनीति का प्रधान क्षेत्र होने के कारण अपने यहाँ के चारणों और भाटों को मौन नहीं रख सका। अपभ्रंश भाषा भी उस समय पुराने संस्कारों को छोड़ कर नवीन रूप धारण करने का प्रयत्न कर रही थी। उसी अपभ्रंश की डिंगल भाषा में उनकी कविता प्रवाहित हो उठी। इसके साथ ही देश के किसी कोने में बैठ कर कविगण मुसलमानी आतंक भुलाने के लिए धर्म की कविता भी कर देते थे।

पुंड या पुष्प

हिन्दी साहित्य के प्रभात मे सात कवियों का उल्लेख हमारे इतिहासकार करते चले आये हैं, यद्यपि उन सात कवियों की एक पंक्ति भी अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी। प्रथम हिन्दी कवि पुंड या पुष्प कहा जाता है जिसका आविर्भाव-काल सं० ७७० माना गया है।

दलपत विजय

दूसरे अज्ञात कवि का ग्रंथ जो प्राप्त हो सका है, वह खुमान रासो है। एक स्थान पर इस कवि का नाम दलपत विजय मिलता है। इसमें [illegible] रावल खुमान द्वितीय का वृत्तान्त लिखा गया है। यह प्रति अपूर्ण है। इसमें चित्तौर के महाराणा प्रतापसिंह तक का हाल दिया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि यह प्रति समय-समय पर कवियों के हाथों से नई सामग्री प्राप्त करती रही और अपने पूर्व रूप की केवल एक अस्पष्ट छाया ही रख सकी। अतएव खुमान रासो अपने वास्तविक रूप में अब नहीं है। खुमान का समय संवत् ८८७ माना गया है और महाराणा प्रताप का विक्रम की १७वीं शताब्दी। इस प्रकार खुमान रासो लगभग ८०० वर्ष के परिमार्जन का ग्रंथ है। इसके बाद मसूद, कुतुबअली, साईंदान और अकरम फैज के नाम आते हैं। इनकी रचनाएँ भी अप्राप्य हैं। इनका आविर्भाव-काल संवत् ११९० से १२०५ तक माना गया है। इसके बाद चन्दबरदाई का नाम आता है, जिसका समय संवत् १२४८ (सन् ११९१) है। अभी तक के इतिहास की यह स्थिति है। चन्दबरदाई के पूर्व दो कवियों का नाम और लिया जाता है। किन्तु ये दोनों कवि निश्चित रूप

से क्रमशः १७वीं और १८वीं शताब्दी के हैं। प्रथम कवि हैं भुवाल, जिन्होंने दोहा-चौपाई में 'भगवद्गीता' का अनुवाद किया है। इनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी माना गया है। इसका आधार भूवाल का वह दोहा है, जिसमें वे अपने ग्रन्थ-रचना की तिथि देते हैं। वह दोहा इस प्रकार है :—

भुवाल

संवत् कर अब करौं बखाना। सहस्र सो संपूरन जाना॥
माघ मास कृष्ण पक्ष भयऊ। दुतिया रवि तृतीया जों भयऊ॥

अर्थात् ग्रन्थ की रचना संवत् १००० में माघ कृष्ण पक्ष की द्वितीया और तृतीया तिथि, रविवार को हुई। किन्तु गणना के अनुसार यह तिथि संवत् १००० में रविवार को नहीं पड़ती। यह समय संवत् १७०० माघ कृष्ण रविवार को आता है जब द्वितीया के बाद उसी दिन तृतीया लग जाती है। इस प्रकार ग्रन्थ की रचना संवत् १००० में न होकर १७०० में की गई जान पड़ती है; अर्थात् दी हुई तिथि के ७०० वर्ष बाद। संभव है "सहस्र सो सम्पूरन जाना" के बदले "सहस्र सो सत (१७००) पूरन जाना" हो[1]। लिपिक की साधारण गलती से ७०० वर्ष का अन्तर पड़ गया। अतः भुवाल कवि दसवीं शताब्दी के कवि न माने जाकर सत्रहवीं शताब्दी के कवि माने जायेंगे। उनकी भाषा भी दसवीं शताब्दी की प्राचीन हिन्दी नहीं मानी जा सकती। छंद भी सत्रहवीं शताब्दी ही का है, जो रामचरितमानस के प्रचार से बड़ा लोकप्रिय हो गया था। संभव है, तुलसीदास का 'रामचरितमानस' दोहा-चौपाई में देखकर भुवाल कवि ने कृष्ण-चरित भी दोहा-चौपाई में लिखने का विचार किया हो।

द्वितीय कवि मोहनलाल द्विज हैं, जिन्होंने 'पत्तलि' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें श्रीकृष्ण की बारात के भोजन की पत्तलि की विविध भोजन-सामग्री का वर्णन है। इस ग्रन्थ का समय संवत् १२४७ दिया गया है। इसके प्रमाण में कवि की यह पंक्ति दी जाती है :—

मोहनलाल द्विज

सुनौ कहै यह संवत् जानौ। बारह सानौ सैता लानौ॥

इसका तात्पर्य संवत् १२४७ लिया है। किन्तु भाषा इतनी आधुनिक है तथा उसमें जुहार, जलेबी, रकेबी आदि शब्दों तथा 'पचि-पचि रची सुधारि' आदि वाक्यांशों का इतना प्राचुर्य है कि भाषा १३ वी शताब्दी की नहीं कही जा सकती है। दूसरी बात यह है कि मोहनलाल ने अपना मंगलाचरण केशवदास के ही शब्दों में

१ खोज रिपोर्ट १९१७, १८, १९; पृष्ठ ५

किया है।[1] केशवदास का पांडित्य उन्हें मोहनलाल जैसे साधारण कवि की चोरी करने से रोकता है, अतः मोहनलाल ने ही केशवदास के शब्दों में वंदना की है। इस प्रकार मोहनलाल का समय केशव के बाद ही का समझा जाना चाहिए। डा० हीरालाल के अनुसार 'बारह-सानों' शुद्ध पाठ न होकर 'ठारह-सानों' शुद्ध पाठ है। अतः मोहनलाल का समय १८ वीं शताब्दी है।

चारणकाल के इन अनिश्चित कवियों के बाद जो निश्चित कवि मिलता है वह नरपति नाल्ह है। उसका ग्रन्थ गीतात्मक है और नाम 'वीसलदेव रासो' है। ग्रियर्सन ने न जाने क्यों इसका वर्णन नहीं किया। गीतात्मक होने के कारण इसकी भाषा में भी अनेक परिवर्तन हुए, पर वे परिवर्तन अभी तक सम्पूर्णतः प्राचीन भाषा का स्वरूप विकृत नहीं कर सके। इसमें अपभ्रंश के प्रयोग अधिक हैं, इसलिए यह अपभ्रंश की अन्तिम बोलचाल की भाषा में लिखा गया है। यद्यपि कहीं-कहीं सत्रहवीं शताब्दी की हिन्दी के प्रयोग अवश्य पाये जाते हैं।[2] किन्तु ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। वीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं, अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो का अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वीसलदेव का काल-निर्णय हमें इतिहास में इस प्रकार मिलता है—जैपाल जो नवम्बर १००१ में पुनः सुल्तान महमूद से पराजित हुआ था, आत्मघात कर मर गया। उसका पुत्र अनंगपाल उत्तराधिकारी हुआ, जो अपने पिता की भाँति अजमेर के चौहान राजा वीसलदेव के नेतृत्व में हिन्दू शक्तियों के संघ में सम्मिलित हुआ।[3] अतएव वीसलदेव का समय सन् १००१ (सं० १०५८) माना जाना चाहिए। वीसलदेव रासो में वर्णित धार के राजा भोज जिन्होंने अपनी पुत्री राजमती का विवाह वीसलदेव के साथ किया था, उनके भी इसी समय में होने का प्रमाण मिलता है।

मुंज का भतीजा यशस्वी भोज तत्कालीन मालवा की राजधानी धार के राज्यासन पर लगभग संवत् १०७५ में आसीन हुआ और उसने चालीस वर्ष से

---

१ केशवदास—एक रदन गजबदन, सदन बुधि मदन कदन सुत।
गवरिनंद आनन्द कन्द जगदम्ब चन्द युत॥
मोहनलाल—एक रदन वारन बदन, सदन बुद्धि गुण गेह।
गवरिनन्द आनन्द दें मोहन प्रणति करेह॥

२ बेटी राजा भोज की—वीसलदेव रासो—(संपादक—श्री सत्यजीवन वर्मा)—पृष्ठ ६ नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् १९८२।

३. विंसेन्ट स्मिथ।

अधिक प्रतापशाली राज्य किया। गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा के अनुसार वीसलदेव का समय संवत् १०३० से १०५६ माना गया है।[1] ओझा जी के अनुसार राजा भोज का राजसिंहासनासीन होना सं० १०५५ में है। अतएव यह निश्चित होता है कि वीसलदेव का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। नाल्ह ने अपने रासो को भी उसी समय लिखा क्योंकि ग्रंथ में जहाँ क्रिया का प्रयोग वर्तमान काल में किया गया है वहाँ 'कहइ', 'वसइ' इत्यादि क्रियाओं के रूप समय की घटनाओं के अनुसार ही घटित होते हैं।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए एक कठिनाई सामने आती है। नाल्ह अपनी पुस्तक-रचना की तिथि इस प्रकार देता है :—

"बारह सै बरहोत्तरां हां मंझारि,
माघ सुदी नवमी बुधवारि।"

मिश्रबन्धुओं ने इसे सं० १२२०, लाला सीताराम ने १२७२ तथा सत्यजीवन वर्मा ने १२१२ माना है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे सं० १२१२ माना है। यदि गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार वीसलदेव का काल संवत् १०३० से १०५६ मान लिया जाय तो वीसलदेव रासो की रचना १५६ वर्ष बाद होती है। ऐसी स्थिति में लेखक का वर्तमान काल में लिखना समीचीन नहीं जान पड़ता। अतएव या तो वीसलदेव-काल जो विंसेन्ट स्मिथ और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा निर्धारित किया गया है, उसे अशुद्ध मानना चाहिये; अथवा वीसलदेव रासो में वर्णित इसी 'बारह बरहोत्तरां हां मंझारि' वाली तिथि को। श्री गजराज ओझा, बी० ए०, बीकानेर ने लिखा है कि 'बड़ा उपाश्रय' बीकानेर में इसकी एक प्राचीन हस्त-लिखित प्रति मिली है, जिसमें इसका रचना-काल १०७३ वि० लिखा है।[2]" उसमें 'बारह सै बरहोत्तरां हां मंझारि' के स्थान पर "संवत् सहस तिहतरइ जाणि', नाल्ह कवीसर सरसीय वाणि" मिलता है; जिसके अनुसार 'रासो' की रचना सं० १०७३ में मानी गई है। यदि हम इसी तिथि को ठीक मानें तो भी ग्रन्थ की रचना वीसलदेव-काल से १७ वर्ष बाद ठहरती है। उस समय भी कवि वर्तमान काल में नहीं लिख सकता है।

जो हो, १०७३ वि० इतिहास के अधिक समीप है। यदि 'रासो' की एक प्रति हमें यही संवत् देती है और इतिहास वीसलदेव के समय को भी लगभग यही मानता है तो हमें 'वीसलदेव रासो' की रचना सं० १०७३ मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। फिर राजेंद्रलाल मित्र के अनुसार भोज का समय संवत् १०२६ से १०८३ माना गया है। इससे भी उपर्युक्त विचार की पुष्टि होती है।

१ हिन्दी टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृष्ठ ३५८
२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक १, पृष्ठ ९९

अभी तक इस ग्रन्थ की पंद्रह हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। सबसे प्राचीन प्रति का लिपिकाल सं० १६६६ है। यह विद्याप्रचारिणी जैन सभा पुस्तकालय (जयपुर) की है। इन प्रतियों में पाठ-भेद बहुत है। ये प्रतियाँ दो विशिष्ट कुलों की ज्ञात होती हैं। रचनाकाल के संवत् में जो भ्रांति उत्पन्न हो गई है, उसके मूल में भी इन्हीं दो कुलों की विभिन्नता है। पहले कुल की प्रतियाँ सं० १२१२ या १२७२ का उल्लेख करती हैं और दूसरे कुल की प्रतियाँ सं० १०७३ या १०७७ का। पहले कुल की प्रतियों में वर्णन-विस्तार बहुत अधिक है, दूसरे कुल की प्रतियाँ अपने वर्णनों में संक्षिप्त हैं। यहाँ तक कि पहले वर्ग की प्रतियों में कथा चार खंड तक बढ़ी हुई है, जहाँ दूसरे वर्ग की प्रतियों में खंड-विभाजन शैली से रहित कथा वहीं समाप्त हो जाती है, जहाँ पहले वर्ग की प्रतियों में तीसरा खंड समाप्त होता है। सरदारों के नाम गिनाने में भी पहले कुल की प्रतियों में विशेष अभिरुचि है जो दूसरे कुल की प्रतियों में नहीं है। इस दृष्टि से पहले कुल की प्रतियाँ अपेक्षाकृत बाद की होंगी और समय के प्रवाह के साथ उनमें वर्णन-विस्तार के प्रक्षिप्तांश भी बढ़ते चले गये होंगे, जो दूसरे कुल की प्रतियों में नहीं ह।

श्री अमरचंद नाहटा वीसलदेव रासो को १३ वीं शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं। इसका पहला कारण तो यह है कि इसकी भाषा सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा है। दूसरा यह कि ग्रन्थ में जो ऐतिहासिक और भौगोलिक उल्लेख मिलते हैं वे १३वीं शताब्दी के बाद के हैं।[1] उदाहरण के लिए ग्रन्थ में जो जैसलमेर[2], अजमेर[3] आदि स्थानों के नाम हैं वे ग्यारहवीं शताब्दी के बाद बसाए गये और प्रसिद्ध हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विपमता ऐतिहासिक मूल ग्रन्थ के संवत्-निर्धारण में कठिनाई उपस्थित करती है, किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हमें वीसलदेव रासो की कोई भी प्रति सं० १६६६ के पहले की प्राप्त नहीं हुई। वीसलदेव रासो के रचनाकाल में और ग्रन्थ के प्रतिलिपि-काल में पाँच सौ वर्ष से ऊपर का समय व्यतीत हो गया है। और जब वीसलदेव रासो की कविता लोक-रंजनार्थ गेय रूप में लिखी गई तब उसमें गायकों की परम्पराओं ने कितना प्रक्षिप्तांश मिलाया होगा और भाषा में कितना परिवर्तन हुआ होगा यह साधारण अनुमान से ही जाना जा सकता है। फिर नरपति ने इस ग्रन्थ को इतिहास या वंशावली के रूप में नहीं लिखा, उसने तो इसमें काव्य की सरस कल्पनाओं का सौंदर्य सुसज्जित किया

१ राजस्थानी—भाग ३, अंक ३, पृष्ठ २२

२ जोयो छै तोड़उ जेसलमेर—पृष्ठ ७, वीसलदेव रासो (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

३ गढ़ अजमेरा को चाल्यो राव—पृष्ठ १४, „ „ „

है, संयोग और वियोग के मनोहर चित्र उपस्थित किये हैं। इसलिये यह वीर काव्य न होकर श्रृंगार काव्य ही हो गया है।

इस ग्रन्थ का विस्तार २००० चरणों में है। इसमें चार खंड हैं। पहले खंड में ८५ छंद हैं और मालवा के अधिपति श्री भोज परमार की लड़की राजमती का वीसलदेव सांभर के साथ विवाह वर्णित है। दूसरे खंड में ८६ छंद हैं जिनमें वीसलदेव की राजमती के प्रति उदासीनता और उड़ीसा की ओर रण-यात्रा का उल्लेख है। तीसरे खंड में १०३ छंद हैं जिनमें राजमती का वियोग-वर्णन और वीसलदेव का चित्तौड़ागमन है। चौथे खंड में ४२ छंद हैं और भोजराज का आकर अपनी कन्या को ले जाना और वीसलदेव का पुनः राजमती को चित्तौड़ ले आने का वर्णन है। ग्रंथ में कुल ३१६ छंद हैं।

कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कथा गीतिरूप में होते हुए भी प्रबन्धात्मकता लिये हुए है। कथा-वस्तु अनेक प्रकार की घटनाओं से निर्मित है जिसमें वीर रस की अपेक्षा श्रृंगार रस ही प्रधान स्थान प्राप्त कर सका है। भाषा यद्यपि अपने असंस्कृत रूप में है तथापि उसमें साहित्यिक सौंदर्य की छटा यत्र-तत्र है।

लोक-रंजन के लिए वीसलदेव रासो में काव्य का सौंदर्य मनोवैज्ञानिक ढंग से अनेक प्रसंगों में सजाया गया है। उसमें जीवन के स्वाभाविक विचार, गृहस्थ-जीवन के सरल विश्वास, जन्मांतरवाद, शकुन, संस्कार, बारहमासा आदि बड़ी सरसता के साथ चित्रित किये गये हैं। स्थानीय प्रथाओं और व्यवहारों का भी बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। इस प्रकार इस काव्य में स्थानीय अनुरंजन (Local colour) विशेष मात्रा में है। वीसलदेव रासो के कुछ उदाहरण देखिए :—

स्थानीय अनुरंजन—

माणिक मोती चउक पुराय।
पाँव पषाल्या राव का। राजमती दीई वीसलराव।।
हुई सोपारी मनि हरष्यो छइ राव। वाजित्र वाजइ नीसांणो घाव।।
गढ़ मांहि गूडी उछली। घरि घरि मंगल तोरण च्यारि।।[1]

× × ×

परणवॉ चाल्यो वीसलराव। पंच सखी मिलि कलस वन्दावि।।
मोती का आषा किया। कूँ कूँ चंदन पाका पान।।
अमली समली आरती। जाई बधेरइ दियों मिलांण।।[2]

सूक्तियाँ—

१ दव का दाधा कुपली मेल्ही। जीभ का दाधा नु पॉगूरई।।[3]

---

१ वीसलदेव रासो, पृष्ठ ८-९
२ ,, ,, पृष्ठ १२
३ ,, ,, पृष्ठ ३७

२ रतन कचौलौ राय सांपजै भीष।
ते नाउं पग सूँ ठेलीजै। इसी न रायां तणौ नहीं च अवास।
इसी न देवल पूतली। नयण सलूँणां वचन सुमीत।
ईसीय न खाती कौ घड़इ। इसी अस्त्री नहीं रवि तलै दीठ ॥[1]
३ बाहुड़ि गोरी देखाली छै बाट। ऊँचा पर्वत दुर्घट घाट।
लांबी बाँह देखालियाँ। देखितो चालिजे देस की सीम।
छाड़ही धूप थे भीणी गीणौ। चीरी राखज्यो धन कौ जीव ॥[2]

शकुन—

चाल्यो उलीगांणौ नग्र मंझारि। आड़ी आवज्यो ईंधण दार।
सांड़ तटूकज्यो जीमउइ अंग। साँमही जोगणी काल भुयंग।
बाट काटे मंजारड़ी। सामही छींक हणई कपाल ॥
आडीं लुकडी आवज्यो। गोरडीं कउ प्रीय पाछो हो वाल ॥[3]

वियोग के चित्र—

१ स्त्रीं जनम कांई दींयौ हो महेस ? अवर जनम धारे घड़ा हो नरेस।
रानह न सिरजीं हरिणलीं। सूरह न सिरजी धींणु गाई।
वनषंड कालीं कोईली। बइसतीं अंब कइ चंप की डालि।
बइसतीं दाख बींजोरड़ीं। इणि दुख भूरइ अबला बालि ॥[4]
२ ससि बदनी जीत्यौ मात गयंद। आषडीया रतनालियां।
भौहरा जांणे भमर भमाय। मूँगफली सी आँगुली।[5]
३ कुहणी फाटइ काँचुवउ। षोपरि फाटइ धन को चीर।
जांणे दव दाधी लोंकडी। दूबली हुई भूरइ ईम नाह।
डावां हाथ को मूँदड़उ। आवण लागौ जीवणीं बाँह।[6]

इस प्रकार स्वाभाविकता से परिपूर्ण अनेक चित्र दिये जा सकते हैं। रस की दृष्टि से वीसलदेव रासो में शृंगार रस प्रधान है किन्तु इसके साथ रौद्र, शांत और हास्य रस के भी उदाहरण मिलते हैं।

हास्य रस का उदाहरण देखिए :—

चढ़ि चाल्यो छै मीर कबीर। खुंदकार तुह्म ठुकेठुक धीर।
अमल खलीती घरि रहीं। भीना पांसत छाड्या, छाणि।
उभा बगितारा करइ। दोड, सीताब बगनी भरि लाव ॥[7]

---

१ वीसलदेव रासो, पृष्ठ ४५
२ ,, पृष्ठ ७८
३ ,, पृष्ठ ५६-६०
४ ,, पृष्ठ ६५
५ ,, पृष्ठ ६६
६ ,, पृष्ठ ७५
७ ,, पृष्ठ १७

अलंकार भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं और कवि ने उनका प्रयोग बड़ी स्वाभाविकता के साथ किया है। वीसलदेव की बारात के समूह पर उत्प्रेक्षा की गई है :—

जांन कौं कट क असीय हजार। जांणे उदयाचल ऊलव्यो ॥[1]

वियोग में विरहिणी राजमती की उँगली को मूँगफली के रूप का साम्य देना तथा विरहावस्था में उभरते हुए यौवन को सम्हालने की उपमा किसी चोर को पकड़ रखने से देना कितना उपयुक्त है :—

मूँगफली सी आँगुली।[2]

× × ×

कूलह की बेड़ी; सींयलै जंजीर।
जोवन राखो चोर ज्युं। पगी पगी स्वामी लागु हु पाय।[3]

गीति काव्य होने के कारण इसकी भाषा का रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है, पर 'डिंगल' की छाप इसमें सम्पूर्णतया है। साथ ही साथ इसमें अरबी और फारसी के शब्द भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उस समय मुसलमानों का प्रभुत्व भारत में फैलने लगा था और उनकी बोली भी जन-समाज के द्वारा ग्रहण की जाने लगी थी।

यद्यपि वीसलदेव रासो अपने वास्तविक रूप में नहीं पाया जा सकता, क्योंकि वह मौखिक और गेय रहा है, तथापि इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जन-साधारण की भाषा में भी रचना होने लगी थी और उसमें उस समय के प्रचलित सभी प्रकार के शब्द कविता में रखे जा सकते थे। इतिहास की घटनाओं का वर्णन भी साहित्य के अन्तर्गत आ गया था, क्योंकि साहित्य इस समय 'वीर-पूजा' अथवा धर्म और राजनीति के नेता के गौरव का गीत था। सत्य और धर्म के किसी भी अग्रणी का जीवन-चरित उस समय साहित्य था। राजनीति और साहित्य का इतने समीप आ जाना हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारणकाल की विशेषता है।

पृथ्वीराज रासो

चन्द

पृथ्वीराज रासो राजस्थानी साहित्य का सर्वप्रथम प्रबंधात्मक काव्य माना गया है। इसका रचयिता चन्द भी हमारे साहित्य का प्रथम महाकवि है। इसने पृथ्वीराज चौहान की कीर्ति गाथा ६९ समयो (अध्याय) में वर्णित की है। कहा है कि वह लाहौर का निवासी था, किन्तु उसने अपने जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग दिल्ली और

१ वीसलदेव रासो, पृष्ठ १८
२ ,, पृष्ठ ६६
३ ,, पृष्ठ ८३—८४

अजमेर के सम्राट् पृथ्वीराज के साहचर्य में व्यतीत किया था। वह बहुत पण्डित और विद्वान् था, क्योंकि 'रासो' में उसने काव्य की अनेक रीतियाँ प्रदर्शित की हैं।

पृथ्वीराज रासो एक महान् ग्रन्थ है। ढाई हजार पृष्ठों से अधिक का ग्रन्थ होने के कारण उसका प्रकाशन बहुत दिनों तक नहीं हुआ। रायल एशियाटिक सोसाइटी ने उसके प्रकाशन का विचार किया था, पर बुलर ने उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में अविश्वास कर उसे छपने से रोक दिया। अन्त में उसका प्रकाशन नागरी-प्रचारिणी सभा से सं० १९६२ में हुआ। अभी तक पृथ्वीराज रासो की निम्नलिखित प्रतियाँ प्राप्त हो सकी हैं :—

१. बेदले[1] की प्रति

२. रायल एशियाटिक सोसाइटी में सुरक्षित कर्नल टाड की प्रति

३. कर्नल कालफील्ड की प्रति

४. बोदलियन की प्रति

५. आगरा कॉलेज की प्रति

यही पाँचों प्रतियां प्रामाणिक मानी गई हैं। इनके अतिरिक्त बीकानेर राज्य में 'पृथीराज रासो' की दो हस्तलिखित प्रतियां और मिली हैं :—

१. पृथीराज रासौ कवि चन्द विरचित (हस्तलिखित प्रति नं० ३१)

२. पृथीराज रासौ कवि चन्द विरचित (हस्तलिखित प्रति नं० २४)

श्री मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज के प्रथम भाग में पृथ्वीराज रासो की नौ प्रतियों का उल्लेख किया है।[2] उन प्रतियों के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

प्रति नं० १—

'प्रति में तीन चार व्यक्तियों के हाथ की लिखावट है और कागज भी दो-तीन तरह का काम में लाया गया है…प्रति में कहीं भी इसके लेखन-काल का निर्देश नहीं है, लेकिन प्रति है यह बहुत पुरानी। अनुमानतः ३००-३५० वर्ष की पुरानी होगी।…कुल मिलाकर ६१ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० २—

'प्रति में दो व्यक्तियों के हाथ की लिखावट है। प्रति के अंत में लाल स्याही से लिखी हुई एक विज्ञप्ति है जिसमें बतलाया गया है कि यह प्रति मेवाड़ के महाराणा

---

१ बेदला उदयपुर से लगभग दो कोस उत्तर में चौहान वंशी राजपूतों का एक ठिकाणा है।

२ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—(प्रथम भाग) पृष्ठ ५५—७० (हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर)

अमरसिंह जी (दूसरे) के शासनकाल में सं० १७६० में लिखी गई थी। इस प्रति में ६९ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ३—

इस प्रति का लिपि-संवत् १८६१ है। इसमें भी ६९ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ४—

इस प्रति का लिपि-संवत् १९१७ है। इसमें भी ६९ प्रस्ताव हैं। श्लोक संख्या २९००० है। इसमें भी 'महोबा सम्यौ' नहीं है।

प्रति नं० ५—

इसमें ९-१० तरह की लिखावट है और यह प्रारम्भ और अंत में खंडित है। कुछ 'सम्यौ' के नीचे उनका लेखनकाल दिया गया है। ससिव्रता सम्यौ—सं० १७७०, सलष युद्ध सम्यौ—सं० १७७२, अनंगपाल सम्यौ—सं० १७७३। 'रासो' की यह एक ऐसी प्रति है जिसको तैयार करने में अनुमानतः ६० वर्ष (सं० १७४०–१८००) का समय लगा है। इसमें ६७ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ६—

यह सं० १९३७ में बेदले के राव तख्तसिंह जी के पुत्र कर्णसिंह जी के लिए लिखी गई थी। प्रति दो जिल्दों में है। पहली जिल्द में ११०५ पन्ने और १८ प्रस्ताव हैं। दूसरी जिल्द ५०५ पन्ने और २५ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ७—

इसे रामलाल नामक किसी व्यक्ति ने अपने खुद के पढ़ने के लिए सं० १८५५ में शहपुरे में लिखा था। प्रति अपूर्ण है। उसमें १४ प्रस्ताव हैं।

प्रति नं० ८—

इस प्रति का लिपि-संवत् १८६२ और पत्र-संख्या १०४ है, इसमें केवल "कनवज्ज सम्यौ' है।

प्रति नं० ९—

इस प्रति में लिपिकाल नहीं दिया गया। अनुमानतः २०० वर्ष पुरानी है। पत्र-संख्या ११५ है। इसमें 'बड़ो युद्ध सम्यौ' है।

इन प्रतियों के अतिरिक्त राजस्थान में तथा अन्य स्थानों में भी 'पृथ्वीराज रासो' की अनेक प्रतियाँ मिली हैं। प्राप्त प्रतियों के आधार पर श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'पृथ्वीराज रासो' के चार रूपान्तर निश्चित किये हैं।[1]

---

१ राजस्थान भारती—भाग १, अंक १, अप्रैल १९४६ (श्री सादूल राजस्थान रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर)

(१) वृहत् रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतियाँ हैं जो संवत् १७५० के बाद लिपिबद्ध हुईं। इसमें अध्यायों का नाम 'सम्यौ' है।

(२) मध्यम रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतियाँ है जो संवत् १७२३ और १७३९-१७४० में लिपिबद्ध हुईं। इसमें अध्यायों का नाम 'प्रस्ताव' है।

(३) लघु रूपान्तर—इस रूपान्तर का आधार ऐसी प्रतियाँ हैं जो सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुई। इसमें अध्यायों का नाम 'खण्ड' है।

(४) लघुतम रूपान्तर—इस रूपान्तर का भी आधार ऐसी प्रतियाँ हैं जो सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुईं। इसमें रासो अध्यायों में विभक्त नहीं है।

रासो की प्रतियों के संग्रह करने में सबसे अधिक प्रशंसनीय कार्य राजस्थानी साहित्य के विद्वान् श्री अमरचन्द नाहटा का है। श्री नरोत्तमदास स्वामी के कथनानुसार लघुतम रूपान्तर के अन्वेषण का श्रेय नाहटा जी ही को है।[1]

श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्री राधाकृष्णदास और श्री श्यामसुन्दर दास बी० ए० द्वारा संपादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९०५ में प्रकाशित 'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार इस वृहत् ग्रन्थ के 'समयो' और कथा का संकेत इस प्रकार दिया जा सकता है :—

इस प्रकार रासो की सात प्रतियाँ उपलब्ध हैं। यदि कहीं अन्तर है तो वह नगण्य ही है। इन सातों प्रतियों के आधार पर रासो की कथा का संक्षेप इस प्रकार दिया जा सकता है :—

१ आदि पर्व (मंगलाचरण, चौहान वंश की उत्पत्ति आदि, पृथ्वीराज का जन्म)

२ दासम समय (विष्णु के दशावतार)

३ दिल्ली कीली कथा

४ अजान बाहु समय

---

१ आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, हिन्दी विद्यापीठ उदयपुर या श्री सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट, बीकानेर जैसी संस्थाओं की ओर से 'रासो' की अधिक से अधिक प्रतियों की खोज की जाय और राजस्थानी भाषा और साहित्य के विद्वानों तथा भाषा-विज्ञानियों के सहयोग से उन प्रतियों को 'कुलों' और रूपान्तरों में विभाजित कर 'रासो' की वास्तविक रचना का निर्धारण किया जाय। यह प्रश्न हिन्दी भाषा और साहित्य के सामने प्रमुख महत्त्व का है। क्या किसी संस्था से ऐसी आशा की जाय ?

५ कन्हपट्टी समय (मूँछ ऐंठने पर प्रतापसिंह चालुक्य को कन्ह चौहान भरे दरबार में मार डालता है। पृथ्वीराज उसे दरबार में अपनी आँखों में पट्टी बाँधने के लिए बाध्य करता है।)
६ आखेटक वीर समय (मृगया वर्णन)
७ नाहर राय समय (नाहर राय से युद्ध)
८ मेवाती मुगल समय (मेवातियों से युद्ध)
९ हुसेन कथा समय (शहाबुद्दीन से हुसेन के पीछे युद्ध, जिसने पृथ्वीराज की शरण ली थी।)
१० आखेटक चूक वर्णन (शहाबुद्दीन के द्वारा आखेट में पृथ्वीराज पर आक्रमण, पर उसकी पराजय)
११ चित्ररेखा समय (गक्कर कुमारी जो शहाबुद्दीन की प्रियतमा थी और जिसे लेकर हुसेन पृथ्वीराज के समीप भाग आया था ।)
१२ भोलाराय समय (गुजरात के भोलाराय से युद्ध)
१३ सलख युद्ध समय (सलख के द्वारा सुल्तान का फिर बन्दी होना पर उसका उद्धार)
१४ इंछिनी ब्याह कथा (पृथ्वीराज का इंछिनी से विवाह)
१५ मुगल युद्ध कथा (मुगलों से युद्ध)
१६ पुंडीर दाहिनी ब्याह कथा (दाहिनी से ब्याह)
१७ भूमि स्वप्न प्रस्ताव
१८ दिल्ली दान प्रस्ताव (अनंगपाल के द्वारा पृथ्वीराज को दिल्ली का उपहार)
१९ माधो भाट कथा. (माधो भाट का आगमन; शहाबुद्दीन का पुनः आक्रमण पर पराजय)
२० पद्मावती ब्याह कथा (पद्मावती से ब्याह)
२१ पृथा ब्याह कथा (चित्रकोट के राजा समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहन पृथा का ब्याह)
२२ होली कथा (होलिकोत्सव का वर्णन)
२३ दीपमालिका कथा (दीपमालिकोत्सव का वर्णन)
२४ धन कथा (खत्त वन में पृथ्वीराज को खजाने की प्राप्ति)
२५ शशिव्रता वर्णन (देवगिरि के राजा की पुत्री का पृथ्वीराज द्वारा हरण और फलस्वरूप कन्नौज के राजा जयचन्द से युद्ध)
२६ देवगिरि समय (जयचन्द के द्वारा देवगिरि का घेरा, पृथ्वीराज के सेनापति चामण्डराय द्वारा जयचन्द की हार)

२७ रेवातट समय (सुल्तान शहाबुद्दीन से रेवातट पर युद्ध)
२८ अनंगपाल समय (अनंगपाल का दिल्ली आगमन पर फिर बद्रीनाथ गमन)
२९ घघर नदी की लड़ाई (सुल्तान शहाबुद्दीन से घघर नदी पर युद्ध)
३० करनाटि पात्र गमन (पृथ्वीराज का करनाट गमन)
३१ पीपा जुद्ध
३२ करहरा जुद्ध
३३ इन्द्रावती ब्याह
३४ जैतराय जुद्ध (जैतराय द्वारा सुल्तान की फिर पराजय, जिसने धोखे से मृगया करते समय पृथ्वीराज पर आक्रमण किया था।)
३५ कांगुरा जुद्ध प्रस्ताव (कांगुरा किले पर पृथ्वीराज की विजय)
३६ हंसवती नाम प्रस्ताव (हंसवती से ब्याह)
३७ पहाड़राय समय
३८ वरण कथा
३९ सोमेश्वर वध (गुजरात के भोला भीम के द्वारा पृथ्वीराज के पिता का वध)
४० पज्जून छोंगा नाम प्रस्ताव
४१ चालुक्य प्रस्ताव
४२ चन्द द्वारिका गमन (चन्द की द्वारिका को तीर्थ-यात्रा)
४३ कैमास जुद्ध (पथ्वीराज का सेनापति कैमास द्वारा फिर सुल्तान का पकड़ा जाना)
४४ भीम वध (अपने पितृघाती भीम का, पृथ्वीराज द्वारा वध)
४५ विनय मंगल नाम प्रस्ताव (संयोगिता के पूर्व जन्म की कथा—उसकी तपस्या।)
४६ विनय मंगल
४७ सुक वर्णन
४८ बालुकाराय प्रस्ताव
४९ पंग जज्ञ विध्वंस समय
५० संजोगिता नेम प्रस्ताव (संजोगिता का पथ्वीराज से विवाह करने का प्रण)
५१ हंसीपुर प्रथम जुद्ध
५२ हंसीपुर द्वितीय जुद्ध
५३ पज्जून महोबा प्रस्ताव

५४ पज्जून पातिसाह जुद्ध प्रस्ताव (दसवीं बार सुल्तान का फिर बन्दी होना, पर उसे फिर छोड़ देना)
५५ सामंत पग जुद्ध प्रस्ताव।
५६ समर पंग जुद्ध प्रस्ताव ।
५७ कैमास वध समय ।
५८ दुर्गा केदार समय ।
५९ दिल्ली वर्णन ।
६० जंगम कथा ।
६१ कनवज्ज जुद्ध कथा (कन्नौज के राजा जयचन्द से युद्ध, सारे महाकाव्य में सबसे बड़ा 'समय')
६२ शुक चरित्र ।
६३ आखेट चाख श्राप प्रस्ताव ।
६४ धीर पुंडीर प्रस्ताव (पुंडीर का फिर सुल्तान को बन्दी करना पर उसे मुक्त कर देना)
६५ विवाह सम्यौ (पृथ्वीराज की स्त्रियों की सूची ।)
६६ बड़ी लड़ाई (पृथ्वीराज का सुल्तान से लड़ाई में पराजित और बन्दी होना)
६७ बान बेध सम्यौ (युद्ध के बाद चन्द का गजनी पहुँच कर पृथ्वीराज का शब्दबेधी बाण से सुल्तान को मारना)
६८ राजा रैनसी नाम प्रस्ताव (पृथ्वीराज के पुत्र नारायणसिंह का दिल्ली में राज्याभिषेक पर उसका वध और दिल्ली का पतन)
६९ महोबा जुद्ध प्रस्ताव ।

यदि रासो की कथा-वस्तु पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि निम्न-लिखित घटनाओं पर रासोकार ने बहुत विस्तारपूर्वक लिखा है :—

१. पृथ्वीराज के शौर्य

(अ) शहाबुद्दीन गोरी से युद्ध करना। उसे अनेक बार पराजित कर अपनी उदारता और वीरत्व का आदर्श रख, मुक्त कर देना ।

(आ) अनेक प्रदेशों पर चढ़ाई कर उनके राजाओं को पराजित करना ।

(इ) अपने आत्म-सम्मान के लिए शरणागत (हुसेन) की रक्षा कर अपनी दृढ़ता का परिचय देना ।

२. पृथ्वीराज के विवाह

इंछनी, पद्मावती, शशिव्रता, इन्द्रावती, हंसवती, संयोगिता आदि से विवाह । ६५वें सम्यौ (विवाह सम्यौ) में इनकी सूची तक बनाई गई है ।

३. पृथ्वीराज के आखेट

४. पृथ्वीराज के विलास—होली तथा दीपमालिका के उत्सव।

इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में पृथ्वीराज की गुण-गाथा और उसका शौर्य-प्रदर्शन है। संक्षेप में रासो की कथा इस प्रकार है:—

अर्णोराज अजमेर के राजा थे। वे चौहान-वंशीय थे। उनके पुत्र का नाम सोमेश्वर था। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोमरवंशी राजा अनंगपाल की कन्या कमला से हुआ था। पृथ्वीराज सोमेश्वर और कमला के ही पुत्र थे। कमला की एक बहिन और थी। उसका नाम था सुन्दरी। उसका विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल से हुआ था। इसके पुत्र का नाम जयचन्द राठौर था। दिल्ली के राजा अनंगपाल ने जब पृथ्वीराज को गोद लिया तो इससे दिल्ली और अजमेर एक ही राज्य के अन्तर्गत हो गये। यह बात कन्नौज के राठौर जयचन्द को बहुत बुरी लगी। उसने अपना महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए एक राजसूय यज्ञ का विधान किया, जिसमें अनेक राजे सम्मिलित हुए। पृथ्वीराज ने इसे अपने आत्म-सम्मान के विरुद्ध समझ कर वहां जाना अस्वीकार किया। इस पर क्रुद्ध होकर जयचन्द ने पृथ्वीराज की स्वर्ण निर्मित प्रतिमा द्वारपाल के रूप में दरवाजे पर रखवा दी। उसी अवसर पर जयचन्द ने अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयंवर भी किया। संयोगिता पहले से ही पृथ्वीराज पर अनुरक्त थी। उसने जयमाल पृथ्वीराज की स्वर्ण-प्रतिमा के गले में डाल दी। पृथ्वीराज ने आकर संयोगिता से गंधर्व विवाह किया और उसे हरण कर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में जयचन्द की सेना से बहुत युद्ध हुआ, पर पृथ्वीराज ही अन्त में विजयी हुए। दिल्ली आकर पृथ्वीराज ने विलास की सेज सजाई। राज्य-प्रबन्ध में वह सतर्कता नहीं रही।

इसी समय शहाबुद्दीन गोरी अपने यहाँ के एक पठान-सरदार की प्रेमिका चित्ररेखा पर मुग्ध हुआ। वह पठान-सरदार भाग कर पृथ्वीराज की शरण में आया। शरणागत-वत्सल पृथ्वीराज ने उसे आश्रय दिया। गोरी ने उसे लौटा देने के लिए कहला भेजा, पर पृथ्वीराज ने अपनी धर्मवीरता का आदर्श सामने रख कर ऐसा करना अस्वीकार किया। गोरी ने अनेक बार पृथ्वीराज से लोहा लिया, पर प्रत्येक समय पराजित हुआ। इस बीच में पृथ्वीराज ने अनेक विवाह किये और अनेक राजाओं से लड़ाइयाँ लड़ीं। अन्त में बारहवीं बार गोरी ने पृथ्वीराज को हरा कर कैद किया और उसे गजनी भेज दिया। वहाँ उसकी आंखें निकलवा ली गईं। कुछ दिनों के बाद चन्द भी 'रासो' को अपने पुत्र जल्हन के हाथ देकर गजनी पहुँचा और अपने स्वामी पृथ्वीराज से मिला। चन्द के संकेत से पृथ्वीराज ने शब्दबेधी बाण से गोरी को मारा। तत्पश्चात् चंद और पृथ्वीराज एक दूसरे को मार कर मर गये।

रासो की इस कथा ने तथा इसमें लिखित संवतों ने इस ग्रंथ को बहुत अप्रामाणिक बना दिया है। अब तो बहुत से विद्वान् 'पृथ्वीराज-विजय' नामक एक नये ग्रंथ के प्रकाश में इसे जाली समझते हैं। प्रोफेसर बुलर ने रायल एशियाटिक सोसाइटी को लिखे गए अप्रैल सन् १८९३ के अपने पत्र में[1] इस विषय में अपनी निश्चित धारणा प्रकट करते हुए लिखा है :—

"पृथ्वीराज रासो के सम्बन्ध में मैं एकेडमी के लिए एक 'नोट' तैयार कर रहा हूँ और जो उसे जाली मानते हैं, उन्हीं के पक्ष में अपना मत दूँगा। मेरे एक शिष्य मि० जेम्स मारीसन ने संस्कृत 'पृथ्वीराज विजय' का अध्ययन कर लिया है जिसे मैंने जोनराज की टीका के साथ (जो सन् १४५०-७५ के बीच लिखी गई थी) सन् १८७५ में काश्मीर में प्राप्त किया था। ग्रन्थकार निश्चित रूप से पृथ्वीराज का समकालीन था और उसके राज-कवियों में एक था। वह सम्भवतः काश्मीरी था और अच्छा कवि और पंडित भी था। उसके द्वारा वर्णित चौहानों का वर्णन चन्द के वर्णन से प्रत्येक विवरण में भिन्न है और वह वि० सं० १०३० और १२२५ के शिलालेखों से मिलता है। पृथ्वीराज का वंश-वर्णन उसी प्रकार है जैसा हम इन शिलालेखों में पाते हैं। अन्य बहुत से विवरण जो 'विजय' से मिलते हैं अन्य साक्ष्यों से भी मिलते हैं (जैसे मालवा और गुजरात के शिलालेख)।

पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर अर्णोराज के पुत्र थे और उनकी चालुक्य स्त्री कांचनदेवी गुजरात के महाराज जयसिंह सिद्धराज की लड़की थीं। अर्णोराज की प्रथम स्त्री मारवाड़ की राजकन्या सुधवा थी जिनके दो पुत्र हुए। एक का नाम न तो 'विजय' में दिया हुआ है और न शिलालेखों में। दूसरा था विग्रहराज वीसलदेव।

अविदित नाम वाले ज्येष्ठ लड़के ने अपने पिता की हत्या कर दी, जैसा कवि कहता है :—'उसने वैसा ही व्यवहार किया जैसा भृगु के पुत्र (परशुराम) ने अपनी माता के साथ किया। और एक दुर्गन्धि छोड़ कर बत्ती के समान बुझ गया।' विग्रहराज पिता के बाद सिंहासनासीन हुआ। उसके बाद उसका पुत्र राजा हुआ और तब पितृघाती का पुत्र पृथ्वीभट्ट या पृथ्वीराज सिंहासन पर बैठा।

उसके बाद मंत्रियों द्वारा सोमेश्वर गद्दी पर बिठाया गया। इस लम्बे समय तक वह विदेशों में था। उसके नाना जयसिंह ने उसे शिक्षा दी थी। इसके बाद वह चेदि की राजधानी त्रिपुर गया और उसने चेदि राजा की कन्या कर्पूरदेवी से विवाह किया। उससे पृथ्वीराज (कथा के नायक) हरिराज उत्पन्न हुए। अजमेरु की गद्दी पर बैठने के उपरान्त ही सोमेश्वर मर गया। कर्पूरदेवी ने अपने पुत्र की छोटी अवस्था में राज्य का शासन कादम्बवाम मंत्री की सहायता से किया।

---

१ प्रोसीडिंग्स ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल, फार एप्रिल, १८९३

उस कथन का पता भी नहीं है कि पृथ्वीराज दिल्ली के राजा अनंगपाल की लड़की के पुत्र थे या वे उसके दत्तक पुत्र थे और विशेष बात यह है कि प्राचीन मुसलमान इतिहासकार पृथ्वीराज का दिल्ली पर शासन करना लिखते भी नहीं हैं। उनके अनुसार वे केवल अजमेर के राजा थे और उनका वध विजेताओं द्वारा, जिन्हें उन्होंने अपने देश में शक्ति दे रक्खी थी, राजद्रोह के कारण अजमेर में हुआ।

मैं समझता हूँ, इस काल के इतिहास पर पुनर्विचार की आवश्यकता है और चन्द का 'रासो' अप्रकाशित ही रहने दिया जाय। वह जाली है, जैसा जोधपुर के मुरारिदान और उदयपुर के श्यामलदान ने बहुत पहले कहा है। 'विजय' के अनुसार पृथ्वीराज के वन्दिराज या प्रधान कवि का नाम पृथ्वीभट्ट था न कि चन्दबरदाई।"

अपने इस पत्र में डा० बुलर ने जिस 'पृथ्वीराज-विजय' का उल्लेख किया है वह उन्हें काश्मीर में संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों की खोज में मिला था। उसकी रिपोर्ट उन्होंने सन् १८७७ में प्रकाशित की थी।[१] वे 'विजय' को पूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं, क्योंकि उसमें वर्णित घटनाओं का विवरण तत्कालीन लिखे हुए शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक विवरणों से पुष्ट हो जाता है। हरविलास शारदा भी इसे प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं।

पृथ्वीराज-विजय
(जयानक)

ऐतिहासिकता की दृष्टि से पृथ्वीराज-विजय का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसमें अन्तिम हिन्दू-सम्राट् पृथ्वीराज चौहान (अजमेर) का वीरत्वपूर्ण वर्णन है। इस ग्रन्थ की केवल एक ही प्रति प्राप्त है जो शारदा लिपि में लिखी गई है और पूना के दक्षिण कालेज लायब्रेरी में सुरक्षित है। यह प्रति डा० बुलर द्वारा काश्मीर में प्राप्त की गई थी, जब वे सन् १८७५ में संस्कृत ग्रन्थों की खोज में वहां पर्यटन कर रहे थे।

हस्त-लिखित प्रति बहुत ही खराब दशा में है। प्राचीन होने के कारण प्रति के नीचे का हिस्सा टूट गया है जिससे पाठ का क्रम भंग हो जाता है। उस पुस्तक में जो बारह सर्ग प्राप्त हुए हैं उनमें से एक भी सम्पूर्ण नहीं है। प्रारम्भिक भाग भी नहीं है। बाएँ हाथ की ओर का स्थान जहां पृष्ठ-संख्या दी हुई है, भंग हो गया है, जिससे पृष्ठों का तारतम्य भी नहीं मिलाया जा सकता। केवल सन्दर्भ के द्वारा पृष्ठ

---

१ डिटेल्ड रिपोर्ट ऑव् ए टूअर इन सर्च ऑव् संस्कृत मेनसक्रिप्ट्स मेड-इन काश्मीर, राजपूताना, सेंट्रल इंडिया बाइ डा० जी० बुलर पबलिश्ड इन दि एकस्ट्रा नंबर ऑव् दि जर्नल ऑव् दि बांबे ब्रांच ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी इन १८७७.

क्रम से लगाये जा सकते हैं। हस्तलिखित प्रति में लेखक का नाम भी नहीं मिलता। ऐसा ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का लेखक पृथ्वीराज का दरबारी कवि रहा होगा, क्योंकि प्रथम सर्ग में पृथ्वीराज के उस ग्रन्थ के सुनने की इच्छा का निर्देश है। लेखक काश्मीरी पण्डित ही होगा क्योंकि :—

१—मंगलाचरण और प्रारम्भ में कवियों की आलोचना विल्हण की रीति के अनुसार ही है।

२—काश्मीर की अत्यधिक प्रशंसा है।

३—राजस्थान के लिए महान् उपयोगी ऊँट की निन्दा की गई है। यदि लेखक राजस्थानी होता तो संभवतः वह ऐसा कभी न करता।

४—दूसरी 'राज-तरंगणी' के लेखक काश्मीरी कवि जोनराज ने उसकी व्याख्या की है।

५—जहाँ तक ज्ञात है, इस ग्रन्थ का निर्देश और उद्धरण केवल काश्मीरी कवि जयरथ ने ही किया है।

यह सम्भव है कि बारहवें सर्ग में (प्रति के अन्त में) पृथ्वीराज के दरबार में जो जयानक नामी काश्मीरी कवि आता है, वही पृथ्वीराजविजय का निर्माता हो, किन्तु जब तक इस ग्रन्थ की पूर्ण प्रति नहीं मिल जाती तब तक इसका निर्णय होना कठिन ही है।[1]

इस ग्रन्थ का रचना-काल पृथ्वीराज के समय में ही होना ज्ञात होता है; क्योंकि जयरथ (ईस्वी सन् १२००) अपने ग्रन्थ 'विमर्शिनी' में 'पथ्वीराज विजय' से ही उद्धरण लेता है।

अतएव इसका रचना-काल सन् १२०० के बाद नहीं हो सकता। पृथ्वीराज-विजय के एकादश सर्ग में गुजरात के राजा भीमदेव की विजय मुहम्मद गोरी पर वर्णित की गई है। तबकात-इ-नासिरी के अनुसार यह घटना हिजरी ५७४ या ११७८ सन् की है।[2] इससे ज्ञात होता है कि 'पृथ्वीराज-विजय' की रचना सन् ११७८ के

---

१ निम्नलिखित स्थान से सामग्री प्राप्त हो सकती है :—

१—काश्मीर यात्रा पर लिखी हुई डा० बुलर (Buhlar) की रिपोर्ट की कुछ पंक्तियाँ जो रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के जनरल १९१३ में प्रकशित हुई हैं।

२—'इन्डियन एन्टीकरी' के भाग २६, पृष्ठ १६२-६३ में बुलर का 'अजमेर' शीर्षक लेख।

३—बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी को उन्हीं का पत्र जो उनकी रिपोर्ट में सन् १८९३ के अप्रैल-मई अंक में प्रकाशित हुआ है।

४—वियना ओरियन्टल जनरल के ७ वें भाग, पृष्ठ १८८-९२ में से मारिसन का लेख 'सम एकाउंट अव् दि जीनियालाजी इन दि पृथ्वीराज विजय।'

२ दि तबकात-इ-नासिरी, पृष्ठ ४५२ (मेजर एच० जी० रेवर्टी)

बाद ही हुई होगी। अतः 'पृथ्वीराज-विजय' का रचना-काल सन् ११७८ और १२०० के बीच में माना जाना चाहिए।

साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी इस ग्रन्थ का बहुत अधिक है; क्योंकि अनेक स्थानों पर पाये हुए शिलालेखों के द्वारा भी इस ग्रन्थ की घटनाओं की पुष्टि होती है। इसकी कथा का सारांश इस प्रकार है :—

प्रथम सर्ग—महाकवि वाल्मीकि, व्यास, भास की वन्दना। तत्कालीन कविकृष्ण और विश्वरूप का भी निर्देश है जिसमें प्रथम की भर्त्सना और दूसरे की प्रशंसा है। पृथ्वीराज का यशोवर्णन है। वह छः भाषाओं का पंडित है। बाल्यावस्था से ही वह महत्त्वाकांक्षी है। कवि के निवास-स्थान पुष्कर के इतिहास और उसके महात्म्य-वर्णन के साथ सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग—सूर्य-मंडल से चौहान राजपूतों के आदि पुरुष चाहमान के अवतरण का वर्णन है। वह सूर्यवंशी कहा गया है। उसी के कुल में वासुदेव का जन्म हुआ जो अपने समय में प्रशंसित हुआ।

तृतीय और चतुर्थ सर्ग—वासुदेव का वर्णन, अजमेर से ५३ मील दूर शाकम्भरी झील पर उसका प्रस्थान। झील की उत्पत्ति कथा।

पञ्चम सर्ग—वासुदेव का वंश-वर्णन, जो मेवाड़ के विजौली शिलालेख (संवत् ११७०) से पूर्ण साम्य रखता है। उसी वंश में अजयराज की प्रशंसा जिसने अजयमेरु (अजमेर) नगर अपने नाम पर बसाया। अजमेर के वैभव का वर्णन है।

षष्ठम सर्ग—अजयराज के पुत्र अर्णोराज का वर्णन। मुसलमानों पर उसकी विजय। अर्णोराज की दो रानियाँ थीं; सुधवा (अवीजिया मारवाड़) और कंचनदेवी (गुजरात)। सुधवा के तीन पुत्र हुए, जिनमें विग्रहराज सतोगुणी था। कंचनदेवी से सोमेश्वर हुआ। सोमेश्वर के पुत्र के विषय में भविष्यवाणी है कि वह राम का अवतार होगा। सोमेश्वर अपने नाना के यहाँ ले जाया गया, वहीं उसका पालन हुआ।

सप्तम सर्ग—बाल्यावस्था में सोमेश्वर के पालक कुमारपाल का वर्णन। सोमेश्वर ने युद्ध में अपनी ही तलवार से कोकन के राजा का सिर काट लिया। सोमेश्वर का विवाह त्रिपुरि (आधुनिक जबलपुर के समीप) के राजा की लड़की कर्पूरदेवी से हुआ। पृथ्वीराज का जन्म वैशाख शुक्ल पक्ष में हुआ (संवत् का निर्देश नहीं है)।

अष्टम सर्ग—पृथ्वीराज का जन्मोत्सव। कर्पूरदेवी से द्वितीय पुत्र हरिराज का जन्म। विग्रहराज आदि की मृत्यु के उपरान्त मंत्रियों द्वारा सोमेश्वर का

सपादलक्ष (अजमेर) लाया जाना । कर्पूरदेवी का दोनों पुत्रों, पृथ्वीराज और हरिराज सहित आगमन । सोमेश्वर का नूतन रूप से नगर निर्माण । सोमेश्वर की मृत्यु ।

नवम सर्ग—दोनों पुत्रों की बाल्यावस्था के कारण कर्पूरदेवी का शासन । नगर की वैभव-वृद्धि । पृथ्वीराज की शिक्षा । पृथ्वीराज का सौन्दर्य । पृथ्वीराज के मंत्री कादम्बवाम का सुयोग्य मंत्रित्व । पृथ्वीराज का रामावतार के रूप में वर्णन, कादम्बवाम का हनुमान के रूप में, हरिराज का लक्ष्मण के रूप में ।

दशम सर्ग—पृथ्वीराज का यौवन । अनेक राजकुमारियों की उनके साथ विवाह करने की लालसा । पृथ्वीराज का युद्ध-वर्णन । गजनी को अधिकार में कर लेने के बाद गोरी की महत्त्वाकांक्षा । उनके दूत का अजमेर में आगमन । पृथ्वीराज के वीरों का शौर्य-वर्णन ।

एकदश सर्ग—कादम्बवास का गोरी से युद्ध करना, गरुण का सर्पो से युद्ध करने के समान वर्णन करना । इसी समय गुजरात के राजा भीमदेव द्वारा गोरी के पराजित होने का समाचार मिलना । हर्षोत्साह । पृथ्वीराज का अपनी चित्र-शाला में प्रस्थान । वहां चित्रों को देख प्रेमावेग से पृथ्वीराज का उद्विग्न हो जाना ।

द्वादश सर्ग—परम विद्वान् जयानक कवि का पृथ्वीराज के दरबार में आना । हस्तलिखित ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ में इस बात की छाया है कि कवि छः भाषाओं को जानता है और उसे सरस्वती से आज्ञा मिली है कि वह विष्णु के अवतार पृथ्वीराज की सेवा करे ।

यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ कितना बड़ा है, पर पह निश्चय है कि इस ग्रंथ में और भी सर्ग अवश्य रहे होंगे । इसमें गोरी और पृथ्वीराज की विजय का वर्णन तो अवश्य ही होना चाहिये, क्योंकि वह पृथ्वीराज की सबसे बड़ी विजय है और उसका इस ग्रंथ में विशेष स्थान रहना चाहिए । ग्रंथ का नाम ही ऐसा है ।

इस प्रकार जहां तक ऐतिहासिक घटनाओं से संबंध है, पृथ्वीराज रासो बहुत भ्रमपूर्ण है ।[1] विजय में पृथ्वीराज के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है वह चौहानों के शिलालेखों से पूर्ण साम्य रखता है । मुंशी देवीप्रसाद का कथन है कि 'रासो' में पृथ्वीराज की वीरता का परिचय देने के लिए रासोकार ने बहुत से राजाओं के झूठे नाम लिख रखे हैं ।

आबू पहाड़ के राजा जेत और सलख के नाम शिलालेखों में कहीं भी नहीं मिलते ।

१ दि इंपीरियल गजेटियर ऑव् इंडिया, भाग २, पृष्ठ ३०४

आबू पर उस समय धारावर्ष परमार राज्य करता था, जिसका उल्लेख कहीं नहीं है। पृथ्वीराज की शक्ति का परिचय देने के लिए अनेक राजाओं का पृथ्वीराज के हाथों मारा जाना लिखा है। गुजरात के राजा भीमदेव पृथ्वीराज के हाथों मारे गए, किन्तु शिलालेखों के अनुसार वे सं० १२७२ तक जीवित रहे। शहाबुद्दीन गोरी भी पृथ्वीराज के तीर से नहीं मारा गया। सं० १२६० में गक्करों के हाथों उसकी मृत्यु हुई। पृथ्वीराज से सौ वर्ष बाद के राजाओं को उसका समकालीन होना लिखा गया है। चित्तौड़ के रावल समरसी के साथ पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह होना वर्णित है, किन्तु समरसी के शिलालेख सं० १३३५—१३४२ के भी मिलते हैं।[१] इस प्रकार 'रासो' में केवल ऐतिहासिक घटनाओं ही में नहीं, वरन् तिथियों में भी भूलें भरी पड़ी हैं। कपोलकल्पित और मनमानी कथाएँ इतनी अधिक हैं कि वे अविश्वसनीय भी हैं और उनका इतिहास से कोई सम्बन्ध भी नहीं पाया जाता।

कविराज श्यामलदास ने इसकी अप्रामाणिकता स्थान-स्थान पर निर्देशित की है।[२] वे इसे पृथ्वीराज के समय से अनेकों शताब्दियों बाद राजपूताने के किसी चारण अथवा भट्ट द्वारा अपनी जाति के महत्त्व और चौहान वंश के गौरव के प्रदर्शित करने के लिए लिखा गया मानते हैं। यह ग्रन्थ-रचना राजस्थान में ही हुई है, क्योंकि 'रासो' में प्रयुक्त बहुत से प्रयोग ऐसे हैं, जो केवल राजस्थान में ही बोले और समझे जाते हैं। जैसे :—

यह घांत सद्ध गोरी सुवर, करूँ चूक कै सज्ज रन
(आखेट चूक, पाँचवीं चौपाई)

चूक करने का अर्थ है छल से वध करना। इस अर्थ में यह राजस्थान के अतिरिक्त अन्य स्थानों में नहीं बोला जाता। इसी प्रकार अनेक प्रयोग दिये जा सकते हैं।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'रासो' की प्रामाणिकता के विषय में बहुत कुछ लिखा है।[३] उनका कथन है कि पृथ्वीराज, जयचन्द, कालिंजर के राजा परमार दिदेवा के विषय में प्राप्त दान-पत्र और शिलालेख एक दूसरे की पुष्टि करते हैं। गोरी के सम्बन्ध में रेवर्टी की तबकातइ-नासिरी भी उक्त संवतों से साम्य रखती है। चन्द ने पृथ्वीराज का जन्म काल संवत् १११५, पृथ्वीराज का गोद जाना संवत् ११२२, कन्नौज गमन संवत् ११५१ और सहाबुद्दीन गोरी के साथ अन्तिम

१. मुंशी देवीप्रसाद लिखित पृथ्वीराज रासो शीर्षक लेख, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका सं० १९०१, भाग ५, पृष्ठ १७०

२. जनरल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल (१८७३). पृष्ठ १६७

३. श्यामसुन्दर दास—हिन्दी का आदि कवि
नागरी प्रचारिणी पत्रिका १९०१, भाग ५, पृष्ठ १७५।

युद्ध संवत् ११५८ लिखा है। तबकात-इ-नासिरी में अंतिम युद्ध का समय हिजरी ५८८ दिया गया है, जो सं० १२४८ होता है। वास्तविकतिथि से चन्द का संवत् ९० वर्ष पीछे है। अन्य घटनाओं का भी यही संवत् इतिहास-सिद्ध है। अतएव इस भूल में अवश्य कोई कारण है।

हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों के अनुसंधान में पं मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या से ९ प्राचीन परवानों और पट्टों की प्राप्ति हुई है। उनसे यह ज्ञात होता है कि ऋषीकेश जिसका वर्णन उक्त परवानों में है, कोई बड़ा वैद्य था, जो पृथा के विवाह में समरसी को दहेज में दिया गया था। पृथाबाई ने जो अन्तिम पत्र अपने पुत्र को लिखा था उसमें उन चार घर के लोगों का उल्लेख है जो उनके साथ चित्तौड़ से आए थे। उनका वर्णन 'रासो' में इस प्रकार है :—

श्रीपत साह सुजान देश थम्मह संग दिन्नो। अरु प्रोहित गुरुराम ताहि अग्या नृप किन्नो॥
रिषीकेष दिये ब्रह्म ताहि धनन्तर पद सोहे। चन्द सुतन कवि जल्ह असुर सुर नर मन मोहे॥

इस तरह श्रीपत शाह गुरुराम प्रोहित, ऋषीकेश और चन्द-पुत्र जल्हन का वर्णन है।

पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है, उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय संवत् ११२२ विदित होता है।

चन्द ने अपने रासो के दिल्ली दान सम्यौ में लिखा है :—

एकादस संवत अट्ठ अग्ग हत तीस भने। = (संवत् ११२२)

संवतों में नियमित रूप से ९० या ९१ वर्षों की भूल होती है। संभवतः पृथ्वीराज का 'साक' चलाने के लिए ही एक नवीन संवत् की कल्पना कर ली गई हो। आदिपर्व में चन्द ने लिखा ही है :—

एकादस सै पंचदह विक्रम जिमि ध्रुम सुत्त। त्रतिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्रगुन गुप्त॥

अथवा एक कारण यह भी हो सकता है कि जयचन्द के पूर्व राजाओं से लेकर स्वयं जयचन्द ने केवल ९०-९१ वर्ष राज्य किया। जयचन्द से वैमनस्य होने के कारण कवि ने उसके राजत्व-काल को न गिना हो। इसलिए ९०-९१ वर्ष का अन्तर पड़ गया हो।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक सिद्ध करने की चेष्टा की है। इधर के विद्वानों ने उसे एकमात्र अप्रामाणिक माना है। यहाँ तक कि सर जार्ज ग्रियर्सन भी उसके सम्बन्ध में निश्चित मत नहीं रखते। उसके विषय में वे कहते हैं :—

यदि यह ग्रंथ प्रामाणिक है तो यह भारत के इस भाग विशेष का तत्कालीन इतिहास है।[1] यद्यपि यह ग्रंथ संदिग्ध माना गया है तथापि सच बात तो

१ इंपीरियल गजेटियर ऑव् इंडिया, भाग २, पृष्ठ ४२७

यह है कि संस्कृत महाभारत की भाँति इसमें इतने अंश प्रक्षिप्त हैं कि वास्तविक ग्रंथ में से क्षेपकों को अलग करना असम्भव है अतः 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के विषय में दो मत हो गए हैं।

श्री मुरारीदान और श्यामलदास ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में 'रासो' की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रकट किया था। उनके मत से सहमत होकर और 'पृथ्वीराज विजय' की सामग्री से विश्वस्त होकर ही डा० बुलर ने रायल एशियाटिक सोसाइटी से 'रासो' का प्रकाशन स्थगित करा दिया था। मुंशी देवीप्रसाद ने भी 'पृथ्वीराज रासो' शीर्षक लेख में 'रासो' के प्रति शंका प्रकट की थी[1] और उसे ऐतिहासिक महत्त्व से शून्य बतलाया था। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा पुरातत्व के आचार्य समझे जाते हैं। उन्होंने भी 'पृथ्वीराज रासो का निर्माण-काल' शीर्षक लेख लिख कर 'पृथ्वीराज रासो' की अप्रामाणिकता सिद्ध की है।[2]

दूसरी ओर श्री श्यामसुन्दर दास और मिश्रबन्धु इस ग्रन्थ को जाली नहीं मानते। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'नवरत्न'[3] में तो ओझा जी के प्रमाणों को युक्तिपूर्वक निरर्थक भी बतलाया है। श्री श्यामसुन्दर दास और श्री मिश्रबन्धु 'रासो' को अनेक प्रक्षिप्त अंशों से पूर्ण अवश्य मानते हैं, पर उसकी प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट नहीं करते। प्रोफ़ेसर रमाकान्त त्रिपाठी ने भी महाकवि चन्द के वंशधर श्री नेनूराम जी ब्रह्मभट्ट (जो महाकवि चन्द से २७वीं पीढ़ी में हैं) का परिचय देते हुए[4] पृथ्वीराज रासो की एक प्राचीन प्रति का परिचय दिया है, जिसका रचनाकाल संवत् १४५५ है।

"संवत् १४५५ वरषे शरद ऋतौ आश्विन मासे शुक्ल पक्षे उदयात् घटी १६ चतुरथी दिवसे लिषतं। श्रीषरतरगच्छधिराजें; पण्डित श्री० रूप जी लिषतं। चेल: श्री० सोभा जीरा। कपासन मध्ये लिपिकृतं।"

नेनूराम जी स्वयं कहते हैं कि रासो का अधिकतर अंश प्रक्षिप्त है और वह सोलहवीं शताब्दी में जोड़ा गया है। नेनूराम जी के पास सुरक्षित प्रति जिसका लिपि-काल सं० १४५५ है, यह स्पष्ट सिद्ध करती है कि 'रासो' विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्व भी विद्यमान था जिसके आधार पर उक्त प्रति की प्रतिलिपि की

---

१ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् १६०१, भाग ५, पृष्ठ १७०

२ ,, ,, भाग १०, अङ्क १-२

३ नवरत्न (गङ्गा ग्रन्थागार, लखनऊ) संवत् १६६१

४ महाकवि चन्द के वंशधर ('चाँद' मारवाड़ी-अङ्क, वर्ष ८, खण्ड १, नवम्बर १६२६, पृष्ठ १४६)

गई होगी, किन्तु नेनूराम जी की प्रति अभी तक आलोचकों के सम्मुख नहीं आई और उसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ विचार भी नही हुआ। अतः इस प्रति के सम्बन्ध में विश्वस्त रूप से अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रक्षिप्त अंशों के विषय में विचार करते हुए पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी चन्द के वंशधर जदुनाथ के संवत् १८०० के स्वरचित ग्रन्थ 'वृत्त विलास' का निर्देश किया था और लिखा था कि उस ग्रन्थ में जदुनाथ ने चंद के 'रासो' का वही आकार बतलाया है, जो उसका वर्तमान आकार है। ओझा जी लिखते है कि "जदुनाथ के यहाँ अपने पूर्वज का बनाया हुआ मूल ग्रन्थ अवश्य होगा; जिसके आधार पर उसने उक्त ग्रन्थ का परिमाण लिखा होगा।"[1] इसका उत्तर श्री मिश्रबन्धु ने बड़ी झुंझलाहट से दिया है। वे लिखते हैं :—

"आपकी समझ में सं० १२४८ से सं० १८०० तक रासो में कोई क्षेपक का बढ़ना असंभव था, और यदुनाथ पूरे ६०० वर्षों के रासो सम्बन्धी आकार के खजांची बने-बनाए हैं। आपको तो रासो मिट्टी में मिलाना है, सो कोई भी प्रमाण इसके लिये अकाट्य क्षमता रखता है।"[2]

एक बात अवश्य है कि प्रक्षिप्त अंशों के विषय में ओझा जी ने जो धारणा बनाई है, वह जदुनाथ के संवत् १८०० के 'वृत्त विलास' के आधार पर है। श्री नेनूराम की प्रति संवत् १४५५ की है, जिसमें भी प्रक्षिप्त अंश हैं और जिन्हें नेनूराम जी सोलहवीं शताब्दी के लगभग डाले गये बतलाते हैं। कहा नहीं जा सकता कि श्री ओझा जी ने नेनूराम की रासो की संवत् १४५५ वाली प्रति देखी है या नहीं।

यदि नेनूराम जी की १४५५ वाली प्रति ठीक है, तब एक विचारणीय विषय और उपस्थित होता है। वह यह कि श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा 'पृथ्वीराज रासो' की रचना संवत् १४६० से पहले मानते ही नहीं हैं। उनका कथन है :—

"वि० सं० १४६० में 'हम्मीर काव्य' बना...। उसमें चौहानों का विस्तृत इतिहास है, परन्तु उसमें पृथ्वीराज रासो के अनुसार चौहानों को अग्निवंशी नहीं लिखा और न उसकी वंशावली को आधार माना गया है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय तक 'पृथ्वीरास रासो' प्रसिद्धि में नहीं आया। यदि 'रासो' की प्रसिद्धि हो गई होती, तो 'हम्मीर महाकाव्य' का लेखक उसी के आधार पर चलता।"[3]

पृथ्वीराज रासो का समय निर्णय करते हुए ओझा जी लिखते हैं :—

"महाराणा कुम्भकर्ण ने वि० सं० १५१७ में कुम्भलगढ़ के किले की प्रतिष्ठा

---

१ पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल (ना० प्र० पत्रिका, भाग १०, पृष्ठ ६४)

२ हिन्दी नवरत्न (गङ्गा ग्रन्थागार, लखनऊ सं० १९९१) पृष्ठ ६०९-१०

३ पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल; ना० प्र० पत्रिका भाग १०, पृष्ठ ६०

की और वहाँ के मामादेव (कुम्भ स्वामी) के मन्दिर में बड़ी-बड़ी पाँच शिलाओं पर कई श्लोकों का एक विस्तृत लेख खुदवाया, जिसमें मेवाड़ के उस समय तक के राजाओं का बहुत कुछ वृत्तान्त दिया है। उसमें समरसिंह के पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह करने या उसके साथ शहाबुद्दीन की लड़ाई में मारे जाने का कोई वर्णन नहीं है, परन्तु विक्रम संवत् १७३२ में महाराणा राजसिंह ने अपने बनवाए हुए राजसमुद्र तालाब के नौचौकी नामक बांध पर २५ बड़ी-बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया, जो अब तक विद्यमान है। उसके तीसरे सर्ग में लिखा है कि 'समरसिंह ने पृथ्वीराज की बहिन पृथा से विवाह किया और शहाबुद्दीन के साथ की लड़ाई में वह मारा गया, जिसका वृत्तान्त भाषा के 'रासो' नामक पुस्तक में विस्तार से लिखा हुआ है।' (राज प्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग ३)...निश्चित है कि रासो वि० सं० १५१७ और १७३२ के बीच किसी समय मे बना होगा।"[१]

रासो को जाली ठहराने के लिए जो प्रमाण दिये गये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

१. उसमें इतिहास सम्बन्धी अनेक भ्रान्तियां हैं, जो शिलालेखों और 'पृथ्वीराज विजय' से सिद्ध हो जाती हैं।
२. उसमें तिथियां बिलकुल अशुद्ध दी गई हैं।
६. उसमें अरबी-फारसी के शब्द बहुत हैं, जो चन्द के समय किसी प्रकार भी व्यवहार में नहीं लाये जा सकते थे। ऐसे शब्द प्रायः दस प्रतिशत हैं।
४. भाषा अनुस्वारांत शब्दों से भरी हुई है और उसमें कोई स्थिरता नहीं है। प्राकृत और अपभ्रंश की शब्द-रूपावली का कोई विचार ही नहीं है और शब्दों की रूपावली और नये पुराने ढंग की विभक्तियां बुरी तरह से मिली हुई हैं।

इन प्रमाणों के विरोध में मिश्रबन्धुओं ने बाबू श्यामसुन्दर दास से अनेक बातों में सहमत होकर अनेक दलीलें पेश की हैं।

(१) इतिहास सम्बन्धी भ्रान्तियों के वे तीन कारण समझते हैं:—

(अ) चंद ने अपने स्वामी का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रताप-कथन किया हो। कवि के लिए यह स्वाभाविक ही है।

(आ) जो भ्रान्तियां मालूम पड़ती हैं, वे वास्तव में भ्रान्तियां नहीं हैं, क्योंकि नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित कुछ तत्कालीन पट्ट परवानों से उनकी पुष्टि होती है। यदि ओझा जी इन्हें जाली मानते हैं तो यह उनका "साहस मात्र" है।

---

१ पृथ्वीराज रासो का निर्माणकाल ना० प्र० पत्रिका भाग १०, पृष्ठ ६२

(इ) यदि ये वास्तव में भ्रान्तियां हैं, तो क्षेपकों के कारण हो सकती हैं।

(२) तिथियों के बारे में श्री मिश्रबन्धु निम्नलिखित कारण देते हैं :—

'रासो' के संवत् विक्रम संवत् से ६० वर्ष कम हैं। यह अंतर सभी तिथियों में दीख पड़ता है। इसका कारण यह है कि "रासो में साधारण विक्रमीय संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। उसमें किसी ऐसे संवत् का प्रयोग हुआ है, जो वर्तमान काल के प्रचलित विक्रमीय संवत् से ६० वर्ष पीछे था।" यह अनन्द संवत् कहा गया है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या जी ने भी लिखा है कि समरसी के पट्टे परवानों में भी इस संवत् का प्रयोग किया गया है। बाप्पा रावल आदि के समय भी इसी संवत् से मिलाए जा सकते हैं। अतः जान पड़ता है कि उस समय राजाओं के यहाँ यही 'अनन्द' संवत् प्रचलित था।

(३) अरबी फारसी शब्दों के विषय में श्री मिश्रबन्धु बाबू श्यामसुन्दरदास के मत का निर्देश करते हुए दो कारण लिखते हैं :—

(अ) शाहबुद्दीन गोरी से लगभग पौने दो सौ वर्ष पहले महमूद गजनवी भारत में लूट-मार करने आ चुका था। गजनवी से तीन सौ वर्ष पहले भी सिंध और मुल्तान पर मुसलमानों का अधिकार हो चुका था और वे भारत में अपना व्यापार करने लगे थे। पंजाब भी मुसलमानी संस्कृति से प्रभावित हो चुका था। चन्द लाहौर का निवासी था, अतः उसकी बाल्यावस्था से ही ये अरबी-फारसी शब्द उसके मस्तिष्क में प्रवेश करने लगे थे। इस कारण चन्द की भाषा में मुसलमानी शब्दों का होना स्वाभाविक है।

(आ) 'रासो' का बहुत सा भाग प्रक्षिप्त है, अतः परवर्ती काल में मुसलमानी आतंक के साथ-साथ भाषा पर अरबी, फारसी का आतंक होना भी स्वाभाविक था। इसीलिये प्रक्षिप्त अंशों में और भी मुसलमानी शब्दों के आ जाने से रासो में दस प्रतिशत शब्द अरबी-फारसी के आ गए हैं।

(४) भाषा की शब्द-रूपावली के सम्बन्ध में श्री मिश्रबन्धु का कथन है कि भाषा के नवीन रूप जहाँ 'रासो' की अर्वाचीनता को सिद्ध करते हैं वहाँ प्राचीन रूप 'रासो' की प्राचीनता को भी प्रमाणित करते है। प्रक्षिप्त अंशों के कारण ही भाषा की शब्द-रूपावली अर्वाचीन हो गई है, नहीं तो 'रासो' का वास्तविक रूप प्राचीनता ही लिए हुए है।

दोनों मतों के प्रमाणों को ध्यान में रखकर 'रासो' की प्रामाणिकता पर कुछ निश्चित रूप से कहना बहुत ही कठिन है। 'रासो' हमारे साहित्य का आदि ग्रन्थ

है। वह प्राचीन काल से श्रद्धा की दृष्टि से देखा गया है। उसमें हमारे साहित्य का श्रीगणेश हुआ है। अतः उसके विरुद्ध कुछ कहना अपने साहित्य की प्राचीन सम्पत्ति को खो देना है। दोनों मतों में कौन मान्य है, यह तो भविष्य ही बतलायेगा, पर अभी तक जितनी खोज हुई है उसको दृष्टि में रख कर मैं 'रासो' को अप्रामाणिक मानने के लिए ही बाध्य हूँ। संक्षेप में कारण निम्नलिखित है :—

१—इतिहास में अतिशयोक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। कवि अपने संरक्षक का प्रताप-वर्णन करने में पूर्ववर्ती और परवर्ती व्यक्तियों का अपने संरक्षक से साक्ष्य नहीं करा सकता। कवि घटनाओं का विस्तार चाहे जितना कर दे, पर ऐतिहासिक व्यक्तियों के समय में व्यतिक्रम नहीं कर सकता। इसी आधार पर हम "गोरख की गोष्ठी", "बलख की पैज", "मुहम्मद बोध" आदि कबीर के ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते। वे कबीर के लिखे हुए नहीं हैं। कबीर के शिष्यों ने अपने गुरु का महत्त्व बतलाने के लिए गोरख, मुहम्मद और शाह बलख से उनका वार्तालाप करा कर अपने पन्थ के ज्ञान की प्रशंसा की है। कबीर इन तीनों के समकालीन नहीं थे और इस प्रकार वे इन व्यक्तियों के सम्पर्क में किसी प्रकार भी नहीं आ सकते थे। इसी प्रकार समरसी जो संवत् १३४२ में वर्तमान थे, किसी प्रकार भी पृथ्वीराज चौहान के समकालीन नहीं हो सकते। वे पृथ्वीराज चौहान के लगभग १०० वर्ष बाद हुए। उनका विवाह किसी प्रकार भी पृथ्वीराज की बहिन पृथा के साथ नहीं हो सकता। ये घटनाएँ किसी भांति भी प्रक्षिप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये रासो की कथावस्तु के साथ सम्पूर्ण रूप से सम्बद्ध हैं। रासो का 'बान बेध सम्यौ' तो कवि की मिथ्या कल्पना है।

२—तिथियों की अशुद्धता इतिहास के द्वारा प्रामाणित हो गई है। 'अनन्द' संवत् केवल क्लिष्ट कल्पना है। 'अनन्द' का अर्थ (अ=०, नन्द=९ इस प्रकार काव्य परिपाटी से ९०) मानना और संवतों में ९० कम होने का प्रमाण सिद्ध करना उपहासास्पद है। जयचन्द के पूर्व से लेकर स्वयं जयचन्द का ९०-९१ वर्ष राज्य करना और उससे वैमनस्य होने के कारण कवि का उसका राजत्व काल न गिनना एक विचित्र बात है।

३—अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग 'रासो' के सभी 'सम्यौ' में समान रूप से है। किसी 'सम्यौ' के कितने अंश को प्राचीन और प्रामाणिक माना जावे और कितने को प्रक्षिप्त, यह निर्धारण करना बहुत कठिन है। यदि फारसी और अरबी शब्दों को निकाल कर 'रासो' का संस्करण किया जाय तो कथा का रूप ही विकृत हो जायगा। किस शब्द को निकाला जाय और किसे न निकाला जाय, यह भी निश्चित करना बहुत कठिन है। फिर हमें 'रासो' में कुछ ऐसे फारसी शब्द मिलते हैं जो बिलकुल अर्वाचीन अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसे—

बँचि कागज चहुँआन ने फिर न चंद सर थान ।[1]

यहाँ 'कागज बांचना' पत्र पढ़ने के अर्थ में है, जिसका प्रयोग अर्वाचीन है । इस प्रकार "**कुसादे कुसादे** चवै मुष्ष खानं"[2] में 'कुसादे' का प्रयोग है ।

४—भाषा की भिन्नकालीन विषमता तो 'रासो' की प्रामाणिकता को सबसे अधिक नष्ट करती है । एक ही छंद में शब्दों की विविध रूपावली के दर्शन होते हैं । क्या एक ही शब्द में समय का इतना अधिक अन्तर हो जाता है जिससे शब्द का रूप ही बदल जावे ? शब्दों और विभक्तियों की भिन्न-रूपावली छन्दों में गुथी पड़ी है । यह किस प्रकार अलग की जा सकती है ? २७ वें 'सम्यौ' में हम 'कागज बांचने' के मुहावरे पर विचार कर चुके हैं । उसी सम्यौ में "कागज" को 'कग्गज' के रूप में लिखा गया है[3] जिसका कोई विशेष कारण नहीं है । 'कग्गज' के स्थान में कागज सरलतापूर्वक लिखा जा सकता था, क्योंकि 'दूहा' मात्रिक छन्द में दोनों की मात्राएँ बराबर हैं । एक ही 'सम्यौ' में—केवल २० छन्दों के अन्तर पर—शब्द की भिन्न रूपावली का क्या कारण हो सकता है ?

इसी प्रकार निम्नलिखित कुछ शब्दों के कितने बहुत से रूप मिलते हैं :—

१. बात—बात, बत्त, बत, वत

२. शैल—सैल, सयल, सइल, सेलह

३. मनुष्य—मनुष, मानुष्य, मानष, मनष

४. एक—एक, इक, इकह, इकि, इक्क

व्यंजन भी कहीं संयुक्त रूप से सरल और सरल से संयुक्त हो गए हैं :—

१. पहुकर, पोक्खर

२. कर्म्म, कम्म, क्रम्म, काम

३. कारज, काज, कज्ज

४. अस्नान, सनान, न्हान ।

कहा जा सकता है कि छन्द के अन्तर्गत मात्रा की पूर्ति के लिए कवि को शब्दों का रूप विकृत करना पड़ा । अथवा लेखक या लिपिकार से लिखने में भूल हो गई, किन्तु ये दोष इतने बड़े हैं कि इतने बड़े काव्यकार से नहीं हो सकते । फिर जहां वर्णवृत्त छन्द हैं, वहां भी शब्द-रूपों में भिन्नता है । अतएव इस ग्रन्थ की भाषा बहुत अनिश्चित है[4] । भाषा की प्रथम परिस्थिति में यह असंस्कृत हो सकती

---

१ पृथ्वीराज रासो—रेवातट सम्यौ, छन्द ३१

२ „ „ छन्द ११७

३ „ „ छन्द ११

४ जान बीम्स—ग्रामर ऑव दि चंद बरदाई, जनरल ऑव् एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल, भाग ४२, प्रकरण १, १८७३

है, पर शब्दों के एक साथ इतने विकृत रूप नहीं हो सकते। 'रासो' की सभी प्राप्त प्रतियों में ये दोष ह। अतएव लिपिकार का दोष भी नहीं माना जा सकता।

५—'रासो' के प्रारम्भ में ईश्वर की वन्दना करने के बाद चन्द पहले तो ईश्वर को निराकार और निर्गुण कहते हैं जिसका रूप नहीं, रेखा नहीं, आकार नहीं—

"जिहित सबद नहीं रूप रेख आकार ब्रन्न नहीं"

बाद में वे उसी ब्रह्म को ब्रह्मा के रूप में परिवर्तित कर देते हैं। आगे चल कर दशावतार की कथा कही गई है। चन्द जैसा महाकवि क्या इतनी छोटी सी भूल कर सकता है?

६—"रासो' में अनेक वन्दनाएँ हैं—शिवस्तुति, ईश्वर-स्तुति, देवी-स्तुति, सूर्य-स्तुति आदि। यदि ये स्तुतियां चन्द ने लिखी होतीं तो इनका प्रभाव चारणकाल के अन्य कवियों पर अवश्य पड़ता और वे भी अपने ग्रन्थ में स्तुतियां अवश्य लिखते, पर चारणकाल के अन्य कवियों ने प्रारम्भिक मंगलाचरण के अतिरिक्त इस प्रकार की स्तुतियां लिखीं ही नहीं। चन्द जैसे महाकवि की शैली अवश्य ही परिवर्तित कवियों द्वारा मान्य होती। ये स्तुतियां तुलसीदास की विनय-पत्रिका की शिव, सूर्य, देवी आदि स्तुतियों की शैली से बहुत मिलती हैं। सम्भव है सत्रहवीं शताब्दी में जब तुलसीदास की ये स्तुतियां बहुत लोक-प्रिय थीं, किसी कवि ने उसी प्रकार की स्तुतिया लिख कर 'रासो' में सन्निविष्ट कर दी हों।

इस समय तक 'रासो' को प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध करने की सामग्री बहुत ही कम है। आज तक की सामग्री के सहारे 'रासो' को प्रामाणिक ग्रन्थ कहना इतिहास और साहित्य के आदर्शों की उपेक्षा करना है।

भट्ट केदार

'पृथ्वीराज रासो' के बाद दो ग्रंथों का उल्लेख मिलता है, जिनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पहला ग्रंथ है 'जयचंद प्रकाश' जिसका कर्ता भट्ट केदार कहा जाता है। इसने कन्नौज के अधिपति जयचंद की वीर-गाथा का गान किया है। इस ग्रंथ का परिमाण भी अज्ञात है, क्योंकि वह अभी तक अप्राप्य है, उसका केवल निर्देश मात्र 'राठौड़ां री ख्यात' नामक संग्रह-ग्रंथ में मिलता है; जिसका लेखक सिंघायच दयाल दास नामक कोई चारण था। अतः भट्ट केदार कृत 'जयचंद प्रकाश' हिन्दी साहित्य के इतिहास में केवल स्मरण कर लेने की वस्तु है। भट्ट केदार का समय संवत् १२२५ माना गया है।

दूसरा ग्रंथ 'जय मयंक जस चन्द्रिका' है, जिसमें जयचन्द की कीर्ति सुरक्षित की गई है। इसका लेखक मधुकर नामक कवि है जिसका

मधुकर

आविर्भाव काल सं० १२४० माना जाता है। यह ग्रंथ भी अप्राप्य है और इसका उल्लेख भी उपर्युक्त 'ख्यात' में पाया जाता है। यह निस्सन्देह खेद का विषय है कि हिन्दी साहित्य के इस समुन्नत काल में भी राजस्थान में ग्रन्थों के लिए पर्याप्त खोज नहीं हुई। इतिहास की सामग्री से पूर्ण ऐसे बहुत से ग्रन्थ होंगे, जो अंधकार में पड़े हुए हैं और हम उनके वास्तविक रूप को नहीं जान सके हैं। डा० एल० पी० टेसीटरी द्वारा राजस्थान में चारणकाल के ग्रंथों की जो खोज हुई है, उससे ही हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा काल के ग्रंथों की खोज समाप्त नहीं हो जाती।

मुंशी देवीप्रसाद का तो कथन है कि चारणकाल के प्रभात में ऐसे बहुत ग्रन्थ हैं, जो ऐतिहासिक और साहित्यिक होते हुए भी भली प्रकार से सुरक्षित नहीं रखे जा सके। "यदि ये संग्रह किये जायँ तो हिन्दुस्तान के इतिहास की अँधेरी कोठरी में कुछ उजाला हो जाय।" उन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सुरक्षित न रखे जाने का कारण यह था कि वे अधिकांश में डाढ़ी जाति के द्वारा लिखे गए थे। "डाढ़ियों का दर्जा नीचा होने से उनको चारण भाटों के समान राजाओं के दरबारों में जगह नहीं मिलती, इससे उनकी हिन्दी कविता उतनी मशहूर नहीं हुई है।[1]"

डाढ़ियों की कविता चारणों की कविता से भी पुरानी मानी जाती है। डाढ़ियों की फुटकर कविता तो अवश्य मिलती है, पर उनका कोई पूर्ण ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। एक पन्द्रहवीं शताब्दी का ग्रन्थ अवश्य प्राप्त हुआ है जिसका नाम है 'वीरमायण'। उसमें राव वीरमजी राठौर का शौर्य वर्णन है। जिनका शासन-काल संवत् १४३५ माना गया है। 'वीरमायण' के रचयिता डाढ़ी का नाम अज्ञात है। वह राव वीरम जी राठौर के आश्रय में अवश्य था। कहा जाता है कि ऊदावत राठौड़ ही डाढ़ियों को आश्रय देते थे। चांपावत राठौड़ डाढ़ियों को नीची जाति का मानकर उनकी अवहेलना करते थे। राजस्थान में एक कहावत भी है :—

चाँपा पालन चारणाँ ऊदा पालण डोम।

(अर्थात् चाँपावत राठौड़ तो चारणों को पालते हैं और ऊदावत डोम को)। चाहे डाढ़ी अपनी उत्पत्ति देवताओं के गायकों—गन्धर्वों से भले ही मानते हों, पर चाँपावत राठौड़ों में तो वे सदैव हेय थे।

राजस्थान के भाट और चारणों ने अनेक ग्रंथ लिखे, जो डिंगल साहित्य के महत्त्व को बहुत बढ़ा देते हैं। ये रचनाएँ चारणकाल तक ही सीमित नहीं रहीं वरन्

---

१ भाट और चारणों का हिन्दी भाषा सम्बन्धी काम—मुंशी देवीप्रसाद। 'चाँद' (मारवाड़ी अंक) नवम्बर १९२९, पृष्ठ २०९।

धार्मिक काल में भी अबाध रूप से होती रहीं। जब समस्त उत्तरी भारत इस्लाम की प्रतिद्वन्द्विता में वैष्णव-धर्म का प्रचार कर रहा था। रीति-काल में भी ये रचनाएँ होती रहीं और सम्भवतः चारणों की रचनाएँ अपनी परम्परा की रक्षा करती रहीं। हाँ, एक बात अवश्य है। जहाँ चारणों की रचनाएँ वीर रसात्मक होती रहीं वहाँ भाटों की रचनाएँ शृंगार रसात्मक। किंतु राजस्थान के इस साहित्यिक प्रवाह ने किसी काल में अपने को सीमित नहीं किया और अपनी परम्परा अक्षुण्ण रखी। यही कारण है कि सं० १३७५ के बाद जिस समय चारण-काल का महत्त्व भक्ति-काल के प्रभाव से क्षीण होने लगा, उस समय भी चारण-काल की डिंगल रचनाएँ अबाध रूप से होती रहीं, यद्यपि वे अप्रसिद्ध रहीं। इन परवर्ती अज्ञात रचनाओं पर भी कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। आगे पृष्ठों में चारण-काल की इन परवर्ती रचनाओं पर विवेचन होगा, पर 'पृथ्वीराज-रासो' के कुछ समय बाद ही कुछ ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें चारण-काल के आदर्शों की रक्षा की गई है। पहिले उन पर विचार हो जाना चाहिए। इस प्रकार का पहला ग्रन्थ महोबे का एक गीतिकाव्य है, जिसका नाम है आल्हखंड।

आल्हखंड—जगनिक (सं० १२३०) का यह वीर-रस प्रधान एक गीतिकाव्य माना जाता है। उसकी कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। पृथ्वीराज की मृत्यु के ग्यारह वर्ष बाद महोबा का पतन हो गया और उसके साथ परमाल का यश जो इस ग्रंथ का वर्ण्य-विषय है, विस्मृत हो गया। लेखक का नाम भी अज्ञात है, केवल जनश्रुति इस बात की सूचना देती है कि वह जगनिक के द्वारा रचित है। इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह रचना उत्तर भारत में बड़ी लोकप्रिय रही है। इसका साहित्यिक महत्त्व इतना नहीं है जितना जनसाधारण रुचि के अनुसार वर्णन का महत्त्व है। अतएव वह उन्हीं में अधिकतर प्रचलित है। मौखिक होने के कारण उसका पाठ अत्यन्त विकृत हो गया है। भावों के विकास के साथ उसकी भाषा में भी अन्तर हो गया है और बारहवीं शताब्दी में रचित होने पर भी उसमें 'बन्दूक' और 'पिस्तौल' शब्द आ गए हैं।

इसे लेखबद्ध करने का सबसे प्रथम श्रेय श्री (अब सर) चार्ल्स इलियट को है जिन्होंने सन् १८६५ में इसे अनेक भाटों की सहायता से फर्रुखाबाद में लिखवाया। कन्नौज के निकट होने के कारण फर्रुखाबाद की भाषा इस रचना का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करने में बहुत कुछ सफल हुई है। इसके अतिरिक्त सर जार्ज ग्रियर्सन ने बिहार[१] में और विंसेंटस्मिथ ने बुन्देलखण्ड[२] में भी आल्हखंड

१ इन्डियन एन्टीकरी, भाग १४, पृष्ठ २०९, २५५

२ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इन्डिया भाग ९, (१) पृष्ठ ५०२

के कुछ भागों का संग्रह किया है। मि० इलियट के अनुरोध से मि० डबल्यू वाटर-फील्ड ने उनके द्वारा संग्रहीत 'आल्हखंड' का अंगरेजी अनुवाद किया जिसका सम्पादन सर जार्ज ग्रियर्सन ने सन् १९२३ में किया।[1] उसमें बुन्देली शब्दों का प्राचीन रूप अनेक स्थलों पर पाया जाता है। मिस्टर वाटरफील्ड का अनुवाद कलकत्ता रिव्यू में सन् १८७५—६ में 'दि नाइन लाख चेन' या 'दि मेरो फ्यूड' के नाम से प्रकाशित हुआ था।

मि० वाटरफील्ड ने 'आल्हखंड' को 'पृथ्वीराज रासो' का एक भाग मात्र माना है। उनका कथन है कि वास्तविक रूप में यह 'रासो' का एक सम्पूर्ण खंड ही है।[2] यह सम्भव है कि कथा के विस्तार में समय के विकास से परिवर्तन हो गया हो और नये शब्द और नये वर्णन समय-समय पर इसमें मिला दिये गए हों, पर कथा का रूप तो चन्द से ही लिया गया जान पड़ता है। सर जार्ज ग्रियर्सन के मतानुसार यह रचना रासो से बिल्कुल भिन्न है। यद्यपि 'आल्हखंड' 'रासो' के महोबा खंड की कथा से साम्य रखता है, पर उसकी रचना बिलकुल स्वतंत्र है। चन्द की रचना दिल्ली के ऐश्वर्य और 'पृथ्वीराज' के गौरव के वर्णन का आदर्श रखती है, 'आल्हखंड' की रचना कन्नौज और महोबा के गौरव से सम्बद्ध है। दोनों रचनाओं में सिरसा युद्ध और मलखान की मृत्यु का अवश्य निर्देश है, पर दोनों की वर्णन-शैली सर्वथा भिन्न है। 'रासो' में महत्त्व केवल दिल्ली के चौहान वंश को है, किन्तु प्रस्तुत रचना में दिल्ली के चौहान, कन्नौज के राठौर और महोबा के चन्देल अपनी शक्ति का परिचय देते हैं। इसमें बनाफर वंश के आल्हा और ऊदल नामी दो वीरों का वीरत्व बड़ी ओजस्वी भाषा में वर्णित है। भाषा में तो महान् अन्तर है। इस प्रकार 'आल्हखंड' को एक स्वतंत्र रचना ही माननी चाहिए।

'आल्हखंड' में अनेक दोष भी हैं। उसमें पुनरुक्ति की भरमार है। युद्ध में एक ही प्रकार के वर्णन एक ही प्रकार की शस्त्र-सूची और एक ही प्रकार के दृश्य अनेक बार आये हैं, जिन्हें पढ़कर मन ऊब उठता है। कथा में सम्बद्धता भी नहीं है। अनेक स्थानों पर शैथिल्य है। उसका कारण यही है कि यह रचना मौखिक रहने के कारण अनेक प्रकार से कही गई है। कुछ अंश नये जोड़े गए होंगे और कुछ तो विस्मृत भी हो गए होंगे। कवि को भौगोलिक ज्ञान भी पूर्ण नहीं था, क्योंकि स्थानों की दूरी के सम्बन्ध में उनके बहुत से वर्णन अशुद्ध हैं। अत्युक्ति तो इस रचना में हास्यास्पद हो गई है। छोटी-छोटी लड़ाइयों में लाखों वीरों के मरने और खेत रहने का वर्णन है, पर इतना अवश्य कहा जा

---

१ दि ले ऑव् आल्हा (विलियम वाटरफील्ड)

२ ले ऑव् आल्हा (प्रस्तावना) पृष्ठ ११, १९२३

सकता है कि इस रचना में वीरत्व की मनोरम गाथा है, जिसमें उत्साह और गौरव की मर्यादा सुन्दर रूप से निभाई गई है। रचना के समय से लेकर अभी तक न जाने कितने सुप्त हृदयों में इसने साहस और जीवन का मन्त्र फूंका है। इस रचना ने यद्यपि साहित्य में कोई प्रमुख स्थान नहीं बनाया, तथापि इसने जनता की सुप्त भावनाओं को सदैव गौरव के गर्व से सजीव रखा। यह जनसमूह की निधि है और उसी दृष्टि से इसके महत्त्व का मूल्य आँकना चाहिए।

हम्मीर रासो—इसके रचयिता शारंगधर कहे जाते हैं, जिनका आविर्भाव चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसमें रणथम्भौर के राजा हमीर का गौरव-गान है। मुसलमान शासक अलाउद्दीन की सेना से हमीर का जो युद्ध हुआ था, उसका ओजस्वी वर्णन इस ग्रंथ की कथावस्तु माना गया है, किन्तु इस ग्रंथ की एक भी वास्तविक प्रति प्राप्त नहीं है। इतिहासकारों ने उसका निर्देश-मात्र कर दिया है। जिस प्रति के आधार पर इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है वह असली नहीं है। भाषा से यह ज्ञात होता है कि किसी परवर्ती कवि ने उसकी रचना की है। शारंगधर का समय (संवत् १३५७) माना जाता है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त हमीर की यशोगाथा के सम्बन्ध में एक ग्रन्थ और मिलता है। उसका नाम है 'हम्मीर महाकाव्य'। इसका लेखक ग्वालियर के तोमरवंशी राजा वीरमदेव के आश्रित जैन कवि नयचन्द्र सूरि था जिसका आविर्भाव विक्रम संवत् १४६० के आसपास माना गया है।[1] इस ग्रंथ में चौहानों को सूर्यवंशी लिखा गया है, अग्निवंशी नहीं। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इस ग्रन्थ के आधार पर भी 'रासो' को जाली समझते हैं।

विजयपाल रासो—नल्लसिंह भट्ट द्वारा रचित इस ग्रंथ में करौली नरेश विजयपाल के युद्धों का ओजपूर्ण वर्णन है। यद्यपि इसकी भाषा अपभ्रंश-युक्त है, तथापि इस भाषा में भी परिवर्तन के चिह्न हैं। काव्य की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत साधारण है। नल्लसिह का समय संवत् १३५५ माना गया है और उसके कथाप्रसंग का समय संवत् ११५०।

डिंगल साहित्य के प्रधान रूप से दो ही ग्रन्थ माने गए हैं, 'वीसलदेव रासो' और 'पृथ्वीराज रासो'। इनमें 'पृथ्वीराज रासो' संदिग्ध है। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ अभी तक प्रकाश में नहीं आए। यह समझना तो अयुक्ति संगत होगा कि डिंगल की रचना रासो ग्रन्थों के साथ ही समाप्त हो गई। चारणों के द्वारा डिंगल रचनाएँ अवश्य होती रही होंगी, पर या तो वे रचनाएँ साधारण रहीं अथवा प्रसिद्धि नहीं पा सकीं। एक बात और है। चारणकाल की रचनाएँ केवल पद्य में ही नहीं,

---

१ कोषोत्सव स्मारक संग्रह, पृष्ठ ३८

गद्य में भी होती रहीं जिसका प्रमाण राजस्थान की अनेक ख्यातों से मिलता है। चारणों के द्वारा लिखी गई अधिकांश रचनाएँ राजाओं की वंशावलियों से सम्बन्ध रखती हैं। ये चारण राजदरबार में रहा करते थे और अवसर विशेष पर अपने संरक्षक राणाओं की विरुदावली गाया अथवा लिखा करते थे। यही उनके इतिहास-लेखन का रूप था। चारणों के द्वारा विरुदावली का वर्णन चार प्रकार से किया जाता था :—इतिहास, वात, प्रसंग और दास्तान। डा० एल० पी० टैसीटरी के द्वारा संग्रहीत चारणकाल के हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह में "फुटकर ख्यात वात तथा गीत" नामक हस्तलिपि में इन शब्दों की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :—

जिण खिसा में दराजी रहै सो खिसौ **इतिहास** कहावै १.
जिण खिसा में कम दराजी सो खिसौ **वात** कहावै २.
इतिहास रो अवयव **प्रसंग** कहावै ३.
जिण वात में एक प्रसंग हीज चमत्कारीक होय तिका वात
दासतान कहावै[1] ४.........

ये इतिहास, वात, प्रसंग और दास्तान गद्य और पद्य दोनों ही में लिखे जा सकते थे। इतिहास और दास्तान तो अधिकतर गद्य में लिखे गए और वात और प्रसंग पद्य में।

मुंशी देवीप्रसाद इस विषय को निम्नलिखित अवतरण में और भी स्पष्ट करते हैं :—

"ये लोग पद्य को 'कविता' और गद्य को 'वारता' कहते हैं। 'वारता' ग्रंथ 'वचनका' वात और 'ख्यात' कहलाते हैं। 'वचनका' और 'ख्यात' इतिहास के और 'वात' किस्से-कहानी के ग्रन्थ है। इनमें गद्य-पद्य नों प्रकार की कविताएँ हैं। 'वचनका' और 'ख्यात' में बनावट का भेद होता है। 'वचनका' में तुकबन्दी होती है, 'ख्यात' में नहीं होती, पर उसकी इबारत सीधी-सादी होती है।"[2]

विषय के विचार से 'वात' के ग्रन्थों में राजाओं और वीर पुरुषों के जीवन-चरित्र, 'वचनका' ग्रन्थ में एक-एक चरित्र-नायक का विवरण और यश वर्णन, 'ख्यात' में राजाओं की वंशावलियाँ होती हैं।

अस्तु डिंगल साहित्य में काव्य-ग्रन्थ तो लिखे गए, पर वे अधिकतर अज्ञात ही है। चारणों के वंशजों ने उन्हें अपने वंश की निधि मानकर सुरक्षित तो अवश्य

१ ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलाग ऑव् बारडिक एंड हिस्टारिकल
मैनस्क्रिप्ट्स, सैक्सन १, प्रोज क्रानिकल्स, भाग १
डा० एल० सी० टैसीटरी, पृष्ठ ६

२ भाट और चारणों का हिन्दी भाषा सम्बन्धी काम—मुन्शी देवी प्रसाद।
'चाँद' (मारवाड़ी अंक) नवम्बर १९२९, पृष्ठ २०५

रखा, पर उन्हें प्रकाशित करने की चेष्टा कभी नहीं की। हमारे इतिहास-लेखकों ने भी उनकी खोज नहीं की और परम्परागत प्राप्त पुस्तकों पर आलोचना लिख कर ही संतोष की साँस ली। इस डिंगल साहित्य में बहुत-सी रचनाओं की तिथि अज्ञात है। कुछ ग्रन्थों की तिथि तो ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर ही निर्धारित की गई है। ऐसे ग्रन्थ अधिकतर बीकानेर राज्य में प्राप्त हुए हैं। एक ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से न होकर अन्य ग्रन्थों के साथ संग्रह रूप में है। अतः कहीं-कहीं यह भी कठिनाई है कि जो तिथि संग्रह ग्रंथ की हो वही तिथि सम्भवतः ग्रंथ-विशेष की न हो। इस विषय में खोज की बहुत आवश्यकता है। यहाँ पर खोज में प्राप्त हुए कुछ डिंगल ग्रन्थों पर विचार किया जायगा, यद्यपि वे चारणकाल (सं० १०००-१३७५) से बहुत बाद के हैं। इसलिए कि वे चारणकाल की परम्परा में हैं, अतः उनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक है।

जैतसी रानै पाबू जी रा छन्द

यह ग्रंथ बीकानेर के राव जैतसी की प्रशंसा में लिखा गया है। बाबर के पुत्र कामरान ने जब भटनेरा को जीत कर बीकानेर पर चढ़ाई की, तब राव जैतसी ने उसे वीरता के साथ मार भगाया और अभूत पूर्व विजय प्राप्त की। उसी विजय का स्तवन इसमें किया गया है। प्रारम्भ में जैतसी की वंशावली का वर्णन है। यह वंशावली बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। जैतसी के पूर्वज राव बीको और राव लूणाकरण की प्रशंसा बहुत की गई है। साथ ही साथ उनके जीवन की घटनाएँ भी बहुत वर्णित हैं। अतः इतिहास के दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। राव जैतसी का वर्णन भी बहुत विस्तार से है। कामरान से युद्ध में तो कवि ने प्रत्येक राजपूत वीर और उनके घोड़ों का भी वर्णन किया है। राव जैतसी की मृत्यु संवत् १५९८ में हुई। यह ग्रन्थ राव जैतसी के जीवन में ही कामरान पर विजय प्राप्त करने के बाद संवत् १५९१ में लिखा गया ज्ञात होता है। अतः इसका रचना-काल संवत् १५९१ और १५९८ के बीच में मानना चाहिये।

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति बीकानेर के दरबार पुस्तकालय में सुरक्षित है। वह मारवाड़ी मिश्रित देवनागरी और महाजनी लिपि में लिखी गई है। कवि का नाम अज्ञात है।

अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही

शिवदास चारण ने गागुरण के खीची शासक अचलदास की उस वीरता का वर्णन किया है, जो उन्होंने माड़व के पातिशाह के साथ युद्ध में दिखलाई थी। उस युद्ध में अचलदास वीर गति को प्राप्त हुए। माड़व के पातिशाह ने जब गागुरण

लिए अकबर की ओर से भेज गए थे । रणकौशल में तो वे श्रेष्ठ थे ही, काव्य कौशल में भी वे पीछे नहीं रहे । उन्होंने वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर कृष्ण और रुक्मिणी की प्रेम-कथा शृंगार रस में डूबी हुई लेखनी से अद्वितीय रूप में लिखी । इसी समय तुलसीदास लोक-शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाला राम का आदर्श जनता के सामने रख रहे थे। पृथ्वीराज प्रेम की मादकता का रसास्वादन कराने में तत्पर थे। यही कारण है कि प्रेम के सामने भक्ति के निर्वेद पूर्ण आदर्श रखने में वे असमर्थ थे । उनकी वीरता और रसिकता उन्हें माला लेने के लिए बाध्य नहीं कर सकी । वे राजपूत थे और साहस और उत्साह का मूल्य पहचानते थे । यही कारण है कि उन्होंने सन् १५७८ में[१] अकबर से सन्धि न करने पर महाराणा प्रताप की प्रशंसा में एक गीत लिख कर भेजा था।[२] पृथ्वीराज के साहस का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है कि उन्होंने अकबर के राज्य में कर्मचारी होते हुए भी अकबर की निन्दा करते हुए उसके शत्रु राणा प्रताप की प्रशंसा की । पृथ्वीराज का यह ग्रन्थ डिंगल साहित्य में एक विशेष स्थान रखता है, इसलिए इस पर विस्तारपूर्वक विचार होना चाहिये ।

कथावस्तु और रचनाकाल—वेलि की रचना संवत् १६३७ में हुई थी ।[३] उसका कथानक रुक्मिणी-हरण, कृष्ण रुक्मिणी विवाह, विलास और प्रद्युम्न-जन्म में सम्पूर्ण हुआ ।

आधार—वेलि का आधार भागवत पुराण ही है । स्वयं लेखक ने उसका उल्लेख किया है ।

बल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महि थाणौ प्रिथुदास मुख ।
मूल ताल जड़ अरथ मण्डहे, सुथिर करणि चढ़ि छाँह सुख ॥२९१॥

किन्तु यह आधार केवल कथानक ही का है । काव्य-सौन्दर्य और घटनाओं के प्रवाह में लेखक की मौलिकता है ।

---

१ अकबरनामा, अनु० वेवीज भाग ३, पृष्ठ ५१८

२ नर जेथि निमाणा नीलज नारी
अकबर गाहक वट अवट ।
आवै तिणि हाट अदाउत,
बेचे किमि रजपूत बट ॥ १ ॥ आदि

३ वरसि अचल गुण अङ्ग ससी सवति
तवियौ जस करि स्री भरतार ।
करि स्रवणे दिन रात कण्ठि करि
पामै स्री फल भगति अपार ॥ ३०५ ॥
(वेलि का अन्तिम पद)

छन्द—डिंगल के अनुसार जिस छन्द में 'वेलि' की रचना हुई है वह "वेलियो गीत' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें चार चरग होते हैं। द्वितीय और चतुर्थ चरण की रचना एक समान होती है। उसमें तुकान्त भी रहता है। प्रथम और तृतीय पंक्तियों की रचना भिन्न प्रकार से पाई जाती है। प्रथम पंक्ति में १८ और तृतीय पंक्ति में १६ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ पंक्तियों में १३, १४, या १५ मात्राएँ होती हैं। यदि द्वितीय और चतुर्थ पंक्ति में ।। है तो १३ मात्रा, यदि ।ऽ है तो १४ मात्रा और यदि ऽ। है तो १५ मात्रा।

विस्तार—वेलि में ३०५ पद्य हैं। विषय है रुक्मिणी का शैशव, सुकुमार शरीर में यौवन का मादक उभार और सौन्दर्य के वसन्त में अंगों की आकर्षक शोभा। शिशुपाल की ओर उसके विवाह का विचार। रुक्मिणी का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और पत्र-लेखन। कृष्ण का आगमन और अम्बिका के मन्दिर में रुक्मिणी से मिलाप, रुक्मिणी-हरण, शिशुपाल और रुक्मि से युद्ध और उनका पराजय, श्री कृष्ण का रुक्मिणी सहित द्वारिका गमन और दोनों का यथाविधि विवाह, रात्रि का आगमन और कृष्ण की रुक्मिणी से मिलने की उत्कट इच्छा। रुक्मिणी की लज्जा और श्रीकृष्ण का उल्लास, दोनों का मिलन। षट्ऋतु वर्णन; ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त। प्रद्युम्न-जन्म तत्पश्चात् प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का विवरण। 'वेलि' की प्रशंसा कामधेनु के रूप में, कवि की आत्म-प्रशंसा।

कवित्व—भाषा में सौन्दर्य के साथ प्रवाह है। डिंगल के सभी नियमों का पालन करते हुए भी शब्दावली विकृत नहीं है। कविता में केवल स्वाभाविकता ही नहीं है, वरन् उसमें संगीत भी है। पृथ्वीराज की काव्य-कला ने हमें डिंगल साहित्य का सुन्दर नमूना दिया है।

'वेलि' के अतिरिक्त पृथ्वीराज ने हमें छोटे-छोटे पद्य भी दिये हैं, जो 'साख रा गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये समसामयिक घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन का विवरण देते हैं।

विशेषता—'वेलि' की विशेषता यही है कि उसमें भक्ति की भावना के साथ शृंगार की रसीली साधना भी है। भक्ति और रीतिकाल की प्रवृत्तियों का एक स्थान पर सम्मिलन इसी पुस्तक में है। षट्ऋतु वर्णन[1] और मुग्धा[2] मानिनी नायिका का निरूपण हमारे सामने रीति काल की आत्मा का प्रदर्शन करता है। भक्ति के युग में रीति का यह मनोरंजक और सरस वर्णन हमारे साहित्य की अनोखी वस्तु है। इसका सारा श्रेय राठौड़ पृथ्वीराज को है।

---

१ पद्य १८७ से २६८ तक

२ पद्य १५९ से १७९ तक

सुन्दर सिणगार

शाहजहाँ के राज्य-काल में कविराय (बाद में महाकविराय) ग्वालियर निवासी सुन्दर ने काव्य-शास्त्र पर यह ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में शाहजहाँ और उनके पूर्वजों की प्रशंसा की गई है। बाद मे कवि ने अपना परिचय देकर ग्रन्थ का रचना-काल दिया है। इसमें दोहा, सवैया, छन्द आदि पाये जाते हैं। ग्रन्थ की रचना संवत् १६८८ में हुई।

वचनिका राठौर रतनसिंह जी री महेस दासौत री खिड़ियै जगै री कही

खिड़ियो जगो द्वारा लिखी हुई यह प्रसिद्ध काव्य-रचना है। इसमें जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह और शाहजहाँ के बागी पुत्र औरंगजेब और मुराद के बीच में उज्जैन की रणभूमि पर सं० १७१५ का युद्ध वर्णित है। इस युद्ध में रतलाम के रतनसिंह जी ने विशेष महत्त्वपूर्ण काम किया था। उन्होंने वेश बदल कर युद्ध किया था और अन्त में वीरगति प्राप्त की थी। उन्हीं के नाम से पुस्तक का नामकरण हुआ। यह युद्ध सं० १७१५ में हुआ। अतः यह रचना इस काल के आस-पास की ही मानी जानी चाहिए।

सोढ़ी नाथी री कविता

सोढी नाथी सम्भवतः अमरकोट के राणा भोजराज की पुत्री थीं। राणा भोजराज चन्द्रसेन के पुत्र थे और विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक राज्य करते रहे। 'मुहणोत नैणसी की ख्यात' से ज्ञात होता है कि राणा भोज के पुत्र ईशरदास रावल सबलसिंह के द्वारा संवत् १७१० में गद्दी से उतारे गए थे। नाथी ईशरदास की बहिन थी। उनका कविता-काल संवत् १७३० ठहरता है। देरावर में इनका विवाह हुआ था। बाद में ये वैष्णव धर्म में अत्यन्त भक्ति रखने लगी थीं। इनके सात ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं :—

१—भगत भाव रा चन्द्रायण
२—गूठा रथ
३—साख्यां
४—हरि लीला
५—नाम लीला
६—बालचरित
७—कंस लीला

ये सभी ग्रन्थ भक्ति-भावना से पूर्ण हैं।

ढोला मारवणी चउपही

यह ग्रन्थ सन् १९०० की खोज रिपोर्ट से प्रकाश में लाया गया। इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम हरराज था और उसने सं० १६०७ में जैसलमेर के यादवराज

के मनोरंजनार्थ यह ग्रन्थ लिखा था। इसकी कथा प्रेम-गाथात्मक है और इसका सम्बन्ध इतिहास से न होकर कल्पना से है। मारवाड़ के अधिपति पिंगलराय शिकार खेलते हुए जालौर की सीमा पर पहुंचे। वहाँ एक भाट से जालौर के सामन्तसिंह की लड़की उमादे के सौंदर्य की प्रशंसा सुन उन्होंने उससे विवाह किया। उमादे से पिंगलराय के एक लड़की हुई, उसका नाम रखा गया मारव। मारव का विवाह नलवरगढ़ के राजा नल के पुत्र सालह से हुआ। सालह के लाड़-प्यार का नाम ढोला था। यह विवाह पुष्कर (अजमेर) में सम्पन्न हुआ। नलवरगढ़ लौट आने पर सालह का दूसरा विवाह मालवा नरेश की कन्या से हो गया। १५ वर्ष तक दोनों सुख से रहे। एक दिन मारव ने अपने पति का समाचार पाकर उससे आने की प्रार्थना की। सालह ने शीघ्र ही आकर मारव को दर्शन दिये और उसे लेकर वह नलवरगढ़ लौट गये। सालह दोनों रानियों के साथ सुख से रहने लगा। कथा का यही सारांश है। यह ऐतिहासिक सत्य से परे ज्ञात होती है। इतिहास पिंगलराय के विषय में मौन है। कन्नौज के राजा जयचन्द (सं० १२५०) मारवाड़ वंश के धर्मभुम्ब के वंशज होने के कारण दुल पिंगल अवश्य कहे जाते थे, किन्तु जयचन्द पिंगलराय नहीं हो सकते। अतः यह कथा कल्पना से ही निर्मित है, जिसमें प्रेम की विस्तृत व्याख्या है। यह ग्रन्थ रूप और विस्तार में अधिकतर नरपति नाल्ह के वीसलदेव रासो से मिलता-जुलता है। इसका विस्तार लगभग एक हजार पद्यों में है। इसकी एक प्रति जयपुर की विद्याप्रचारिणी जैन सभा में सुरक्षित है। बीकानेर में इस प्रेम-कथा पर दोहों में 'ढोलै मारू रा दूहा' नामक ग्रंथ की चार प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं।[1] इस रचना का समय अज्ञात है। बीकानेर राज्य में प्राप्त हुए जिस संग्रह-ग्रंथ में 'ढोलै मारू रा दूहा' संग्रहीत है, उसका काल संवत् १७५२ है। अतः यह ग्रन्थ संवत् १७५२ के पूर्व ही लिखा गया होगा। कवि का नाम अज्ञात है।

वरसलपुर गढ़ विजय

इस रचना का दूसरा नाम "महाराजा श्री सुजानसिंह जी रौ रासौ' भी है। यह एक छोटा सा ग्रन्थ है, जिसमें केवल ६८ पद्य हैं जो दूहा, कवित्त और छन्द में लिखे गए हैं। इसकी कथावस्तु बहुत छोटी और साधारण है। मुल्तान की ओर से एक काफिला आ रहा था, वह वरसलपुर में पहुँचते-पहुँचते वहाँ के भाटियों द्वारा लूट लिया गया। बीकानेर के महाराज सुजानसिंह ने शीघ्र ही अपनी सेना वहाँ भेजी और स्वयं उस ओर प्रयाण किया। इस छोटी सी लड़ाई में सुजानसिंह की ओर से फतहसिंह काम आए, पर कुछ ही दिनों में भाटीराव लखधीर को सुलह करनी पड़ी और वह क्षमा भी कर दिया गया।

---

१ बार्डिक ऐण्ड हिस्टारिकल सर्वे ऑव् राजपूताना पृष्ठ ६, २३, २६, ३४

रचना साधारण है। इसकी हस्तलिखित प्रति संवत् १७६९ की है, जो बीकानेर के राज्य-पुस्तकालय में सुरक्षित है।

महाराजा गजसिंह जी रौ रूपक

इसमें बीकानेर के महाराजा गजसिंह की प्रशस्ति है। इसके लेखक सिणढायच फटेराम हैं। इसमें बीकानेर के राव सीहो से लेकर महाराजा गजसिंह तक की वंशावली वर्णित है। महाराज गजसिंह की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा है। अन्त म जोधपुर, बीकानेर के कुछ युद्धों का भी वर्णन है। यह रचना संवत् १८०४ की कही जाती है। इसमें दूहा, कवित्त और छन्द प्रयुक्त हुए हैं, प्रारम्भ से गाहा प्रयोग है। इसमें साहित्यिकता की अपेक्षा ऐतिहासिकता हां अधिक है।

ग्रन्थराज गाडण गोपीनाथ रौ कहियौ

यह ग्रन्थ डिंगल साहित्य में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गाडण गोपीनाथ प्रतिभावान और डिंगल के आचार्य थे। उन्होंने कुशलता के साथ अपने चरित्रनायक बीकानेर के महाराज गजसिंह की प्रशंसा में यह ग्रन्थ लिखा। बीकानेर के दयालदास की ख्यात से ज्ञात होता है कि स्वयं गोपीनाथ ने अपना ग्रन्थ महाराज गजसिंह को संवत् १८१० में समर्पित किया और महाराज ने प्रसन्न होकर लाख पसाव[१] से कवि का सम्मान किया।

यह ग्रन्थ बहुत विस्तारपूर्वक लिखा गया है। मंगलाचरण के बाद महाराज गजसिंह की प्रशंसा में कवि-स्त्री-सम्वाद है। इसके बाद महाराज गजसिंह की वंशावली का वर्णन है। राव बीको, नारो, लूण-करण, जैतसी, कल्याणमल, रायसिंह, दलपत-सिंह, सूरसिंह, करणसिंह। वंशावली पहले तो संक्षेप में लिखी जाती है। कवि जैसे-जैसे वर्णन करता चलता है, वंशावली वैसे ही वैसे विस्तारपूर्ण होती जाती है। अन्त में रायसिंह और जयसिंह का विस्तृत वर्णन है। सुजानसिंह के बाद महाराज गजसिंह का वर्णन कवि अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा से करता है। जन्म, बाल्यकाल, शिक्षा आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। तत्कालीन बीकानेर की परिस्थिति का भी चित्र है। जोधपुर के विरुद्ध जो युद्ध लड़े गये थे उनका भी विशद वर्णन है। युद्ध वर्णन तो डिंगल साहित्य की अपनी विशेषता है। उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य यहाँ इकट्ठा कर दिया गया है।

ग्रन्थ में मुख्यतः गाहा, पावड़ी, कवित्त और दूहो प्रयुक्त हैं और उनकी रचना एक सफल कवि द्वारा हुई है, वर्णनात्मकता का सच्चा सौन्दर्य इस ग्रन्थ में पाया जा

---

१ पीछै रिणी विराजतां गाडण गोपीनाथ ग्रन्थ १ श्री जी रौ बणायौ नांम ग्रन्थराज। पीछै मालम कीयौ। तिण पर इतरी निवाजस हुई ॥ रुपीया २०००) रोक। हाथी १। हथणी १। घोड़ा २। सिरपाव। मोतियाँ री कंठी इणरीत लाख पसाव दीयौ। —ख्यात दयालदास

सकता है। गाडण गोपीनाथ डिंगल काव्य के उत्कृष्ट कवि कहे जा सकते हैं। यह ग्रन्थ संवत् १८०३ में प्रारम्भ होकर १८१० (?) में समाप्त हुआ, जैसा कि ग्रन्थ के अन्तिम कवित्त से ज्ञात होता है :—

[कवित्त ॥] अठार से त्रिये ग्रन्थ पूरब आरम्भे ।
चिरत गजग चित्रीया, सुणे जंण तेण अचम्भे ।
बरषे दाहो तरै, रित वरषा घण बदल ।
तेरिस पुष्पा अरक मास भाद्रपद कृष्ण दल
मझ नयर रिणी सिध जोग मझि वदै कृत चहुँवै वले
सिरताज राज ग्रन्थी सिरे हुवौ लस महि मंडले ॥ ५ ॥

डिंगल काव्य के अवनति काल में इस ग्रन्थ का लिखा जाना महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व समान रूप से है। अनेक शैलियों और अनेक छंदों में सफलतापूर्वक लिखे जाने के कारण इस ग्रन्थ ने डिंगल साहित्य में गाडण गोपीनाथ को बहुत ऊँचा स्थान दे दिया है।

महाराजा रतनसिंह जी री कविता बीठू भोमौ री कही

यह रचना बीकानेर के महाराज रतनसिंह और उनके पुत्र कुँवर सिरदारसिंह के विषय में की गई है। प्रधानतया देवलियो प्रतापगढ़ कुंवर सिरदारसिंह का विवाह होना विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसमें अधिकतर वंशावलियाँ ही हैं, जिनके साथ प्रशंसा के पद हैं। ग्रन्थ बहुत साधारण श्रेणी का है। दूहा, कवित्त और छन्द का प्रयोग इस रचना में किया गया है। देसणोक (बीकानेर) के बीठू भोमौ इसके रचयिता हैं और रचना-काल संवत् १८९५ है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत से छोटे-छोटे ग्रन्थ हैं, जिनका समय अज्ञात है। वे चारणों के घर पड़े हुए हैं और उनमें दीमक अपने परिवारों का पोषण करती है। फुटकर कविताओं में संग्रह तो इतने अधिक हैं कि ग्रंथों में न समा सकने के कारण वे चारणों के कंठों में बसे हुए हैं। इस प्रकार की कविता का वर्णन करते हुए डा० एल० पी० टैसीटरी महोदय लिखते हैं :—

संस्मरण[१] के गीत अथवा चारणों के अनुसार 'साख रा गीत' राजपूताने में बहुत सुलभ हैं और आज भी ऐसे चारण कम नहीं हैं जिन्हें दर्जनों ऐसे गीत कंठस्थ हैं। संग्रह में तो वे सैकड़ों और हजारों की संख्या में हैं। उत्कृष्ट साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त इस संस्मरण के गीतों का महत्त्व इसलिये है कि वे मध्यकालीन राजपूत जीवन पर प्रकाश डालते हैं। समकालीन होने के कारण तो ये रचनाएँ इतिहासकारों के बड़े लाभ की हैं।

---

१ प्रिफेस—बार्डिक ऐण्ड हिस्टारिकल सर्वे ऑव् राजपूताना, सेक्शन २, भाग १ (डा० एल० पी० टैसीटरी, कलकत्ता, १९१८)

फुटकर कविता में निम्नलिखित कविताएँ विशेष प्रसिद्ध हैं—

१. गुण जोधायण गाडण पसाहत री कही
२. राव गाँगै रा छंद किनियै खेमै रा कहिया
३. सोढै भारवासी रा छंद
४. चाहुवानाँ रा गीत
५. जस रत्नाकर (बीकानेर के राजा रतनसिंह की विरुदावली)
६. ढोलै मारू रा दूहा
७. माधव कामकन्दला चउपई
८. रुक्मणी हरण
९. बेताल पचीसी री कथा
१०. कुतुब सतक (कुतुब दी और साहिबा की प्रेम-कथा)
११. सोनै नै लोहरौ झगड़ौ
१२. पंच सहेली कवि छीहल री कही
१३. फुटकर दूहा संग्रह
१४. राणै हमीर रिण थम्भौर रै रा कवित्त
१५. अमादे भठियाणी रा कवित्त बारठ आसै रा कहिया
१६. जलाल गहाणी री बात (जलाल और गहाणी की प्रेम-कथा)
१७. गोरै बादल री बात
१८. राव छत्रसाल रा दूहा

१—डिंगल साहित्य का सिंहावलोकन

संक्षेप में चारणकाल की प्रवृत्तियों का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :—

१. वर्ण्य विषय—वीर गाथाओं का विषय प्रधान रूप से राजाओं का यशोगान था। उनका युद्ध-कौशल, उनकी धर्मवीरता और उनके ऐश्वर्य का वर्णन ओजस्वी और शक्तिशालिनी भाषा में किया जाता था। अपने नायक की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए कवि विपक्षी (हिन्दू अथवा मुसलमान) की हीनता का नग्न चित्र अंकित करता था। कथा का स्वरूप अधिकतर कल्पना से भी निर्मित हुआ करता था। यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण भी उसमें प्राप्त होता है, पर उसका विस्तार और वर्णन कल्पना के सहारे ही किया जाता था। तिथि पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। कथा में वर्णनात्मकता ही अधिक होती थी। वस्तुओं की सूची तथा सेना आदि का वर्णन आवश्यकता से अधिक हुआ करता था; यद्यपि इसका

उद्देश्य एकमात्र नायक की शक्ति और उसकी वीरता की सूचना देना था। कहीं-कहीं तो ये वर्णन नीरस भी हो गये हैं। अतएव कवि का आदर्श अधिकतर अपने चरित्र-नायक के गुण-वर्णन तक ही सीमित रहता था।

२. भाषा—इस समय की भाषा डिंगल कही गई है। यह राजस्थान की साहित्यिक भाषा थी। इसका छन्द-शास्त्र भी अलग था। इसमें अपभ्रंश से निकली हुई राजस्थानी भाषा के स्वरूप मिलते हैं। यह वीर रस के लिये बहुत उपयुक्त थी, इसीलिये इसका प्रयोग इस काल में बड़ी सफलता के साथ हुआ। डिंगल भाषा के सम्बन्ध में मुन्शी देवीप्रसाद जी का कथन है कि "मारवाड़ी भाषा में 'गल्ल' का अर्थ बात या बोली है। 'डीगा' लम्बे और ऊँचे को और 'पाँगला' पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मन्द स्वरों में पढ़ी जाती है। इसीलिए डिंगल और पिंगल संज्ञा हो गई—जिसको दूसरे शब्द में ऊँची बोली और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।"[1] इससे स्पष्ट हो गया कि वीर रस के लिये डिंगल भाषा ही उपयुक्त थी और इसलिये चारणकाल में उसी का प्रयोग भी हुआ। डिंगल का माध्यमिक काल विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। इस काल में भी डिंगल की रचना होती रही, पर धार्मिक काल के उन्मेष के कारण वीर रस की तेजस्वी धारा मन्द पड़ गई। अतः डिंगल की रचना अब साहित्य की प्रधान धारा न रही। यह भाषा जन-समुदाय को अवश्य स्पर्श करती थी, क्योंकि इसका शब्द-भांडार प्रचलित शब्दों से ही भरा जाता था। कहीं-कहीं जन-समुदाय के सम्पर्क में आने से भाषा में बहुत परिवर्तन भी हो गया है। कई ग्रन्थ मौखिक होने के कारण भाषा के वास्तविक स्वरूप से रहित हो गये हैं और समय के परिवर्तन के साथ उनके रूपों में भाषा-सम्बन्धी परिवर्तन हो गए हैं। इसलिये भाषा कहीं-कहीं मिश्रित है। शब्द-भांडार बहुत विस्तृत है। यदि एक ओर संस्कृत के तत्सम् शब्द हैं, तो दूसरी ओर मुसलमानों के प्रभाव से अरबी-फारसी शब्द आ गये हैं।

३. रस—इस काल के साहित्य में वीर रस का प्राधान्य है। अपने चरित-नायकों के शौर्य और महत्त्व के वर्णन में वीर रस की अधिक आवश्यकता पड़ी है। इस वीर रस के क्रोड़ में शृंगार रस भी कभी-कभी दीख पड़ता है, क्योंकि युद्ध के बाद ये वीर आमोद-प्रमोद अथवा स्वयंवर-विवाह में ही अपना समय बिताते थे। विशेष बात तो यह है कि वीर रस की उमंग के साथ-साथ हमें इस काल की कविता में विरह-वर्णन भी मिलता है। इस प्रकार शृंगार रस अपने संयोग

---

१ भाट और चारणों का हिन्दी भाषा-सम्बन्धी काम। 'चाँद' (मारवाड़ी अङ्क) नवम्बर १९२९, पृष्ठ २०५।

और विप्रलम्भ रूप में इन काव्यों की सीमा के भीतर है। अद्भुत वीरता और नायक की शक्ति का वर्णन है। रौद्र और वीभत्स भी युद्ध वर्णन में पाये जा सकते हैं। शत्रुओं की मृत्यु पर शत्रु-नारियों के हृदय में करुणा की धारा भी प्रवाहित हुई है। अतएव हास्य और शान्त रस को छोड़ कर प्रायः सभी रसों का समावेश इस काल के काव्यों में हो गया है, पर प्राधान्य वीर रस का ही है।

४. **छन्द**—इस काव्य में डिंगल भाषा के छन्द ही प्रयुक्त हुआ करते थे। दूहा, पाघड़ी, कवित्त आदि इनमें प्रधान थे। इन छन्दों में साहित्यिक सौंदर्य न रहते हुए भी प्रवाह रहा करता था। छन्द भी ऐसे चुने जाते थे जिनसे वीर-रस की भावना को प्रश्रय मिलता था।

५. **विशेष**—इस काल के ग्रन्थों की प्रतियाँ दुष्प्राप्य हैं, अतएव उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। या तो इस काल के ग्रन्थ अधिकतर मौखिक रूप में हैं या उनके निर्देश मात्र ही मिलते हैं। राजस्थान की 'ख्यातों' में उनके विवरण से ही हम परिचित हो सकते हैं। जो ग्रन्थ अब मिलते हैं, वे भी हमें अपने वास्तविक रूप में नहीं मिलते। भाषा के विकास के अनुसार या तो उनका रूप ही बदल गया है अथवा उनमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश मिला दिये गये हैं। अतएव उनकी सच्ची समालोचना एक प्रकार से असम्भव है, जब तक हम भाषाविज्ञान के अनुसार—उस काल की भाषा के अनुसार—किसी ग्रन्थ की भाषा से सन्तुष्ट न हो जावें। इन ग्रन्थों का महत्त्व इतना ही है कि इन्होंने हमारे साहित्य के आदि भाग का निर्माण किया और भविष्य की रचनाओं के लिये मार्ग-निर्देशन किया। यदि ये साहित्यिक सौंदर्य से नहीं तो भाषा-विकास की दृष्टि से तो अवश्य ही महत्त्वपूर्ण है।

२—डिंगल साहित्य का ह्रास

चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही वीरगाथा काल की रचना क्षीण होने लगी। इसका प्रधान कारण राजनीति की परिस्थितियों का परिवर्तन ही पाया जा सकता है। मुसलमानों के प्रभुत्व ने हिन्दू राजाओं को जर्जरित कर दिया था अथवा हिन्दू राजा स्वयं ही लड़ते-लड़ते क्षीण हो गये थे। इसलिये न तो उनके पास गौरव की गाथा गाने की सामग्री ही थी और न कवियों के हृदय में उत्साह ही रह गया था। राज्य क्षीण होने के कारण कवियों का महत्त्व भी क्षीण हो गया था और वे अब किसी राजदरबार में सम्मानित होने का अवसर नहीं पा सकते थे। अतएव चारणों के अभाव में वीरगाथा का महत्त्व दिनोंदिन कम होता जा रहा था।

इस समय मुसलमानी राज्य का प्रभुत्व हिन्दुओं के हृदयों में जान पड़ने लगा था। मुसलमानों की प्रवृत्ति केवल लूटमार कर धन-संचय की न होकर भारत

में राज्य करने की हो चली थी। पंजाब से लेकर बंगाल तक मुसलमानों का आधिपत्य हो गया था। बिहार, बंगाल, रणथंभोर, अन्हलवाड़ा, अजमेर, कन्नौज, कालिंजर आदि प्रधान स्थानों में मुसलमानी शासन स्थापित हो चुका था। राठौर और चौहान वंश के पराक्रम का सूर्य ढल चुका था। इतना अवश्य था कि राजस्थान के राजपूत अभी तक अपने गौरव की गाथा नहीं भूले थे। मुसलमानों की असावधानी देखते ही वे फिर प्रचंड हो उठते थे, पर ये दिन उनकी अवनति के थे। मुसलमानों का आधिपत्य दिनोंदिन बढ़ता जा रहा था। वे राज्य के साथ-साथ अपने धर्म का विस्तार भी करते जाते थे जिससे हिन्दुओं के प्राचीन आदर्शों पर आघात होता था। मुसलमानी धर्म की कट्टरता हिन्दुत्व के विपक्ष में होकर जनता के हृदय में असंतोष और विद्रोह का बीज वपन कर रही थी, हिन्दुओं के पास शक्ति नहीं थी, अतएव वे मुसलमानों से युद्ध नहीं कर सकते थे; उन्हें अपमान का दंड नहीं दे सकते थे। ऐसी परिस्थिति में वे केवल ईश्वर से अपनी रक्षा की प्रार्थना भर कर सकते थे।

उन्होंने तलवार के बदले माला का आश्रय लिया और वे अपने लौकिक जीवन में आध्यात्मिक तत्व खोजने लगे। अब वे सांसारिक कष्टों से मुक्ति पाने के लिए ईश्वर की शरण में जाने लगे और दुष्टों को दंड देने के लिए अपनी शक्ति पर अवलम्बित रहने की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति पर निर्भर रहने की भावना करने लगे। इस प्रकार ओज और गौरव के तत्वों से निर्मित वीर रस, करुण और दयनीय भावों से ओतप्रोत होकर शान्त और श्रृंगार रस में परिणत होने लगा। इस प्रकार भावों में परिवर्तन हुआ।

चारणों के साहित्य-क्षेत्र से हट जाने के कारण डिंगल साहित्य के विकास में भी बाधा आने लगी। अब भी कुछ चारण कभी किसी राजा की प्रशंसा करते थे, पर साहित्य की गतिविधि ही बदल जाने के कारण डिंगल काव्य की नियमित रचना रुक गई थी। चारणकाल की परम्परागत भाषा अब केवल नाममात्र को रह गई थी। साधारण जनता जो अब मुसलमानी आतंक से क्षुब्ध हो रही थी, अधिक धार्मिक प्रवृत्ति वाली हो रही थी। जनता के प्रतिनिधि कवि धर्म का प्रचार कर ईश्वर की प्रार्थना में अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित करने लगे। इन कवियों ने ब्रजभाषा का आश्रय लिया, जो कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा थी। चारण-काल में काव्य-रचना के केन्द्र उन स्थानों में थे जो राजनीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने गए थे। इसीलिये राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, कन्नौज और महोबा भी साहित्यिक रचना के केन्द्र थे, पर चारणकाल के समाप्त होने पर जनता की धार्मिक प्रवृत्ति ने उन स्थानों में साहित्य-रचना के केन्द्र स्थापित किये, जो धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थ। सन्तों, कवियों और आचार्यों ने धार्मिक क्षेत्रों और तीर्थों को ही अपना केन्द्र

निश्चित किया और उसी स्थान से जनता के भावों का प्रतिनिधित्व करते हुए उनके जीवन में उत्साह और साहस उत्पन्न किया। फलतः उन केन्द्रों की भाषा ही साहित्यिक भाषा हुई। धार्मिक-काल में दो भाषाओं को प्रधान्यता मिली। वे भाषाएँ ब्रजभाषा और अवधी थीं। ब्रजभाषा कृष्ण की जन्मभूमि ब्रज प्रांत की भाषा थी और अवधी राम की जन्मभूमि अयोध्या की। राम और कृष्ण ही जनता के आराध्य थे, किन्तु राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक लोकरंजन हुए। इसीलिए ब्रजभाषा को अवधी से अधिक काव्य पर अधिकार करने का अवसर प्राप्त हुआ। दूसरी बात यह भी थी कि धर्म के कोमल और पवित्र भावों को प्रकाशित करने में डिंगल भाषा असमर्थ थी। उसमें वह कोमलता और श्रुति माधुर्य का गुण नहीं था जो ब्रजभाषा में था। डिंगल युद्ध के लिए शस्त्र की सहायिका थी, उसमें नाद था; उसमें शक्ति थी और वह पुरुष-भावों के प्रकाशन करने की उपयुक्त शैली लिये हुए थी। ऐसी स्थिति में राजस्थान की साहित्यिक भाषा धार्मिक जनता के हृदय में नहीं पैठ सकती थी। वह चारणों तक अथवा चारणों के आश्रयदाता राजाओं तक ही सीमित रह सकती थी। वह रण की भाषा थी, धर्म के स्फुरण की नहीं। फलतः ब्रजभाषा जिसमें फूलों की कोमलता है, अंगूर की मिठास है, साहित्य की भाषा स्वयंमेव हो गई; क्योंकि धर्म की भावना प्रदर्शित करने के लिए इससे अधिक सरस और मधुर भाषा किसी प्रकार भी नहीं मिल सकती थी।

साहित्य के नवीन विकास के अवसर पर इस परिवर्तन-काल में कुछ प्रवृत्तियाँ और प्रकट हुई थीं। दिल्ली जो राजनीति की रंगशाला थी, मुसलमानी प्रभुत्व में भी साहित्य की रंगशाला बनी रही। अन्तर केवल यही रहा कि वीर गीत गाने वाले कवियों के स्थान पर मनोरंजन और चमत्कार की रचना करने वाले अमीर खुसरो को स्थान मिला। मुसलमानों के आगमन से जैसे वीरगाथा का अवसान और भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ वैसे ही मुसलमानों के आमोद-प्रमोद के साथ ही साथ मुसलमानी सिद्धान्तों क प्रचार भी हुआ, जो आख्यानक कवियों की प्रेम-गाथा में प्रस्फुटित हुआ। इस पर आगे विचार किया जायगा।

तीसरा प्रकरण

भक्ति-काल की अनुक्रमणिका

सन्त-काव्य, प्रेम-काव्य, राम काव्य, कृष्ण-काव्य

वीरगाथा काल के समाप्त होने के पहले ही साहित्य के क्षेत्र में क्रान्ति प्रारम्भ हो गई थी। मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने जनता के साथ साहित्य को भी अस्थिर कर दिया था। मुसलमानी शक्ति और धर्म के विस्तार ने साहित्य का दृष्टिकोण ही बदल दिया था और चारणों की रचनाएँ धीरे-धीरे कम होती जा रही थीं। वे अब विशेषत: राजस्थान ही में सीमित थीं। मध्यदेश में जहाँ मुसलमानी तलवार का पानी राज्यों के अनेक सिंहासनों को डुबा रहा था, चारणों का आश्रयदाता कोई न था। न तो हिन्दू राजाओं के पास बल था और न साहस ही। उनकी परिस्थिति अत्यन्त अनिश्चित हो गई थी। खिलजी वंश के अलाउद्दीन ने समस्त उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में ले लिया था। दक्षिण भारत भी उसके आक्रमणों से नहीं बचा। देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र को पराजित कर उसने एलिचपुर को अपने राज्य में मिला लिया। वारंगल और होयसिल के राजा को भी उसका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। महाराष्ट्र और कर्नाटक के राजाओं ने भी आधीनता स्वीकार कर ली। अलाउद्दीन के सहायक मलिक काफूर ने तो अपनी राज्य-लिप्सा के कारण सन् १३१२ में यादव राजा का कत्ल भी कर दिया। मुसलमानों की इस बढ़ती हुई ऐश्वर्याकांक्षा ने हिन्दुओं के अस्तित्व पर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया। जिन हिन्दू राजाओं में आत्म-सम्मान और शक्ति की मात्रा शेष थी, वे उसकी रक्षा का अनवरत परिश्रम कर रहे थे। विजयनगर का हिन्दू शासक स्वतंत्र हो गया था। दक्षिण में कृष्णा और तुंगभद्रा के बीच के प्रदेश पर अधिकार पाने के लिये विजयनगर और बहमनी राज्य में बहुधा युद्ध हुआ करते थे। जो प्रदेश हिन्दुओं के अधिकार में थे वे भी अपनी सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील थे। सिन्ध राजपूतों के अधिकार में था, पर मुसलमानी आतंक उस पर छाया हुआ था। इस प्रकार राजनीति की मंत्रणाएँ ही राज्यों के उत्थान और पतन की कुंजियाँ थीं। ऐसे अनिश्चित काल में हिन्दू जनता के हृदय में जिस भय और आतंक को स्थान मिल रहा था, वह उनके धर्म को जर्जरित कर रहा था। धर्म की रक्षा करने की शक्ति हिन्दुओं के पास रह ही नहीं गई थी।

मुसलमानों के बढ़ते हुए आतंक ने हिन्दुओं के हृदय में भय की भावना उत्पन्न कर दी थी। यदि मुसलमान केवल लूट-मार कर ही चले जाते तब भी हिन्दुओं की शान्ति में क्षणिक बाधा ही पड़ती, किन्तु जब मुसलमानों ने भारत को अपनी सम्पत्ति मान कर उस पर शासन करना प्रारम्भ किया तब हिन्दुओं के सामने अपने अस्तित्व का प्रश्न आ गया। मुसलमान जब अपनी सत्ता के साथ अपना धर्म-प्रचार करने लगे तब तो परिस्थिति और भी विषम हो गई। हिन्दुओं में मुसलमानों से लोहा लेने की शक्ति नहीं थी। वे मुसलमानों को न तो पराजित कर सकते थे और न अपने धर्म की अवहेलना ही सहन कर सकते थे। इस असहायावस्था में उनके पास ईश्वर से प्रार्थना करने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं था। वे ईश्वरीय शक्ति और अनुकम्पा पर ही विश्वास रखने लगे। कभी-कभी यदि वीरत्व की चिनगारी भी कहीं दीख पड़ती थी तो वह दूसरे क्षण ही बुझ जाती थी या बुझा दी जाती थी। इस प्रकार दुष्टों को दंड देने का कार्य उन्होंने ईश्वर पर ही छोड़ दिया और वे सांसारिक वस्तु-स्थिति से पारलौकिक और आध्यात्मिक वातावरण में ही विहार करने लगे। इस समय हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के विचार इसी प्रकार भक्तिमय हो गए और वीरगाथा काल की वीर रसमयी प्रवृत्ति धीरे-धीरे शान्त और शृंगार रस में परिणत होने लगी।

राजाओं का राजनीतिक दृष्टिकोण अस्पष्ट और धुंधला हो गया, अतएव वे अपनी महत्त्वाकांक्षा और आदर्श के उच्च आसन पर स्थिर न रह सके। उनके आदर्शों में परिवर्तन होने के कारण चारणों के आश्रय का भी कोई स्थान नहीं रह गया। वे अब किसकी वीर-गाथा गाते और किसे रण के लिए उत्साहित करते! अतः वे भी अपने क्षेत्र से हटने लगे। फल यह हुआ कि डिंगल साहित्य की गति-विधि में परिवर्तन आने लगा। उसकी नियमित रचना में बाधा पड़ने लगी और वह साहित्यिक गौरव से गिरने लगी। परम्परागत डिंगल भाषा केवल नाम के लिए व्यावहारिक भाषा रह गई, उसका साहित्यिक महत्त्व समकालीन साहित्य के लिये सम्पूर्णतः नष्ट हो गया।

इस प्रकार राजनीतिक वातावरण धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा था, यद्यपि समय-समय पर उसमें युद्ध का झोंका अवश्य आ जाता था। हिन्दुओं को शान्त करने के लिऐ मुसलमानों ने उन्हें अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का भी प्रयत्न किया, क्योंकि अब मुसलमान भी अपने को इसी देश का निवासी मानने लगे थे। शासकों की नीति-रीति शासितों को प्रभावित अवश्य करती है, इसी सिद्धान्त के अनुसार इस्लाम धर्म भी हिन्दुओं के धार्मिक विचारों में अज्ञात रूप से परिवर्तन लाने में व्यस्त था। हिन्दू धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठी तथापि आत्म-रक्षा के विचार से किसी अंश तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम धर्म के समझने की

चेष्टा की। फलतः धार्मिक विचारों में परिवर्तन होने का सूत्रपात एक ऐसे रूप में प्रारम्भ हुआ जिसने हमारे साहित्य में एक नवीन धारा की ही सृष्टि कर दी। यह नवीन धारा संत काव्य के रूप में प्रवाहित हुई।

संत काव्य

संत मत में ऐसे ईश्वर की भावना मानी गई, जो हिन्दू और मुसलमानों के धर्म में समान रूप से ग्राह्य हो सके। उसके कोई मुख-माथा, रूप-कुरूप नहीं है, वह एक है। वह निर्गुण और सर्गुण दोनों से परे रह कर पुष्प की सुगन्धि से भी सूक्ष्म है।[1] वह सर्वशक्ति-मय, सर्वव्यापक और अखंड ज्योति-स्वरूप है । उसे जानने के लिये आत्म-ज्ञान की आवश्यकता है। हिन्दुओं का राम और मुसलमानों का रहीम उसी ईश्वर का रूपान्तर मात्र है। उसका ध्यान ही महान् धर्म है। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमानों की संस्कृति के मिश्रण से ईश्वर के इस रूप का प्रचार हुआ, यद्यपि ईश्वर की ऐसी भावना वेदान्त सूत्र में भी मिलती है।

इस मत में जहाँ एक ओर अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और तीर्थ-व्रत आदि का निषेध है, वहाँ दूसरी ओर हलाल, रोजा और नमाज आदि का भी विरोध है। बाह्याडम्बर के जितने रूप हो सकते हैं उनका बहिष्कार सम्पूर्ण रूप से किया गया है। इस रूप में सन्त मत केवल ईश्वर के तात्विक स्वरूप की मीमांसा करता है, यद्यपि उसमें संस्कृत विचार-धारा और बौद्धिक गवेषणा के लिये कोई स्थान नहीं है। यह धर्म का ऐसा रूप है, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को सरलता से ग्राह्य हो सकता है। जिन कर्मकांडों के कारण दोनों धर्मों में विरोध हो सकता है, उनका समावेश इस धर्म में है ही नहीं।

इस मत के प्रचारक कबीर थे। मुसलमानी संस्कारों में पोषित होने के कारण वे स्वभावतः हिन्दू आचार-विचार से दूर थे, उन्हें मूर्ति-पूजा के लिये कोई आकर्षण नहीं था। मुसलमानी अत्याचार की क्रूरता ने इस्लाम की अनेक बातों से उन्हें विरक्त कर दिया था, जिनमें नमाज और रोजा भी थे। मुसलमानों के बढ़ते हुए प्रभाव की वे उपेक्षा भी न कर सकते थे। इस परिस्थिति में उन्होंने इस्लाम और हिन्दू धर्म की सारभूत बातें लेकर इस पंथ की स्थापना की। वे रामानन्द के प्रभाव में आकर माया और ब्रह्म को नहीं छोड़ सकते थे, इसी प्रकार जौनपुर के सूफ़ी सिद्धों के मलकूत आदि सिद्धान्त भी उन्हें प्रिय थे। इन्हीं प्रभावों ने कबीर के सन्त मत को एक विशिष्ट रूप दिया।

सन्त मत का काव्य उच्चकोटि का नहीं है। इस मत की भावना शास्त्र-पद्धति के आधार पर भी नहीं थी जिससे शिक्षित वर्ग उसकी ओर आकृष्ट होता। हाँ, जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए भाषा की सरलता उसमें अवश्य थी। इस प्रकार संत

१. जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप। पुहुप बासते पातरा, ऐसा तत्त अनूप

मत अधिकतर साधु और वैरागियों के द्वारा धर्म-प्रचार का एक सरल मार्ग ही था। सन्त मत में एक ही प्रकार के विचारों की आवृत्ति अनेक बार की गई है—वह भी एक ही प्रकार के शब्दों में—अतएव शिक्षित जन-समुदाय के लिए उसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था। सन्त मत सगुणवाद का खंडन भी करता है, इसलिए जनता का अधिकांश समुदाय इसे ग्रहण भी नहीं कर सका। इतना अवश्य है कि जनता के अशिक्षित और साधारण वर्ग को सन्त मत ने यथेष्ट प्रभावित किया और मुसलमानी आतंक में भी धर्म की रूप-रेखा की रक्षा में उसे बल प्रदान किया। सन्त मत का साहित्यिक क्षेत्र में विशेष महत्त्व न होते हुए भी धार्मिक क्षेत्र में बहुत बड़ा हाथ रहा।

कबीर के चलाये हुए सन्त मत में जो प्रधान भावनाएँ हैं, उन पर विचार कर लेना आवश्यक है :—

१. **ईश्वर**—सन्त मत का ईश्वर एक है।[१] उसका रूप और आकार नहीं है।[२] वह निर्गुण और सगुण के परे है।[३] वह संसार के प्रत्येक कण में है। वही प्रत्येक की साँस में है। वह वर्णन नहीं किया जा सकता, वह केवल अनुभव-गम्य ही है।[४] वह ज्योति-स्वरूप है। वह अलख और निरंजन है। वह सुरति-रूप है। उसकी प्राप्ति भक्ति और योग से हो सकती है। उसका नाम अक्षय पुरुष या सत्पुरुष है। उसी से संसार की उत्पत्ति है।[५] ईश्वर की प्राप्ति में गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिष्य को परमात्मा से मिलाने के कारण गुरु का स्थान स्वयं परमात्मा से ऊँचा है।

२. **माया**—यह सत्यपुरुष से उत्पन्न है। यह सृष्टि की सृजन शक्ति है। इसके दो रूप हैं, सत्य और मिथ्या।[६] सत्य माया तो महात्माओं को ईश्वर की प्राप्ति में सहायक है। मिथ्या माया संसार को ईश्वर से विमुख कराती है।[७] कबीर ने मिथ्या

१—मेरा साहब एक है दूजा कहा न जाय। साहिब दूजा जो कहूँ साहब खरा रिसाय॥
—कबीर वचनावली

२—जाके मुख माथा नहीं नाहीं रूप कुरूप। पुहुप बास तें पातरा ऐसा तत्त अनूप॥
—कबीर वचनावली

३—निर्गुण की सेवा करो सर्गुण को करो ध्यान। निर्गुण सर्गुण से परे तहाँ हमारो ज्ञान॥
—कबीर वचनावली

४—पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान। कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परवान॥
—कबीर वचनावली

५—अक्षय पुरुष इक वृच्छ है निरंजन वाकी डार। तिरदेवा साखा भये पात भया संसार॥
—कबीर वचनावली

६—माया के दुइ रूप हैं सत्य मिथ्या संसार॥ कबीर परिचय, पृष्ठ २०५

७—कबीर माया पापिणीं हरि सूं करै हराम—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२

माया का ही अधिकतर वर्णन किया है। वह त्रिगुणात्मक है।[1] वह जन्म, पालन और संहार करने वाली भी है।[2] अधिकतर वह संसार को सत्पथ से हटा कर कुमार्ग पर लाने वाली है। वह 'खांड' की तरह मीठी है[3] किन्तु उसका प्रभाव विष के समान है। उसने सारे संसार को अपने वश में कर रखा है।[4] उसका सम्बन्ध कनक और कामिनी से है।[5] संसार की जितनी भी आकर्षक और मोह में आबद्ध करने वाली वस्तुएँ हैं, वे सब माया की रस्सियाँ हैं। कबीर कहते हैं :—

> माया तजूँ तजी नहिं जाइ, फिर फिर माया मोहिं लपटाइ ॥ टेक ॥
> माया आदर माया मान, माया नही तहाँ ब्रह्म गियान ॥
> काया रस माया कर जान, माया कारनि तजै परान ॥
> काया जप तप माया जोग, माया बाँधै सब ही लोग ॥
> माया जल थलि माया आकासि, माया व्यापि रही चहुँ पासि ॥
> माया माँता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता ॥
> माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार ॥[6]

३. हठयोग—अंगों तथा श्वास पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए (हठयोग) एवं मन को एकाग्र कर परमात्मा के दिव्य स्वरूप पर मनन करते हुए आत्मा समाधिस्थ हो ईश्वर में मिल जाती है। हठयोग का तात्पर्य बलपूर्वक ब्रह्म से मिल जाना है। शारीरिक और मानसिक परिश्रम के द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करना ही हठयोग का आदर्श है। इसमें ८४ आसनों का विधान है।[7] इसके द्वारा ईश्वरीय् चिन्तन के लिये शरीर को तैयार करने का विचार है। उसके बाद प्राणायाम है अर्थात् श्वास और प्रश्वास की गति को नियमित करने का नियम है। इससे मन में एकाग्रता आती है और ईश्वर-चिन्तन में सहायता मिलती है। रेचक, कुंभक और पूरक साँसों के द्वारा प्राणायाम की शक्ति जागृत होती है जिससे शरीर के अंतर्गत मूलाधार चक्र से कुंडलिनी चैतन्य होती है। मेरुदंड के

१—तिरगुण फाँस लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी
माया महा ठगिनि हम जानी—कबीर के पद, पृष्ठ ३७

२—माया के गुण तीन हैं, जनम पालन संहार—कबीर परिचय, पृष्ठ ३०४

३—कबीर माया मोहिनी जैसे मीठी खांड। सतगुर की किरपा भई नही तौं करती भांड ॥
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३

४—कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।
सब जग तो फंधै पड्या गया कबीरा काटि ॥ —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३२

५—माया की झल जग जल्या, कनक कामिणी लागि।
कहुधौं किहि विधि राखिये, रुई लपेटी आगि ॥ कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३५

६—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११५

७—चतुरशीत्यासनानि सन्ति नाना विधान च।—शिव संहिता, तृतीय पटल, श्लोक ८४

के समानान्तर सुषुम्णा नाड़ी के विस्तार में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्ध और आज्ञाचक्र को पार कर कुंडलिनी ब्रह्मांड में स्थित सहस्रदल कमल का स्पर्श करती है जिससे 'अनहदनाद' की ध्वनि सुनाई पड़ती है।[1] सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्र से गंगा रूप पिंगला नाड़ी में अमृत का प्रवाह होता है और मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य से यमुना रूप इड़ा नाड़ी में विष का प्रवाह होता है। शरीर में गंगा और यमुना के सहारे अमृत और विष का प्रवाह निरन्तर होता रहता है। जो योगी हैं वे विष का प्रवाह रोक कर अपने शरीर को अमृतमय कर लेते हैं और हजारों वर्षों तक जीवित रहते हैं। प्राणायाम के द्वारा पंच प्राणों की साधना में कुंडलिनी जो सर्प के समान मूलाधार चक्र में सोती है, और जो अपनी ही ज्योति से आलोकित है, हठयोग में महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इसी हठयोग को कबीर ने ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना है।

४. **सूफीमत**—सूफीमत का प्रभाव सन्त मत पर यथेष्ट पड़ा है। सूफीमत में बन्दे और खुदा का एकीकरण है। उसमें माया के लिए कोई स्थान नहीं है। हाँ, शैतान की स्थिति अवश्य मानी गई है, जो बन्दे को भुलावा देकर कुमार्ग पर ले जाता है। खुदा से मिलने के लिए बन्दे को अपनी रूह का परिष्करण करना पड़ता है। उसके लिए चार दशाएँ मानी गई हैं :—

१—शरीयत (شریعت)
२—तरीक़त (طریقت)
३—हकीक़त (حقیقت)
४—मारिफ़त (معرفت)

मारिफत में रूह 'बका' (जीवन) प्राप्त करने के लिए 'फना' हो जाती है। इस 'फना' होने में इश्क (प्रेम) का बहुत बड़ा हाथ है। बिना इश्क के 'बका' की कल्पना ही नहीं हो सकती। इसी 'बका' में रूह अपने को 'अनलहक' की अधिकारिणी बना सकती है।[2] इस 'अनलहक' में रूह आलमे 'लाहूत' की निवासिनी बनती है। 'लाहूत' के पहले अन्य तीन जगतों में आत्मा अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करती है। उसे हम परिष्करण की स्थिति (Purgatory) कह सकते हैं। वे तीन जगत् हैं—आलमे नासूत (सत्-भौतिक संसार), आलमे मलकूत (चित् संसार) और आलमे जबरूत (आनन्द संसार)। 'लाहूत' में हक (ईश्वर) से सामीप्य होता है। जो सदैव एक है।

१—उलटे पवन चक्र षट बेधा सुंनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहिं जीवै, ताहि खोजि वैरागी॥—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९

२—हम चु बूदिन बूद खालिक गरक हम तुम पेस।—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७७

५. **रहस्यवाद**—कबीर ने अद्वैतवाद और सूफीमत के मिश्रण से अपने रहस्यवाद की सृष्टि की। इसमें आत्मा परमात्मा से मिलकर एक स्वरूप धारण करती है। दोनों में कोई भिन्नता नहीं होती। इस रहस्यवाद में प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम पति-पत्नी के सम्बन्ध ही में पूर्णता को पहुँचता है। इसलिए कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप देकर परमात्मा रूपी पति की आराधना की है। जब तक ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आत्मा विरहिणी के समान दुःखी होती है। जब आत्मा परमात्मा से मिल जाती है तब रहस्यवाद के आदर्श की पूर्ति हो जाती है। दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता—"जब वह (मेरा जीवन-तत्व) 'दूसरा' नहीं कहलाता तो मेरे गुण उसके गुण हैं। जब हम दोनों एक हैं तो उसका बाह्य रूप मेरा है। यदि वह बुलाई जाय तो मैं उत्तर देता हूँ और यदि मैं बुलाया जाता हूँ तो वह मेरे बुलाने वाले को उत्तर देती है और कह उठती है "लब्बयक" (जो आज्ञा)। वह बोलती है, मानों मैं ही वार्तालाप कर रहा हूँ, उसी प्रकार यदि मैं कोई कथा कहता हूँ तो मानों वह ही उसे कहती है। हम लोगों के बीच में से मध्यम पुरुष सर्वनाम ही उठ गया है और उसके न रहने से मैं विभिन्न करने वाले समाज से बहुत ऊपर उठ गया हूँ।"[1]

कबीर ने ईश्वर की उपासना में अपनी आत्मा को पूर्ण रूप से पतिव्रता स्त्री माना है।[2] वे परमात्मा से मिलने के लिये बहुत व्याकुल हैं। परमात्मा से विरह का जीवन उन्हें असह्य है।[3] कबीर का रहस्यवाद बहुत ही भावमय है। उसमें परमात्मा के लिये अविचल प्रेम है। जब उसकी पूर्ति होती है तो कबीर की आत्मा एक विवाहिता पत्नी की भाँति पति से मिलाप करने पर प्रसन्न हो उठती है।[4] इस प्रकार के विरह और मिलन के पदों में ही कबीर ने अपने रहस्यवाद की उत्कृष्ट सृष्टि की है। संत मत के अन्य कवियों ने भी इसी रहस्यवाद पर लिखा है, पर उनमें वह अनुभूति नहीं है जो कबीर में है।

६. **रूपक**—संतों ने अपनी अनुभूति को अनेक प्रकार से प्रकट किया है। जब उनके विचार साधारण भाषा में प्रकट नहीं किये जा सकते थे, तब वे किसी रूपक का सहारा लिया करते थे। ये रूपक कभी-कभी तो बिलकुल ही अस्पष्ट होते

१—दि आइडिया ऑव् पर्सोनालिटी इन सूफीज्म, पृष्ठ २०

२—बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुम मिलन कूँ मनि नाहीं विश्राम॥—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८

३—कै विरहित कूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणां, मोपै सहा न जाय॥—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०

४—दुलहिनी गावहु मंगलचार। हम घरि आए हो राजा राम भतार॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८७

थे जिनका अर्थ लगाना केवल उन्हीं से साध्य था जो संतमत में थे अथवा संतों के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थे। भाव-सौन्दर्य और भावोन्माद साधारण शब्दों में उपस्थित नहीं किया जा सकता, इसीलिए संतों ने अनेक चित्रों की सृष्टि की। इसे अंग्रेजी कवियों ने 'रूपक भाषा'[1] नाम दिया है।

कबीर ने इन रूपकों को विशेष कर दो रूपों में बाँधा है। एक तो उल्टबाँसी का रूप है, जिसमें स्वाभाविक व्यापारों के विपरीत कार्य की कल्पना की जाती है।[2] और दूसरा रूप है आश्चर्यजनक घटनाओं की सृष्टि।[3] इन दोनों का संबंध रहस्यवाद से है। शरीर में अनंत परमात्मा की अनुभूति वैसी ही है जसे नाव में नदी का डूब जाना और परमात्मा से मिलन का आनंद वैसा ही है जैसे सिंह का पान कतरना। इन रूपकों से यद्यपि भावना स्पष्ट नहीं हो पाती, पर अनुभूति की अभिव्यक्ति अवश्य हो जाती है। कबीर ने इन रूपकों को अधिकतर दो क्षेत्रों से लिया है। एक तो पशु-संसार से और दूसरा जुलाहे की कार्यावली से। कबीर इन्हीं रूपकों के कारण कहीं-कहीं अस्पष्ट हो गये हैं, पर हमें उन रूपकों में कवीर की अनुभूति को ही खोजने की चेष्टा करनी चाहिए।

प्रेम-काव्य

मुसलमानी शासन का दूसरा बड़ा प्रभाव साहित्य में प्रेम-काव्य से प्रारम्भ होता है। उसमें सूफी सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण हिन्दू पात्रों के जीवन में किया गया है। इस्लाम के बढ़ते हुए स्वरूप ने जहाँ एक ओर हिन्दू धर्म के विश्वास को उच्छिन्न कर संतों के द्वारा निराकार ईश्वर की उपासना का मार्ग तैयार किया, वहाँ दूसरी ओर अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए सूफी कवियों की लेखनी को भी गतिशील बनाया। संत-काव्य और सूफी कवियों के प्रेम-काव्य हमारे साहित्य में स्पष्टतः मुसलमानी राज्य के विकार हैं, जो राम और कृष्ण साहित्य पर लिखे गये सिद्धान्तों से समानान्तर होते हुए भी वस्तुतः उनसे भिन्न हैं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि धर्म के वातावरण से दूर न रहते हुए भी प्रेम-काव्य ने हमें सम्पूर्ण रूप से लौकिक कहानियाँ दी हैं। संसार के प्रेम का इतना सजीव वर्णन हमें पहली बार प्रेम-काव्य में मिलता है। इस दिशा में फारसी साहित्य की मसनवियों ने हमारे हिन्दी साहित्य के प्रेम-काव्य को बहुत प्रभावित किया है।

१—दि लैंग्वेज ऑव् सिम्बल्स

२—पहलै पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुरु लागै पाइ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगें खाई॥—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९१

३—पुहुप बिना एक तरवर फलिया बिन कर तूर बजाया।
नारी बिना नीर घट भरिया, सहज-रूप सो पाया॥—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९०

प्रेम-काव्य में जो प्रधान भावनाएँ हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१. **ईश्वर**—प्रेम-काव्य सूफीमत पर ही आश्रित है, अतः सूफीमत के समस्त सिद्धान्त प्रेम-काव्य में प्रस्फुटित हुए हैं। सूफीमत में ईश्वर एक है, जिसका नाम 'हक' है। उसमें और आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा 'बन्दे' के रूप में अपने को प्रस्तुत करती है और बन्दा इश्क (प्रेम) के सूत्र से 'हक' तक पहुँचने की चेष्टा करता है। जिस प्रकार एक पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए अनेक 'मंजिलों' को पार करता है उसी प्रकार बन्दे को खुदा तक पहुँचने में चार दशाएँ पार करनी पड़ती हैं। वे दशाएँ हैं शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत। इन दशाओं का परिचय पीछे संत-काव्य की रूपरेखा में दिया जा चुका है।

मारिफत में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। वहाँ आत्मा स्वयं 'फना' होकर 'बका' के लिए प्रस्तुत होती है। इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनलहक' सार्थक हो जाता है। प्रेम में चूर होकर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार कर ईश्वर में मिलती है और तब दोनों शराब-पानी की तरह मिल जाते हैं।

२. **प्रेम**—सूफीमत में प्रेम का अंश बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रेम ही कर्म है, और प्रेम ही धर्म है। इसी प्रेम से हिन्दी का प्रेम-काव्य पोषित हुआ है। प्रत्येक कहानी में प्रेम का ही निरूपण है। उसका बीज और अन्त उसी की विजय है। सूफीमत मानों स्थान-स्थान पर प्रेम के आवरण से ढंका हुआ है। उस सूफीमत के बाग को प्रेम के फुहारे सदा सींचते रहते हैं। निस्वार्थ प्रेम ही सूफीमत का प्राण है। फारसी के जितने सूफी कवि हैं वे कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं हैं। प्रमाण स्वरूप जलालउद्दीन रूमी और जामी के बहुत-से उदाहरण दिये जा सकते हैं। जायसी ने भी पद्मावत में लिखा है :—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥

प्रेम के साथ-साथ उस सूफीमत में प्रेम का नशा भी प्रधान है। उसमें नशे के खुमार का और भी महत्त्वपूर्ण अंश है। उसी नशे के खुमार की बदौलत ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। फिर संसार की कोई स्मृति नहीं रहती, शरीर का कुछ ध्यान ही नहीं रहता। केवल परमात्मा की 'लौ' ही सब कुछ होती है।

एक बात और है। सूफीमत में ईश्वर की भावना स्त्री-रूप में मानी गई है। वहाँ भक्त पुरुष बन कर उस स्त्री की प्रसन्नता के लिए सौ जान से निसार होता है, उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है। उसके द्वार पर जाकर प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में उसके सामने उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ रूमी की एक कविता का भावार्थ दिया जा सकता है :—

प्रियतमा के प्रति प्रेमी की पुकार

मेरे विचारों के संघर्ष से मेरी कमर टूट गई है।
ओ प्रियतमे, आओ और करुणा से मेरे सिर का स्पर्श करो।
मेरे सिर से तुम्हारी हथेली का स्पर्श मुझे शान्ति देता है।
तुम्हारा हाथ ही तुम्हारी उदारता का सूचक है।
मेरे सिर से अपनी छाया को दूर मत करो।
मैं सन्तप्त हूं, सन्तप्त हूं, सन्तप्त हूं।
....

ऐ, मेरा जीवन ले लो,

तुम जीवन-स्रोत हो, क्योंकि तुम्हारे विरह में मैं अपने जीवन से क्लांत हूं। मैं वह प्रेमी हूं जो प्रेम के पागलपन में निपुण है।

मैं विवेक और बुद्धि से हैरान हूं।[1]

इस तरह सूफीमत में ईश्वर स्त्री और भक्त पुरुष है। पुरुष ही स्त्री से मिलने की चेष्टा करता है, जिस प्रकार जायसी के पद्मावत में रत्नसेन (साधक) सिंहलद्वीप जाकर पद्मावती (ईश्वर) से मिलने की चेष्टा करता है।

३. शैतान और पीर—सूफीमत में माया तो नहीं है, पर शैतान अवश्य है, जो साधक को उसके पथ से विचलित कर देता है। पद्मावत में रत्नसेन को विचलित करने वाला राघवचेतन है जो कवि के द्वारा शैतान के रूप में चित्रित किया गया है।[2] इस शैतान से बचने के लिये पीर (गुरु) की बहुत आवश्यकता है। इसीलिये सूफीमत में पीर का बड़ा सम्मान है। वही ऐसा शक्तिशाली है जो साधक को शैतान से बचा सकता है। जलालुद्दीन रूमी ने अपनी मसनवी के प्रथम भाग में पीर की बहुत प्रशंसा लिखी है :—

ओ सत्य के वैभव, हुसामुद्दीन, कागज के कुछ पन्ने और ले और पीर के वर्णन में उन्हें कविता से जोड़ दे।

यद्यपि तेरे निर्बल शरीर में कुछ शक्ति नहीं है, तथापि तेरी शक्ति के सूर्य बिना हमारे पास प्रकाश नहीं है।

पीर (पथ-प्रदर्शक) ग्रीष्म (के समान) है, और (अन्य) व्यक्ति शरत्-काल (के समान) हैं। (अन्य) व्यक्ति रात्रि के समान हैं, और पीर चन्द्रमा है।

मैंने (अपनी) छोटी निधि (हुसामुद्दीन) को पीर (वृद्ध) का नाम दिया है। क्योंकि वह सत्य से वृद्ध (बनाया गया) है। समय से वृद्ध नहीं (बनाया गया)।

---

१ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ २१

२ जायसी ने माया का भी संकेत किया है और वह अलाउद्दीन के रूप में है।

वह इतना वृद्ध है कि उसका आदि नहीं है; ऐसे अनोखे मोती का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

वस्तुतः पुरानी शराब अधिक शक्तिशालिनी है, निस्सन्देह पुराना सोना अधिक मूल्यवान है।

पीर चुनो, क्योंकि बिना पीर के यह यात्रा बहुत ही कष्टमय, भयानक और विपत्तिमय है।

बिना साथी के तुम सड़क पर भी उद्भ्रान्त हो जाओगे, जिस पर तुम अनेक बार चल चुके हो।

जिस रास्ते को तुमने बिलकुल ही नहीं देखा, उस पर अकेले मत चलो, अपने पथ-प्रदर्शक के पास से अपना सिर मत हटाओ।

मूर्ख, यदि उसकी छाया (रक्षा) तेरे ऊपर न हो तो शैतान की कर्कश ध्वनि तेरे सिर को चक्कर में डाल कर तुझे (यहाँ-वहाँ) घुमाती रहेगी। शैतान तुझे रास्ते से बहका ले जायगा (और) तुझे 'नाश' में डाल देगा। इस रास्ते में तुझसे भी चालाक हो गये हैं। (जो बुरी तरह से नष्ट किये गये हैं।)

सुन (सीख) कुरान से—यात्रियों का विनाश! नीच इबलिस ने उनसे क्या व्यवहार किया है!!

वह उन्हें रात्रि में अलग, बहुत दूर ले गया—सैकड़ों-हजारों वर्षों की यात्रा में—उन्हें दुराचारी (अच्छे कार्यों से रहित) नग्न कर दिया।

उनकी हड्डियाँ देख—उनके बाल देख! शिक्षा ले, और उनकी ओर अपने गधे को मत हाँक। अपने गधे (इन्द्रियों) की गर्दन पकड़ और उसे रास्ते की तरफ उनकी ओर ले जा, जो रास्ते को जानते हैं और उस पर अधिकार रखते हैं।

खबरदार! अपना गधा मत जाने दे, और अपने हाथ उस पर से मत हटा, क्योंकि उसका प्रेम उस स्थान से है जहाँ हरी पत्तियाँ बहुत होती हैं।

यदि तू एक क्षण के लिये भी असावधानी से उसे छोड़ दे तो वह उस हरे मैदान की दिशा में अनेक मील चला जायगा। गधा रास्ते का शत्रु है, (वह) भोजन के प्रेम में पागल-सा है। ओः! बहुत से ऐसे हैं जिनका उसने सर्वनाश किया है!

यदि तू रास्ता नहीं जानता, तो जो कुछ गधा चाहता है, उसके विरुद्ध कर। वह अवश्य ही सच्चा रास्ता होगा।[1]

सूफीमत के इन व्यापक सिद्धान्तों को लेकर ही प्रेम-काव्य चला है, उन्हीं सिद्धान्तों के अनुरूप ही कथा की सृष्टि हुई है। एक राजकुमार एक राजकुमारी से प्रेम करने लगता है, पर मार्ग में बहुत-सी बाधाएँ हैं, प्रेमी प्रेमिका से नहीं मिल

१ कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६३

पाता। अनेक प्रयत्न विफल होते हैं। अन्त में किसी हितैषी या पथ-प्रदर्शक की सहायता पाकर दोनों का मिलाप होता है। यही परिस्थिति खुदा और उसके बन्दे में है। साधक ईश्वर की विभूति—उसका सौन्दर्य—देख कर उस पर मोहित हो जाता है, पर दोनों में मिलाप नहीं होता। संसार की अनेक कठिनाइयाँ हैं। माया है, मोह है। अन्त में गरु की सहायता पाकर दोनों मिल जाते हैं। इस प्रकार पार्थिव प्रेम में अपार्थिव प्रेम की ओर संकेत है, भौतिकता के पीछे रहस्यवाद की छाया है। कभी-कभी कथा में इसका स्पष्टीकरण हो जाता है, जैसा जायसी के पद्मावत में है। प्रत्येक प्रेम-काव्य के लेखक का कथानक थोड़े-बहुत अन्तर से यही रहता है। कोई भी कहानी दुःखान्त नहीं है, क्योंकि मिलन ही सूफीमत की एक-मात्र चरम स्थिति है।

प्रेम-काव्य में सबसे विचित्र बात यह है कि कथानक सम्पूर्ण रूप से भारतीय है। उसमें पात्रों के आदर्श भी एकान्त रूप से हिन्दू धर्म में पोषित हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दू वातावरण रहते हुए भी निष्कर्ष मुसलमानी सिद्धान्तों से पूर्ण है। भारतीय काव्य-शैली से पूर्ण रहते हुए भी ये प्रेम-काव्य मसनवी के वर्णनात्मक रूप लिये हुए हैं। जहाँ एक ओर मसनवी के अनुसार विषय-निरूपण है, वहाँ दूसरी ओर दोहा, चौपाई छंद से समस्त कथा कही गई है। भाषा भी अवधी है। कथानक के अंतर्गत हिन्दू देवी-देवताओं के भी विवरण ह। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रेम-काव्य के कवियों ने हिन्दू शरीर में मुसलमानी प्राण डाल दिये हैं।

इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में राम और कृष्ण काव्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें भक्ति की भावना अपनी चरम सीमा पर थी।

राम और कृष्ण काव्य

धार्मिक काल की यह भक्ति-भावना उत्तरी भारत में पल्लवित होने के पूर्व दक्षिण में अपना निर्माण कर चुकी थी। यह भावना वैष्णव धर्म से उद्भूत हुई थी, जिसका सम्बन्ध भागवत या पंचरात्र धर्म से है। वैष्णव धर्म का आदि रूप हमें विष्णु के देवत्व में और देवत्व की प्रधानता में मिलता है। विष्णु का निर्देश हमें सबसे पहले ऋग्वेद में मिलता है।[1] [विष्णु (विश धातु) व्याप्त होना]। ऋग्वेद में विष्णु प्रथम श्रेणी के देवताओं में नहीं हैं। वे सौर शक्ति के रूप में

१ अतो देवा अवंतु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे

पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ १६ ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदं।

माने गए हैं। सूर्य सम्पूर्ण सृष्टि में प्रकाश रूप से व्याप्त है, इसलिए सूर्य का रूप ही विष्णु है। उनका वर्णन विश्व के सात विभागों को केवल तीन पग ही में पार कर लेने के रूप में किया गया है। ये तीन पग या तो अग्नि, विद्युत्, सूर्य के रूप हैं अथवा सूर्य के आकाश मार्ग की तीन स्थितियाँ—उदय, उत्कर्ष और अस्त हैं। वेद में कभी-कभी उनका साम्य इन्द्र से भी हुआ है। यद्यपि वेद के विष्णु महाकाव्यों के विष्णु नहीं हैं तथापि विष्णु में संरक्षण और व्याप्त होने की भावना का जो प्राधान्य पहले था उसी का पल्लवित और विकसित रूप आगे चल कर हमारे आचार्यों और कवियों द्वारा प्रचारित हुआ। शाकपूणि के द्वारा विष्णु के तीन पैरों का रूपक पृथ्वी पर अग्नि, वायु-मंडल में इन्द्र अथवा वायु और आकाश में सूर्य के आधार पर समझाया गया है। और्णवाभ ने सूर्य का उदय, मध्याह्न और अस्त ही विष्णु के तीन पैरों के रूप में समझाया है। विष्णु का महत्त्व इतना बढ़कर वर्णित किया गया है कि प्रशंसा की दृष्टि से इनका स्थान वैदिक देवताओं में सर्वश्रेष्ठ

समूलहमस्य पांसुरे ॥ १७ ॥

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।

अतो धर्माणि धारयन् ॥ १८ ॥

विष्णुः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।

इंद्रस्य युज्यः सखा ॥ १९ ॥

तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः।

दिवी व चक्षु राततं ॥ २० ॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिंधते।

विष्णोर्यत्परमं पदं ॥ २१ ॥

इति प्रथमस्य द्वितीयं सप्तमो वर्गः

ऋग्वेद संहिता—(सायणाचार्य)—डा० मैक्स मूलर

होता, किन्तु विष्णु को इन्द्र का सहयोगी और प्रशंसक तथा सोम से उत्पन्न भी कहा गया है। इस कारण उसका महत्त्व बहुत ही गिर गया है।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु के रूप में परिवर्तन हुआ। यह रूप वेद और पुराणों के बीच का है। वेद से परिवर्द्धित होते हुए भी पुराणों में वर्णित रूप तक विष्णु का रूप अभी नहीं पहुँचा। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु वामन रूप में चित्रित किये गए हैं। वे यज्ञ रूप होकर असुर से सारी पृथ्वी प्राप्त कर लेते हैं :—

[तेयज्ञम् एव विष्णुम् पुरस्यकृत्य ईयुः.......आदि ।][2]

ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु सब से उच्च देवता माने गए हैं। अग्नि का स्थान निम्नतम है और अन्य देव इन दोनों के मध्य में हैं :—

[अग्निर वै देवानाम् अवमो । विष्णुःपरमम् । तदन्तरेण सर्वाः अन्याः देवताः ।][3]

निरुक्त में केवल तीन देवता माने गए हैं। पृथ्वी के देवता हैं अग्नि, वायु-मंडल के देवता हैं वायु और इन्द्र तथा आकाश के देवता हैं सूर्य। विष्णु का केवल इन्द्र के साथ पूजित होने का निर्देश है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में त्रिवेद अभी तक अज्ञात हैं। मनु ने वैदिक देवताओं के साथ विष्णु का उल्लेख अवश्य किया है। पर उनमें अधिक दैवत्व का आरोप नहीं है। मनु ने सृष्टि की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए ब्रह्म की संज्ञा नारायण दी है, किन्तु उससे विष्णु का बोध नहीं होता।

आपो नाराः इति प्रोक्ताः आपो वै नर सूनवः
ताः यद् अस्यायनम् पूर्वं तेन नारायणः स्मृति (मनुस्मृति) १, (५)

[नर से उत्पन्न होने के कारण जल का नाम नाराः है। उसकी (ब्रह्म की) क्रीड़ा जल में होने के कारण उसका नाम नारायण है।]

रामायण में भी विष्णु का कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

पुत्रेष्टि यज्ञ में वे अन्य देवताओं के समान अपना भाग पाने के लिये ही आते हैं।

ब्रह्मा सुरेश्वरः स्थाणुस् तथा नारायः प्रभुः ।
इन्द्रश्च भगवान् साक्षाद् मरुदम् वृतस् तथा ॥

किन्तु आगे चलकर ज्ञात होता है कि रामायण में अनेक प्रक्षिप्त अंश आ गए[4] और उनके अनुसार विष्णु प्रधानतया सर्वश्रेष्ठ हो गए। ब्रह्म के स्थान पर विष्णु का स्थान हो जाता है।

ब्रह्मा स्वयंभूर्विष्णुर्अव्ययः (२) ११६ ।

---

१ ओरिजिनल संस्कृत टैक्स्ट—जे म्योर, भाग ४, पृष्ठ ६८
२ शतपथ ब्राह्मण [२, ५, १]
३ ऐतरेय ब्राह्मण (१, १)
४ लैसन—इंडियन ऐंटीक्विटी, भाग १, पृष्ठ ४८८

उनके आयुध भी इनके हाथ में आ जाते हैं।

शङ्ख चक्र [१] गदा पाणिः पीत वस्त्रः जगत्पति १, १४, २

महाभारत और पुराणों में त्रिवेदों में विष्णु मध्य स्थान ग्रहण किए हुए हैं। वे सतोगुणी, दयालु, पोषक, स्वयंभू और व्यापक हैं। इसीलिए उनका सम्बन्ध जल से है, जो सृष्टि के पूर्व सर्वव्यापक था। इस कारण वे नारायण हैं—जल के निवासी हैं। वे शेषशायी होकर जल पर शयन कर रहे हैं।

विष्णु का रूप महाभारत में स्रष्टा के रूप में हो गया है। इसीलिए वे प्रजापति के नाम से विभूषित हैं। वे ब्रह्म हैं, इस रूप में उनकी तीन स्थितियाँ हैं।

१. **ब्रह्मा**—जो उनके नाभि-कमल से उत्पन्न हुआ है, जिसमें विष्णु के उत्पन्न करने की शक्ति प्रस्फुटित है।

२. **विष्णु**—जिसमें वे संसार की रक्षा करते हैं। अवतार ही उनका साधन है।

३. **रुद्र**—जिसमें विष्णु सृष्टि का विनाश करते हैं। रुद्र विष्णु के मस्तक से उत्पन्न हुए हैं, किन्तु विष्णु सदैव ही सर्वश्रेष्ठ देवता नहीं हैं। कृष्ण विष्णु के अवतार अवश्य माने गए हैं, पर वे प्रधानतः दैवी शक्ति के बदले मानवीय शक्ति से काम करते हैं। द्रोणपर्व में तो वे महादेव को अपने से बड़ा मानते हैं :—

वासुदेवस्तु तां दृष्ट्वा जगाम शिरसा क्षितिम्......'द्रोणपर्व'

विष्णु पुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण और भागवत पुराण में विष्णु को सर्वश्रेष्ठ स्थान मिला है। 'सर्व शक्तिमयो विष्णुः' की संज्ञा से वे विभूषित किए गए हैं। इस प्रकार वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु बहुत ही साधारण देवता हैं। परवर्ती साहित्य में वे अवतार के रूप में धीरे-धीरे श्रेष्ठ पद को पहुँचते हैं। वे संरक्षक के रूप में बहुत ही लोकप्रिय हैं। वे सहस्रनाम हैं और उनके नामों का भजन भक्ति का प्रधान अंग है। उनकी स्त्री का नाम श्री या लक्ष्मी है, जो संपत्ति और वैभव की स्वामिनी हैं। उनका स्थान बैकुंठ है और उनका वाहन गरुड़। वे श्याम वर्ण के सुन्दर और कोमल देवता हैं। वे चतुर्भुज हैं। उनके हाथों में पंचजन्य (शङ्ख), सुदर्शन (चक्र), कौमोदकी (गदा) और पद्म (कमल) हैं। उनके धनुष का नाम 'सारंग' है और तलवार का नाम 'नन्दक'। उनके वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि, श्रीवत्स (बालों का चक्र-समूह) है। बाहु पर स्यमंतक मणि है। कभी वे लक्ष्मी के साथ कमल पर बैठते हैं, कभी वे सर्प-शय्या पर विश्राम करते हैं और कभी वे गरुड़ पर भी गमन करते हैं। शैव और शाक्त मत से भिन्न और उनसे भी अधिक व्यापक यह वैष्णव धर्म केवल विष्णु को ही परब्रह्म के रूप में मानता है। ब्रह्मा,

१ चक्र की भावना, सम्भव है, विष्णु का सूर्य की गति से साम्य होने पर या सूर्य के बिम्ब के आधार पर की गई हो।

विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति से भी परे विष्णु ब्रह्म के आदि रूप हैं। यही वैष्णव धर्म की चरम भावना है।

बौद्ध मत और जैन मत के समान ही वैष्णव मत की भावना धार्मिक सुधार से ही सम्बन्ध रखती है जिसका उद्भव ईसा के पाँच सौ वर्ष पूर्व हो गया था।[1] इसी का परिवर्द्धित रूप पंचरात्र या भगवत धर्म है। नारायण की भावना के मिश्रण से यह धर्म और भी विस्तृत हो गया। ईसा के कुछ वर्ष बाद आभीरों ने इसमें श्रीकृष्ण की भावना सम्मिलित कर दी। ८वीं शताब्दी में यह धर्म शंकर के अद्वैतवाद के सम्पर्क में आया। अपनी भक्ति के आदर्श के कारण इसे शंकर के मायावाद से संघर्ष लेना पड़ा, जिसका विकसित रूप ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय में प्रदर्शित हुआ। आगे चल कर निम्बार्क ने इस विष्णु रूप में कृष्ण रूप की भावना को अधिक प्रश्रय दिया और उसमें राधा के स्वरूप को भी जोड़ दिया। तेरहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने इस विचार को और भी पल्लवित किया और द्वैतवाद का प्रचार कर विष्णु को और भी अधिक महानता दी। रामानन्द ने दूसरी ओर विष्णु के राम रूप का प्रचार किया और भक्ति को अधिक महत्त्व दिया। सोलहवीं शताब्दी में वल्लभ ने कृष्ण और राधा का प्रेमात्मक निरूपण किया और बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने बालकृष्ण की भावना पर जोर दिया। चैतन्य ने बालकृष्ण और राधा को मिला कर वैष्णव धर्म में प्रेम के मार्ग को बहुत प्रशस्त किया।

दक्षिण के नामदेव और तुकाराम ने राधाकृष्ण की भावना न मान कर विष्णु के विट्ठल या विठोबा नाम की उद्भावना की, जिसमें प्रेम के बदले उपासना और शास्त्रीय भक्ति की भावना ही प्रधान रही। दक्षिण की ओर से उठकर उत्तर भारत में धर्म की जो लहर फैली उस पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

वैष्णव धर्म का प्रचार दक्षिण भारत में प्रथमतः व्याप्त होकर उत्तर भारत में वृद्धि पाने लगा। इस धर्म का प्रचार करने में चार महान् आचार्यों ने सहयोग दिया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बार्क। इनके पश्चात् कुछ आचार्य और हुए जिन्होंने वैष्णव धर्म को अधिक व्यापक बना दिया। वे थे रामानंद, चैतन्य और बल्लभाचार्य। वैष्णव धर्म को अनेक प्रकार से समझाने के लिए प्रत्येक आचार्य ने भिन्न-भिन्न रूप से विष्णु के रूप की विवेचना की। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत, विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। वैष्णव धर्म के इन चार प्रमुख विभेदों पर विचार करने के पूर्व यह देख लेना चाहिये कि चारों विभाग परस्पर कितना साम्य रखते हैं। आगे की बातों में उपर्युक्त चारों आचार्य सहमत हैं :—

---

१ एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एन्ड एथिक्स, भाग १२, पृष्ठ ५७१

१. भक्ति के लिये जाति का बन्धन नहीं होना चाहिये। यद्यपि ब्राह्मण जाति सभी जातियों से श्रेष्ठ है, पर शूद्र होने से ही कोई भगवद्‌भक्ति के अधिकार से च्युत नहीं हो सकता।

२. अद्वैतवाद से ब्रह्म का निरूपण किसी न किसी रूप में अवश्य भिन्न है।

३. गुरु ब्रह्म का प्रतिनिधि और अंश है। उसका सम्मान संसार की सभी वस्तुओं से अधिक है।

४. गोलोक अथवा बैकुंठ प्राप्ति ही भक्ति का चरम उद्देश्य है। यह मत प्रथमतः भक्ति-सूत्र के लेखक शांडिल्य के द्वारा प्रतिपादित है।

रामानुजाचार्य—रामानुज का जन्म सं० १०७४ में श्री परमवट्टूर में हुआ था। यह स्थान मद्रास से २६ मील दूर पश्चिम में है। ये शेष के अवतार माने गए हैं। इन्होंने कंजीवरम में शंकर मतानुयायी यादव प्रकाश से शिक्षा प्राप्त की, किन्तु अन्त में ये उनके सिद्धान्तों से सहमत नहीं हो सके। नाथ मुनि के पौत्र यामुनाचार्य के बाद अपने सम्प्रदाय के आचार्य यही हुए। इनके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। वेदार्थ-संग्रह, श्री भाष्य और गीता भाष्य। इन्होंने भारत की दो बार यात्राएँ कीं, अन्त में इन्होंने श्रीरंगम् (त्रिचनापल्ली) में अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किए। इनकी मृत्यु सं० ११९४ में हुई।

सिद्धान्त—अल्वारों के गीतों ने इस सम्प्रदाय की रूप-रेखा निर्धारित करने में विशेष सहयोग दिया। ये गीत मन्दिरों में गाये जाते थे, अतएव इन गीतों की भावुकता और प्रेम विषयक तल्लीनता ने इस सम्प्रदाय की भक्ति का रूप और भी स्पष्ट और दृढ़ कर दिया। नम्मालवार के गीतों का संकलन सबसे प्रथम नाथ मुनि (दशम शताब्दी) द्वारा हुआ, जिसे उन्होंने नालायिर प्रबन्धम् के रूप में प्रचारित किया। ये श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य माने गए हैं। नाथ मुनि के पौत्र श्री यामुनाचार्य थे जो ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में हुए। इन्होंने सिद्धित्रय में आत्मा की सत्य सत्ता (शंकर द्वारा आत्मा की मिथ्या सत्ता के विरुद्ध) घोषित की। इसी सिद्धान्त पर रामानुज ने अपने सिद्धान्तों का निर्माण किया।

रामानुज ने शंकर के मायावाद या अद्वैतवाद का खंडन कर जीव की स्थिति में सत्य की भावना उपस्थित की।

ये पदार्थ त्रितयम् की स्थिति में विश्वास रखते थे, जिसमें परब्रह्म (विष्णु), चित् (जीव) और अचित् (दृश्यम्) सम्मिलित हैं। ये तीनों अविनाशी हैं। परब्रह्म स्वतंत्र है और चित् और अचित् परब्रह्म पर निर्भर हैं। चित् और अचित् दोनों परब्रह्म से ही निर्मित हैं, पर वे परब्रह्म के समान नहीं हैं। परब्रह्म ही कर्त्ता है और वही उपादान कारण भी। जीव परब्रह्म की क्रिया है, वह परब्रह्म पर सम्पूर्ण रूप

से निर्भर है। इसीलिए जीव को परब्रह्म से सामीप्य प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। परब्रह्म के भाग होते हुए भी चित् और अचित् अपनी सत्ता में भिन्न और सत्य हैं। प्रलय होने पर चित् और अचित् ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, किन्तु वे अभिन्न नहीं हो जाते। सृष्टि होने पर वे पुनः पृथक् हो जाते हैं, अद्वैतवाद के समान वे अपना अस्तित्व नहीं खो देते। इतना होते हुए भी ब्रह्म और चित् समान नहीं हैं।

"जीव और ब्रह्म कैसे समान हो सकते हैं? मैं कभी सुखी हूँ, कभी दुखी। ब्रह्म सदैव सुखी है। यही अन्तर है। वह अनन्त ज्योति है, पवित्र विश्वात्मा है, जीव ऐसा नही है। मूर्ख, तू कैसे कह सकता है, मैं वह हूँ जो विश्वनियन्ता है? यदि वह अनन्त सत्य है तो वह झूठी माया का निर्माता कैसे हो सकता है? यदि वह ज्ञान-कोष है तो अविज्ञा का स्रष्टा कैसा?" यद्यपि ब्रह्म और चित् एक ही तत्व से निर्मित (अद्वैत) हैं तथापि उनका अन्तर माया-जनित नहीं है। यही विशेषता है जिसके कारण रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म की अभिव्यक्ति पाँच प्रकार से होती है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामिन् और अर्चावतार। साधक एक बार ही अन्तिम परिस्थिति (अर्चावतार) को हृदयंगम नही कर सकता। अतएव उसे विभव से आरम्भ करना चाहिए। क्रमशः अन्य परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद साधक अपने हृदय में स्थित पर और व्यूह की अनुभूति प्राप्त करता है। उस समय उसे बैकुण्ठ या साकेत की प्राप्ति होती है और वह परब्रह्म से मिलकर अनन्त आनन्द का उपभोग करता है। अभिज्ञान सम्मिलन (Conscious assimilation) विशिष्टाद्वैत की विशेषता है।

माध्वाचार्य—मध्व अथवा आनन्द तीर्थ का जन्म संवत् १३१४ (सन् १२५७) में मंगलोर से ६० मील उत्तर उदीपी में हुआ था। ये द्वैतवाद के प्रतिपादक थे। उन्होंने अपने सिद्धान्त अधिकतर भागवत पुराण से लिये।

सिद्धान्त—इनके अनुसार एक विष्णु ही अविनाशी ब्रह्म है। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता तो नाशवान हैं। जीव ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं, किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र। दोनों में स्वामी तथा सेवक अथवा राजा और प्रजा का सम्बन्ध है। ब्रह्म और जीव में जो अन्तर है, वह एकान्त सत्य है, मिथ्या नहीं। ब्रह्म आराध्य है, जीव आराधक। दोनों में समानता कैसी? प्रजा राजा नहीं है और न राजा ही प्रजा है। शरीर और शक्ति मे जो अन्तर है वही जीव और ब्रह्म में है। एक बार ब्रह्म से उत्पन्न होने पर जीव सदैव के लिए—अनन्त काल के लिए—स्वतन्त्र सत्ता है। जिस प्रकार कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है—(कारण ही कार्य नहीं है और न कार्य कारण ही) उसी प्रकार ब्रह्म जीव नहीं है और न जीव ब्रह्म है।

कृष्ण ब्रह्म हैं और उनकी भक्ति ही ब्रह्म के पाने का एकमात्र साधन है। इस सम्प्रदाय में राधा मान्य नहीं हैं। अपने सम्प्रदाय में मध्य वायु के अवतार माने जाते हैं। उनके दो प्रधान ग्रन्थ वेदान्त सूत्र पर भाष्य और अनुभाष्य हैं।

विष्णु स्वामी--विष्णु स्वामी के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। संभवत: वे भी दक्षिण निवासी थे। वे महाराष्ट्र भक्त ज्ञानेश्वरी के रचयिता ज्ञानेश्वर महाराज से तीस वर्ष बड़े थे।[1] ज्ञानेश्वर महाराज का आविर्भाव-काल सन् १२६० माना जाता है।[2] अतएव विष्णु स्वामी का समय (१२६०+३०) सन् १३२० माना जाना चाहिए। यह समय संवत् १३७७ होगा।

सिद्धान्त—ये मध्वाचार्य के मतानुयायी माने जाते हैं, पर कहा जाता है कि इन्होंने अद्वैतवाद को माया से रहित मान कर शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया जिसका अनुसरण आगे चल कर महाप्रभु बल्लभाचार्य ने किया। विष्णु स्वामी ने कृष्ण को अपना आराध्य माना है, पर साथ ही राधा को भी भक्ति में प्रधान स्थान दिया है। इन्होंने गीता, वेदान्त सूत्र और भागवत पुराण् पर भाष्य लिखे। कहा जाता है कि विष्णु स्वामी ज्ञानेश्वर महाराज के गुरु थे, किन्तु इसका कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भक्तमाल में इसका निर्देश मात्र है।

निम्बार्क—निम्बार्क बारहवीं शताब्दी में आविर्भूत हुए। ये तेलगू प्रदेश से आकर वृन्दावन में बस गए थे। ये सूर्य के अवतार माने जाते हैं। गीत गोविन्द के रचयिता श्री जयदेव इनके शिष्य थे। कहा जाता है कि इन्होंने सूर्य की गति रोक कर उसे आकाश से हटाकर नीम वृक्ष के पीछे कुछ काल तक के लिए छिपा दिया था, क्योंकि सूर्यास्त के पूर्व उन्हें किसी संत को भोजन देना था। सूर्यास्त के बाद भोजन करना निम्बार्क की क्रिया के विरुद्ध था। वे राधाकृष्ण के उपासक और द्वैताद्वैत के प्रवर्त्तक कहे जाते हैं। वे रामानुज से विशेष प्रभावित थे।

सिद्धान्त—ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी जीव उसमें अपना अस्तित्व खो देता है फिर उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती। जीव को इस चरम मिलन की साधना भक्ति से करनी चाहिये। कृष्ण के साथ राधा की महानता इस सम्प्रदाय की विशेषता है। राधा कृष्ण के साथ सब स्वर्गों से परे गोलोक में निवास करती हैं। कृष्ण परब्रह्म हैं, उन्हीं से राधा और गोपिकाओं का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार राधा और कृष्ण की उपासना ही प्रधान है। निम्बार्क स्मार्त नहीं हैं इसलिए वे राधा-कृष्ण के अतिरिक्त किसी देवी-देवता को नहीं मानते। इनके दो ग्रंथ प्रधान हैं। वेदान्तसूत्र पर भाष्य वेदान्त-पारिजात सौरभ और दशश्लोकी। सन् १५०० के लगभग

---

१ आउट लाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्लेचर ऑव् इंडिया—जे० एन० फर्क्हार, पृष्ठ २३५
२ वही, पृष्ठ २३४

इन चार सिद्धान्तों के फल-स्वरूप चार सम्प्रदाय के रूप उत्तर भारत में निश्चित हुए। वे सम्प्रदाय इस भाँति थे :—

१—श्री सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी रामानन्दी वैष्णव थे।

२—ब्रह्म सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी माधव वैष्णव थे।

३—रुद्र सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी विष्णु स्वामी मत के थे।

४—सनकादि सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के अनुयायी निम्बार्क मत के थे।

रामानन्द—चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में रामानन्द ने रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय को बहुत ही व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया। रामानन्द पुष्पसदन शर्मा के पुत्र थे। इनकी माता का नाम सुशीला था। इन्होंने अपना विद्याभ्यास काशी के स्वामी राघवानन्द के आश्रम में किया। इनकी प्रतिभा देख कर राघवानंद ने इन्हें अपना आचार्य-पद प्रदान किया। इन्होंने सारे भारतवर्ष का पर्यटन कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया।

सिद्धान्त—इन्होंने विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर अवतार रूप राम की भक्ति पर जोर दिया। साथ ही साथ इन्होंने रामानुज के कर्म-काण्ड (समुच्चय) की उपेक्षा कर एकमात्र भक्ति को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। भक्ति के क्षेत्र में जाति-भेद का बहिष्कार एवं संस्कृत के स्थान पर भाषा में अपनी भक्ति के प्रचार की नवीनता स्थापित कर इन्होंने अपने मत को बहुत लोकप्रिय बना दिया। रामानन्द ने राम-सीता की मर्यादापूर्ण भक्ति का प्रचार कर वैष्णव धर्म की नींव उत्तर भारत में पूर्णतः जमा दी। विष्णु अथवा नारायण का वास्तविक महत्त्व तो अवतारों के द्वारा ही प्रकट हुआ है; जिनमें विष्णु का सम्पूर्ण और अधिकांश मनुष्य के रूप में अवतरित होकर 'धर्म की ग्लानि' दूर करता है, दुष्टों का विनाश और साधुओं का परित्राण करता है और प्रत्येक युग में उत्पन्न होता है। अवतारों की संख्या दस मानी गई है, पर भागवत पुराण के अनुसार यह संख्या २२ है। दशावतारों में सभी मान्य हैं, पर सप्तम और अष्टम अवतार में राम और कृष्ण का महत्त्व अधिक है।

चैतन्य—चैतन्य का वास्तविक नाम विश्वम्भर मिश्र था। इनका जन्म नदिया (बंगाल) में संवत् १५४२ में हुआ था। प्रारम्भ से ही ये न्याय और व्याकरण में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने लगे। २२ वर्ष में ये मध्वाचार्य के ब्रह्म सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए, किन्तु इन्हें द्वैतवाद विशेष पसन्द नहीं आया, अतएव ये रुद्र और सनकादि सम्प्रदाय के प्रभाव से भी प्रभावित हुए।

सिद्धान्त—इन्होंने राधा को प्रमुख स्थान दिया और उनकी आराधना में जयदेव, चण्डीदास और विद्यापति के पदों का प्रयोग किया। इन्होंने गान और नृत्य के साथ अपने सम्प्रदाय में संकीर्तन को भी स्थान दिया। दार्शनिक दृष्टिकोण से

इन्होंने मध्व के द्वैतवाद को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना निम्बार्क के द्वैताद्वैत को। इन्होंने अपनी भक्ति का दृष्टिकोण अधिकतर भागवत पुराण से लिया है। इन्होंने जगन्नाथपुरी जाकर अपने सिद्धान्तों को बहुत लोकप्रिय रूप में रखा। वहीं संवत् १५९० में ये जगन्नाथ जी में लीन हो गए।

चैतन्य ने राधा और कृष्ण को प्राधान्य देकर उन्हीं के चरित्रों में अपनी आत्मा को परिष्कृत करने का सिद्धान्त निर्धारित किया। इनके अनुसार भक्ति पाँच प्रकार की है :—

१. शान्ति—ब्रह्म पर मनन

२. दास्य—सेवा

३ सख्य—मैत्री

४. वात्सल्य—स्नेह

५. माधुर्य—दाम्पत्य

इस प्रकार पूर्व बंगाल में इन्होंने वैष्णव धर्म का बड़ा आकर्षक रूप रखा।

वल्लभाचार्य—वल्लभाचार्य तैलगू प्रदेश के विष्णुस्वामी मतावलम्बी भक्त के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १५३६ में हुआ था। ये चैतन्य के समकालीन थे। इन्होंने संस्कृत अध्ययन और अनेक विद्वानों को विवाद में पराजित कर छोटी अवस्था ही में यशार्जन किया। विजयनगर के कृष्णदेव की सभा में तो ये 'महाप्रभु' घोषित किए गए।

सिद्धान्त—वल्लभ ने अपने को अग्नि का अवतार कहा है। इन्होंने यद्यपि विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का पालन किया, तथापि चैतन्य के समान इन्होंने भी निम्बार्क के मत का अवलम्बन किया। कृष्ण को ही इन्होंने ब्रह्म माना है, राधा को उनकी स्त्री और उनके क्रीड़ा-स्थान को बैकुण्ठ। दार्शनिक दृष्टिकोण से इनका सिद्धान्त शुद्धाद्वैत का है, शंकर का अद्वैत जैसे शुद्ध बना दिया गया हो। शंकर की माया के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार माया से रहित अद्वैत ही शुद्धाद्वैत है। शंकर के अद्वैत में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। इस शुद्धाद्वैत में माया के बहिष्कार के साथ भक्ति के लिए विशेष विधान है। यह भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है। ज्ञान से ब्रह्म केवल जाना जा सकता है, भक्ति से ब्रह्म की अनुभूति होती है। इस प्रकार भक्ति का स्थान सर्वोच्च है।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म जो सत्, चित् और आनन्दमय है, स्वयं तीन रूपों में प्रकट हुआ। सत् गुण के आविर्भाव और चित् तथा आनन्द गुण के तिरोभाव से वह प्रकृति रूप में प्रकट हुआ तथा सत् और चित् के आविर्भाव तथा आनन्द के तिरोभाव से वह जीव के रूप में प्रकट हुआ। सत्, चित् और आनन्द

के रूप में वह सर्वव्यापक हुआ। इस प्रकार त्रय रूपात्मक ब्रह्म अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार में प्रकट हुआ। प्रकृति और जीव उससे उसी भाँति प्रकट हुए जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी। यह रचनात्मक कार्य ब्रह्म केवल अपनी शक्ति एवं अपने गुणों से करता है, वह माया का उपयोग नहीं करता।

जिस भक्ति से कृष्ण (जो ब्रह्म हैं) की अनुभूति होती है, वह स्वयं कृष्ण के अनुग्रह स्वरूप है। उस अनुग्रह का नाम वल्लभाचार्य के अनुसार 'पुष्टि' है। इसी कारण वल्लभाचार्य का मार्ग 'पुष्टि मार्ग' कहलाता है (The Path of Divine Grace), यह पुष्टि चार प्रकार की है :—

१. **प्रवाह पुष्टि**—संसार में रहते हुए भी श्रीकृष्ण की भक्ति प्रवाह रूप से हृदय में होती रहे।

२. **मर्यादा पुष्टि**—संसार के सुखों से अपना हृदय खींचकर श्रीकृष्ण का गुण-गान। इस प्रकार मर्यादापूर्ण भक्ति का विकास हो।

३. **पुष्टि पुष्टि**—श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त होने पर भी भक्ति की साधना अधिकाधिक होती रहे।

४. **शुद्ध पुष्टि**—केवल प्रेम और अनुराग के आधार पर श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त कर हृदय में श्रीकृष्ण की अनुभूति हो। यह अनुभूति हृदय को श्रीकृष्ण का स्थान बना दे और गो, गोप, यमुना, गोपी, कदम्ब आदि के संबन्ध से उसे श्रीकृष्ण-मय कर दे।

वल्लभाचार्य ने शुद्ध पुष्टि को ही अपने सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य माना है। इसके अनुसार वे जीव को राधाकृष्ण के साथ गोलोक में निवास पा जान पर ही सार्थक समझते हैं।

वैष्णव धर्म के प्रधान चार आचार्यों के सिद्धान्तों पर विचार करन से ज्ञात होता है कि रामानुजाचार्य ने केवल विष्णु या नारायण की भक्ति और ज्ञान पर ही जोर दिया है। उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर 'राम' भक्ति का प्रचार किया। शेष तीन आचार्य निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी विष्णु के रूप में श्रीकृष्ण की भक्ति का प्रचार करने के पक्ष में हैं। उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की ही भक्ति का प्रचार किया। रामानुज की भक्ति एवं अन्य तीन आचार्यों की भक्ति में भी कुछ अन्तर है। रामानुज की भक्ति श्वेताश्वतर उपनिषद् (ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व) से ली गई जान पड़ती है[1] जिसका रूप गीता म और भी अधिक स्पष्ट हो गया है। गीता के बाद पुराणों, तंत्रों

---

१ आउट लाइन ऑव् दि रिलीजस हिस्ट्री ऑव् इंडिया—जे० एन० फर्कहार, पृष्ठ २४३

और बारहवीं शताब्दी में शांडिल्य के भक्ति-सूत्र में भक्ति का शास्त्रीय विवेचन मिलता है।[1] इस भक्ति में चिन्तन और ज्ञान का विशेष स्थान है। संसार से उद्धार पाने के लिये इसकी विशेष आवश्यकता है। अन्य तीन आचार्यों की भक्ति भागवत पुराण से ली गई है जिनमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का अधिक महत्त्व है। इसमें आत्मा-चिन्तन की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी आत्म-समर्पण की। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन और आत्म-निवेदन की बड़ी आवश्यकता है। यह भक्ति केवल प्रेम से निर्मित है। इस प्रकार रामानुज अपने सिद्धान्तों में भक्ति और ज्ञान का 'समुच्चय' मानते हैं अन्य आचार्य केवल आत्म-समर्पणमय भक्ति को। संक्षेप में वैष्णव आचार्यों ने वेदान्त पर जिस प्रकार भाष्य लिखे है, उनका विवरण इस प्रकार है :—

संख्या	तिथि	आचार्य	भाष्य	वाद	सम्प्रदाय
१.	१०८५	श्री रामानुज	श्री भाष्य	विशिष्टाद्वैत	श्री वैष्णव
२.	१२३०	श्री मध्व	सूत्रभाष्य	द्वैत	माधव
३.	१३वीं शता०	श्री विष्णु-स्वामी	ब्रह्म सूत्र भाष्य	द्वैत (शुद्ध)	विष्णुस्वामी
४.	,,	श्री श्रीनिवास	वेदान्त-कौस्तुभ	द्वैताद्वैत	निम्बार्क
५.	१६वीं शता०	श्री वल्ल-भाचार्य	अनुभाष्य	शुद्धाद्वैत	(वल्लभाचार्य) (पुष्टि)
६.	१८वीं शता०	श्री बल्देव गोविन्द	भाष्य	अचिंत्य द्वैताद्वैत	चैतन्य

विविध आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विष्णु के निम्नलिखित रूप हुए जिनसे वैष्णव-साहित्य निर्मित हुआ :—

विष्णु के रूप	भक्ति-केन्द्र
१. राम	अयोध्या, चित्रकूट, नासिक।
२. कृष्ण	मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, नाथद्वारा, द्वारिका।
३. जगन्नाथ	पुरी, बद्रीनाथ।
४. बिट्ठोबा	पंढरपुर (शोलापुर), काँचीवरम्।

इन धर्मों के प्रचार के सम्बन्ध में एक बात और भी है। लोकरंजक विचरों की सृष्टि से धर्म का प्रचार तो किसी प्रकार किया ही जा रहा था, उसके साथ ही साथ जनता की भाषा का प्रयोग भी धर्म प्रचार में उपयुक्त समझा जाने लगा था।

१ ब्रह्मनिज्म ऐन्ड हिन्दूइज्मि, सर मानियर विलियन्स, पृष्ठ ६३

जो धार्मिक सिद्धान्त अभी तक संस्कृत में बतलाये जाते थे वे अब जनता की बोली में प्रचारित हो रहे थें जिससे धर्म की भावना अधिक से अधिक व्यापक हो जावे। भाषा के व्यवहार का दूसरा कारण यह भी था कि मुसलमानी शासन में संस्कृत के अध्ययन के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं रह गया था। ऐसी स्थिति में संस्कृत अपना अस्तित्व स्थिर रखने में असमर्थ हो रही थी। वह धीरे-धीरे स्थानीय बोलियों में अपना स्वरूप देख रही थी।

धार्मिक काल के प्रारम्भ में साहित्यिक वातावरण एक प्रकार से अस्त-व्यस्त था और उसमें विचार-साम्य का एकान्त अभाव था। इतना अवश्य था कि भक्ति की धारा का रूप प्रधानता प्राप्त कर रहा था। भक्ति के प्राधान्य के कारण राम और कृष्ण के सम्बन्ध में जो रचनाएँ हुईं उनका निरूपण भक्तिकाल के अन्तर्गत इतिहास में किया जायगा, किन्तु इसका विकास चारण-काल के अवसान के बाद ही हो गया था। इस परिस्थिति का निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है:—
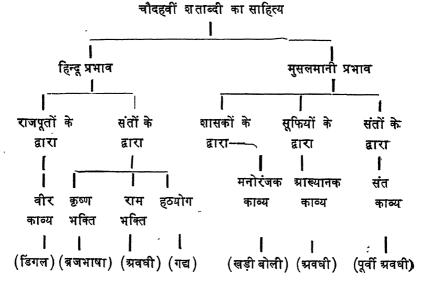
चौथा प्रकरण

भक्ति-काल

संवत् १३७५ से १७००

संत काव्य

मुसलमानी धर्म का प्रभाव सूफीमत द्वारा प्रचारित प्रेम काव्य के अतिरिक्त संत काव्य पर भी पड़ा जिसकी रूपरेखा सूफीमत से बहुत मिलती है। मुसलमानों का शासन मूर्तिपूजा के लिए बिल्कुल ही अनुकूल नहीं था। वे मूर्ति-विध्वंसक थे और थे काफिरों का समूल नाश करने वाले। अतएव हिन्दू धर्म की मूर्तिपूजा से सम्बन्ध रखने वाली प्रवृत्ति तो किसी प्रकार मुसलमानों को सह्य हो ही नहीं सकती थी। हिन्दू धर्म के उपासकों के सामने यह जटिल प्रश्न था, जिसका हल उन्होंने संत-मत में पाया। इसके प्रवर्त्तक महात्मा कबीर थे। कबीर ने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को मुसलमानी धर्म के मूल सिद्धान्तों से मिलाकर एक नये पंथ की कल्पना की थी जिसमें ईश्वर एक था। वह निर्गुण और सगुण से परे था। उसकी सत्ता प्रत्येक कण में थी। माया अद्वैतवाद की ही माया थी जिससे आत्मा और परमात्मा में भिन्नता का आभास होता है। गुरु की बड़ी शक्ति थी, वह गोविन्द से भी बड़ा था, आदि। सूफीमत में भी खुदा या हक एक है। जीव उसका ही रूप है। वह निराकार है; उसकी व्याप्ति संसार के प्रत्येक भाग में है। साधक को साधना की अनेक स्थितियों को पार करना पड़ता है। इस तरह दोनों धर्मों के मेल से एक नवीन पंथ का प्रचार हुआ जो संतमत के नाम से पुकारा गया। हिन्दू धर्म की वे बातें जो इस्लाम को असह्य थीं, संतमत में नहीं हैं। मुसलमानी धर्म की वे बातें जो हिन्दू धर्म से मिलती-जुलती हैं, संतमत में हैं। इस प्रकार संतमत के पल्लवित होने का बहुत कुछ श्रेय मुसलमानी धर्म को है।

संतमत में भक्ति और साधना की चरम अभिव्यक्ति है। यद्यपि उसमें काव्य उच्च कोटि का नहीं है, तथापि हृदय की स्वाभाविक प्रेरणा की अच्छी झलक है। संतमत स्वच्छन्द और नैसर्गिक है, उसमें काव्य की कृत्रिमता नहीं है। काव्य की सरलता ही उसकी विशेषता है। कबीर के समान कुछ ही कवि उत्कृष्ट हुए हैं, पर उनमें भी सरलता है जो जनता के हृदय की वस्तु है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर इस मध्ययुग के साहित्य की विशेषता का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

"मध्ये युगेर साधक कविरा हिन्दी भाषाय जे भाव रसेर ऐश्वर्य विस्तार करियाछेन ताहार मध्ये असामान्य विशेषत्व आछे। सेइ विशेषत्व एइ जे ताहादेर रचनाय उच्च अंगेर साधक एवं उच्च अंगेर कवि एकत्र मिलित होइयाछेन एमन मिलन सर्वत्रइ दुर्लभ।"[1]

अर्थात् मध्य युग के साधक और कवियों ने जो भाव और रस का विस्तार किया है उसमें असामान्य विशेषता है। वह विशेषता यह कि उस रचना में उच्च श्रेणी के साधक और उच्च श्रेणी के कवि का सम्मिलन है। इस प्रकार का मिलन सर्वत्र ही दुर्लभ है।

इस साहित्य में विचारों की धाराएँ मुक्तक रूप में हैं। गुरु-भक्ति, प्रेम, विरह, चेतावनी आदि भावनाएँ अलग-अलग समझाई गई हैं। उनका स्वरूप भी कहीं पदों में, कहीं दोहों में और कहीं कवित्त-सवैयों में स्पष्ट किया गया है।

संत साहित्य में जितने ी संत हुए हैं वे सब ईश्वर की भावना को हृदयंगम कर सके हों, इसमें सन्देह है। वे तो केवल भावना के आवेश में ईश्वर की गुणावली का ही वर्णन करते हैं। वे उसे मनुष्य से ऊपर होने की ही कल्पना कर सके, उसके समस्त रूप की व्याख्या नहीं। यदि उसकी व्याख्या का प्रयत्न भी है तो वह 'नीति' के रूप में। ईश्वर और जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को सुलझाने में वे असमर्थ थे।

ईश्वरवाद के प्रतिष्ठित लेखक डेविसन का कथन है कि यह (श्रेष्ठता की भावना) केवल सभ्य और संस्कृत जातियों में ही नहीं, वरन् निकृष्ट जातियों में भी पाई जाती है, यद्यपि वह भावना असम्बद्ध और भ्रान्त है। ये निकृष्ट जातियाँ यद्यपि उस शासनकारिणी शक्ति की कल्पना, अर्चना और साधना के दृष्टिकोण से गलत करते हैं तथापि वे उसके द्वारा अपने से उत्कृष्ट शक्ति की खोज में ही शान्ति प्राप्त करते हैं, जिसकी कृपा से उन्हें शक्ति और कार्यशीलता मिलती।[2]

संत साहित्य की विचार-धारा पर प्रकाश डालने में सिक्खों का धार्मिक ग्रंथ 'श्री ग्रंथ साहब' महत्त्वपूर्ण है। वह सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुन के द्वारा सम्पादित किया गया था। उसमें नानक के पूर्व अन्य संतों के वचन भी संग्रहीत हैं जो धार्मिक परिष्करण में प्रमुख स्थान प्राप्त किये हुए थे। श्री ग्रन्थसाहब में नानक की कविता के अतिरिक्त निम्न-लिखित भक्तों की कविता भी संग्रहीत है :—

१. जयदेव
२. नामदेव
३. त्रिलोचन

---

१ सुन्दर ग्रन्थावली (प्राक्कथन) संवत् १९९३.
सम्पादक—पुरोहित जी हरिनारायण शर्मा।

बहुत पर्यटन किया, पर इनके जीवन का विशेष महत्त्वपूर्ण भाग पंढरपुर में व्यतीत हुआ, जहाँ इन्होंने अनेक 'अभंगों' की रचना की। नामदेव के जीवन-काल में ही उनका यश चारों ओर फैल गया था।

मराठी इतिहासकारों के अनुसार नामदेव की मृत्यु संवत् १४०७ (सन् १३५०) में ८० वर्ष की अवस्था में हुई।[1] उनकी समाधि पंढरपुर में बनाई गई।

नामदेव की रचनाओं से ज्ञात होता है कि अपने आराध्य बिठोवा के प्रति उनकी बहुत भक्ति थी। नाभादास के भक्तमाल की टीका में नामदेव के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक घटनाएँ कही गई हैं। नामदेव की कविता उनके जीवनकाल के अनुसार तीन भागों में विभाजित की जा सकती है :—

१. पूर्वकालीन रचनाएँ, जब वे श्री पंडरीनाथ की मूर्ति की पूजा करते थे।

२. मध्यकालीन रचनाएँ, जब व अन्धविश्वास से स्वतंत्र हो रहे थे।

३. उत्तरकालीन रचनाएँ, जब वे ईश्वर का व्यापक रूप सर्वत्र देखने लगे थे। इसी तीसरे काल की रचनाएं ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं।

कुछ इतिहासकारों का कथन है कि नामदेव कबीर के समकालीन थे, क्योंकि उनकी भाषा पन्द्रहवीं शताब्दी की है। यदि हम भाषा के ही आधार पर नामदेव का समय निरूपण करें तो खुसरो को हमें १९वीं शताब्दी में रखना होगा, क्योंकि उनकी खड़ीबोली भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ब्रजभाषा मिश्रित खड़ीबोली से मिलती-जुलती है। नामदेव की भाषा का परिष्कृत रूप उनके पर्यटन के फलस्वरूप ही मानना चाहिए। पन्द्रहवीं शताब्दी में नामदेव के आविर्भाव का एक कारण और दिया जाता है। वह यह कि उन्होंने मुसलमानों द्वारा मूर्ति तोड़ने का निर्देश अपने किसी पद में किया है और मुसलमानों का दक्षिण में पहला हमला ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ। अतः नामदेव चौदहवीं शताब्दी के बाद हुए, किन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है। महमूद गजनवी ने सोमनाथ की मूर्ति तो बारहवीं शताब्दी ही में तोड़ डाली थी। इसके बाद उत्तर में मूर्ति तोड़ने की अनेक घटनाएं हुईं। नामदेव केवल पंढरपुर में ही नहीं रहे, वरन् उनकी यात्राएं उत्तर में हस्तिनापुर और बद्रिकाश्रम तक हुईं।[2] अतः उत्तर में मुसलमानों की मूर्ति तोड़ने की प्रवृत्ति देखकर इन्होंने उसका वर्णन यदि अपने किसी 'अभंग' में कर दिया तो इससे उनके आविर्भाव काल में कोई अन्तर नहीं आता। फिर नामदेव को ज्ञानेश्वरी के रचयिता

---

१ दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ ३४ (एम० ए० मेकालिफ़)

२ सिलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिट्रेचर, बुक ४, पृष्ठ ११२ (लाला सीताराम बी० ए०)

ज्ञानदेव का भी शिष्य कहा गया है।[1] ज्ञानदेव का समय सं० १३३२ माना गया है।[2] अतः नामदेव ज्ञानदेव के समकालीन अवश्य रहे होंगे।

त्रिलोचन—त्रिलोचन का जन्म वैश्य वंश में संवत् १३२४ (सन् १२६७) में हुआ था। ये पंढरपुर के निवासी और नामदेव के समकालीन थे।[3] नामदेव ने स्वयं त्रिलोचन के प्रति अनेक पद कहे है। इनका नाम त्रिलोचन इसलिए पड़ा कि ये भूत, वर्तमान और भविष्य के द्रष्टा थे। ये अतिथियों का सत्कार करने में सिद्धहस्त थे। जब अनेक संत इनके यहाँ आने लगे तो इन्होंने एक सेवक की खोज की। कहते हैं, ईश्वर ने 'अन्तर्यामी' नाम से सेवक बन कर इनकी सहायता की। इनके पद भी 'ग्रन्थ साहब' में पाये जाते हैं। 'भक्तमाल' में त्रिलोचन को भी नामदेव के साथ ज्ञानदेव का शिष्य कहा गया है।[4]

सदन—सदन का जन्म सेहवान (सिंध) में हुआ था। ये नामदेव के समकालीन थे। अतः इनका समय विक्रम की चौदवीं शताब्दी का मध्य भाग ही मानना चाहिए। ये जाति के कसाई थे। ये शालग्राम पत्थर की मूर्ति पूजते थे और उसी से मांस तौल कर बेचते थे। बाद में इन्हें सांसारिक जीवन से घृणा हो गई। ये घर से भाग निकले। जीवन की अनेक परिस्थितियों से होते हुए इन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़े, किन्तु इन्होंने न तो ईश्वर का नाम ही छोड़ा और न सत्यमार्ग से अपना मुख ही मोड़ा। इनकी कविता थोड़ी होते हुए भी भक्ति का महत्त्व रखती है।

बेनी—बेनी का विशेष विवरण ज्ञात नहीं। इनकी रचना की भाषा प्राचीन और असंस्कृत है। अतः ज्ञात होता है कि सम्भवतः इनका आविर्भाव काल नामदेव से भी पहले हो। इनकी रचनाओं में हठयोग के साधन से अध्यात्म की शिक्षा दी गई है।

---

१. भक्तमाल—हरिभक्त प्रकाशिका, पृष्ठ २६४—ज्वालाप्रसाद मिश्र
(गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८१)

२. श्री ज्ञानेश्वर चरित, पृष्ठ ३७ (श्री लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर)

३. एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिटरेचर ऑव् इंडिया, पृष्ठ २९०—३०० (जे० एन० फर्कुहार)

४. विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति ॥
'नामदेव' 'त्रिलोचन' शिष्य सूर शशि सदृश उजागर।
गिरा गंग उनहारि, काव्य रचना प्रेमाकर ॥
आचारज हरिदास अतुल बल आनन्द दायन।
तेहि मारग वल्लभ विदित पृथुपधति परायन ॥
नवधा प्रधान सेवा सुदृढ़ मन वच क्रम हरि चरन रति।
विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गंभीर मति ॥

भक्तमाल (नाभादास) पृष्ठ ३६३

संत साहित्य के विकास में मुसलमानी प्रभाव का जितना बड़ा हाथ है उससे किसी प्रकार भी कम वैष्णव धर्म का नहीं। रामानन्द ने ही अपनी स्वतंत्र भक्ति से कबीर आदि महात्माओं को जन्म दिया जिन्होंने संत साहित्य की स्थापना की। रामानन्द से पहले दक्षिण में नामदेव और त्रिलोचन और उत्तर में सदन और बेनी की रचनाओं ने भी भक्ति का बड़ा परिष्कृत रूप रखा, जिसमें ईश्वर केवल मूर्ति में ही सीमित न होकर विश्व में व्यापक हो गया। रामानन्द ने संत साहित्य के विकास में जो सहायता पहुँचाई उसके निम्नलिखित कारण हैं :—

१. रामानन्द ने जाति-बन्धन ढीला कर दिया था। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने वर्णाश्रम का मूलोच्छेद कर दिया था, उन्होंने केवल खान-पान के विषय में स्वाधीनता दी थी, जाति की अवहेलना नहीं की थी।[1] उन्होंने उसे वैसा ही रखा जैसा श्री सम्प्रदाय का आदेश था। उन्होंने इतना अवश्य किया कि भक्ति के लिए अनेक जाति के जिज्ञासुओं को एक ही पंक्ति में बिठला दिया।

२. उन्होंने धर्म-प्रचार के लिए संस्कृत की उपेक्षा कर जनता की भाषा को ही प्रश्रय दिया। यद्यपि रामानन्द की हिन्दी-रचना बहुत ही कम है, तथापि उन्होंने अपने शिष्यों को भाषा में धर्म-प्रचार की आज्ञा दे दी थी। रामानन्द का ही पद हमें 'ग्रन्थ साहब' में प्राप्त है।

३. रामानन्द ने ईश्वर के वर्णन में अद्वैतवाद में प्रयुक्त ईश्वर के नामों का उपयोग किया है। उन्होंने राम की साकार उपासना को सुरक्षित रखते हुए भी अद्वैतवाद की ईश-नामावली को स्वीकार किया है। जहाँ एक ओर वे रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य का आधार लेते हैं, वहाँ दूसरी ओर वे अद्वैतवाद के आधार पर लिखी हुई 'अध्यात्म रामायण' का भी सहारा लेते हैं।[2] यही कारण है कि आगे चल कर तुलसीदास ने भी साकार ब्रह्म राम को अद्वैतवाद के अनेक ईश्वर-सम्बन्धी नामों से पुकारा है।

४. शंकराचार्य के संन्यासियों से रामानन्द के अवधूतों की आचारात्मक स्वतंत्रता बहुत अधिक है। (रामानन्द के बैरागियों का नाम 'अवधूत' है।)

रामानन्द—रामानन्द के जीवन के विषय में बहुत कम सामग्री प्राप्त है। जो कुछ भी विवरण हमें मिलता है, उसमें रामानन्द की प्रशंसा मात्र है। नाभादास के

---

१. एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव् इंडिया—पृष्ठ ३२५ (जे० एन० फर्कहार)

२. वही, पृष्ठ ३२६

भक्तमाल से भी हमें कुछ विशेष सहायता नहीं मिलती ।[1] रामानन्दी सम्प्रदाय के लोग अपने सम्प्रदाय की सभी बातें गुप्त रखना चाहते हैं ।[2]

रामानन्द का आविर्भाव-काल अभी तक संदिग्ध है । नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुसार रामानन्द श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे शिष्य थे। यदि प्रत्येक शिष्य के लिए ७५ वर्ष का समय निर्धारित कर दिया जाये तो रामानन्द का आविर्भाव-काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है । रामानन्द की तिथि के निर्णय में एक साधन और है । रामानन्द पीपा और कबीर के गुरु थे, यह निर्विवाद है । मेकालिफ के अनुसार पीपा का जन्म संवत् १४८२ (सन् १४२५) में हुआ । कबीरपंथी सन् १९३७ को ५३९ कबीराब्द मानते हैं । इसके अनुसार कबीर का जन्म सन् १३९८ (सं० १४५५) सिद्ध होता है। रामानन्द कबीर और पीपा के गुरु होने के कारण इसी समय वर्तमान होंगे । अतः रामानन्द का समय सं० १४५५ और १४८४ के पूर्व ही होना चाहिए । भक्तमाल सटीक में रामानन्द की जन्म-तिथि संम्वत् १३५६ दी गई है ।[3] इस तिथि को वैष्णव धर्म के विशेषज्ञ सर आर० जी० भंडारकर भी मानते हैं ।[4]

रामानन्द स्मार्त वैष्णव थे । उन्होंने श्री सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी वर्णाश्रम का बन्धन दूर कर दिया था। वे इस सम्बन्ध में अपने सम्प्रदाय में बहुत स्वतंत्र थे । उन्होंने श्री सम्प्रदाय के नारायण और लक्ष्मी के स्थान पर राम और सीता की भक्ति पर जोर दिया ।

---

१. श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ॥
अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति, नरहरि ।
पीपा, भवानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसुरा की नरहरि ॥
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर ।
विश्व मंगल आधार सर्वानन्द दशधा के आगर ॥
बहुत काल वपु धार कै प्रनत जनन को पार दियो ।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ॥

—भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ २६७—२६८

२. दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ १०४ (एम० ए० मेकालिफ)

३. स्वामी श्री १०८ रामानन्द जी दयालु श्री प्रयागराज में कश्यप जी के समान भगवद्धर्म-युक्त बड़भागी कान्यकुब्ज ब्राह्मण 'पुण्य सदन' के गृह में, विक्रमीय संवत् १३५६ के माघ कृष्ण सप्तमी तिथि में, सूर्य के समान सबों के सुखदाता, सात दंड दिन चढ़े चित्रा नक्षत्र सिद्धयोग कुम्भ लग्न में गुरुवार को 'श्री सुशीला देवी' जी से प्रगट हुए ।

श्री भक्तमाल सटीक, पृष्ठ २७३

४. वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ६६,
(सर आर० जी० भंडारकर)

रामानन्द ने शास्त्रों के आधार पर जाति-बन्धन के महत्त्व को व्यर्थ सिद्ध किया। उन्होंने भक्ति की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध कर प्रत्येक जाति के लिए वैष्णव धर्म का दरवाजा खोल दिया। उन्होंने भक्ति और ज्ञान-प्राप्ति के लिए सामाजिक बन्धन को तुच्छ सिद्ध कर दिया। नाभादास के अनुसार सभी जाति के भक्त उनके शिष्य थे। रामानन्द के शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं:--

अनन्तानन्द, सुरेश्वरानन्द, सुखानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, भावानन्द, पीपा, सेना, धना, रैदास, कबीर, गालवानन्द और पदमावती।

रामानन्द ने अपने स्वतन्त्र विचारों से विभिन्न जातियों के अनेक भक्तों को अपना शिष्य बनाया।[1] उन प्रधान शिष्यों का विवरण इस प्रकार है :—

धना—धना जाति के जाट थे और सन् १४१५ (संवत् १४७२) में उत्पन्न हुए।[2] ये धुवान (देहली, राजपूताना) के निवासी थे। बचपन से ही उनकी प्रवृत्ति ईश्वर की ओर थी। ये एक ब्राह्मण की पूजा देख कर ईश्वर की ओर इतने आकृष्ट हुए कि बिना पूजा के जलपान भी ग्रहण न करते थे। इनमें धार्मिक प्रवृत्ति दिनोदिन बढ़ती गई। अन्त में काशी आकर ये श्रीरामानन्द से दीक्षित हुए। यद्यपि प्रारम्भ में ये मूर्ति-पूजक थे, पर बाद में इनकी भक्ति इतनी परिष्कृत हुई कि ये एकेश्वर-वादी होकर ईश्वर के निर्विकार और निराकार रूप ही की भावना में लीन हो गये। भक्तमाल में इनकी भक्ति की अनेक अलौकिक कथाएँ लिखी हैं।[3]

पीपा—पीपा का जन्म (सन् १४२५)[4] संवत् १४८२ में हुआ था। ये गगरौनगढ़ के अधिपति थे। ये पहले दुर्गा के उपासक थे, बाद में रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण कर वैष्णव हो गये। इन्होंने रामानन्द के साथ पर्यटन भी खूब किया। अन्त

---

१. एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव् इंडिया, पृष्ठ ३२५, (जे० एन० फर्कहार)

२. दि सिख रिलीजन, पृष्ठ १०६ (एम० ए० मेकालिफ)

३. धन्य धना के भजन को जिनहिं बीच अंकुर भयो ॥
घर आए हरिदास तिनहिं गोधूम खवाए। तात मात डर खेत थोथ लांगलहि चलाए ॥
आसपास कृषिकार खेत की करत बड़ाई। भक्त भजे की रीति प्रगट परतीति जु पाई ॥
अचरज मानत जगत मैं कहुँ निपज्यो कहुँ वै बयो।
धन्य धना के भजन को, बिनहिंबीज अंकुर भयो ॥

भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ५०४

४. एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव् इंडिया, पृष्ठ ३२३ (जे० एन० फर्कहार)

में द्वारिका में बस रहे। इनके साथ इनकी सुन्दरी स्त्री सीता भी थीं, जिन्होंने अपने पति का साहचर्य करने के लिए रत्नों और दुकूलों के स्थान पर वैरागियों की गूदड़ी शरीर पर धारण की। पीपा की भक्ति देखकर सूरसेन राजा भी उनका शिष्य हो गया था। पीपा के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक जनश्रुतियाँ है, जिनसे उनके वीत-राग और भक्ति-भाव की उत्कृष्टता प्रमाणित होती है। इनके पद भी ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं। पीपा के सम्बन्ध में नाभादास का छप्पय प्रसिद्ध है।[1]

उसकी टीका प्रियादास ने विस्तारपूर्वक की है :—

पूछ्यो हरि पाइबे को मग तब देवी कही,
सही रामानन्द गुरू करि, प्रभु पाइये।
लोग जानै बौरौ भयो गयो यह काशीपुरी,
फुरी मति अति आए वहाँ हरि गाइये।
द्वार पै न देत, आज्ञा ईश लेत कही,
राज सो न हेत सुनि सब ही लुटाइये।
कह्यो कुआँ गिरौं, चले गिरन प्रसन्न हिय,
जिस सुख पाए लाए दरस दिखाइये।

सेन—ये रामानन्द के शिष्य और उनके समकालीन थे। अतः सेन का भी आवि-र्भावकाल विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी मानना चाहिए। सेन जाति के नाई थे और बाँधोंगढ़ (रीवाँ) के अधिपति राजाराम की सेवा करते थे। सेन अपनी दिनचर्या में भक्ति के लिए भी समय पा लेते थे और संतों की सूक्तियाँ गाया करते थे। सेन के सम्बन्ध में कथा है कि एक बार साधुओं की सेवा के कारण ये राजाराम की सेवा में उचित समय पर नहीं पहुँच सके। स्वयं भगवान ने सेन का रूप रख राजा की सेवा की।[2] अवकाश मिलने पर जब सेन ने आकर राजा से क्षमा माँगी तो राजा ने सेन के उपयुक्त समय पर उपस्थित होने की बात कही। सेन ने समझ लिया कि

१. पीपा प्रताप जग वासना, नाहर को उपदेश दियो॥
प्रथम भवानी भक्त, मुक्ति माँगन को धायौ,
सत्य कह्यो तेहिं शक्ति सुदृढ़ हरिशरण बतायौ॥
श्रीरामानन्द पद पाइ, भयो अति भक्ति की सीवाँ।
गुण असंख्य निर्मोल, सन्त धरि राखत ग्रीवाँ॥
परस प्रणाली सरस भई, सकल विश्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग वासना नाहर को उपदेश दियो।

भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ४७५

२. विदित बात जग जानिए, हरि भये सहायक सेन के॥
प्रभु दास के काज रूप नापित को कीनो।

ईश्वर को ही मेरे स्थान पर कष्ट करना पड़ा। सेन की भक्ति जान कर राजाराम उनके शिष्य हो गये। ग्रन्थ साहब में सेन की कई सूक्तियाँ उद्धृत हैं।

रैदास—इनके जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं, पर वे सब मान्य नहीं। इनका जन्म चमार के घर में हुआ था। रैदास इसे अनेक बार कहते हैं :—

ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं। हृदय राम गोविन्द गुन सारं॥[1]

जाति भी ओछी करम भी ओछा, ओछा कसब हमारा।
नीचै से प्रभु ऊँच कियो है कह रैदास चमारा॥[2]
तुम बिन सकल देव मुनि ढूढ़ूँ कहूँ न पाऊँ जमपास छुड़इया।
हमसे दीन, दयाल न तुमसे चरन सरन रैदास चमैया॥[3]

ये रामानन्द के शिष्य और कबीर के समकालीन थे। अतः इनका आविर्भाव-काल कबीर के समय में ही मानना चाहिए, जो सं० १४४५ से सं० १५७५ है। आदि ग्रन्थ के अनुसार ये काशी के निवासी थे और चमारी का व्यवसाय करते थे। ये एक पद में स्वयं अपना परिचय इस प्रकार देते हैं :—

जाके कुटुंब के ढेढ़ सब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बनारसी आस पासा।
आचार सहित विप्र करहि डंडउति तिनि तनै रविदास दासानुदासा॥

भक्तमाल के अनुसार ये बड़े सिद्ध सन्त थे,[5] संसार के आकर्षण से परे ये एक

छिप्र छुरहरी गही पानि दर्पन तहँ लीनो।
तादृश है तिहिं काल भूप के तेल खगायो।
उलटि राव भयो शिष्य, प्रगट परचो जब पायो॥
श्याम रहत सनमुख सदा, ज्यों बच्छा हित धेन के।
विदित बात जग जानिए, हरि भये सहायक सेन के॥

भक्तमाल (नाभादास), ५०८

१. रैदास जी की बानी; पृष्ठ २१
२. रैदास की बानी; पृष्ठ ४३
३. रैदासजी की बानी; पृष्ठ ४०
४. आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी, पृष्ठ ६९८
५. सन्देह ग्रन्थि खंडन निपुन, बानी विमल रैदास की॥
सदाचार श्रुति शास्त्र बचन अविरुद्ध उचार्‌यो।
नीर खीर बिबरन परम हंसनि उर धार्‌यो॥
भगवत कृपा प्रसाद परम गति इहि तन पाई।
राजसिंहासन बैठि ज्ञाति परतीति दिखाई॥
वर्णाश्रम अभिमान तजि पद रज बन्दहि जासु की।
सन्देह ग्रन्थि खंडन निपुन, बानी विमल रैदास की॥

भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ४५२

वीतराग महात्मा थे । इसी गुण के कारण चित्तौड़ की रानी इनकी शिष्या हो गई थीं । अनुमान है कि ये रानी मीराँबाई ही थीं ।[1] मीराँबाई के एक पद में भी रैदास का नाम गुरु के रूप में आता है :—

गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी । सतगुरु सैन दई जब आके, जोत रली ।।[2]

यदि यह पद प्रक्षिप्त नहीं है तो मीराँबाई का रैदास को अपना गुरु स्वीकार करना माना जाना चाहिए ।

रैदास ने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन भक्तों के विषय में भी लिखा है । उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके सामने ही हो गई थी ।[3]

रैदास की आयु १२० वर्ष की मानी गई है । इनका एक पंथ अलग चल गया है, जिसे 'रैदासी पंथ' कहते हैं । इस पंथ के अनुयायी गुजरात में बहुत हैं ।

रैदास की कविता बहुत सरल और साधारण है । उसमें भाषा का बहुत चलता रूप है । पदों में अरबी फारसी शब्दों के सरल रूप हैं । एक पद में तो रैदास ने फरसी शब्दों की लड़ी बाँध दी है ।[4]

रैदास ने यद्यपि ईश्वर के नाम सगुणात्मक रक्खे हैं पर उनका निर्देश निर्गुण ब्रह्म से ही है । रैदास जी के दो प्रधान ग्रन्थ हैं—रविदास की बानी और रैविदास के पद ।

---

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव् इंडिया, पृष्ठ ३०६ (जे० एन० फर्क्हार)

२ संतबानी संग्रह (मीराँबाई), भाग २ पृष्ठ ७७

३ नामदेव कहिये जाति कै ओछ ।
जाको जस गावै लोक ।।३।।
भगति हेत भगता के चले । अंकमाल ले बीठल मिले ।।४।।
निरगुन का गुन देखो आई । देही सहित कबीर सिधाई ।।५।।

रैदास जी की बानी, पृष्ठ ३३

४ खालिक सिकस्ता मैं तेरा ।
दे दीदार उमेदगार, बेकार जिव मेरा ।। टेक ।।
औवल आखिर इलाह, आदम फरिस्ता बन्दा ।
जिसकी पनह पीर पैगम्बर, मैं गरीब क्या गन्दा ।।
तू हाजरा हजूर जोग इक अवर नहीं है दूजा ।
जिसके इसके आसरा नाहीं, क्या निवाज क्या पूजा ।।
नाली दोज, हनोज, बेवखत, कमि खिजमतगार तुम्हारा ।
दरमाँदा दर ज्वाब न पावै, कह रैदास बिचारा ।।

रैदास जी की बानी, पृष्ठ ६०

रैदास जैसे निम्नजाति के संत को महत्त्व का स्थान देने में वैष्णव धर्म ने अपनी उदारता का पूर्ण परिचय दिया है।[1]

कबीर

कबीर की ऐतिहासिक स्थिति

भारतीय जनश्रुतियों में संतों और महात्माओं की जीवन-तिथियों को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। अंधविश्वास और अज्ञान से भरी हुई कहानियाँ, श्रद्धा और अलौकिक चमत्कार पर आस्था रखने की प्रवृत्तियाँ हमें अपने संतों और कवियों की ऐतिहासिक स्थिति का निर्णय करने की ओर उत्साहित नहीं करतीं। जिन कवियों ने देश और जाति के दृष्टिकोण को बदलकर उसकी उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है और हमारे लिए साहित्य की अमर निधि छोड़ी है, उनका जन्म-काल और जीवन का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विस्मृति के अंधकार में छिपा हुआ है। कबीर की जन्म-तिथि भी हमारे सामने प्रामाणिक रूप में नहीं है।

कबीर-पंथी ग्रंथ

कबीर पंथ के ग्रन्थों में कबीर के जीवन के संबन्ध में जितने अवतरण या संकेत मिलते हैं, उनमें जन्म-तिथि का उल्लेख नहीं है। ग्रंथों में तो कबीर को सत्पुरुष का प्रतिरूप मानते हुए, उन्हें सब युगों में वर्तमान कहा गया है। ग्रंथ 'भवतारण' में कबीर के वचनों का उल्लेख इस भाँति किया गया है कि 'मैंने युग-युग में अवतार धारण किये हैं और प्रकट रूप से मैं संसार में निरंतर वर्तमान हूँ। सतयुग में मेरा नाम सत सुकृत था, त्रेता में मुनींद्र, द्वापर में करुनाम और कलयुग में कबीर हुआ। इस प्रकार चारों युगों में मेरे चार नाम हैं और मैं इन युगों में माया-रहित होकर निवास करता हूँ!'[2] इस दृष्टिकोण में ऐतिहासिक रूप से जन्म-तिथि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अन्य स्थलों पर कबीर को चित्रगुप्त और गोरखनाथ से वार्तालाप करते हुए लिखा गया है। 'अमरसिंहबोध' में कबीर और चित्रगुप्त में संवाद हुआ है जिसमें चित्रगुप्त ने कबीर द्वारा दी हुई राजा अमरसिंह की पवित्रता देखकर अपनी

---

१ सेंकड ट्रिनियल रिपोर्ट ऑव् दि सर्च फार हिन्दी मेनस्क्रिप्ट्स

२ जुगन जुगन लीन्हा अवतारा, रहौं निरंतर प्रकट पसारा। १३७
सतयुग सत सुकृत कह टेरा, त्रेता नाम मुनेन्दहि मेरा।
दोपर में करुनाम कहाये, कलियुग नाम कबीर रखाये। १३८
चारों युग के चारों नाऊँ, माया रहित रहे तिहि ठाऊँ।
सो जाधा पहुँचे नहि कोई, सुर नर नाग रहे मुख गोई।

—ग्रन्थ भवतारण। (धर्मदास लिखित) पृष्ठ ३१, ३२,
सरस्वती बिलास प्रेस, नरसिंहपुर, सन् १९०८

द्वार स्वीकार की है।[1] 'कबीर गोरष गुष्ट' में गोरख और कबीर में तत्व-सिद्धांत पर प्रश्नोत्तर हुए हैं और कबीर ने गोरख को उपदेश दिया है।[2] यह स्पष्ट है कि चित्रगुप्त देवरूप से मान्य है और गोरखनाथ का आविर्भाव-काल कबीर की जन्मतिथि से बहुत पहले है, क्योंकि कबीर ने अपनी रचनाओं में नाथ आचार्यों को अनेक बार स्मरण किया है।[3] संत कबीर के चारों ओर जो आध्यात्मिक प्रकाश-मंडल खिंच रहा है, वह कबीर को एक मात्र दिव्य पुरुष के रूप में प्रदर्शित करना चाहता है। उसमें वास्तविक जन्म-तिथि खोजने की प्रेरणा भी नहीं है।

कबीर-पंथी साहित्य में एक ग्रंथ 'कबीर चरित्र बोध'[4] अवश्य है जिसमें कबीर की जन्म-तिथि का निर्देश है। "संवत् चौदह सौ पचपन विक्रमी जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार के दिन सत्य पुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा। उस समय पृथ्वी और आकाश प्रकाशित हो गया।" इस प्रकार कबीर-चरित्र बोध के अनुसार कबीर का आविर्भाव-काल संवत् १४५५ (सन् १३९८) है। संभवतः इसी प्रमाण के आधार पर कबीर-पंथियों में कबीर के जन्म के संबंध में एक दोहा प्रचलित है :—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार एक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए।

इस प्रकार कबीर का जन्म संवत् १४५५ में जेठ पूर्णिमा चंद्रवार को कहा गया है। किंतु 'कबीर चरित्र बोध' की प्रामाणिकता के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता और कबीर पंथियों में प्रचलित जनश्रुति केवल विश्वास की भावना है, इतिहास का तर्कसम्मत सत्य नहीं।

---

१ साहेब गुप्त से कहे समुझाई। इनकू लोहा करो रे भाई।
लोहा से जो कंचन कियेऊ। यहि विधि हंसा निमल भलऊ।
इतनी सुनि यम भये अधीना। फेर न तिनसे बोलन कीना॥
अमरसिंह बोध (श्री युगलानंद द्वारा संशोधित) पृष्ठ १०
श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६३

२ गोरष तेरी गंमि नहीं॥ सकर धरे न धीर।
तहाँ जुलाहा बंदगी॥ ठाढ़ा दास कबीर॥ ८३
कबीर गोरष गुष्ट, हस्तलिपि, संवत् १७९५, पृष्ठ ९
(जोधपुर राज्य-पुस्तकालय)

३ छिअ जती माइआ के बंदा। नवै नाथ सूरज अरु चंदा॥
संत कबीर, पृष्ठ २२०

४ कबीर चरित्र बोध (बोधसागर, स्वामी युगलानंद द्वारा संशोधित) पृष्ठ ९, श्रीवेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९६३

प्रामाणिकता के दृष्टिकोण से कबीर का सर्वप्रथम उल्लेख संवत् १६४२ (सन् १५८५) में नाभादास लिखित भक्तमाल में मिलता है।

भक्तमाल उसमें कबीर के सम्बन्ध में एक छप्पय लिखा गया है[1] :—

कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट दरसनी ॥
भक्ति विमुख जो धरम ताहिं अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन बिनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाखी ॥
आरूढ़ दसा ह्वै जगत पर, मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट दरसनी ॥

इस छप्पय में कबीर के जीवन-काल का कोई निर्देश नहीं है, कबीर के धार्मिक आदर्श, समाज के प्रति उनका पक्षपात-रहित स्पष्ट दृष्टिकोण और उनकी कथन-शैली पर ही प्रकाश डाला गया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनका आविर्भाव-काल ग्रंथ के रचना-काल संवत् १६४२ (सन् १५८५) के पूर्व ही होगा। श्री रामानंद पर लिखे गए छप्पय[2] से यह भी स्पष्ट होता है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे। यही एक महत्त्वपूर्ण बात भक्तमाल से ज्ञात होती है।

अबलफजल अल्लामी का 'आईन-ए-अकबरी'[3] दूसरा ग्रंथ है जिसमें कबीर का उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अकबर महान् के

आईन-ए-अकबरी राजत्व-काल के ४२ वें वर्ष सन् १५९८ (संवत् १६५५) में लिखा गया था। इसमें कबीर का परिचय 'मुवाहिद' कह कर दिया गया है। इस ग्रंथ में कबीर का उल्लेख दो बार किया गया है। प्रथम बार पृष्ठ १२९ पर, द्वितीय बार पृष्ठ १७१ पर। पृष्ठ १२९ पर पुरुषोत्तम (पुरी)

---

१ भक्तमाल (नाभादास), पृष्ठ ४६१-४६२

२ श्रीरामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो।
अनंतानंद कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानंद, रैदासु धना सेन सुरसर की घरहरि।
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्व मंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर ॥
बहुत काल वपु धारि कै, प्रनत जनन कौ पार दियौ।
श्रीरामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियौ।

(भक्तमाल, छप्पय ३१)

३ आईन-ए-अकबरी (अबुलजफल अल्लामी) कर्नल एच० एस० जेरेट द्वारा अनूदित, भाग २, कलकत्ता, सन् १८९१

का वर्णन करते हुए लेखक का कथन है[1] :—"कोई कहते हैं कि कबीर मुवाहिद यहाँ विश्राम करते हैं और आज तक उनके काव्य और कृत्यों के सम्बन्ध में अनेक विश्वस्त जनश्रुतियाँ कही जाती हैं। वे हिंदू और मुसलमान दोनों के द्वारा अपने उदार सिद्धान्तों और ज्योतित जीवन के कारण पूज्य थे और जब उनकी मृत्यु हुई, तब ब्राह्मण उनके शरीर को जलाना चाहते थे और मसलमान गाड़ना चाहते थे।" पृष्ठ १७१ पर लेखक पुनः कबीर का निर्देश करता है[2] :—"कोई कहते हैं कि रत्तनपुर (सूबा अवध) में कबीर की समाधि है जो ब्रह्मैक्य का मंडन करते थे। आध्यात्मिक दृष्टि का द्वार उनके सामने अंशतः खुला था और उन्होंने अपने समय के सिद्धांतों का भी प्रतिकार कर दिया था। हिंदी भाषा में धार्मिक सत्यों से परिपूर्ण उनके अनेक पद आज भी वर्तमान हैं।"

आईन-ए-अकबरी की रचना-तिथि (सन् १५९८) में ही महाराष्ट्र संत तुकाराम का जन्म हुआ। तुकाराम ने अपने गाथा-अभङ्ग ३२४१ में कबीर का निर्देश किया है—"गोरा कुम्हार, रविदास चमार, कबीर मुसलमान, सेना नाई, कन्होपात्रा वेश्या...चोखामेला अछूत, जनाबाई कुमारी अपनी भक्ति के कारण ईश्वर में लीन हो गए हैं।"

किन्तु आईन-ए अकबरी और संत तुकाराम के निर्देशों से भी कबीर के आविर्भाव-काल का संकेत नहीं मिलता। यह अवश्य कहा जा सकता है कि कबीर की जन्म-तिथि संवत् १६५५ (सन् १५९८) के पूर्व ही होगी, जैसा कि हम भक्तमाल पर विचार करते हुए कह चुके हैं।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के उत्तार्द्ध में हमें एक और ग्रंथ मिलता है जिसमें कबीर के जीवन का विस्तृत विवरण है। वह है श्री अनंतदास लिखित 'श्री कबीर साहिब जी की परचई'। अनंतदास का अविर्भाव संत रैदास के बाद हुआ और उनका काल पंद्रहवी शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है।[3] 'हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' में पृष्ठ ८७ पर १२८ नं० की हस्तलिखित प्रति का समय सन् १६०० (संवत् १६५७) दिया गया है। इस प्रति के दो भाग हैं जिनमें पीपा और रैदास की जीवन-परचियाँ दी गई हैं। कबीर की जीवन-परची का उल्लेख नहीं है। जब अनंतदास ने पीपा और रैदास के जीवन की परचियों के साथ कबीर की जीवन-परची भी लिखी तब उसका समय भी सन् १६०० के

कबीर साहिब जी की परचई

---

१ आईन-ए अकबरी, पृष्ठ १२९

२ आईन-ए-अकबरी, पृष्ठ १७१

३ खोज रिपोर्ट, १९०९-११

आसपास ही होना चाहिए, यद्यपि इस कथन के लिए हम कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते। अनन्तदास लिखित जो 'श्री कबीर साहिब जी की परचई' की हस्तलिखित प्रति मेरे पास है, उसका लेखन-काल संवत् १८४२ (सन् १७८५) है। यह हस्तलिखित प्रति 'वाणी हजार नौ' के गुटिका का भाग मात्र है[१] और किसी अन्य प्राचीन प्रति की नकल है। इस ग्रंथ में यद्यपि कबीर के जीवन की तिथि नहीं है तथापि उनके जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख अवश्य है :—

१. वे जुलाहे थे और काशी में निवास करते थे।[२]

२. वे गुरु रामानन्द के शिष्य थे।[३]

३. बघेल राजा वीरसिंह देव कबीर के समकालीन थे।[४]

४. सिकंदर शाह का काशी में आगमन हुआ था और उन्होंने कबीर पर अत्याचार किए थे।[५]

५. कबीर ने १२० वर्ष की आयु पाई।[६]

तिथियों को छोड़ कर जिन महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख इस 'परची' में किया गया है, उनसे कबीर के जीवन-काल के निर्णय में बहुत सहायता मिलेगी।

---

१ इती श्री सरब गोटिको संपूरण ॥ वांणी हजार नौ ॥ ६००० ॥ संपूरण भवेत् ॥ संवत् ॥१८४२॥ बियाला की मीती। पोस सुद सूकल पषे ॥ तिथ्यौनांम पंचमी ॥ ५ बार मंगलवार ॥ कै दिन सुभ भवेत् ॥ लिषते च नग्र कोलीया मध्ये। लिषतं च साध बिह्लदास ॥ स्वामी जी श्री श्री श्री श्री श्री अमरदास जो ॥ कौ सिष ॥ स्वॉमीजी ॥ श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्री श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्री ॥ १०८ ॥ सेवादास जो कौ पोता सिष ॥

२ कासी बसै जुलाहा ऐक। हरि भगतिन की पकड़ी टेक ॥

३ नृमल भगति कबीर की चीह्ही। परदा षोल्या दछ्या दीन्ही ॥
भाग बडे रामानंद गुरु पाया। जाँ मन मरन का भरम गमाया ॥

४ बरसिंघदे बाघेलौ राजा। कबीर कारनि षोई लाजा ॥

५ स्याह सिकंदर काशी आया। काजी मुलाँ कै मनि भाया ॥......
कहै सिकंदर ऐसी बाता। हूँ तोहि देषू दोजिग जाता ।......
गाफल संक न माँनै मोरी ; अब देषूं साची करामाति तोरी।
बाँध्यौ पग मेल्ह्यों जंजीरू। ले बोरयौ गंगा कै नीरू ॥...

६ बालपनौ षोषा मैं गयौ। बीस बरस तै चेत न भयौ ॥
बीस सऊ लग कीनी भगती। ता पीछै पाई है मुक्ती ॥

श्रीगुरु ग्रंथ साहब

संवत् १६६१ (सन् १६०४) में सिख धर्म के पाँचवें गुरु श्री अर्जुनदेव जी ने श्री गुरु ग्रंथ साहब का संकलन किया।[1] इसमें कबीर के 'रागु' और 'सलोक' का संग्रह अवश्य है, किन्तु उनके आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में किसी पद में भी संकेत नहीं है। अनेक स्थलों पर सन्तों की पंक्ति में हमें कबीर का उल्लेख अवश्य मिलता है।

१. नाम छीबा कबीरु जुलाहा पूरे गुरते पाइ।[2] (नानक, सिरी रागु)

२. नामा जैदेउ कबीरु त्रिलोचनु अउ जाति रविदासु चमिआरू चलईआ।[3] (नानक, रागु बिलावलु)

३. बुनना तनना तिआगि कै प्रीति चरन कबीरा।
 नीच कुला जोलाहरा भइओ गुनीय गहीरा॥[4] (भगत धनेजी, रागु आसा)

४. नामदेव कबीरु तिलोचनु सधना सैनु तरै।
 कहि रविदासु सुनहु रे संतहु हरिजीउ ते सभै सरै॥[5] (भगत रविदास जी, रागु आसा)

५. हरि के नाम कबीर उजागर। जन्म के काटे कागर।[6] (भगत रविदास जी, रागु मारू)

६. जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि, मानीअहि सेख सहीद पीरा।
 जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी सरी, तिहू रे लोक परसिध कबीरा॥[7]
 (भगत रविदास जी, रागु मलार)

७. गुण गावै रविदासु भगतु जैदेव त्रिलोचन।
 नामा भगतु कबीरु सदा गावहि सम लोचन॥[8]
 (सवईए महले पहले के)

इस ग्रंथ में हमें कबीर के निर्देश के साथ उनकी समकालीन किसी भी घटना का विवरण नहीं मिलता। नानक के उद्धरण में यह अवश्य संकेत है कि कबीर ने 'पूरे गुर' से 'गति पाई' थी। 'पूरे गुर' से क्या हम श्री रामानंद का संकेत पा सकते हैं? डा० मोहनसिंह ने 'पूरे गुर' से 'ब्रह्म' का अर्थ माना है।[9] यह अर्थ चिंत्य भी हो सकता है।

---

१ कबीर—हिज बायोग्रैफी (डा० मोहनसिंह)
२ आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ ३६
३ आदि श्रीं गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ ४५१
४ आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ २६४
५ आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ ५६८
६ आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ २६४
७ आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ ६६८
८ आदि श्री गुरु ग्रंथ साहब जी, पृष्ठ ७४८
९ कबीर—हिज बायोग्रैफी (डा० मोहनसिंह) पृष्ठ २३

भक्तमाल की टीका

संवत् १७०२ (सन् १६५५) में प्रियादास द्वारा लिखी गई नाभादास के 'भक्तमाल की टीका' में कबीर का जीवन-वृत्त विस्तारपूर्वक दिया गया है। इस टीका से यह स्पष्ट होता है कि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे।[1] और सिकंदर लोदी ने कबीर के स्वतंत्र और 'अधार्मिक' विचार सुन कर उन पर मनमाने अत्याचार किए। इस टीका में भक्तमाल की इस बात का भी समर्थन किया गया है कि कबीर रामानंद के शिष्य थे और यह समर्थन कबीर के जीवन का विवरण देते हुए कबीर सम्बन्धी छप्पय की व्याख्या में दिया गया है। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'दबिस्तान' का लेखक मोहसिन फानी (मृत्यु हिजरी १०८१; सन् १६७०) भी कबीर को रामानन्द का शिष्य बतलाते हुए लिखता है :—"जन्म से जुलाहे कबीर, जो ब्रह्मैक्य में विश्वास रखने वाले हिंदुओं में मान्य थे, एक बैरागी थे। कहते हैं कि जब कबीर आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक की खोज में थे, वे अच्छे-अच्छे हिन्दू और मुसलमानों के पास गए, किन्तु उन्हें कोई इच्छित व्यक्ति नहीं मिला। अन्त में किसी ने उन्हें प्रतिभाशील वृद्ध ब्राह्मण रामानंद की सेवा में जाने का निर्देश किया।"

उपर्युक्त ग्रन्थों से कबीर के जीवन की दो विशेष घटनाओं का पता हमें लगता है कि (१) वे रामानन्द के शिष्य थे और (२) वे सिकंदर लोदी के समकालीन थे। यदि हम इन दोनों घटनाओं का समय निर्धारित कर सकें तो हमें कबीर का आविर्भाव-काल ज्ञात हो सकेगा। यह सम्भव हो सकता है कि प्रियादास की टीका और मोहसिन फानी का दबिस्तान जो सत्रहवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं और कबीर के प्रथम निर्देश करने वाले ग्रंथों के बहुत बाद लिखी गई थीं, जनश्रुतियों से प्रभावित हो गई हों और सत्य से दूर हों। किन्तु समय निर्धारण की सुविधा के लिए अभी हमें उपर्युक्त दोनों घटनाओं को स्मरण रखना चाहिए।

'संत कबीर' के उल्लेख

सब से प्रथम हमें यह देखना चाहिए कि कबीर ने क्या अपनी रचनाओं में इन दोनों घटनाओं का उल्लेख किया है? संत कबीर ग्रंथ के 'पद' और 'सलोक' जो हमें लगभग प्रामाणिक मानना चाहिए, रामानंद के नाम का कहीं उल्लेख नहीं करते। एक स्थान पर एक पद अवश्य ऐसा मिलता है जिससे रामानंद का संकेत निकाला जा सकता है। वह पद है :—

सिव की पुरी बसै बुधि सारु। तह तुम्ह मिलि कै करहु बिचारु॥ (रागु भैरउ, १०)

'शिव की पुरी (बनारस) में बुद्धि के सार-स्वरूप (रामानंद?) निवास

---

[1] देखि कै प्रभाव फेरि उपज्यो अभाव द्विज आयो पातसाह सों सिकंदर सुनाँव है। (भक्तमाल, पृष्ठ ४६६)

करते हैं। वहाँ उनसे मिल कर तुम (धर्म-विचार) करो।' किन्तु शिवपुरी का अर्थ 'बनारस' न होकर 'ब्रह्मरंध्र' भी हो सकता है जिस अर्थ में गोरखपंथी उसका प्रयोग करते हैं। स्वयं गोरखनाथ ने 'ब्रह्मरंध्र' के अर्थ में 'शिवपुरी' का प्रयोग किया है :—

अहूठ पटण मैं मिथ्या करै। ते अवधू शिवपुरी संचरै ॥[1]

'साढ़े तीन (अहुठ) हाथ का शरीर ही वह नगर है जिसमें घूम-फिर कर वह भिक्षा मांगता है।' हे अवधूत! ऐसे धूर्त शिवलोक (ब्रह्मरंध्र) में संचरण करते हैं। कबीर पर गोरखपंथ का प्रभाव विशेष रूप से था अतः रामानंद के अर्थ में यह पद संदिग्ध है। इसका प्रमाण हम नहीं मान सकेंगे।

सिकंदर लोदी के अत्याचार का संकेत कबीर के इन संकलित पदों में दो स्थानों पर मिलता है। पहला संकेत हमें राग गौंड के चौथे पद में मिलता है और दूसरा रागु भैरउ के अट्ठारहवें पद में। दोनों पद नीचे लिखे जाते हैं :—

१. भुजा बाँधि मिला करि डारिओ। हसती क्रोपि मूंड महि मारिओ ॥
हसति भागि कै चीसा मारै। इआ मूरति कै हउ बलिहारै ॥
आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु। काजी बकिबो हसती तोरु ॥१॥
रे महावत तुझु डारउ काटि। इसहि तुरावहु घालहु साटि।
हसति न तोरै धरै धिआनु। वाकै रिदै बसै भगवानु ॥२॥
किआ अपराधु संत है कीन्हा। बाँधि पोटि कुंचर कउ दीना ॥
कुंचरु पोट लै लै नमसकारै। बूझि नहीं काजी अंधिआरै ॥३॥
तीनि बार पतीआ भरि लीना। मन कठोर अजहू न पतीना ॥
कहि कबीर हमरा गोबिंदु। चउथे पद महि जनका जिंदु ॥४॥
(रागु गौंड, ४)

२. गंग गुसाइनि गहिर गंभीर। जंजीर बाँधि करि खरे कबीर ॥
मनु न डिगै तनु काहे कउ डराइ। चरन कमल चितु रहिओ समाइ ॥१॥
गंगा की लहरि मेरी टुटी जंजीर। म्रिगछाला पर बैठे कबीर ॥२॥
कहि कबीर कोऊ संग न साथ। जल थल राखन है रघुनाथ ॥३॥
(रागु भैरउ, १८)

इन पदों में काजी द्वारा कबीर पर हाथी चलवाने और जंजीर से बँधवा कर कबीर को गंगा में डुबाने का वर्णन है, किंतु इन दोनों पदों में सिकंदर लोदी का नाम नहीं। 'परची' आदि ग्रंथों में सिकंदर लोदी ने जो-जो अत्याचार किए थे, उनमें उपर्युक्त दोनों घटनाएँ सम्मिलित हैं। अतः यहाँ पर इन दोनों घटनाओं को सिकंदर लोदी के अत्याचारों के अंतर्गत मानने में अनुमान किया जा सकता है।

'आहि मेरे ठाकुर तुमरा जोरु' और 'गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर' जैसी पंक्तियों से ज्ञात होता है कि कबीर ने अपने अनुभवों का वर्णन स्वयं ही किया है।

---

१ गोरखबानी—डा० पीताम्बर बडथ्वाल, पृष्ठ १६। साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग। १९९९

यदि ये पद प्रमाणित समझे जायँ तो कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन माने जा सकते हैं।

कबीर और सिकंदर लोदी का समय

कबीर और सिकंदर लोदी के समय के सम्बन्ध में भारतीय इतिहासकारों ने जो तिथियाँ दी हैं, उनका उल्लेख इस स्थान पर आवश्यक है। वे इस प्रकार हैं :—

इतिहाकार का नाम	ग्रंथ	कबीर का समय	सिकंदर लोदी का समय
१ बील	ओरिएंटल बायो-ग्रेफिकल डिक्शनरी	जन्म सन् १४९० (संवत् १५४७)	यही समय
२ फर्कहार	आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्-रेचर ऑव् इंडिया	सन् १४००-१५१८ (संवत् १४५७-१५७५)	सन् १४८९-१५१७ (संवत् १५४६-१५७४)
३ हंटर	इंडियन इम्पायर	सन् १३००-१४२० (संवत् १३५७-१४७७)	नहीं दिया।
४ ब्रिग्स	हिस्ट्री ऑव् दि राइज ऑव् दि मोहमडन पावर इन इंडिया	नहीं दिया।	सन् १४८८-१५१७ (संवत् १५४५-१५७४)
५ मेकालिफ	सिख रिलीजन, भाग ६	सन् १३९८-१५१८ (संवत् १४५५-१५७५	सिंहासनासीन सन् १४८८ (संवत् १५४५)
६ वेसकट	कबीर एंड दि कबीर पंथ	सन् १४४०-१५१८ (संवत् १४९७-१५७५)	सन् १४९६ (संवत् १५५३) (जौनपुर गमन)

इतिहासकार का नाम	ग्रंथ	कबीर का समय	सिकंदर लोदी का समय
७ स्मिथ	आक्सफर्ड हिस्ट्री ऑव् इंडिया	सन् १४४०-१५१८ (संवत् १४९७-१५७५)	सन् १४८९-१५१७ (संवत् १५४६-१५७४)
८ भंडारकर	वैष्णविज्म शविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स	सन् १३९८-१५१८ (संवत् १४५५-१५७५)	सन् १४८८-१५१७ (संवत् १५४५-१५७४)
९ ईश्वरी-प्रसाद	न्यू हिस्ट्री ऑव् इंडिया	ईसा की पंद्रहवीं शताब्दी	सन् १४८९-१५१७-(संवत् १५४६-१५७४)

उपर्युक्त इतिहासकारों में प्रायः सभी इतिहासकार कबीर और सिकंदर लोदी का समकालीन होना मानते हैं। ब्रिग्स जिन्होंने अपना ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव् दि राइज ऑव् दि मोहमडन पावर इन इंडिया', मुसलमान इतिहासकारों के हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर लिखा है, वे सिकंदर लोदी का बनारस आना हिजरी ९०० (अर्थात् सन् १४९४) मानते हैं। वे लिखते हैं कि बिहार के हुसेनशाह शरकी से युद्ध करने के लिए सिकंदर ने गंगा पार की और 'दोनों सेनाएँ एक दूसरे के सामने बनारस से १८ कोस'(२७ मील) की दूरी पर' एकत्र हुई।[1] प्रियादास ने अपनी भक्तमाल की टीका में सिकंदर लोदी और कबीर में संघर्ष दिखलाया है। श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद ने उस टीका में एक नोट देते हुए लिखा है 'यह प्रभाव देखकर ब्राह्मणों के हृदय में पुनः मत्सर उत्पन्न हुआ। वे सब काशीराज को भी श्री कबीर जी के वश में जान कर बादशाह सिकंदर लोदी के पास जो आगरे से काशी जी आया था, पहुँचे।[2]

अतः श्री कबीर साहिब जी की परचई, भक्तमाल और संत कबीर के रागु गौंड ४ और रागु भैरउ १८ के आधार पर हम कबीर और सिकंदर लोदी को समकालीन मान सकते हैं। सिकंदर लोदी का समय सभी प्रमुख इतिहासकारों के

१ हिस्ट्री ऑव् दि राइज ऑव् मोहमडन पावर इन इंडिया (जॉन ब्रिग्स) लंदन १८२९, पृष्ठ ५७१-७२

२ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ४७० सीतारामशरण भगवानप्रसाद (लखनऊ, ११९३)

अनुसार सन् १४८८ या १४८९ से सन् १५१७ (संवत् १५४५-४६ से १५७५) माना गया है। अतः कबीर भी सन् १४८८-८९ से १५१७ (संवत् १५४५-४६ से १५७५) तक लगभग वर्तमान होंगे। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी ने अपने लेख 'कबीर जी का समय'[1] में स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि कबीर जी सिकन्दर लोदी के समकालीन नहीं हो सकते। उन्होंने इसके दो प्रमुख कारण दिए हैं। पहला तो यह है कि जिन ग्रंथों के आधार पर सिकन्दर का विश्वसनीय इतिहास लिखा गया है, उनमें कबीर और सिकन्दर लोदी का संबन्ध कहीं भी उल्लिखित नहीं है। और दूसरा कारण यह है कि सिकन्दर की धार्मिक दमन-नीति की प्रबलता से कबीर अधिक दिनों तक अपने धर्म का प्रचार करते हुए जीवित रहने नहीं दिये जा सकते थे, किन्तु ये दोनों कारण अधिक पुष्ट नहीं कहे जा सकते। अबुलफजल ने अकबर का विश्वसनीय इतिहास लिखते हुये भी 'आईन-ए-अकबरी' में तुलसीदास का उल्लेख नहीं किया है यद्यपि वे अकबर के समकालीन थे और प्रसिद्ध व्यक्तियों में गिने जाते थे। दूसरे कबीर ने जो धार्मिक प्रचार किया था वह तो हिन्दू और मुसलमानी धर्म की सम्मिलित समालोचना के रूप में था। उनके सिद्धान्तों में मूर्तिपूजा की उतनी ही अवहेलना थी जितनी की 'मुल्ला के बाँग देने' की। अतः कबीर को एक बारगी ही विधर्मी प्रचारक नहीं कहा जा सकता और वे एक मात्र हिंदू-धर्म प्रचारकों की भाँति मृत्यु-दंड से दंडित न किए गए हों। उन्हें दड अवश्य दिया गया हो जिससे वे युक्ति पूर्वक अपने को बचा सके। फिर एक बात यह भी है कि सिकन्दर को बनारस में रहने का अधिक अवकाश नहीं मिला जिससे वह कबीर को अधिक दिनों तक जीवित न रहने देता। इतिहासकारों ने सिकन्दर लोदी का बनारस आगमन सन् १४९४ में माना है और उसे राजनीतिक उलझनों के कारण शीघ्र ही जौनपुर चला जाना पड़ा। अतः राजनीति में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण सिकन्दर लोदी कबीर की ओर अधिक ध्यान न दे सका हो और कबीर जीवित रह गए हों। उसने चलते-फिरते काजी को आज्ञा दे दी कि कबीर को दंड दिया जाय और वह दंड उनका जीवन समाप्त करने में अपूर्ण रहा हो। इस प्रकार जो दो कारण डा० राम प्रसाद त्रिपाठी ने दिये हैं, केवल उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि कबीर सिकन्दर लोदी के समकालीन नहीं हो सकते, मेरी दृष्टि से समीचीन नहीं है।

आरकिआलाजिकल सर्वे ऑव् इंडिया इस सम्बन्ध में अभी एक कठिनाई शेष रह जाती है। 'आरकिआलाजिकल सर्वे ऑव् इंडिया' से ज्ञात होता है कि बिजली खां ने बस्ती जिले के पूर्व में आमी नदी के दाहिने तट पर कबीरदास या कबीर शाह का

१ हिन्दुस्तानी, अप्रैल १९३२, पृष्ठ २०७-२१०

एक स्मारक (रौजा) सन् १४५० (संवत् १५०७) में स्थापित किया।[1] बाद में सन् १५६७ में (१२७ वर्ष बाद) नवाब फिदाई खाँ ने उसकी मरम्मत की। इसी स्मारक (रौजे) के आधार पर कबीर साहब के कुछ आधुनिक आलोचकों ने कबीर का निधन सन् १४५० (संवत् १५०७) या उसके कुछ पूर्व माना है। यदि कबीर का निधन सन् १४५० में हो गया था तो वे सिकन्दर लोदी के समकालीन नहीं हो सकते जिसका राजत्वकाल सन् १४८८ या १४८९ से प्रारम्भ होता है। अर्थात् कबीर के निधन के अड़तीस वर्ष बाद सिकन्दर लोदी राज्यसिंहासन पर बैठा। 'आरकिआलाजिकल सर्वे आॅव् इंडिया' में दिए गये अवतरण के सम्बन्ध में मेरा विचार अन्य आलोचकों से भिन्न है। सन् १४५० में स्थापित किए गए बस्ती जिले के स्मारक (रौजे) को मैं कबीर का मरण-चिन्ह नहीं मानता। गुरु ग्रंथ साहब में उल्लिखित कबीर के प्रस्तुत पदों में एक पद कबीर की जन्म-भूमि का उल्लेख करता है। उस पद के अनुसार कबीर की जन्म-भूमि मगहर में थी। रागु रामकली के तीसरे पद की कुछ पँक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

> तोरे भरोसे मगहर बसिओ, मेरे तन की तपति बुझाई।
> पहिले दरसनु मगहर पाइओ, पुनि कासी बसे आई॥[2]

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि काशी में बसने के पूर्व कबीर मगहर में निवास करते थे। मगहर बस्ती के नैऋ्रत्य (दक्षिण-पूर्व) में २७ मील दूर पर खलीलाबाद तहसील में एक गाँव है। मैं तो समझता हूँ कि कबीर मगहर में आमी नदी के दाहिने तट पर ही निवास करते थे जहाँ बिजली खाँ ने रौजा बनवाया था। बिजली खाँ कबीर का बहुत बड़ा भक्त और अनुयायी था। जब उसने यह देखा कि मगहर के निवासी कबीर ने काशी में जाकर अक्षय कीर्ति अर्जित की है तब उसने अपनी भक्ति और श्रद्धा के आवेश में कबीर के निवास-स्थान मगहर में स्मृति-चिन्ह के रूप में एक चबूतरा या सिद्धपीठ बनवा दिया जो कालान्तर में नष्ट हो गया। जब १२७ वर्ष बाद सन् १५६७ में नवाब फिदाई खाँ ने उसकी मरम्मत की तो इस समय तक कबीर साहब का निधन हो जाने के कारण सन् १४५० ईस्वी में बिजली खाँ द्वारा बनवाए गए स्मृति-चिन्ह को लोगों ने या स्वयं नवाब फिदाई खाँ ने समाधि या रौजा मान लिया। तभी से मगहर का वह स्मृति-चिन्ह रौजे के रूप में जनता में प्रसिद्ध हो गया। इस दृष्टिकोण से सन् १४५० का समय बिजली खाँ द्वारा चिन्हित कबीर का प्रसिद्धकाल ही है और वे १४५० के बाद जीवित रहकर

---

१ आरकिआलाजिकल सर्वे आॅब् इंडिया (न्यू सीरीज) नार्थ वैस्टर्न प्राविंसेंज भाग २, पृष्ठ २२४।

२ संत कबीर, पृष्ठ १७८।

सिकंदर लोदी के समकालीन रह सकते हैं। जब कबीर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में विचार करना चाहिए।

कबीर ने अपनी रचनाओं में जयदेव और नामदेव का उल्लेख किया है।

गुर प्रसादी जैदेउ नामां। भगति के प्रेमि इनही है जाना।[1]

(रागु गउड़ी, ३६)

जयदेव और नामदेव का उल्लेख

इससे ज्ञात होता है कि जयदेव और नामदेव कबीर से कुछ पहले हो चुके थे। यहाँ यह निर्धारित करना आवश्यक है कि जयदेव और नामदेव का आविर्भाव-काल क्या है? नाभादास अपने ग्रंथ भक्तमाल में जयदेव का निर्देश करते हुए उन्हें 'गीत गोविन्द' का रचयिता मानते हैं।[2] किंतु अन्य छप्पयों की भाँति उसमें कोई तिथि-संवत् नहीं है। आलोचकों के निर्णयानुसार जयदेव लक्ष्मणसेन के समकालीन थे जिनका आविर्भाव ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जाता है।[3] अतः जयदेव का समय भी बारहवीं शताब्दी है।

भक्तमाल में नामदेव का भी उल्लेख है।[4] इस उल्लेख में विशेष बात यह है कि नामदेव के भक्ति-प्रताप की महिमा कहते हुए नाभादास ने उनके समकालीन 'असुरन' का भी संकेत किया है। यह 'असुरन' यवनों या मुसलमानों का पर्यायवाची शब्द है। इस संकेत से यह निष्कर्ष निकलता है कि नामदेव का आविर्भाव उस समय हुआ था जब मुसलमान लोग भारत में—विशेषकर दक्षिण

---

१ संत कबीर, पृष्ठ ३६

जयदेव कवि चक्कवे, खंड मंडलेश्वर आन कवि।
प्रचुर भयो तिहुँ लोक गीत गोविन्द उजागर।
कोक काव्य नवरस सरस सिंगार को सागर।
अष्टपदी अभ्यास करै तेहि बुद्धि बढ़ावै।
राधारमन प्रसन्न सुनन निश्चय तह आवै।
संत सरोरुह षंड को पदमापति सुख जनक रवि।
जयदेव कवि नृप चक्कवै, खंड मंडलेश्वर आन कवि॥

(भक्तमाल, छप्पय ३९)

२ संस्कृत ड्रामा—ए० बी० कीथ, पृष्ठ २७२

३ बारहवीं शताब्दी में एक दूसरे जयदेव भी थे जो नैयायिक और नाटककार थे। ये महादेव और सुमित्रा के पुत्र थे और (कुंडिन) बरार के निवासी थे। किन्तु कबीर का तात्पर्य इनसे नहीं है।

४ नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की।
बालदशा बीठल पानि जाके पै पीयौ।
मृतक गऊ जीवाय परचौ असुरन कौं दीयौ॥
सेज सलिल तै काढ़ि पहिल जैसी ही होती।

भारत में बस गए थे, क्योंकि नामदेव का कुटुम्ब पहले नरसी वामणी गांव (करहाल, सतारा) में ही निवास करता था। बाद में वह पंढरपुर में आ बसा था जहाँ नामदेव का जन्म हुआ। नामदेव के जन्म की परम्परागत तिथि शक ११९२ या सन् १२७० ईस्वी है। इस प्रकार वे ज्ञानेश्वरी के लेखक ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। ज्ञानेश्वर ने अपनी ज्ञानेश्वरी सन् १२९० में समाप्त की थी।

नामदेव मूर्ति-पूजा के विरुद्ध थे। इस विचार को दृष्टि में रखते हुए डा० भंडारकर का कथन है कि 'नामदेव का आविर्भाव उस समय हुआ होगा जब मुसलमानी आतंक प्रथम बार दक्षिण में फैला होगा। दक्षिण में मुसलमानों ने अपना राज्य चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित किया। मूर्तिपूजा के प्रति मुसलमानों की घृणा को धार्मिक हिंदुओं के हृदय में प्रवेश पाने के लिए कम से कम सौ वर्ष लगे होंगे, किंतु इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण कि नामदेव का आविर्भाव उस समय हुआ जब मुसलमान महाराष्ट्र प्रदेश में बस गए थे, स्वयं नामदेव के एक गीत (नं० ३६४) से मिलता है जिसमें उन्होंने तुरकों के हाथ से मूर्तियों के तोड़े जाने की बात कही है। हिंदू लोग पहले मुसलमानों ही को 'तुरक' कहा करते थे। इस प्रकार नामदेव सम्भवतः चौदहवीं शताब्दी के लगभग या उसके अंत ही में हुए होंगे।'[1] पुनः डा० भंडारकर का कथन है कि नामदेव की मराठी ज्ञानेश्वर की मराठी से अधिक अर्वाचीन है जब कि नामदेव ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। फिर नामदेव की हिन्दी रचनाएँ भी तेरहवीं शताब्दी की अन्य हिन्दी रचनाओं से अधिक अर्वाचीन है। इस कारण नामदेव का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के बाद ही हुआ। नामदेव का परम्परागत आविर्भाव-काल जो ज्ञानेश्वर के साथ तेरहवीं शताब्दी में रखा जाता है, ऐतिहासिकता के विरुद्ध है।

प्रो० रानाडे का मत है कि नामदेव ज्ञानेश्वर के समकालीन ही थे और परंपरागत उनका आविर्भाव-काल सही है। नामदेव की कविता में भाषा की अर्वाचीनता इस कारण है कि नामदेव की कविता बहुत दिनो तक मौखिक रूप से जनता के बीच में प्रचलित रही और युगों तक मुख में निवास करने के कारण कविता की भाषा संयम-क्रम से अर्वाचीन होती गई। जनता के प्रेम और प्रचार ने ही कविता की भाषा को आधुनिकता का रूप दे दिया। मूर्ति तोड़े जाने के

देवल उलट्यो देखि सकुच रहे सब ही सोती ।।
'पण्डुरनाथ' कृत अनुग ज्यौं छानि सुकर छाई घास की।
नामदेव प्रतिज्ञा निर्बही ज्यों त्रेता नरहरिदास की ।।
(भक्तमाल, छप्पय ३८)

१ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टिम्स—(भंडारकर), पृष्ठ ९२

प्रसंगोल्लेख के सम्बन्ध में प्रो० रानाडे का कथन है कि नामदेव का यह निर्देश अलाउद्दीन खिलजी के दक्षिण पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में है।

प्रो० रानाडे का विचार अधिक युक्तिसंगत है। नामदेव की कविता की आधुनिकता बहुत से पुराने हिंदी कवियों को कविता की आधुनिकता के समकक्ष है। जगनायक, कबीर, मीरां आदि की कविताओं में भी भाषा बहुत आधुनिक हो गई है, क्योंकि ये कविताएँ जनता के द्वारा शताब्दियों तक गाई गई हैं और उनकी भाषा में बहुत परिवर्तन हो गए हैं। भाषा के आधुनिक रूप के आधार पर हम मीरां, कबीर या जगनायक का काल-निरूपण नहीं कर सकते। यही बात नामदेव की काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अतः भाषा की आधुनिकता नामदेव के आविर्भाव-काल को परिवर्ती नही बना सकती। प्रो० रानाडे ने अलाउद्दीन खिलजी की सेना के द्वारा दक्षिण भारत के आक्रमण में मूर्ति तोड़ने का जो मत प्रस्तुत किया है वह फरिश्ता की तवारीख से भी पुष्ट होता है। फरिश्ता की तवारीख का अनुवाद ब्रिग्स ने किया है। उसमें स्पष्ट निर्देश है कि ७१० वें वर्ष में सुलतान ने मलिक काफूर और ख्वाजा हजी को एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण में द्वारसमुद्र और मआवीर (मलावार) को जीतने के लिए भेजा जहाँ, स्वर्ण और रत्नों से संपत्तिशाली बहुत मन्दिर सुने गए थे। उन्होंने मंदिरों से असंख्य द्रव्य प्राप्त किया जिसमें बहुमूल्य रत्नों से सजी हुई स्वर्ण-मूर्तियां और पूजा की अनेक कीमती सामग्रियाँ थीं।[1] इस प्रकार प्रो० रानाडे के मतानुतार नामदेव का आविर्भाव तेरहवीं शताब्दी के अन्त में ही मानना चाहिए। जयदेव और नामदेव के आविर्भाव-काल को दृष्टि में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि कबीर का समय तेरहवीं शताब्दी के अन्त या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के बाद ही होना चाहिए, क्योंकि कबीर ने जयदेव और नामदेव को अपने पूर्व के भक्तों की भांति श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है।

श्री पीपा जी द्वारा निर्देश

इस प्रसंग में एक उल्लेख और महत्त्वपूर्ण है। 'श्री पीपाजी की बाणी,'[2] में हमें कबीर की प्रशंसा में पीपा जी का एक पद मिलता है। वह पद इस प्रकार है :—

जो कलि मांझ कबीर न होते।
तौ ले..बेद अरु कलियुग मिलि करि भगति रसातलि देते॥
अगम निगम की कहि कहि पाँडे फल भागोत लगाया।
राजस तामस स्वातक कथि कथि इनही जगत भुलाया॥

१ हिस्ट्री ऑव् दि राइज ऑव् दि मोहम्मडन पावर इन इंडिया (जॉन ब्रिग्स) भाग १ पृष्ठ ३७३

२ हस्तलिखित प्रति, सरब गोटिका सं० १८४२, पत्र १८८

सरगुन कथि कथि मिष्टा षवाया काया रोग बढ़ाया।
निरगुन नीम पीयौ नाहीं गुरमुष तातैं हौंटै जीव बिकाया॥
बकता स्रोता दोऊँ भूले दुनीयाँ सबै भुलाई।
कलि बिर्छ की छाया बैठा, क्यूं न कलपना जाई॥
अंध लुकटीयाँ गही जु अंधै परत कूंप कित थोरै।
अबरन बरन दौऊंसे अंजन, आँषि सबन की फोरै॥
हम से पतित कहा कहि रहेते कौन प्रतीत मन धरते।
नाना बाँनी देषि मुनि स्रवनाँ बहौ मारग अणसरते॥
त्रिगुण रहत भगति भगवंत की तिरि बिरला कोई पावै।
दया होइ जोइ कृपानिधान की तौ नाम कबीरा गावै॥
हरि हरि भगति भगत कन लीना त्रिवधि रहत थित मोहे।
पाषंड रूप भेष सब कंकर ग्यॉंन सुपले सोहै॥
भगति प्रताप राष्यबे कारन निज जन आप पठाया।
नाँम कबीर साच परकास्या तहाँ पीपै कछु पाया॥

पीपा का जन्म सन् १४२५ (संवत् १४८२) में हुआ था। जब पीपा ने कबीर की प्रशंसा मुक्तकंठ से की है तो इससे यह सिद्ध होता है कि या तो कबीर पीपा से पहले हो चुके होंगे अथवा कबीर ने पीपा के जीवन-काल में ही यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर ली होगी। भक्तमाल के अनुसार पीपा रामानन्द के शिष्य थे, अतः कबीर भी रामानन्द के सम्पर्क में आ सकते हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि कबीर सन् १४२५ (संवत् १४८२) के पूर्व ही हुए होंगे। अतः यह कहा जा सकता है कि कबीर का जन्म संवत् तेरहवी शताब्दी के अंत या चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर संवत् १४८२ के मध्य में होना चाहिए।

जन्म-तिथि

कबीर के सम्बन्ध में जिन ग्रंथों पर पहले विचार किया जा चुका है उनमें कोई भी कबीर की जन्म-तिथि का उल्लेख नहीं करता। केवल 'कबीर चरित्र बोध' में कबीर का जन्म 'चौदह सौ पचपन विक्रमी जेष्ठ सुदी पूर्णिमा सोमवार' को स्पष्टतः लिखा है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने एस० आर० पिल्ले की 'इंडियन क्रोनोलॉजी' के आधार पर गणित कर यह स्पष्ट किया है कि संवत् १४५५ की जेष्ठ पूर्णिमा को सोमवार ही पड़ता है। डा० श्यामसुन्दर दास ने कबीर पंथियों में प्रचलित दोहे :—

चौदह सौ पचपन साल गए, चन्द्रवार इक ठाट ठए।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भए॥

के आधार पर 'गए' को व्यतीत हो जाने के अर्थ में मान कर कबीर का जन्म संवत् १४५६ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, किन्तु गणित करने से स्पष्ट हो जाता है कि

ज्येष्ठ पूर्णिमा संवत् १४५६ को चंद्रवार नहीं पड़ता। अतः कबीर की जन्मतिथि के सम्बन्ध में संवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा ही अधिक प्रामाणिक जान पड़ती है।

रामानन्द का शिष्यत्व

अब यदि कबीर का जन्म-संवत् १४५५ (सन् १३९८) में हुआ था तो क्या वे रामानन्द के शिष्य हो सकते हैं? डा० मोहनसिंह ने अपनी पुस्तक 'कबीर—हिज बायोग्रेफी' में कबीर को रामानन्द का शिष्य नहीं माना है। उनका कथन है कि वे कबीर के जन्म के बीस वर्ष पूर्व ही महाप्रयाण कर चुके थे। मैं नहीं समझ सकता कि किस आधार पर डा० सिंह ऐसा लिखते हैं। वे रामानन्द की मृत्यु, श्री गणेश सिंह लिखित अत्यंत आधुनिक पंजाबी पुस्तक 'भारत-मत-दर्पण, के अनुसार सन् १३५४ में लिखते हैं और कबीर का जन्म सन् १३९८ में। उपर्युक्त सन् निर्णय के अनुसार रामानंद कबीर के जन्म लेने के ४४ वर्ष पूर्व ही अपना जीवन समाप्त कर चुके होंगे बीस वर्ष पूर्व नहीं, जैसा कि वे लिखते हैं। वे तो यहां तक कहते हैं कि कबीर ने अपने काव्य में अपने मनुष्य-गुरु का नाम कहीं लिखा भी नहीं इसलिए कबीर का गुरु मनुष्य-गुरु नहीं था वह केवल ब्रह्म, विवेक या शब्द था।[1] और इसके प्रमाण में वे 'गुरु ग्रंथ' में आए हुए निम्नलिखित पद उद्धृत करते है :—

१ माधव जल की पिआस न जाइ।

.. .. ..

तू सतिगुरु हउ नउ तनु चेला कहि कबीर मिलु अंत की बेला।

(रागु गउड़ी, २)

२ संता कउ मति कोई निंदहु संत राम है एकु रे।

कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाउ बिबेकु रे।

(रागु सूही, ५)

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कबीर ने अपने गुरु का नाम अपने काव्य में नहीं लिया है, किंतु इसका कारण उनके हृदय में गुरु के प्रति अपार श्रद्धा का होना कहा जा सकता है। कबीर ने ईश्वर तथा विवेक को भी अपना गुरु कहा[2], किन्तु इससे यह सिद्ध होता कि कबीर का कोई मनुष्य-गुरु था ही नहीं।

हमें कबीर की रचना में ऐसे पद भी मिलते हैं जिनमें कबीर ने अपने गुरु से संसार की उत्पत्ति और विनाश समझा कर कहने की विनय की है।

गुर चरण लागि हम बिनवता पूछत कहु जीउ पाइआ।

कवन काजि जगु उपजै बिनसै कहु मोहि समझाइया॥

(रागु आसा, १)

---

१ कबीर—हिज बायोग्रेफी, पृष्ठ ११, १४

२ कहु कबीर मैं सो गुरु पाइआ जाका नाम बिबेकु रे (रागु सूही ५)

(श्री गुरू के चरणों का स्पर्श करके मैं विनय करता हूँ और पूछता हूँ कि मैंने यह प्राण क्यों पाए हैं? यह जीव संसार में क्यों उत्पन्न और नष्ट होता है? कृपा कर मुझे समझा कर कहिए।)

एक स्थान पर कबीर ने अपने गुर का संकेत भी किया है :—

सतिगुर मिलेआ मारगु दिखाइआ। जगत पिता मेरै मनि भाइआ॥
(रागु आसा, ३)

(जब मुझे सतगुरु मिले तब उन्होंने मुझे मार्ग दिखलाया जिससे जगत्-पिता मेरे मन को भाये—अच्छे लगे।)

और 'गुरु प्रसादि मैं सभु कछु सूझिआ, (रागु आसा ३) में वे अपने ही अनुभव की बात कहते हैं। आगे चल कर वे इसी बात को दुहराते हैं :—

गुरु परसादि हरि धन पाइओ। अंते चल दिआ नालि चलिओ॥
(रागु आसा, १५)

(मने गुरु के प्रसाद से ही यह हरि (रूपी) धन पाया है अंत में नाड़ी चली जाने पर हम भी यहाँ से चल सकते हैं।)

इन पदों को ध्यान में रखते हुए हम कबीर के 'मनुष्य-गुरु' की कल्पना भली-भाँति कर सकते हैं। फिर कबीर की रचना में कुछ ऐसे अवतरण भी हैं जहाँ गुरु और हरि के व्यक्तित्व में भेद जान पड़ता है, दोनों एक ही ज्ञात नहीं होते। उदाहरणार्थ :—

सिमरि सिमिर हरि हरि मनि गाईऐ। इहु सिमरनु सतिगुर ते पाईऐ॥
(रागु रामकली, ६)

(उस स्मरण से तू बार-बार हरि का गुण गान मन में कर और यह स्मरण तुझे सतगुर से ही प्राप्त होगा।) दूसरा उदाहरण लीजिए :—

बार बार हरि के गुन गावउ। गुर गमि भेदु सुहरि का पावउ॥
(रागु गउड़ी, ७७)

(रोज-रोज या बारंबार हरि गुण गाओ और गुरु से प्राप्त किए गए रहस्य से हरि को प्राप्त करो।) अथवा

अगम अगोचरु रहै निरंतरि गुर किरपा ते लहीऐ।
कहु कबीर बलि जाउ गुर अपने सत संगति मिलि रहीऐ॥
(रागु गउड़ी ४८)

वह अगम है, इन्द्रियों से परे है, केवल गुरु की कृपा से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। कबीर कहता है कि मैं अपने गुरु की बलि जाता हूँ। उन्हीं की अच्छी संगति में मिल कर रहना चाहिए।)

इस प्रकार के बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं जिन में कबीर के 'मनुष्य-

गुरु' होने का प्रमाण है। अब यह निश्चित करना है कि जब कबीर के 'मनुष्य-गुरु' होने का प्रमाण हमें मिलता है तो क्या रामानन्द उनके गुरु थे ?

भक्तमाल में यह स्पष्टः लिखा है कि रामानन्द के शिष्यों में कबीर भी एक थे।[1] यह कहा जा सकता है कि कबीर रामानन्द के 'प्रशिष्य' हो सकते हैं और उनका काल रामानन्द के काल के बाद हो सकता है, किन्तु भक्तमाल में दी हुई नामावली में कबीर के नाम को जो प्रधानता दी गई है उससे यह स्पष्ट होता है कि कबीर रामानन्द के शिष्यों में ही होंगे। हम पीछे देख चुके हैं कि दबिस्तान का लेखक मोहसिन फानी (हिजरी १०८१, सन् १६७०) और नाभादास के भक्तमाल की टीका लिखने वाले प्रियादास (सन् १६५५) कबीर को रामानन्द का शिष्य लिख चुके हैं। प्रियादास की टीका से प्रभावित होकर अन्य ग्रंथकारों ने भी कबीर को रामानन्द का शिष्य माना है। दूसरी बात जो भक्तमाल से ज्ञात होती है वह यह कि रामानन्द को बहुत लम्बी आयु मिली। 'बहुत काल बपु धारि कै' से यह बात स्पष्ट होती है। अन्य भक्तों के सम्बन्ध में नाभादास ने लम्बी आयु की बात नहीं लिखी। इससे ज्ञात होता है कि रामानन्द को 'आसाधारण' आयु मिली होगी, तभी तो उसका संकेत विशेष रूप से किया गया। अब हमें यहाँ रामानन्द का समय निर्धारित करने की आवश्यकता है।

रामानंद का समय

रामानंद ने वेदान्त-सूत्र का जो भाष्य लिखा है उसमें उन्होंने अमलानंद रचित वेदान्त कल्पतरु का उल्लेख (१, ४, ११) किया है। डा० भंडारकार ने अमलानंद रचित वेदान्त कल्पतरु का समय निरूपण करते हुए उसका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना है। अपने आधार के लिए उन्होंने यह ऐतिहासिक तथ्य निर्धारित किया कि अमलानन्द राजा कृष्ण के राज्यकाल (सन् १२४७ से १२६०) में थे और उसी समय उन्होंने अपना ग्रंथ वेदान्त कल्पतरु लिखा।[2] यदि अमलानंद

---

१ श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।
अनन्तानन्द कबीर सुखा सुरसुरा पद्मावति नरहरि।
पीपा भावानन्द रैदास धना सेन सुरसर की घरहरि॥
औरौ शिष्य प्रशिष्य एक तें एक उजागर।
विश्वमंगल आधार सर्वानंद दशधा के आगर॥
बहुत काल वपु धारि कै प्रनत जनन कौ पार दियौ।
श्री रामानंद रघुनाथ ज्यौं दुतिय सेतु जग तरन कियौ॥

(भक्तमाल, छप्पय ३१)

२ दी नाइंथ इंटरनैशनल कॉंग्रेस ऑव् ओरिएंटलिस्ट्स-भाग १, पृष्ठ ४२३ (फुटनोट) लंदन, १८९२।

तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में थे तो रामानन्द अधिक से अधिक उनके समकालीन हो सकते हैं अन्यथा वे कुछ वर्षों के बाद हुए होंगे। इस प्रकार रामानन्द का आविर्भाव-काल सन् १२६० के बाद या सन् १३०० के लगभग होगा। अगस्त्य संहिता के आधार पर भी रामानन्द का आविर्भाव-काल सन् १२९९ या १३०० ठहरता है।

यदि हम रामानन्द का जन्म-समय सन् १३०० (संवत् १३५७) निश्चित करते है तो वे कबीर के जन्म-समय पर ९८ वर्ष के रहे होंगे ? क्योंकि हमने कबीर का जन्म सन् १३९८ (संवत् १४५५) निर्धारित किया है। कबीर ने कम से कम २० वर्ष में गुरु से दीक्षा पाई होगी अतः कबीर का गुरु होने के लिए रामानन्द की आयु ११८ वर्ष की होनी चाहिए। यदि 'बहुत काल वपु धारिके' का अर्थ हम ११८ या इससे अधिक लगावें तो रामानन्द निश्चित रूप के कबीर के गुरु हो सकते हैं। सन् १३०० के जितने वर्षों बाद रामानन्द का जन्म होगा उतने ही वर्ष कबीर के शिष्यत्व के दृष्टिकोण से रामानन्द की आयु से निकल सकते हैं। यहां एक नवीन ग्रंथ का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। उस ग्रन्थ का नाम 'प्रसंग पारिजात' है[1] और उसके रचयिता श्री चेतनदास नाम के कोई साधु-कवि हैं। इस ग्रन्थ की रचना संवत् १५१७ में कही जाती है। प्रसंग पारिजात में उल्लेख है कि ग्रंथ प्रणेता 'श्री रामानन्द जी की वर्षी के अवसर पर उपस्थित थे और उस समय स्वामी जी की शिष्य मंडली ने उनसे यह प्रार्थना की कि हमारे गुरु की चरितावली तथा उपदेशों को—जिनका आपने चयन किया है, ग्रंथ रूप म लिपि-बद्ध कर दीजिए।' इससे ज्ञात होता है कि श्री चेतनदास रामानन्द जी के संपक में अवश्य आए होंगे।

यह ग्रंथ पैशाची भाषा के शब्दों से युक्त देशवाड़ी प्राकृत में लिखा गया है। इसमें 'अदणा' छंद में लिखी हुई १०८ अष्ठपदियाँ ह। सन् १८९० के लगभग यह ग्रंथ गोरखपुर के एक मौनी बाबा ने, मौखिक रूप से अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायक जी को उनके बचपन में लिखवाया था।

इस ग्रंथ के अनुसार रामानन्द का जन्म प्रयाग में हुआ था। वे दक्षिण से प्रयाग में नहीं आए थे, जैसा कि आजकल विद्वानों ने निश्चित किया है। इसके अनुसार 'भक्तमाल' में उल्लिखित रामानन्द के शिष्यों की सूची भी ठीक है और कबीर निश्चित रूप से रामानन्द के शिष्य कहे गए हैं। इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि इसमें कबीर का जन्म संवत् १४५५

१. स्वामी रामानन्द और प्रसंग पारिजात—श्री शंकरदयालु श्रीवास्तव एम० ए०, (हिन्दुस्तानी—अक्टूबर १९३२)।

और रामानन्द का अवसान-संवत् १५०५ दिया गया है। यदि यह ग्रंथ प्रामाणिक है तो कबीर अवश्य ही रामानन्द के शिष्य होंगे।

सरब गुटिका

मैंने ऊपर एक हस्तलिखित प्रति का निदश किया है जिसमें 'वाणी हजार नौ' संग्रहीत है। इसका नाम 'सरब गुटिका' है। यह प्रति प्रचीन मूल प्रतियों की प्रतिलिपि है। इसमें मूझे अनंतदास 'रचित श्री कबीर साहिब जी की परचई' के अतिरिक्त एक और ग्रंथ ऐसा मिला है जिसमें रामानन्द से कबीर का संबन्ध इंगित है।

यह ग्रंथ है—प्रसिद्ध भक्त सैन जी रचित 'कबीर अरु रैदास संवाद'। यह ६६ छंदों म लिखा गया है और इसमें कबीर और रदास का विवाद वर्णित है। ये सैन वे ही हैं जिनका निर्देश श्री नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में रामानन्द के शिष्यों में किया है। प्रोफेसर रानाडे के अनुसार सैन सन् १४४८ (संवत् १५०५) में हुए[1]। इस प्रकार वे कबीर और रैदास के समकालीन रहे होंगे। सैन नाई थे, किन्तु थे बहुत बड़े भक्त। बोदर के राजा की सेवा में नियुक्त थे और उनके बाल बनाया करते थे। एक बार इन्होंने अपनी भक्ति-साधना में राजा की सेवा में जाने से भी इनकार कर दिया था। इनकी भक्ति में यह शक्ति थी कि ये दर्पण के प्रतिबिंब में ईश्वर को दिखला सकते थे। इनके 'कबीर अरु रैदास सम्बाद' में रैदास और कबीर में सगुण और निर्गुण ब्रह्म के सम्बन्ध में वादविवाद हुआ है। अन्त में रैदास ने कबीर को अपना गुरु माना है और उनके सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। उसी प्रसंग में रैदास का कथन है :—

रैदास कहै जी !
तुम साखी कही सतवादी। सबलाँ सज्या लगाई॥
सबल सिंघारया निबला तारया। सुनौ कबीर, गुरभाई॥ ३५॥

कबीर ने भी कहा :—
कबीर कहै जी !
भरम ही डारि दे करम ही डारि दे। डारि दे जीव की दुबध्याई।
आत्मरँग करौ विस्राँमाँ। हम तुम दोन्यूं गुर भाई॥ ६४॥

कबीर कहै जी !
नृगुण ब्रह्म सकल कौ दाता। सो सुमरौ चित लाई।
को है लघु दीरघ को नाँहीं। हम तुम दोन्यूं गुर भाई॥ ६६॥

इन अवतरणों से ज्ञात होता है कि कबीर और रैदास एक ही गुरु के शिष्य थे और ये गुरु रामानन्द ही थे जिनकी शिष्य-परम्परा में अन्य शिष्यों के साथ कबीर और रदास का नाम भी है। सैन द्वारा यह निर्देश अधिक प्रामाणिक है।

यदि हम उपर्युक्त समस्त सामग्री पर विचार कर तो नाभादास के 'बहुत काल

---

१ मिस्टिसिज्म इन महराष्ट्र—प्रो० रानाडे। पृष्ठ १६०

वपु धारि कै' का अवतरण, 'भक्तमाल' में उल्लिखित रामानन्द की शिष्य-परम्परा, अनंतदास और सैन का कबीर सम्बन्धी विवरण, 'प्रसंग पारिजात', फानी का 'दबिस्तान' और प्रियादास की टीका, ये सभी कबीर को रामानन्द के शिष्य होने का प्रमाण देते हैं। इनके विरुद्ध हमें कोई विशिष्ट प्रमाण नहीं मिलता। अतः कबीर को रामानन्द का शिष्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए]

कबीर की मृत्यु

कबीर का निधन कब हुआ, ये कहीं भी प्रामाणिक रूप से हमें नहीं मिलता। यदि कबीर सिकंदर लोदी के समकालीन थे तो वे सिकंदर लोदी के राज्यारोहणकाल सन् १४८८ या १४८९ (संवत् १५४५ या १५४६) तक अवश्य ही जीवित रहे। इस काल के कितने समय बाद कबीर का निधन हुआ यह नहीं कहा जा सकता। कबीर की मृत्यु के सम्बन्ध में अभी तक हमें तीन अवतरण मिलते हैं :—

(१) सुमंत पंद्रा सौ उनहत्तरा हाई। सतगुर चले उठ हंसा ज्याई॥

(धर्मदास—द्वादश पंथ)

यह संवत् है १५६९

(२) पंद्रह सै उनचास में मगहर कीन्हों गौन। अगहन सुदी एकादशी, मिले पौन मो पौन॥

(भक्तमाल की टीका)

यह संवत् है १५४९

(३) संवत् पंद्रह सै पछत्तरा, कियो मगहर को गौन। माघ सुदी एकादशी रलो पौन में पौन॥

(कबीर जनश्रुति)

यह संवत् है १५७५

जान ब्रिग्स के अनुसार सिकंदर काशी हिजरी ९००, सन् १४९४ (संवत् १५५१) में आया था। तभी कबीर उसके सामने उपस्थित किए गए थे। अतः उपर्युक्त भक्तमाल की टीका का उद्धरण (२) अशुद्ध ज्ञात होता है। उद्धरण (१) में तिथि और दिन दोनों नहीं है; उद्धरण (३) में तिथि तो है, किंतु दिन नहीं है। अतः इन दोनों की प्रामाणिकता गणना के आधार पर निर्धारित नहीं की जा सकती। अनन्तदास की 'परचई' के अनुसार कबीर ने एक सौ बीस वर्ष की आयु पाई। उनके जन्म-संवत् में एक सौ बीस वर्ष जोड़ने से संवत् १५७५ होता है जो जनश्रुति से मान्य है, किंतु जनश्रुति इतिहास-सम्मत नहीं हुआ करती। अतः हम कबीर को सिकंदर लोदी का समकालीन निश्चित करते हुए भी जनश्रुति के आधार पर अपने निर्णय की पुष्टि नहीं कर सकते। अनंतदास की परचई भक्ति-भावना के कारण लिखी जाने के कारण सम्भवतः आयु-निर्देश में कुछ अतिशयोक्ति की पुष्टि दे दे, क्योंकि अनन्तदास ने अपनी 'परचई' में संवत् का उल्लेख न कर आयु का परिमाण ही दिया है। संवत् के अभाव में हम इस आयु-निर्देश पर विशेष श्रद्धा नहीं रख सकते।

अंत में अधिक से अधिक हम यही स्थिर कर सकते हैं कि सन्त कबीर का जन्म संवत् १४५५ (सन् १३९८) में और निधन संवत् १५५१ में (सन् १४९४ के लगभग) हुआ था जब सिकंदर लोदी काशी आया। इस प्रकार सन्त कबीर ने ९६ वर्ष या उससे कुछ ही अधिक आयु पाई। मांसाहार को घृणा की दृष्टि से देखने वाले सात्विक जीवन के अधिकारी सन्त के लिए यह आयु अधिक नहीं कही जा सकती।[1]

कबीर के ग्रन्थ

कबीर के निर्गुणवाद ने हिन्दी साहित्य के विशेष अंग की पूर्ति की है। धार्मिक काल के प्रारम्भ में जब दक्षिण के आचार्यों के सिद्धान्त उत्तर भारत में फैल रहे थे और हिन्दी साहित्य के रूप में अपना मार्ग खोज रहे थे, तब धार्मिक विचारों के उस निर्माण-काल में कबीर का निर्गुणवाद अपना विशेष महत्त्व रखता है। एक तो मुसलमानी धर्म का व्यापक किन्तु अदृष्ट प्रभाव दूसरे हिन्दू धर्म की अनिश्चित परिस्थिति उस समय के हिन्दी साहित्य में निर्गुणवाद के रूप में ही प्रकट हो सकती थी, जिसके लिए कबीर की वाणी सहायक हुई।[2] इसमें कोई सन्देह नहीं कि धार्मिक काल की महान् अभिव्यक्ति राम और कृष्ण की भक्ति के रूप में हो रही थी, पर उसके लिये अभी वातावरण अनुकूल नहीं था। चारणकाल की प्रशस्ति एक बार ही धर्म की अनुभूति नहीं बन सकती थी। ऐहिक भावना पारलौकिक भावना में एक बार ही परिवर्तित नहीं हो सकती थी और नरेशों की वीरता की कहानी सगुण ब्रह्म-वर्णन में अपना आत्म-समर्पण नहीं कर सकती थी। इसके लिए एक मध्य शृंखला की आवश्यकता थी और वह कबीर की भावना में मिली। यद्यपि कबीर ने किसी नरेश अथवा अधिपति की प्रशंसा में ईश्वरीय बोध की भावना नहीं रखी तथापि सगुणवाद को हृदयंगम करने तथा तत्कालीन परिस्थितियों के बीच भक्ति को जागृत करने के साधन अवश्य उपस्थित किए। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि निर्गुणवाद ने सगुणवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया यद्यपि होना चाहिए इसके विपरीत, किन्तु कबीर की निर्गुण धारा अधिकांश में परिस्थिति की आज्ञा थी और भक्ति तथा साकारवाद की असंदिग्ध प्रारम्भिक स्थिति। अत: भक्ति-काल के प्रभात में कबीर का निर्गुणवाद साहित्य के विकास की एक आवश्यक और प्रधान परिस्थिति ही माना जाना चाहिए।

कबीर की रचनाओं में सिद्धान्त का प्राधान्य है, काव्य का नहीं। उनमें हमें साहित्य का सौन्दर्य नहीं मिलता, हमें मिलता है एक महान् संदेश। केवल कबीर की रचनाओं में ही नहीं, उनके द्वारा प्रवर्तित निर्गुणवाद के कवियों की

---

१ संत कबीर—(प्रस्तावना), पृष्ठ २९—५३

२ ए शार्ट हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृष्ठ २४७ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

रचनाओं में भी हमें साहित्य-सौन्दर्य खोजने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। उनमें अलंकार, गुण और रस के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे रचनाएँ इस दृष्टिकोण से लिखी ही नहीं ग ॑। उन रचनाओं में भाव है, सिद्धान्त है और हमें उन्हीं का मूल्य निर्धारित करना चाहिए। कबीर के सिद्धान्त यद्यपि कहीं-कहीं सुन्दर काव्य का रूप धारण किए हुए हैं, पर वह रूप केवल गौण ही है। कहीं-कहीं तो कबीर की रचनाएँ काव्य का परिधान पहने हुए हैं, कही वे नितान्त नग्न हैं। अतः कबीर में सन्देश अधिक है, काव्य-सौन्दर्य कम। उसका कारण यह है कि कबीर का शास्त्र-ज्ञान बहुत थोड़ा था। वे पढ़े-लिखे भी नहीं थे, उनका ज्ञान केवल सत्संग का फल था। कबीर की कविता में हिन्दू धर्म के सिद्धान्त हमें टूटे-फूटे रूप में ही मिलते हैं, पर वे कबीर की मौलिकता के कारण चिकने और गोल हो गये हैं। हिन्दू धर्म के सहारे उन्होंने अपने व्यावहारिक ज्ञान को बहुत सुन्दर रूप दे दिया है, साथ ही साथ उन्होंने सूफीमत के प्रभाव से भी[1] अपने विचारों को स्पष्ट किया है, यह कबीर की विशेषता है। सगुण-वादी रामानन्द से दीक्षित होकर भी उन्होंने हिन्दू धर्म के निर्गुणवाद में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की। यह निर्गुण-वाद सिद्धान्त के रूप में बहुत परिमित है। उसमें कुछ ही भावनाएँ हैं और उनका आवर्तन बार-बार हुआ है। यह कबीर के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है, किन्तु जो संदेश हैं वे कवि के द्वारा विश्वास और शक्ति के साथ उनमें लिखे गये हैं। उनमें जीवन है और हृदय को ईश्वरोन्मुख करने की महान् शक्ति है।

कबीर ने कितनी रचनाएँ की हैं, यह संदिग्ध है। यदि उन्होंने 'मसि कागद' नहीं छुआ था और अपने हाथों में कलम नही पकड़ा था, तो वे स्वयं अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध तो कर ही नहीं सकते थे; उनके शिष्य ही उन्हें लिख सकते थे। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में जितने ग्रंथों का पता चलता है उनमें एक भी ग्रंथ ऐसा नहीं है, जो कबीर के हाथों से लिपिबद्ध हुआ हो। शिष्यों के द्वारा लिखे जाने से उनमें भाषा और भाव की अनेक भूलें हो सकती हैं। यदि वे ग्रंथ कबीर के सामने या उन्हीं के आदेश से लिखे गए होंगे तब तो भूलों की कम संभावना है, किन्तु यदि वे पंथ के संतों द्वारा कबीर के परोक्ष में अथवा उनके जीवन-काल के बाद लिखे गए हैं तो उनमें भूलों की मात्रा बहुत अधिक होगी। यही कारण है कि कबीर का शुद्ध पाठ अभी तक अज्ञात है और सम्भवतः परिस्थिति भी यही रहेगी। कबीर ने पर्यटन भी खूब किया था अतः जहाँ-जहाँ उन्होंने अपने भ्रमण-काल में लिखा होगा, वहां की भाषा का प्रभाव कबीर की रचनाओं पर पड़ा होगा। दूसरे कबीर भाषा के पंडित भी नहीं थे अतः वे भाषा को मांज भी न सके होंगे। जैसे उनके भाव होगे वैसी

---

१. इनफ्लूएंस ऑव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृष्ठ १५०-१५३ डा० तारा चन्द

भाषा स्वाभाविक रूप से कवि की वाणी में आती जाती होगी। इसके साथ ही एक कठिनाई और है। एक ग्रंथ की अनेक प्रतियाँ मिलती है। उन प्रतियों की भाषा और पाठ ही भिन्न नहीं है, वरन् उनका विस्तार भी असीम है। कबीर के अनुराग-सागर की दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार हमें उनका यह परिचय मिलता है :—

खोज रिपोर्ट सन् १९०६, १९०७, १९०८
अनुराग सागर
लिपिकाल सन् १८६३
पद्य-संख्या १५९०
संरक्षण स्थान
महन्त जगन्नाथदास, मऊ, छतरपुर।

खोज रिपोर्ट सन् १९०९, १९१०, १९११
अनुराग सागर
लिपिकाल सन् १८४७
पद्य संख्या १५०४
संरक्षण स्थान
पंडित भानुप्रताप तिवारी, चुनार

सन् १९०९, १९१०, १९११ की खोज रिपोर्ट के अनुसार चुनार की प्रति पहले की है और वह छतरपुर की प्रति से १६ वर्ष पहले लिखी गई है। इसी छोटे से काल में ८६ पद्यों की और वृद्धि हो गई। बहुत सम्भव है कि आजकल की लिखी हुई प्रति में पद्य संख्या और भी अधिक मिले। इस प्रकार कबीर के नाम से सन्तों की अनेक रचनाएँ मूल पुस्तक में जुड़ती चली जाती हैं और कबीर की रचनाओं का मूल रूप विकृत होता चला जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन से प्राचीन प्रति प्राप्त कर उसके आधार पर ग्रन्थों का सम्पादन और प्रकाशन हो। जितनी हस्त-लिखित प्रतियाँ अभी तक प्राप्त हुई हैं, उनके आधार पर 'कबीर ग्रन्थावली' का प्रकाशन एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, जिसे किसी सम्माननीय संस्था को हाथ में ले लेना चाहिये।

अभी तक कबीर के जितने ग्रन्थ प्राप्त हो सके हैं, उनका विवरण इस प्रकार है :—

१. अगाध मंगल
पद्य-संख्या ३४
विषय योगाभ्यास का वर्णन

२. अठपहरा

पद्य-संख्या	२०
विषय	एक भक्त की दिनचर्या।

३. अनुराग सागर

पद्य-संख्या	१५०४
विषय	ज्ञानोपदेश और आध्यात्मिक सत्य-वचन
विशेष	इस पुस्तक की एक प्रति और भी है जिसमें पद्यसंख्या १५६० है।

४. अमर मूल

पद्य-संख्या	११५५
विषय	आध्यात्मिक ज्ञान।

५. अर्जनामा कबीर का

पद्य-संख्या	२०
विषय	विनय और प्रार्थना।

६. अलिफनामा

पद्य-संख्या	३४
विषय	ज्ञानोपदेश
विशेष	इस पुस्तक की एक प्रति और भी है जिसका शीर्षक है 'अलिफनामा कबीर का' उसमें पद-संख्या संख्या ३४ के बदले ४१ है।

७. अक्षरखंड की रमैनी

पद्य-संख्या	६१
विषय	ज्ञानोपदेश।

८. अक्षर भेद की रमैनी

पद्य-संख्या	६०
विषय	ज्ञानवार्ता।

९. आरती कबीर कृत

पद्य-संख्या	६०
विषय	गुरु की आरती उतारने की रीति।

१०. उग्रगीता

पद्य-संख्या	१०२५
विषय	आध्यात्मिक विचार पर कबीर और उनके शिष्य धर्मदास में वार्तालाप।

११. उग्र ज्ञान मूल सिद्धान्त दश मात्रा

पद्य-संख्या	२७०
विषय	आध्यात्मिक ज्ञान।

१२. कबीर और धर्मदास की गोष्ठी

पद्य-संख्या	२९
विषय	आध्यात्मिक विषय पर कबीर और धर्मदास में वार्तालाप।

१३. कबीर की बानी

पद्य-संख्या	१६५
विषय	ज्ञान और भक्ति
विशेष	इस नाम की दो पुस्तकें और भी प्राप्त हैं। उनके नाम हैं 'कबीर बानी' और 'कबीर साहब की बानी।' प्रथम की पद्य-संख्या ८०० है और दूसरी की ३८३०। प्रथम का निर्देश स्थल है ना० प्रा० सभा की खोज रिपोर्ट सन् १९०६, १९०७, १९०८ और दूसरी की खोज रिपोर्ट सन् १९०९, १९१०, १९११। 'कबीर बानी' संग्रहीत की गई थी सन् १५१२ में और 'कबीर साहब की बानी' सन् १७९८ में। दो सौ वर्षों में पद्यों की संख्या का बढ़ना स्वाभाविक है। 'कबीर की बानी' का लिपिकाल नहीं दिया गया। सम्भवतः यह 'कबीर बानी' से पहले की संग्रहीत हो।

१४. कबीर अष्टक

पद्य-संख्या	२३
विषय	ईश्वर की वंदना।

१५. कबीर गोरख की गोष्ठी

पद्य-संख्या	१६०
विषय	कबीर और गोरख का ज्ञान-सम्वाद ।
विशेष	इस नाम की एक प्रति और है किन्तु शीर्षक है 'गोष्ठी गोरख कबीर की' उसकी पद्य-संख्या केवल ६५ है ।

१६. कबीर जी की साखी

पद्य-संख्या	६२४
विषय	ज्ञान और उपदेश
विशेष	इस नाम की एक प्रति और भी है । उसकी पद्य-संख्या १६०० है । उसका निर्देश-स्थल है खो० रि० १६०६, १०, ११ । सम्भव है, यह प्रति बहुत पीछे लिखी गई हो, क्योंकि प्रथम प्रति का लेखन-काल सन् १७६४ है और पद्य केवल ६२४ हैं ।

१७. कबीर परिचय की साखी

पद्य-संख्या	३३५
विषय	ज्ञानोपदेश ।

१८. कर्मकांड की रमैनी

पद्य-संख्या	८८
विषय	उपदेश ।

१९. कायापंजी

पद्य-संख्या	८८
विषय	योग वर्णन ।

२०. चौका पर की रमैनी

पद्य-संख्या	४१
विषय	ज्ञानोपदेश ।

२१. चौंतीसा कबीर का

पद्य-संख्या	७५
विषय	ज्ञानोपदेश ।

२२. छप्पय कबीर का

पद्य-संख्या	२६
विषय	सन्तों का वर्णन ।

२३. जन्म बोध

पद्य-संख्या	२५०
विषय	ज्ञान ।

२४. तीसा जन्त्र

पद्य-संख्या	४८
विषय	ज्ञान और उपदेश ।

२५. नाम महातम की साखी

पद्य-संख्या	३२
विषय	ईश्वर के नाम की बड़ाई ।
विशेष	इसी नाम की एक प्रति और भी है, किन्तु उसका नाम है केवल 'नाम माहात्य' विषय भी वही है, पर पद्य-संख्या ३९५ है ।

२६. निर्भय ज्ञान

पद्य-संख्या	७००
विषय	कबीर का धर्मदास को अपना जीवन-चरित्र बतलाना तथा ज्ञानोपदेश ।
विशेष	इस नाम की एक प्रति और भी है, उसकी पद्य-संख्या ६५० है और उसका निर्देश-स्थल है खो० रि० १९०९, १९१०, १९११ । यह बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसकी प्रतिलिपि सन् १५७६ की है और इससे कबीर के जीवन के विषय में बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है ।

२७. पिय पहचानवे को अंग

पद्य-संख्या	४०
विषय	ज्ञान और भक्ति।

२८. पुकार कबीर कृत

पद्य-संख्या	२५
विषय	ईश्वर की विनय ।

२९. बलख की पैज

पद्य-संख्या	११५
विषय	कबीर साहब और शाहबलख के प्रश्नोत्तर।

३८. राम-रक्षा

पद्य-संख्या	६३
विषय	राम नाम से रक्षा करने की विधि ।

३९. राम सार

पद्य-संख्या	१२०
विषय	राम नाम की महिमा ।

४०. रेखता

पद्य-संख्या	१६७०
विषय	ज्ञान और गुप्त महिमा का वर्णन ।

४१. विचार माला

पद्य-संख्या	९००
विषय	ज्ञानोपदेश ।

४२. विवेक सागर

पद्य-संख्या	३२५
विषय	पदों में ज्ञानोपदेश ।

४३. शब्द अलह टुक

पद्य-संख्या	१६५
विषय	ज्ञानोपदेश

४४. शब्द राग काफी और राग फगुआ

पद्य-संख्या	२३०
विषय	रागों में ज्ञान और उपदेश ।

४५. शब्द राग गौरी और राग भैरव

पद्य-संख्या	१०४
विषय	रागों में ज्ञान और उपदेश ।

४६. शब्द वंशावली

पद्य-संख्या	८७
विषय	आध्यात्मिक सत्य ।

४७. शब्दावली

पद्य संख्या	१११५
विषय	पन्थ का रहस्य और कबीर-पन्थी की दिनचर्या ।
विशेष	इस ग्रन्थ की एक और प्रति मिलती है, उसमें पद्य-संख्या १८५० हैं ।

४८. संत कबीर बंदी छोर

पद्य-संख्या ८५

विषय आध्यात्मिक सिद्धान्त ।

४९. सतनामा

पद्य-संख्या ७२

विषय ज्ञान और वैराग्य-वर्णन ।

५०. सत्संग कौ अंग

पद्य-संख्या ३०

विषय सन्त-संगति और महात्म्य ।

५१. साधो को अंग

पद्य-संख्या ४७

विषय साधु और साधुता का वर्णन ।

५२. सुरति सम्वाद

पद्य-संख्या ३००

विषय ब्रह्म-प्रशंसा, गुरु-वर्णन, आत्म-महिमा, नाम-महिमा ।

५३. स्वांस गुंजार

पद्य-संख्या १५६७

विषय स्वांस के जानने की रीति ।

५४. हिंडोरा वा रेखता

पद्य-संख्या २१

विषय सत्यवचन पर गीत ।

५५. हंस मुक्तावली

पद्य-संख्या ३४०

विषय ज्ञान-वचन ।

५६. ज्ञान गुदड़ी

पद्य-संख्या ३०

विषय ज्ञान और उपदेश ।

५७. ज्ञान चौंतीसी

पद्य-संख्या ११५

विषय ज्ञान ।

विशेष — इस ग्रन्थ की एक प्रति खो० रि० १९१७, १८, १९ से प्राप्त हुई है। इसमें १३० पद्य हैं।

५८. ज्ञान सरोदय

पद्य-संख्या — २२०

विषय — स्वरों का विचाराविचार और ज्ञान।

५९. ज्ञान सागर

पद्य-संख्या — १६८०

विषय — ज्ञान और उपदेश।

६०. ज्ञान सम्बोध

पद्य-संख्या — ७७०

विषय — सन्तों की महिमा का वर्णन।

६१. ज्ञान स्तोत्र

पद्य-संख्या — २५

विषय — सत्यवचन और सत्यपुरुष का निरूपण।

कबीर के ग्रन्थों को देख कर हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

१. ग्रन्थ-संख्या

खोज से अभी तक कबीर कृत ६१ पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। ये सभी कबीर रचित कही जाती हैं; इसमें कितना सत्य है, यह कहना कठिन है। पर पुस्तकों के नाम से इस विषय में कुछ अवश्य कहा जा सकता है। नं० १५ 'कबीर गोरख की गोष्ठी' नं० १६ 'कबीर जी की साखी' नं० ३३ 'भक्ति का अंग' नं० ३५ 'मुहम्मद बोध' ये चार ग्रन्थ कबीर कृत कहने में सन्देह है। कबीर न तो गोरख के समकालीन थे और न मुहम्मद ही के। अतः कबीर का उक्त दोनों महात्माओं से वार्तालाप होना असम्भव है। इसी प्रकार नं० १६ ग्रन्थ में कोई भी कवि अपने नाम को 'जी' से अन्वित कर ग्रन्थ नहीं लिख सकता। नाम को इस प्रकार आदर देने वाले कवि के अनुयायी ही हुआ करते हैं। नं० ३३ का ग्रन्थ अपने शीर्षक से ही संदिग्ध जान पड़ता है। कबीर 'भक्ति कौ अंग' कहते हैं 'भक्ति का अंग' नहीं, अतएव ये चार ग्रन्थ कबीर कृत होने में सन्देह है। सम्भव है और ग्रन्थ भी कबीर कृत न हों, पर उस सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। ६१ में से ४ निकालने पर ५७ संख्या रह जाती है। अतः हम अभी तक ५७ ग्रन्थ पा सके हैं, जो कबीर कृत कहे जाते हैं। इस सूची के अनुसार कबीर के ७ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें प्रत्येक की पद्य संख्या १००० से ऊपर है। इन ५७ ग्रन्थों में कबीर ने कुल १७८३० पद्य लिखे हैं। इस प्रकार कबीर ने हिन्दी-जगत् को लगभग बीस हजार पद्य दिये हैं।

२. वर्ण्य विषय

इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय प्रायः एक ही है। वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परि-वर्तन कर यही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यही है :—

योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य-वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उतारने की रीति, नाम महिमा, संतों का वर्णन, सत्पुरुष-निरूपण, माया विषयक सिद्धान्त, गुरु-महिमा, रागों में उपदेश, सत्संगति, स्वर-ज्ञान आदि। यह सब या तो उपदेशक की भांति प्रतिपादित किया गया है या धर्मदास से सम्वाद के रूप में। विषय घूम-फिर कर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थानों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है। यह सब ज्ञान सरल और व्यावहारिक ढंग से वर्णित है, काव्य के सौन्दर्य से नहीं। सरल और व्यावहारिक होने के कारण यह जनता के हृदय में सफलता से पैठ जाता है। पाठ के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

३. भाषा, ग्रंथों का स्वरूप और उनका सम्पादन

कबीर ने अपनी भाषा पूरबी लिखी है, पर नागरी प्रचारिणी सभा ने कबीर ग्रन्थावली का जो प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित किया है, उसम पूरबीपन किसी प्रकार भी नहीं है। इसके पर्याय उसमें पंजाबीपन बहुत है। इसे ग्रन्थ के सम्पादक जी, शिष्यों या लिपिकारों की 'कृपा' ही समझते हैं। यह बहुत अंशों में सत्य भी है।

४. संरक्षण-स्थान और खोज

कबीर के ग्रन्थों की खोज उत्तर भारत और राजस्थान में हुई है। कबीर के ग्रन्थ अभी तक निम्नलिखित सज्जनों और संस्थाओं से मिले हैं।

अ. सज्जनों की सूची :—

१. पं० भानुप्रताप तिवारी, चुनार
२. महन्त जगन्नाथदास, मऊ, छतरपुर
३. महन्त जानकीदास, मऊ, छतरपुर
४. लाला रामनारायन, बिजावर
५. महन्त ब्रजलाल, जमींदार, सिराथू, इलाहाबाद
६. पं० छेदालाल तिवारी, ओरई
७. श्री लछमनप्रसाद सुनार, मौजा हल्दी, बलिया
८. बाबा रामबल्लभ शर्मा श्री सत्गुरुशरण, अयोध्या

९. बाबा सुदर्शनदास आचार्य, गोंडा

१०. पं० महादेवप्रसाद चतुर्वेदी, पो० आ० असनी, फतेहपुर

११. पं० जयमंगलप्रसाद वाजपेयी, फतेहपुर

१२. पं० शिवदुलारे दुबे, हुसेनागंज, फतेहपुर

आ. संस्थाओं की सूची :—

१. एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल, कलकत्ता

२. राज्य पुस्तकालय, दतिया

३. राज्य पुस्तकालय, टीकमगढ़

४. राज्य पुस्तकालय, चरखारी

५. सरस्वती भंडार, लक्ष्मण कोत, अयोध्या

६. आर्य भाषा पुस्तकालय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

७, गोपाल जी का मन्दिर, सीतली, जोधपुर

८. कबीर साहब का स्थान, मौजा मगहर, बस्ती

दक्षिण में कबीर के ग्रन्थों की खोज अभी तक नहीं हुई। मध्य प्रदेशान्तर्गत छत्तीसगढ़ विशेषकर दामा खेड़ा, खरसिया, कवर्धा आदि महत्त्वपूर्ण स्थानों में कबीर के ग्रन्थों की खोज होनी चाहिए। छत्तीसगढ़ म तो धर्मदास की गद्दी ही थी। उस स्थान में सैकड़ों ग्रन्थ मिल सकते हैं। उन यंत्रालयों म भी खोज होनी चाहिए, जहाँ से कबीर-साहित्य प्रकाशित हुआ है। ऐसे यंत्रालयों में चार प्रधान हैं :—

१. श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

२. बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद।

३. कबीर धर्मवर्धक कार्यालय, सीयाबाग, बड़ोदा।

४. सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर, (सी० पी०)

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने परिश्रम और अध्यवसाय से उत्तर भारत के अनेक स्थानों में कबीर के ग्रन्थों की खोज की है। अच्छा हो, यदि वह मध्य-प्रदेश में भी इसी प्रकार खोज कर कबीर साहित्य को प्रकाश में लाने का अभिनन्द-नीय प्रयास करे।

कबीर की भाषा

कबीर ग्रन्थावली का सम्पादन डा० श्यामसुन्दर दास ने किया है। यह नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) की ओर से प्रकाशित हुई है। इस ग्रन्थावली का सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया गया है जिनकी अनुलिपि की तिथियाँ क्रमश: संवत् १५६१ तथा १८८१ हैं।

कबीर-ग्रन्थावली की भाषा में पंजाबीपन अत्यधिक है। कबीर दास जी बनारस के निवासी थे। उनकी मातृभाषा 'बनारसी बोली' थी जिसकी गणना पश्चिमी भोजपुरी के अन्तर्गत है। अब प्रश्न यह उठता है कि उनकी भाषा में पंजाबीपन कहाँ से आया ? इसके दो कारण हो सकते हैं—प्रथम यह कि अनुलिपि-कर्ता ने भोजपुरी शब्दों तथा मुहावरों को अनुलिपि करते समय पंजाबी में परिवर्तित कर दिया हो अथवा सन्तों के सत्संग के कारण कबीर को पंजाबी का पर्याप्त ज्ञान हो गया हो और उन्होने स्वय इसी रूप में इन पदों की रचना की हो। डाक्टर दास के मतानुसार दूसरी सम्भावना ही ठीक है, किन्तु मैं समझता हूँ कि पहली सम्भावना में ही तथ्य का अश अधिक है।

जो दशा कबीर की भाषा की हुई ठीक वही बुद्ध की भाषा की भी हुई थी, जो कबीर से दो सहस्र वर्ष पूव पैदा हुए थे। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय सिल्वाँ लेवी तथा जर्मनी के संस्कृत के पंडित लुडर्स ने अपने दो लेखों में यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर दिया है कि किस प्रकार दाक्षिणात्य बौद्धों (स्थविरवादियों) के 'बुद्धवचन' की भाषा में ऐसे रूप भी वर्तमान हैं जो वस्तुतः 'प्राचीन मागधी' के हैं। स्थविरवादियों (सिंहल निवासियों) के त्रिपिटक की भाषा पालि है जिसका सम्बन्ध स्पष्ट रीति से मध्यदेश की भाषा से है। इस पालि त्रिपिटक में ही 'प्राचीन मागधी' के रूप मिलते हैं जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान पालि त्रिपिटक की रचना के पूर्व त्रिपिटक की कुछ ऐसी प्रतियाँ भी प्रचलित थीं जिनकी भाषा 'प्राचीन मागधी' थी। जब मध्य देश की भाषा पालि में आधुनिक त्रिपिटक को परिर्वातित किया गया, तो भी 'प्राचीन मागधी' भाषा के कुछ शब्द तथा मुहावरे आदि यत्र-तत्र रह ही गये।

ठीक ऊपर को दशा कबीर की भाषा की भी हुई। यह बात प्रसिद्ध है कि कबीर शिक्षित न थे, अतएव 'बनारसी बोली' के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक भाषा में रचना करना उनके लिए सम्भव न था। यह 'बनारसी बोली' अथवा उस समय की भोजपुरी केवल प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी। इसे न तो 'ब्रजभाषा' की भाँति शौरसेनी अपभ्रंश की परम्परागत प्रतिष्ठा ही प्राप्त थी और न नवीन विकसित 'खड़ीबोली' की भाँति मुसलमान शासकों की संरक्षिता ही मिली थी। भोजपुरी क्षेत्र के पश्चिम में कबीर की वाणी के प्रसार के लिये यह आवश्यक था कि उनके 'पदों' तथा 'साखियों' का अनुवाद ब्रजभाषा, खड़ीबोली अथवा दोनों के सम्मिश्रण में हो। ऐसा करने से ही इनके सिद्धान्तों का प्रचार पश्चिम पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से लेकर गुजरात तथा मालवा तक हो सका था। ब्रज तथा खड़ी बोली में अनुवाद का यह कार्य केवल मूल भोजपुरी के कतिपय शब्दों के रूप बदल देने से ही सम्पन्न हो सकता था।

कबीर का ज्ञान विस्तृत था, उन्होंने देश-भ्रमण भी खूब किया था। ऐसी अवस्था में इस बात की सम्भावना है कि उन्हें ब्रज, खड़ीबोली तथा कोसली (अवधी) का पर्याप्त ज्ञान हो और उन्होंने स्वयं इन भाषाओं में रचना की हो; किन्तु संवत् १५६१ की प्राचीन प्रति के आधार पर सम्पादित कबीर ग्रन्थावली के पदों में भोजपुरी रूपों को देखकर यही धारणा पुष्ट होती है कि 'बुद्ध-वचन' की भाँति ही कवीर की वाणी पर भी उनके भक्तों द्वारा पछाहीं रंग चढ़ाया गया।

ऊपर के कथन के प्रमाण-स्वरूप नीचे कतिपय उदाहरण कबीर-ग्रंथावली से दिये जाते हैं :—

(क) भोजपुरी संज्ञा पदों के प्रायः दो रूप—

लघ्वन्त तथा दीर्घान्त—मिलते हैं। इस ग्रन्थावली में भी ये रूप मिलते है :—

खंभवा (पृ० ९४, पंक्ति १३)
पऊवा (पृ० ९५, १४)
पहरवा (पृ० ९६, १३)
मनवा (पृ० १०८, २३)
खटोलवा (पृ० ११२, १५)
रहटवा (पृ० १६५, १२)

(ख) भोजपुरी में अतीत काल की क्रिया में 'अल', 'अले' प्रत्यय लगते हैं। 'कबीर ग्रंथावली' में ये रूप उपलब्ध हैं :—

(१) जुलहै तनि बुनि पांन न **पावल** (पृ० १०४, पंक्ति १४)
(२) त्रिगुंण रहित फल रमि हम **राखल** (पृ० १०४, ,, १५)
(३) नां हम जीवत न **मूँवाले** (मुंवले ?) माहाँ (पृ० १०८, ,, १९)
(४) पापी **परलै** जाहि अभागे (पृ० १३२, पंक्ति १७)

(ग) भोजपुरी में भविष्यत् काल की अन्य पुरुष, एकवचन की क्रियाओं में 'इहें' प्रत्यय लगता है। 'कबीर-ग्रंथावली' में भी ये रूप मिलते हैं :—

(१) हरि मरि है (मरिहें ?) तौ हमहूँ मरिहै (मरिहें ?) (पृ० १०२, २१)
(२) इंद्री स्वादि बिषै रसि बहि है (बहिहें ?), नरकि पड़ै पुंनि रांम न कहि है (कहिहें ?) (पृ० १३४, १३)

कबीर-ग्रन्थावली के पदों के केवल कतिपय शब्दों के रूप परिवर्तित कर देने से ही अत्यन्त सरलता से मूल भोजपुरी के रूप प्राप्त हो जाते हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि कबीर के ये पद मूलरूप में सम्भवतः भोजपुरी में ही

उपलब्ध थे। बाद में उन्हें पछाहीं भाषा में परिवर्तित किया गया। नीचे के उदाहरण में पहले 'कबीर-ग्रन्थावली' का एक पद ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है। इसके पश्चात् उसका भोजपुरी रूप दिया गया है। इन भोजपुरी रूपों को कोष्ठको में दिया गया है। ये रूप भी प्राचीन भोजपुरी के हैं।

मैं बुनि करि सिरांनां हो राम, नालि करम नही ऊबरे ॥ टेक ॥
दखिन कूंट जब सुनहां भूंका तब हम सुगन बिचारा।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो रांम॥
ताँनां लीन्हाँ बाना लीन्हाँ, लीन्हें गोड के पऊवा।
इत-उत चितवत कठवन लीन्हाँ, मांड चलवनां डऊवा हो रांम॥
(कबीर-ग्रन्थावली पृ० ९५)

ऊपर के पद का भोजपुरी रूप इस प्रकार होगा :—

[मैं] बुनि करि [सिरइलों] हो राम, नालि करम नहिं ऊबरे॥ टेक॥
दखिन कूंट जब सुनहा [भूँकल], तब हम सुगुन [बिचरलों]।
लरके [फरके] सब [जागतारे], हम घीर चोर [पसरलों] हो राम।
तांनां [लिहलों] बाना [लिहलों], [लिहलों] गोड़ के पऊवा।
इत उत चितवन कठवन [लिहलों], मांड चलवना डऊवा हो राम॥

नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रन्थावली' के ऊपर के संस्करण के अतिरिक्त कबीर के ग्रन्थों के कई ऐसे संस्करण भी उपलब्ध हैं जिनमें भोजपुरी रूपों की ही बहुलता है। ऐसे संस्करणों में शान्तिनिकेतन के आचार्य क्षितिमोहन सेन का संस्करण प्रसिद्ध है। भोजपुरी क्षेत्र में तो कबीर के पद इतने अधिक प्रचलित हैं कि अशिक्षित व्यक्तियों तक को दो चार कंठाग्र हैं।

कबीर का महत्व और उनका काव्य

हर्ष का मृत्युकाल (सन् ६४७ ई०) भारतीय समाज के इतिहास में एक बड़ी विभाजक-रेखा का कार्य करता है। शंकराचार्य के अभ्युदय से ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान तो हुआ, पर कुछ बाह्य और अंतरंग कारणों से वह अधिक काल तक स्थित न रह सका। वह धीरे-धीरे बहुत कुछ रूपान्तरित-सा हो गया। मुसलमानों के आक्रमण के प्रथम भारतवर्ष पर शक-हूण आदि कितने ही विदेशियों के आक्रमण हुए थे। इन विदेशियों के धार्मिक एवं सामाजिक सिद्धान्त व्यापक न होने के कारण ये शीघ्र ही हिन्दूधर्म के साथ एक हो गये और कुछ काल में इनका अपना भिन्न अस्तित्व भी न रह गया; किन्तु मुसलमानी सभ्यता का जन्म अपनी एक विशेष शक्ति के आधार पर हुआ था। इसका प्रवेश विजेता के रूप में हुआ। मुस्लिम सत्ता और हिन्दू जनता कुछ विरोधशील प्रवृत्ति के कारण एक न हो सकी। इतिहासकार स्मिथ लिखता है कि १४ वीं शताब्दी में कुछ प्रलोभन तथा भय के कारण उत्तरी भारत की अधिकांश जनता मुसलमान हो गई थी। मुस्लिम शासक

की विनाशकारी प्रवृत्ति के कारण हिन्दुओं में समाज-संस्कार को अधिक नियमित करने की आवश्यकता बढ़ी। इसके परिणाम-स्वरूप वर्णाश्रम धर्म की रक्षा, छूआछूत की जटिलता तथा परदे की प्रथा है। १४ वीं शताब्दी में भारतीय समाज की अशान्ति के इन बाह्य कारणों के अतिरिक्त कुछ विशेष कारण भी थे। प्राचीन भाषा अब नवीन रूप धारण कर चुकी थी। धार्मिक साहित्य की समस्त रचना संस्कृत में ही हुई थी। इस दृष्टि से धार्मिक अध्ययन ब्राह्मण-पंडितों तक ही सीमित हो गया था और साधारण जनता धार्मिक ज्ञान से बहुत दूर हो गई थी। जिस प्रकार यूरोप में लूथर के पूर्व १५ वीं शताब्दी में पोप ही धर्म के स्तम्भ समझे जाते थे, उसी प्रकार कबीर के पूर्व धार्मिक ज्ञान पूर्णरूप से ब्राह्मणों के आश्रित था। साधारण जन की शान्ति के लिये कोई आश्रय न था। साथ ही शासकों की निरंकुश नीति के कारण राजनीतिक असन्तोष की मात्रा भी बहुत बढी थी। मोहम्मद तुगलक के शासन काल से ही व्यवस्था अनियमित हो गई थी और सन् १३९८ ई० का तैमूर का आक्रमण तो उत्तरी भारत के लिए अराजकता और हिंसक प्रवृत्ति का सीमान्त उदाहरण था।

ऐसी ही अव्यवस्थित स्थिति में रामानन्द और कबीर का उदय हुआ था। प्रसिद्ध इतिहासकार 'बकले' का कहना है कि युग की बड़ी विभूतियाँ काल-प्रसूत होती हैं। कबीर के विषय में तो यह बात पूर्णरूप से स्पष्ट है। जनता की धर्मान्धता तथा शासकों की नीति के कारण कबीर के जन्मकाल के समय में हिन्दू-मुसलमान का पारस्परिक विरोध बहुत बढ़ गया था। धर्म के सच्चे रहस्य को भूल कर कृत्रिम विभेदों द्वारा उत्तेजित होकर दोनों जातियाँ धर्म के नाम पर अधर्म कर रही थीं। ऐसी स्थिति में सच्चे मार्ग के प्रदर्शन का श्रेय कबीर को है। यद्यपि कबीर के उपदेश धार्मिक सुधार तक ही सीमित हैं, तथापि भारतीय नवयुग के समाज-सुधारकों में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है; क्योंकि भारतीय धर्म के अंतर्गत दर्शन, नैतिक आचरण एवं कर्मकांड तीनों का समावेश है।

कबीर के पहिले भी हिन्दू समाज में कितने ही धार्मिक सुधारक हुए थे, पर उनमें अप्रिय सत्य कहने का बल अथवा साहस नहीं था। हिन्दू जन्म से ही अधिक धर्मभीरु होता है। यह उसकी जातीय दुर्बलता है। दूसरों की धार्मिक नीति का स्पष्ट विरोध करना मुस्लिम धर्म का एक विशेष अंग है। इन्हीं दोनों परस्पर प्रतिकूल सभ्यताओं के योग से कबीर का उदय हुआ था जिनका प्रधान उद्देश्य इन दो सरिताओं को एक-मुख करना था। कबीर की शिक्षा में हमें हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की सीमा तोड़ने का यत्न दृष्टिगत होता है। यही उनकी आन्तरिक अभिलाषा थी।

कबीर की विशेषता इन्हीं धार्मिक पाखंडों का स्पष्ट शब्दों में विरोध कर, सत्यानुमोदन करने की है। कबीर ने निश्चय किया कि हिन्दू-मुस्लिम विरोध का

मूल कारण उनका अंधविश्वास है। धर्म का मार्ग संसार के कृत्रिम भेद-भावों से बिल्कुल रहित है। 'कह हिन्दू मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना। आपस में दोउ लरि लरि मूये मरम न काहू जाना।"[1] वास्तव में भारतीय समाज में बन्धुत्व के ये भाव कबीर द्वारा ही सर्वप्रथम व्यक्त किये गए थे। भक्ति-भाव के आन्दोलन द्वारा भगवान के सामने सम-भाव का आदेश तो रामानन्द ने भी दिया था, पर जाति-विभाग और ऊँच-नीच भाव के एकीकरण का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था। सच्चा सुधारक समाज में नये मार्ग का प्रदर्शन करने की अपेक्षा अंध-विश्वास में पड़े हुए मनुष्यों को तर्क द्वारा जागृत करना अधिक आवश्यक समझता है। कबीर स्वाधीन विचार के व्यक्ति थे। काशी में—हिन्दू धर्म के प्रधान केन्द्र में—कबीर के सिवा और कौन साहस कर पूछ सकता था कि 'जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये, और राह तुम काहे न आये ?" यदि काली और सफेद गाय के दूध में कोई अंतर नहीं होता तो फिर उस विश्व-वंद्य की सृष्टि में जाति-कृत भेद कैसा ! "कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावै एक जमीं पर रहिये।" सत्य तो यह है कि सभी परमेश्वर की सन्तान हैं। "को ब्राह्मण को शूद्रा !"

कबीर की यही समदृष्टि उन्हें सार्वभौमिक बना देती है। स्मरण रखना चाहिए कि भक्तियोग के उत्थान के साथ कितने अन्य महात्माओं ने भी शूद्रों को स्वीकार किया था, परन्तु "जाति-विभाग हेय और हानिप्रद है" ऐसी घोषणा करने का साहस कबीर के पहले किसी ने भी नहीं किया था।

इसी जाति-विभाग के नियम-पालन में छुआछूत का प्रश्न और भी जटिल हो गया था। हिन्दू-मुसलमान दोनों ने अपने विशेष सामाजिक संस्कार बना लिये थे। साथ ही धर्म के दार्शनिक तत्वों की अवहेलना भी खूब हो रही थी। धर्म का रूप केवल बाह्य-कृत्यों तक ही सीमित था। कारण यह था कि पंडितों और मुल्लाओं की प्रधानता एवं उनकी संकुचित विचार-धारा के कारण आडम्बर की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। विशेषता तो यह थी कि इन सभी आचारों का अनुमोदन कुरान, पुराण आदि धार्मिक पुस्तकों के नाम से किया जाता था। कबीर ने देखा कि शास्त्र-पुराण आदि की कथाओं से लोग धर्म के सच्चे तत्व को भूल गए हैं। यह सब "झूठे का बाना" है। मनुष्य भूल कर आडम्बर के फेर में पड़ गया है। "सुर नर मुनी निरजन देवा, सब मिलि कीन्ह एक बँधाना, आप बँधे औरन को बाँधे भवसागर को कीन्ह पयाना" बात सत्य थी, पर रूखे तौर पर कही गई थी। थोड़े से शब्दों में यह अप्रिय सत्य था जिसके वक्ता और श्रोता दोनों दुर्लभ होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने वास्तविक ज्ञान-राशि वेद, कुरान आदि को हेय समझा था, परन्तु उनका तो यह था कि बिना समझे इनका आश्रय लेना अज्ञानता है। उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया

१ कबीर-वचनावली, द्वितीय खंड १८२.

है कि "वेद कितेब कहौ मत झूठे, झूठा जो न विचारै।" काशी, गया, द्वारका आदि की यात्रा से कोई भी तात्पर्य नहीं है। मनुष्य को पहले निष्कपट होना चाहिए। उसका परिधान रँगा हुआ है, हृदय नही। कबीर के समय में हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक विरोध के कारण धर्म के बाह्याडम्बरों की बहुत वृद्धि हो गई थी। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार परमात्मा विश्वव्यापी है। सूफी सिद्धान्त भी इसी मत का प्रतिपादन करता है, पर जनता मूल सिद्धान्त को भूल गौण को मुख्य मान कर विरोध कर रही थी। विश्वव्यापी का निवास कोई पूर्व और कोई पश्चिम में बताता था। मुसलमान बाँग देकर अपने ईश्वर को स्मरण करने में ही अपना महत्त्व समझता है। पुराणों के अनुसार कितने ही मार्ग प्रतिपादित हैं। धर्म-ग्रन्थ अनन्त हैं, फिर उनके द्वारा प्रतिपादित मार्गों की सीमा नहीं। सभी अपना राग अलापते हैं। कबीर ने देखा कि इस एकात्मता के पीछे अनेकरूपता का रूपक देकर अकारण ही विरोध बढ़ाया गया है। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि महादेव और मोहम्मद में कोई भेद नहीं है। राम और रहीम पर्य्यायवाची हैं। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी उस परवरदिगार के बन्दे हैं। "हिन्दू तुरुक की एक राह है सतगुरु इहै बताई। कहै कबीर सुनो हो संतो राम न कहेउ खोदाई।"

इस प्रकार कबीर ने अपने समय में धार्मिक पाखंड एवं कुरीतियों को दूर कर पारस्परिक विरोध को हटाने का सफल परिश्रम किया। सरल जीवन, सत्यता, स्पष्ट व्यवहार आदि उनके उपदेश हैं। हिन्दू-मुसलमान दोनों धार्मिक बनते हैं। कबीर का कहना है, "इन दोउन राह न पाई।" एक बकरी काटता है, दूसरा गाय। यह पाखंड नहीं तो और क्या है? कबीर ने समसामयिक प्रवाह देखकर हिन्दू मुसलमान दोनों के आडम्बर-मूलक व्यवहार का घोर विरोध किया। उन्होंने अपने विचार की पुष्टि के लिए किसी विशेष ग्रन्थ का आश्रय नहीं लिया। यह हो सकता है कि इसके मूल में उनके पुस्तक-ज्ञान का अभाव रहा हो, पर उन्होंने इतना तो स्पष्ट देखा कि इन्हीं धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेकर हिन्दू-मुसलमान अन्याय कर रहे हैं। फिर जो बात सत्य है उसकी वास्तविकता ही प्रधान आधार है। उनका तो कहना था कि :—

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी। तू कहता कागद की लेखी।"

प्रश्न हो सकता है कबीर अपने कार्य में कितने सफल हो सके हैं। सच तो यह है कि संसार की महान् विभूतियों को जनता अपने अज्ञानवश ठुकरा देती है। युग-प्रवर्त्तक महात्माओं को अपनी शिक्षा के अनुमोदित न होने का सदा दुःख रहा है। सुकरात, क्राइस्ट सभी इस अज्ञान जनता के शिकार हुए हैं। कबीर का सन्देश कृत्रिम भेद-भाव रहित विश्व-प्रेम-मूलक था यद्यपि वह विश्वव्यापी न हो सका।

भारतीय शिक्षित समाज पर प्रत्यक्ष रूप से कबीर का प्रभाव बहुत कम पड़ा,

परन्तु एक बात हिन्दुओं और मुसलमानों में समान रूप से व्याप्त हो गई। सबका भगवान एक है और सब भगवान के बन्दे हैं। जो हरि की वन्दना करता है वह हरि का दास है। परमपद की प्राप्ति के लिए प्रेम ही वांछनीय है; कोई विशेष सम्प्रदाय जाति अथवा शिक्षा नहीं। इस विषय की कितनी ही सूक्तियाँ आज उत्तरी भारत के गाँवों में कबीर के नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दू-मुसलान दोनो कबीर का महत् पद स्वीकार करते हैं। भारतीय समाज के इतिहास में भी कबीर के इस भाव का प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। कबीर की मृत्यु के पश्चात् मुस्लिम शासन-काल में भी प्रायः तीन शताब्दी तक हिन्दू-मुस्लिम धर्म-सम्बन्धी अनाचार की कोई घटना नहीं मिलती। प्रत्युत अकबर-कालीन मुगल शासन में हिन्दू-मुस्लिम सम्पर्कता-सम्बन्धी कितने ही उदाहरण मिलते हैं। इतिहासकार इसके बहुत से कारण बताते हैं, परन्तु उन सभी कारणों में हिन्दू-मुस्लिम विरोध के मूल-स्वरूप अंधविश्वास को मिटा कर समता का उपदेश देने वाले कबीर का प्रादुर्भाव विशेष विचारणीय है। इतिहास लेखक प्रायः इस विषय की अवहेलना कर देते हैं, परन्तु इसका प्रभाव हम गाँवों में देख सकते हैं, जहाँ आज भी हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव का कोई स्पष्ट रूप नहीं दिखलाई पड़ता। छुआछूत का तो बहुत कुछ अभाव ही है और साथ ही दोनों एक रूप से समता, सरल जीवन, ज्ञान तथा सन्तुष्टि के कितने ही पद प्रेम से गाया करते हैं। कबीर ने शताब्दियों की संकुचित चित्तवृत्ति को परिमार्जित कर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अधिक उदार बना दिया है। यही उनकी विशेषता है। उन्होंने समाज में क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी थी। धर्म के नाम पर किए अनाचार का विरोध कर जन-साधारण की भाषा द्वारा समाज को जागृत करने में कबीर का स्थान सर्वप्रथम है।

क़बीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य-रचना नहीं की, तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में छन्द और अलंकार गौण हैं, संदेश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान् संदेश दिया है। उस संदेश के प्रकट करने का ढंग अलंकार से युक्त न होते हुये भी काव्यमय है। कई समालोचक कबीर को कवि ही नहीं मानते, क्योंकि वे कभी-कभी सही दोहा नहीं लिखते और अनुप्रास जैसे अलंकारों की चकाचौंध पैदा नहीं कर सकते। ऐसे समालोचकों को कबीर की समस्त रचना पढ़ कर कवि के कवित्व की थाह लेनी चाहिए। मीरां में भी काव्य-साधना है, पर पिंगल नहीं। फिर क्या मीरां को कवि के पद से बहिष्कृत कर देना चाहिए? कविता की मर्यादा जीवन की भावात्मक और कल्पनात्मक विवेचना में है। यह विवेचना कबीर में पर्याप्त है। अतः वे एक महान् कवि हैं। वे भावना की अनुभूति से युक्त हैं, उत्कृष्ट रहस्यवादी हैं और जीवन के अत्यन्त निकट हैं।

यह बात अवश्य है कि कबीर की कविता में कला का अभाव है। उनकी रचना में पद-विन्यास का चातुर्य नहीं है। 'उल्टवाँसियों' में क्लिष्ट कल्पना है, भाषा बहुत भद्दी है, पर उन्होंने काव्य के इन उपकरणों को जुटाने की चेष्टा भी तो नहीं की। वे एक भावुक और स्पष्टवादी व्यक्ति थे और उन्होंने प्रतिभा के प्रयोग से अपने संदेश को भावनात्मक रूप देकर हृदयग्राही बना दिया था। वे धर्म की जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिये 'उल्टवासियाँ' लिखते थे और संकीर्णता हटाने के लिए रेखते। उनकी कला उनकी स्पष्टवादिता में थी, उनकी स्वाभाविकता में थी। यही स्वाभाविकता उनकी सब से बड़ी निधि है। कबीर के विरह के पद साहित्य के किसी भी उत्कृष्ट कवि के पदों से हीन नहीं हैं। उनकी विरहिणी-आत्मा की पुकार काव्य-जगत् में अद्वितीय है। रहस्यवाद के दृष्टिकोण से यदि उनकी "पतिव्रता कौ अंग" पढ़ा जावे तो ज्ञात होगा कि उनका कवित्व संसार के किसी भी साहित्य का शृंगार हो सकता है।

उत्तरी भारत में कबीर का महत्त्व बहुत अधिक था। वे रामानन्द के प्रधान शिष्य थे। उनका निर्भीक विषय प्रतिपादन उनके समकालीन भक्तों और कवियों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित कर देता है। यही कारण है कि वे अपने गुरु का अनुकरण न करते हुए भी स्वयं अनेक भक्तों और कवियों के आदर्श हो गए।[१]

कबीर के बाद संत-परम्परा में जितने प्रधान भक्त और कवि हुए उनका विवरण इस प्रकार है :—

धरमदास (सं० १४७५) ये कबीर के सबसे प्रधान शिष्य थे और उनके बाद इन्हें ही कबीर पथ की गद्दी मिली। इनके जन्म की तिथि निश्चित नहीं है। कहा जाता है कि ये कबीर से कुछ वर्ष छोटे थे। कबीर की जन्म-तिथि संवत् १४५५ मानी गई है, अतः इनका जन्म १४५५ के बाद ही होगा। सन्त सीरीज के सम्पादक महोदय धरमदास जी की जन्म-तिथि संवत् १४७५ और १५०० के बीच में मानते हैं।[२] धरमदास जी की मृत्यु कबीर की मृत्यु के लगभग बीस-पचीस वर्ष बाद हुई। अतः कबीर की मृत्यु-तिथि १५७५ मानने पर इनकी मृत्यु लगभग संवत् १६०० माननी होगी।

धरमदास का प्रारम्भिक जीवन साकारोपासना में ही व्यतीत हुआ। ये बाँधोगढ़ के निवासी थे और बड़े धनी थे। अतः तीर्थ-यात्रा और पूजन आदि में बहुत धन खर्च करते थे। 'अमर सुख निधान' में धरमदास ने स्वयं अपना जीवन-चरित्र लिखा है। उस ग्रंथ की कुछ पंक्तियां इस प्रकार है :—

---

१ सलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिटरेचर, बुक ४, पृष्ठ १—
(लाला सीताराम बी० ए०)

२ धनी धरमदास जी की शब्दावली (जीवन-चरित्र), पृष्ठ १

धरमदास बन्धो के बानी। प्रेम प्रीति भक्ति में जानी॥
सालिगराम की सेवा करई। दया धरम बहुतै चित धरई।
साधु भक्त के चरन पखारै। भोजन कराइ अस्तुति अनुसारै॥
भागवत गीता बहुत कहाई। प्रेम भक्ति रस पियै अघाई॥
मनसा बाचा भजै गुपाला। तिलक देइ तुलसी की माला॥
द्वारिका जगन्नाथ होइ आए। गया बनारस गङ्ग नहाए॥

मथुरा और काशी के पर्यटन में इनसे कबीर की भेंट हुई और ये कबीर से बहुत प्रभावित हुए। अन्त में इन्होंने अपना सब धन लुटा कर कबीर-पन्थ में प्रवेश किया। तुलसी साहब ने अपने ग्रन्थ 'घट रामायण' में धरमदास जी के विचार-परिवर्तन का बड़ा प्रभावशाली वर्णन किया है। ये सपरिवार कबीर पन्थी होकर काशी में रहने लगे। इन्होंने ही कबीर की रचना का संग्रह संवत् १५२१ (सन् १४६४) में किया।[1] इनकी मृत्यु के बाद कबीर पंथ की गद्दी इनके पुत्र चूड़ा मणि को मिली।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें इनकी और कबीर की गोष्ठी और धर्म-निरूपण ही अधिक है। इनकी बहुत सी रचना कबीर की रचना में इतनी मिल गई है कि दोनों को अलग करना बहुत कठिन हो गया है। इनके प्रधान ग्रन्थों में 'सुखनिधान' का बहुत ऊँचा स्थान है। कबीर के समान इन्होंने भी 'विरह' पर बहुत लिखा है।

इनके शब्दों में कबीर की भाँति ही आध्यात्मिक सन्देश और रहस्यवाद है, यद्यपि उसकी उत्कृष्टता कबीर के पदों से हीन है। कबीर के भक्त होने के कारण इनके बहुत से पद आचारात्मक ह जिनमें आरती, बिनती, मंगल और प्रश्नोत्तर हैं। साथ ही इन्होंने बारहमासा, बसन्त और होली, सोहर आदि पर बहुत से शब्द लिखे हैं। इनकी भाषा प्रवाहयुक्त और स्वाभाविक है। उस पर पूर्वी हिन्दी की पूण छाप है। मंगल का एक शब्द इस बात को बहुत स्पष्ट कर रहा है :—

सूतल रहलौं मैं सखियाँ, तो विष कर आगर हो।
सतगुर दिहलै जगाइ, पायौं सुख सागर हो।
जब रहली जननी के ओदर, परन सम्हारल हो।
तब लौं तन में प्रान, न तोहि बिसराइब हो॥
एक बुंद से साहेब, मँदिल बनावल हो॥
बिना नेब कै मँदिल, बहु कल लागल हो॥ आदि।

धर्मदास की एक गद्दी मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ में है। कबीर पंथ में धर्मदास का स्थान कबीर साहब के बाद ही माना गया है।

---

१ दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ १४१ (एम० ए० मेकालिफ)

श्री गुरुनानक
(सं० १५२६)

सिख संप्रदाय के संस्थापक श्री नानकदेव के सम्बन्ध में अनेक विवरण और जन्म-साखियाँ हैं जिनसे उनके जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है । पर उन विवरणों की अनेक बातें इतनी कपोल-कल्पित और अन्ध-विश्वास से भरी पड़ी हैं, कि किसी भी इतिहास-प्रेमी को वे ग्राह्य नहीं हो सकतीं। प्रत्येक धर्म-संस्थापक के पीछे इसी प्रकार की कल्पित कथाओं की शृंखला लगी रहती है, अतः नानक के सम्बन्ध में भी यह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

जिन जन्म-साखियों के आधार पर नानक का जीवन-विवरण मिलता है वे अधिकतर पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि में हैं । जे० डब्ल्यू० यङ्गसन को अमृतसर में लिखी गई एक जन्म-साखी[1] मिली है, जिसके अनुसार गुरु नानक महाराज जनक के अवतार थे । प्रारम्भ में कथा है कि राजा जनक ने एक बार नर्क की यात्रा की थी और अपने पुण्य से सतयुग, त्रेता और द्वापर के पापियों का उद्धार कर दिया था । वे उस समय कलियुग के पापियों का उद्धार नहीं कर पाये । अतः कलियुग में पापियों का उद्धार करने के लिये वे गुरु नानक के रूप में अव-तारित हुए ।

एक और जन्म-साखी प्राप्त है जिसका अनुवाद ई० ट्रम्प ने किया है । इसका रचनाकाल अनुवाद के द्वारा १६ वीं शताब्दी का अंत या १७ वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना गया है । इस जन्मसाखी पर पाँचवें गुरु श्री अर्जुन देव के हस्ताक्षर हैं और यह उन अक्षरों में लिखी गई है जिनमें ग्रन्थसाहिब की सबसे प्राचीन लिपि है । इस जन्म-साखी में कपोल-कल्पना नहीं है, अतः यह अधिक विश्वसनीय है ।

एम० ए० मेकालिफ ने भी एक जन्म-साखी का परिचय दिया है[2] जिसकी लेखनी तिथि सन् १५८८ मानी गई है। इसमें भी अनेक प्रकार की कथाएँ हैं जिनसे गुरु नानक का महत्त्व प्रकट होता है ।

इन जन्म-साखियों में से अस्पष्ट और अतिशयोक्तिपूर्ण बातों को निकाल कर गुरु नानक का जीवन-वृत्त इस प्रकार होगा :—

श्री नानक का जन्म बैसाख[3] (बाबा छज्जूसिंह के अनुसार कार्तिक) सं० १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर दक्षिण-पश्चिम में तलवंडी नामक गाँव में हुआ। इनकी माता का नाम तृप्ता और पिता का नाम कालू था, जो जाति के खत्री थे। वे किसान और पटवारी थे और साथ ही कुछ महाजनी भी करते थे । अतः नानक का बचपन प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में व्यतीत हुआ । छुटपन से ही नानक मौन

---

१. एनूसाइक्लोपीडिया ऑव् रेलीजन ऐण्ड एथिक्स, भाग ६, पृष्ठ १८१
२. दि सिख रेलीजन (मेकालिफ, भूमिका, पृष्ठ ७६)
३. दि टेन गुरू ऐन्ड देयर टीचिंग्स (बाबा छज्जूसिंह, पृष्ठ १)

रहते थे और विचारों में डूबे रहते थे। कभी-कभी तो ये साधु और फकीरों का संग भी करते थे जिससे इनके पिता इनसे बहुत रुष्ट रहते थ। जो काम इनसे करने के लिए कहा जाता था वही इनसे बिगड़ जाता था, क्योंकि ये अपने ध्यान में ही डूबे रहते थे। एक बार इनके पिता ने इन्हें बीस रुपये रोजगार करने के लिए दिए, पर इन्होंने वे सब साधु और फकीरों पर खर्च कर दिये। इनके पिता को इस उच्छृङ्खलता पर बहुत क्रोध आया और उन्होंने इन्हें सुलतानपुर (जालन्धर) नौकरी करने के लिए भेजा, जहाँ इनकी बहन जानकी के पति जयराम रहते थे। इस बीच में इनका विवाह भी हो चुका था जिससे इनके दो पुत्र हुये, श्रीचन्द और लखीमदास। जब तक इन्होंने नौकरी की ये बड़े सतर्क और आज्ञाकारी रहे। कमाये हुए धन का बहुत सा भाग इस समय भी साधुओं की सेवा में समाप्त होता था। ये दिन भर काम करते थे और रात को गीत बनाकर गाया करते थे। इनका एक गायक मित्र था, जो तलवंडी से आया था। उसका नाम था मरदाना। जब नानक गाया करते थे तो मरदाना रवाब बजाया करता था।

एक बार वेन नदी में स्नान करते समय इन्हें आत्म-ज्ञान हुआ और इन्होंने ईश्वर की दिव्य विभूति देखी। उसी समय से इन्होंने नौकरी छोड़ कर पर्यटन प्रारम्भ किया। चारों दिशाओं में इन्होंने मरदाना के साथ बड़ी-बड़ी यात्राएँ कीं और अपने सिद्धान्तों को गा-गाकर प्रचारित किया।

अन्त में सं० १५९५ में करतारपुर आकर इन्होंने अपने परिजनों के बीच में महाप्रस्थान किया।

नानक के दार्शनिक सिद्धान्त अधिकांश में कबीर से मिलते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है :—

१ एकेश्वरवाद,
२ हिन्दू-मुसलमानों में अभिन्नता
३ मूर्तिपूजा-विरोध।

इनकी रचना सिक्खों के गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं।

शेख फरीद (सं० १२३०)

शेख फरीदसानी (सं० १५१०)

ये एक बड़े भारी मुसलमान सन्त थे जिनकी रचनाएँ अनेक भाषाओं में अनूदित हुई। ये कोठीवाल में सं० १२३० (सन् ११७३) में हुये। इनका दूसरा नाम शकरगंज था। इनके नाम के पीछे एक कथा है। इनकी माता ने इनसे ईश्वर की प्रार्थना करने के लिये कहा। इन्होंने कहा, प्रार्थना करने से क्या मिलेगा? माता ने उत्तर दिया, शकर! प्रार्थना के बाद माता ने आसन के नीचे से थोड़ी शकर निकाल कर फरीद को दे दी। एक दिन माँ कहीं

बाहर गई थी, इन्होंने प्रार्थना के बाद अपने आसन को उलटा तो बहुत सी शकर रखी थी। माता के आने पर फरीद ने शकर का हाल बतलाया। माता ने आश्चर्य से इस समाचार को सुना और फरीद का नाम शकरगंज (शकर की निधि) रखा।

चार वर्ष की अवस्था में ही फरीद ने कुरान याद कर ली थी। बड़े होने पर उन्होंने मक्के-मदीने की यात्रा भी की थी। वहाँ से लौटने पर फरीद ने कुछ दिन दिल्ली में व्यतीत किये, बाद में अजोधान (पाक पट्टन) चले आये।

नानक संवत् १५२६ (सन् १४५६) में पैदा हुए थे। अतः उनकी भेंट तो किसी प्रकार शेख फरीद से हो ही नहीं सकती थी। फरीद के बाद उनकी वंश-परम्परा के अन्तर्गत शेख इब्राहीम से अवश्य उन्होंने भेंट की थी। शेख इब्राहीम कविता लिखा करते थे और उसमें शेख फरीद का ही नाम डाला करते थे; क्योंकि शेख इब्राहीम को शेख फरीद द्वितीय की उपाधि थी। यह निश्चित है कि जो पद 'ग्रंथ साहब' में शेख फरीद के मिलते हैं वे सब शेख इब्राहीम के लिखे हुए हैं। इन्हें फरीद सानी भी कहा गया है। शेख इब्राहीम की मृत्यु सं० १६०६ में हुई।

इनकी कविता में ईश्वर से मिलने की आकांक्षा बहुत अधिक है।

मलूकदास
(सं० १६३१)

इनका जन्म संवत् १६३१ में कड़ा (इलाहाबाद) नामक स्थान में हुआ। इनके पिता का नाम सुन्दरदास खत्री था। बचपन से ही मलूकदास में प्रतिभा के चिह्न थे। संतों को भोजन और कम्बल दे दिया करते थे, जो इनके पिता इन्हें बेचने के लिये देते थे। इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं जिनमें इनकी भक्ति और शक्ति का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। इनकी मृत्यु सं० १७३९ में हुई। इस प्रकार इनकी आयु मृत्यु के समय १०८ वर्ष की थी। इनके एक शिष्य सुथरादास थे जिन्होंने 'मलूक परिचय' के नाम से एक जीवनी लिखी है। इसके अनुसार भी मलूकदास के जन्म और मृत्यु के संवत् यही हैं।[1]

मलूकदास के बारह चेले थे जिनके नाम अज्ञात हैं। इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, इसफहाबाद, मुल्तान, पटना (बिहार), सीताकोयल (दक्षिण), कलापुर, नैपाल और काबुल में हैं[2] मलूकदास के बाद गद्दी पर रामसनेही बैठे।

इनकी कविता सरस और भावपूर्ण है। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'ज्ञानबोध' और 'रामावतार लीला' (रामायण)। 'ज्ञानबोध' में इन्होंने ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया है। अष्टांग योग एवं प्रवृत्ति और निवृत्ति का भी विस्तारपूर्वक

---

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९२०-२१-२२

२. मलूकदास की बानी (जीवन-चरित्र), पृष्ठ ८

स्पष्टीकरण है। 'रामावतार लीला' में रामचरित्र वर्णित है। उसमें 'रामायण' की कथा विस्तार से दी गई है। भाषा में पूर्ण स्वाभाविकता है। इनमें उपदेश और चेतावनी बड़ी तेजस्वी भाषा में वर्णित हैं। उनमें स्थान-स्थान पर अरबी, फारसी के शब्द भी हैं, पर उनसे कविता के प्रवाह में कोई व्याघात उपस्थित नहीं हुआ। इन्होंने शब्दों के अतिरिक्त कवित्त भी लिखे हैं जिनमें काव्य-सौन्दर्य तो नहीं है, पर भाव-सौन्दर्य आवश्य है। कहा जाता है कि एक और मलूकदास थे जिनका निवास-स्थान कालपी था और जो जाति के खत्री थे। कड़ा के मलूकदास बहुत पर्यटनशील थे। संभव है, ये कालपी में रहे हों। इस प्रकार दो मलूकदास होने से काव्य की प्रामाणिकता में भ्रम हो गया है। दोनों की रचनाओं में भिन्नता का कोई दृष्टिकोण नहीं है।

सुथरादास (सं० १६४०)

ये कायस्थ साधू थे और इलाहाबाद के निवासी थे। ये बाबा मलूकदास के शिष्य हो गए थे और उन्हीं के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे। इन्होंने बाबा मलूकदास की जीवनी 'मलूक-परिचय' के नाम से लिखी। इसके अनुसार मलूकदास का जन्म सन् १५७४ में हुआ था और मृत्यु १६८२ में।

दादू दयाल (सं० १६५८)

सन्तमत में दादू का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तों से मिलते हुए भी अपनी विशेषता रखते हैं। इनके पदों और साखियों में चेतावनी का अंश बहुत अधिक है।

इनका जन्म सं० १६५८ में हुआ था।

इस प्रकार ये अकबर के समकालीन थे। दादू के शिष्य जनगोपाल ने लिखा है कि अकबर और दादू में धार्मिक वार्तालाप भी हुआ करता था।[1] गार्सां द तासी के अनुसार दादू रामानन्द की शिष्य-परम्परा में छठे शिष्य थे।[2] शिष्यों का क्रम इस प्रकार है :—

१ दादूर शिष्य भक्त जनगोपाल लिखियाछेन जे फतेपूर सिक्री ते सम्राट आकबर प्रायई दादूर संगे बसिया धर्म विषये गंभीर आलाप करितेन। दादू (उपक्रमणिका, पृष्ठ १३)
श्री क्षिति मोहन सेन (विश्व भारती, कलकत्ता)

२ इस्त्वार द लॉ लितरात्यूर ऐनदूई ए ऐन्दूस्तानी, भाग १, पृष्ठ ४०३।

दादू पंथियों के अनुसार ये गुजराती ब्राह्मण थे, पर जनश्रुति इन्हें धुनियाँ मानती है। मोहसिन फानी भी इन्हें धुनियाँ ही मानते हैं। विल्सन ने भी मोहसिन फानी के मत का अनुकरण किया है। फर्कहार और ट्रेल इन्हें ब्राह्मण मानते हैं, पर सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि दादू मोची जाति के थे और मोट बनाया करते थे। पहली स्त्री की मृत्यु होने पर ये वैरागी हो गए। इनका पहला नाम महाबली था।[1] इनका जन्म तो अहमदाबाद में हुआ था, पर इन्होंने अपने जीवन का विशेष समय राजस्थान के नराना और भराना नामक स्थानों में व्यतीत किया। दादू इतने अधिक दयालु थे कि लोग इन्हें दादूदयाल के नाम से पुकारने लगे। इन्होंने एक अलग पंथ का निर्माण किया जो 'दादू पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादू पंथ दो भागों में विभाजित हुआ। एक भाग में तो वे साधू हैं जो संसार से विरक्त हैं और गेरुए वस्त्र धारण करते हैं, दूसरे भाग में वे हैं जो सफेद कपड़े पहनते और व्यापार करते हैं। दादूदयाल स्वयं गृहस्थ थे। इन दोनों भागों में ५२ सिद्धपीठ हैं जो अखाड़ों के नाम से 'पंथ' में प्रसिद्ध हैं।[2] हिन्दू-मुसलमान का ऐक्य इन्होंने कबीर की भाँति ही करना चाहा। कबीर के दृष्टिकोण के अनुसार ही इनकी रचना के अंग हैं। इनकी कविता बड़ी प्रभावोत्पादनी है। वह सरलता से हृदयंगम हो जाती है और एक आध्यात्मिक वातावरण छोड़ जाती है।

दादू ने लगभग ५,००० पद्य लिखे हैं जिनमें से बहुत से ग्रंथों में नहीं पाये जाते। वे केवल साधु-संतों की स्मृति में हैं। दादू ने धर्म के प्रायः सभी अंगों पर प्रकाश डाला है। मूर्ति पूजा, जाति, आचार, तीर्थव्रत, अवतार, आदि पर दादू कबीर के पूर्णतः अनुयायी हैं। डा० ताराचन्द के अनुसार दादू ने सूफीमत की व्याख्या अधिक सफलता के साथ की है। संभवतः इसका कारण यह हो कि वे

---

१ दादूदयाल की बानी (प्रस्तावना), श्री सुधाकर द्विवेदी

२ संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७६

कमाल के शिष्य थे।[1] दादू ने गुरु का महत्त्व बहुत उत्कृष्ट बतलाया है। वे कहते हैं कि बिना गुरु के आत्मा वश में नहीं आ सकती। यदि ठीक गुरु न मिले तो पशु-पक्षी और वृक्ष ही गुरु हो सकते है, क्योंकि इनमें भी ईश्वर की व्याप्ति है और ये मनुष्य से अधिक पवित्र और सच्चे हैं। दादूदयाल के शिष्य जनगोपाल ने दादू की एक जीवनी "जीवन परची" के नाम से लिखी है।[2] उसमें दादू ने किस वर्ष में क्या किया यह क्रमानुसार वर्णित है :—

बारह बरस बालपन खोये। गुरु भेटै थैं सन्मुख होये॥
सांभर आये समये तीसा। गरीब दास जनमें बत्तीसा॥
मिले बयालां अकबर साही। कल्यानपुर पचासा जाही॥
समै गुनसठा नगर नराने। साधे स्वामी राम समाने॥
(ग्रंथ जनगोपाल कृत, २६ विश्राम, २६-२७ चौपाई)

जनगोपाल के अतिरिक्त दादू के अन्य शिष्य रज्जब ने भी दादू के जीवन पर प्रकाश डाला है।

दादू के ५२ शिष्य थे। प्रत्येक शिष्य ने 'दादू-द्वार' की स्थापना की। इस प्रकार इस पंथ के ५२ 'दादू द्वार, (पूजन स्थान) हैं। दादूपंथी जब गृहस्थाश्रम स्वीकार करते हैं तो वे दादूपंथी न कहला कर 'सेवक' कहलाते हैं। 'दादूपंथी' नाम केवल वैरागियों के लिए है। 'दादूपंथ' के अंतर्गत इन वैरागियों के पाँच भेद हैं :—

(१) खालसा, (२) नागा, (३) उत्तरादी, (४) विरक्त और (५) खाकी। 'दादू द्वार' में दादू की 'बानी' की पूजा ठीक उसी प्रकार की जाती है जैसे किसी मन्दिर में मूर्ति की। 'दादू पंथियों' का केन्द्र प्रधानतः राजस्थान है।

वीरभान
(सम्वत् १६००)

ये दादू के समकालीन थे। इन्होंने 'साध' या 'सतनामी' पंथ की स्थापना की। इनका जन्म संवत् १६०० में बिजेसर (नारनौल, पंजाब) में हुआ था। ये रैदास की परम्परा में ऊधोदास के शिष्य थे। इसीलिए ये अपने को "ऊधो का दास" लिखते थे। इन्होंने गुरु का महत्त्व बहुत माना है। उसे ये ईश्वर की इच्छा का अवतार समझते थे, इसीलिए ऊधोदास को ये "मालिक का हुक्म" लिखते थे। इनके अनुसार ईश्वर का नाम 'सत्यनाम' है। इसीलिए इनके पंथ का नाम 'सतनामी' है। इस पंथ में जाति का कोई बंधन नहीं है। सब समान रूप से साथ खा सकते और विवाह कर सकते हैं। मांसाहार वर्ज्य है और मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है।

---

१ इन्फ्लुएंस ऑव् इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर, (डा० ताराचन्द),
२ दादू (श्री क्षितिमोहन सेन), उपक्रमणिका, पृष्ठ २३-२४ (विश्वभारती, कलकत्ता)

इस पंथ का पूज्य ग्रन्थ 'पोथी' है। यह पंथ में 'गुरु ग्रंथ साहिब' की भाँति ही पूज्य है। यह 'जुमलाघर' या 'चौकी' में सुरक्षित रहता है और वहीं से पढ़ा जाता है। इस 'पोथी' की अनेक शिक्षाओं में १२ हुक्म प्रधान हैं, जो 'आदि उपदेश' में लिखे गये हैं।

'सतनामी पंथ' का नाम राजनीति के इतिहास में भी स्मरणीय है। औरंगजेब के शासन-काल में 'सतनामी पंथ' ने सन् १६७२ में एक बलवे का रूप लिया था।[१] अंत में औरंगजेब की सेना ने २००० सतनामियों को रणक्षेत्र में मार कर इस पंथ को बहुत निर्बल कर दिया था। ऐतिहासिक खाफी खाँ ने सतनामियों की बड़ी तरीफ़ की है:—

"ये भक्त की वेषभूषा में रहते हैं, पर कृषि और व्यापार करते हैं (यद्यपि अल्प मात्रा ही में)। धर्म के सम्बन्ध में इन्होंने अपने को 'सतनाम' से विभूषित कर रक्खा है। ये सात्विक रूप से ही धन प्राप्त करने के पक्ष में हैं। यदि कोई अन्याय या अत्याचार करता है तो ये उसे सहन नहीं कर सकते। बहुत से शस्त्र भी धारण करते हैं।[२]

ये 'मुंडिया' भी कहलाते हैं, क्योंकि ये अपने सिर पर एक बाल भी नहीं रखते। ये हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद-भाव नहीं मानते।

इस पंथ के केन्द्र दिल्ली, रोहतक (पंजाब), आगरा, फर्रुख़ाबाद, जयपुर (राजपूताना) और मिर्ज़ापुर में हैं।

धरणीदास (सं० १६७३)

श्री बाबू राजवल्लभ सहाय की कृपा से धरणीदास जी कृत 'प्रेम प्रगास' की एक हस्तलिखित प्रति डा० उदयनारायण तिवारी को मांझी (सारन) के पुस्तकालय में मिली थी। इसमें अनुलिपि की तिथि भाद्र शुक्ल नवमी सन् १२८१ फसली दी गई है। यह प्रति माँझी की श्रीमती जानकी दासी उर्फ बर्ता कुँवरि के लिये महंत रामदास द्वारा तैयार की गई थी।

धरणीदास की मातृभाषा भोजपुरी थी। इसी कारण 'प्रेम प्रगास' में भोजपुरी के कतिपय पद्य मिलते हैं। इसमें कहीं भी इनकी जन्म-तिथि नहीं दी गई है किंतु संन्यास लेने की निम्नलिखित तिथि अवश्य उपलब्ध है:—

संवत् सत्रह सै चलि गैऊ, तेरह अधिक ताहि पर भैऊ।
शाहजहाँ छोड़ी दुनियाई, पसरी औरंगजेब दोहाई।
सोच विचार आत्मा जागी, धरनी धरेऊ भेस बैरागी।

---

१ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ६६२-६२७ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

२ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ६२५-६२७

ऊपर के पद में "शाहजहाँ छोड़ी दुनियाई" से उसकी मृत्यु से तात्पर्य नहीं है। वस्तुतः शाहजहां की मृत्यु सन् १६६६ (सँवत् १७२३) में हुई थी, किंतु सन् १६५७ के सितम्बर (संवत् १७१४) में वह बीमार पड़ा और इसके पश्चात् ही उसके पुत्रों में राज्य के लिये युद्ध प्रारम्भ हो गया था, इस युद्ध में औरँगजेब विजयी हुआ और उसने अपने पिता को कैद कर लिया था। वास्तव में बीमारी के पश्चात् ही शाहजहां एक प्रकार से अधिकार-च्युत हो गया था। ऊपर के पद में इसी ओर धरणीदास जी का संकेत है।

इसी प्रकार जब हम संन्यास लेने की इस तिथि को स्वीकार कर लेते हैं तो निश्चित रूप से धरणीदास जी की जन्म-तिथि इसके पहले होगी। यदि उन्होंने चालीस वर्ष की अवस्था में संन्यास लिया हो तो उनकी जन्म-तिथि संवत् १६७३ के लगभग होगी।

इनका जन्म मांझी गांव (जिला छपरा) में हुआ। ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे। धरणीदास के पिता परसराम दास थे, जो खेती का काम करते थे। धरणीदास मांझी के बाबू के दीवान थे।

अपने काम में सतर्क रहते हुए भी ये संत थे। एक बार इन्होंने अपने काम के कागजों पर पानी से भरा लोटा लुढ़का दिया और पूछने पर उत्तर दिया कि जगन्नाथ जी के वस्त्रों में आरती के समय आग लग गई थी उसी को मैंने इस प्रकार बुझा दिया। बाबू ने इसे असत्य समझ कर इन्हें निकाल दिया। बाद में पता लगाने पर जब यह घटना सत्य बतलाई गई तो उन्होंने धरणीदास जी को फिर से नौकर रखना चाहा जिसे इन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस घटना के बाद धरणीदास जी साधु हो गए।

गृहस्थाश्रम में इनके गुरु चंद्रदास थे और संन्यास में सेवानन्द। धरणीदास के सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे इनका महत्त्व प्रकट होता है। यहां उन कथाओं को लिखने की आवश्यकता नहीं। ये सर्व-मान्य सुन्दर कवि और सच्चे भक्त थे। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं, 'प्रेम-प्रकाश' और सत्य प्रकाश'। इनके प्रेम में विरह का विशेष स्थान है। रागों में इन्होंने बहुत सुन्दर शब्द कहे हैं। इनकी 'चेतावनी-गर्भ-लीला' में कबीर का 'रेखता' प्रयुक्त है। इन्होंने कवित्त-सवैया भी लिखे हैं। कबीर की भांति इनका 'ककहरा' भी प्रसिद्ध है। इनकी भाषा पर पूर्वी प्रभाव स्पष्ट लक्षित है। ये फारसी भी खूब जानते थे। 'अलिफनामा' में इनके फारसी का ज्ञान देखा जा सकता है। इनका 'बारहमासा' दोहों में कहा हुआ है।

लालदास
(सं० १७००)

ये विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में हुए। ये अलवर के निवासी थे। इनके उपदेश कबीर के सिद्धान्तों के आधार पर ही हैं। इन्होंने 'लालदासी पंथ' की स्थापना की जिसके अनुयायी गृहस्थाश्रम का पालन कर सकते हैं। कीर्तन का स्थान 'लालदासी पंथ" में बहुत ऊँचा माना गया है। इनके उपदेश इनकी बानी में संग्रहीत हैं।

बाबालाल
(सं० १७००)

बाबालाल लालादास के समकालीन थे। ये क्षत्रिय थे, और मालवा में उत्पन्न हुए थे। इनके समय में जहांगीर राज्य-सिंहासन पर था। दाराशिकोह इनका शिष्य था, जिसने इनसे अनेक धार्मिक समस्याओं पर परामर्श लिया। इसका निर्देश फारसी ग्रंथ 'नादिर-उन-नुकात' में है। यह निर्देश दाराशिकोह और बाबालाल के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में है।

बाबालाल ने अन्त में देहनपुर (सिरहिन्द) में अपने जीवन का अंतिम भाग व्यतीत किया।

हरिदास
(सं० १७००)

ये 'नारायणी पंथ' के प्रवर्त्तक थे। यद्यपि इस पंथ के ईश्वर का नाम नारायण है, तथापि इसमें ईश्वर की साकार भावना नहीं है। न तो इस पंथ में मूर्तिपूजा है और न किसी प्रकार का पूजानाचार ही। नारायणी वैरागियों का संसार से कोई संपर्क नहीं है—एकान्त निवास ही उनका नियम है।[1]

संवत् १७०० के लगभग और भी संत हुए जिनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :—

शिवरीना शिदायी, हरिराम पुरी, जदु, प्रतापमल, बिनावली (हीरामन कायस्थ के पुत्र), आजादह (ब्राह्मण) और मिहिरचन्द (सुनार)।[2]

स्वामी प्राणनाथ
(सं १७१०)

ये बुन्देलखंड के सब से बड़े और प्रभावशाली सन्त थे। इनका जन्म संवत् १७१० में हुआ था। इनके पिता खेमजी थे जो जामनगर (काठियावाड़) के निवासी थे। इन्होंने अधिकतर बुन्देलखंड ही में पर्यटन किया और धर्म की अन्धपरम्पराओं के विरुद्ध निर्भीक प्रचार किया। ये बाद में मथुरा चले गये और वहां धनी देवचन्द के शिष्य हो गए। इनकी मृत्यु संवत् १७७१ में हुई।

प्राणनाथ जी ने स्थान-स्थान में घूम कर धार्मिक मतभेद और जाति-पांति का निराकरण किया। इस दृष्टि से ये निर्गुणवाद के बहुत समीप थे। इनके मत के

---

१ दबिस्तान-ए-मजाहिब. पृष्ठ २३२.

२ इन्फ्लुएंस ऑव् इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ १९७ (डा० ताराचन्द)

दो सम्प्रदाय हैं, 'प्रनामी' और 'धामी'। जो स्वयं प्राणनाथ जी से दीक्षित हुए थे और जाति-पाँति का भेद न मान कर अंतर्जातीय विवाह करते थे, वे 'प्रनामी' सम्प्रदाय के अंतर्गत थे। जो उनके मतानुयायी होते हुए भी जाति-पाँति की व्यवस्था मानते थे, वे 'धामी' कहलाते थे। स्वामी प्राणनाथ के प्रसिद्ध ग्रंथ का नाम "कुलजम स्वरूप" है जो 'गुरु ग्रन्थ साहब' के समान सम्प्रदाय में पूज्य है। अन्य मतावलम्बियों के लिये यह ग्रंथ अलभ्य और अदृश्य है। इसमें स्वामी प्राणनाथ के सिद्धांतों का पूर्ण विवेचन है।

ये इस्लाम के सिद्धांतों से पूर्ण परिचित थे और हिन्दू और मुसलमान का भेद हटा देना चाहते थे। अपने 'कुलजम स्वरूप' से इन्होंने वेद और कुरान का निर्देश देकर सिद्ध करना चाहा है कि दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ये मूर्तिपूजा, जाति-भेद और ब्राह्मण कुल-पूज्यता को हटा देना चाहते थे।

ये पन्ना के महाराज छत्रसाल के विशेष कृपा-पात्र थे, क्योंकि इन्हीं की कृपा से महाराज छत्रसाल को एक हीरे की खान का पता मिला था।

रज्जब (सं० १६१०)

ये दादूपंथी थे। इनका 'छप्पय' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। यह छप्पय छंद में लिखा गया है। इनका आविर्भाव काल संवत् १७१० है। छप्पय ग्रंथ में दादूपंथ के सिद्धांतों का सरलता से वणन किया गया है।

सुन्दरदास (सं० १७१०)

सुन्दरदास दादूदयाल के शिष्य थे। इनका जन्म सं० १७१० में जयपुर की पहली राजधानी द्यौसा नगर में हुआ था। ये जाति के खंडेलवाल बनिया थे। बहुज्ञ और बहुश्रुत थे। हिन्दी, पंजाबी, गुजराती मारवाड़ी, संस्कृत और फारसी पर समान अधिकार रखते थे। संस्कृत के पंडित होते हुए भी ये हिन्दी में कविता लिखते थे, क्योंकि इनका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धांतों का प्रचार करना ही था। ये बहुत सुन्दर थे, इसी कारण शायद दादू ने इनका नाम 'सुन्दर' रख दिया था। ये छः वर्ष की अवस्था से ही दादू के साथ हो गए थे। जब नारायणा में दादू का देहावसान संवत् १६६० में हुआ तो ये वहाँ से चल कर डीडवाणे में रहे और वहाँ से काशी चले आए। काशी में इन्होंने बहुत विद्याध्ययन किया और साधु-महात्माओं का साहचर्य प्राप्त किया। इसके बाद ये फतहपुर शेखावाटी चले आए, यहाँ उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की और बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। इनकी मृत्यु साँगनेर (जयपुर) में संवत् १६४६ में हुई। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह पद्य प्रसिद्ध है :—

संवत् सत्रह से छीयाला, कातिक सुदि अष्टमी उजाला।
तीजे पहर भरस्पति बार, सुन्दर मिलिया सुन्दर सार।

सुन्दरदास बहुत बड़े पंडित थे। ये सन्तमत के अन्य कवियों की भाँति-साधारण और सरल कविता करने वाले नहीं थे। इनकी रचनाओं में काव्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान है। इंदव, मनहरण, हंसाल, दुमिल छंद बहुत ललित और प्रवाहयुक्त हैं। अनेक प्रकार का काव्य-कौशल इनकी कविता में रत्नराशि के समान सजा हुआ है। कहीं रस-निरूपण है तो कहीं अलंकारों की सृष्टि। ये शृङ्गार रस के बहुत विरुद्ध थे और उसे छोड़ अन्य रसों के वर्णन में इनकी प्रतिभा खूब प्रस्फुटित हुई है। इनके पर्यटन ने इनके अनुभव को और बढ़ा दिया था और इन्होंने सभी स्थानों के विषय में रचनाएँ की। इनके "दशों दिशा के सवैया" इसके प्रमाण-स्वरूप दिये जा सकते हैं।

इनके ग्रंथों में 'ज्ञान समुद्र' (पाँच उल्लासों में), 'सुन्दरविलास' (३४ अंगों में) और 'पद' (२७ राग-रागिनियों में) विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने पूर्वी भाषा बरब में भाषा का स्वाभाविक सौन्दर्य खूब प्रदर्शित किया है। संत होते हुए भी ये हास्य-रस के विशेष प्रेमी थे, जिससे इनकी वेदांत की गंभीरता मनोरंजन में परिणत हो जाती है। इन्होंने शृंगार रस के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा है। नारी की निन्दा इन्होंने जी खोल कर की है। इसके विपरीत सांख्य ज्ञान और अद्वैत वाद ज्ञान का निरूपण इन्होंने बड़े विशद रूप में किया है। आत्म-अनुभव तो इनकी निज की सम्पत्ति है।

सुन्दरदास दादूदयाल से आयु में सब से छोटे शिष्य थे, पर प्रसिद्धि में सब से बड़े। इनके शिष्यों की पाँच गद्दियाँ कही जाती हैं जो फतेहपुर और राजस्थान में हैं। इनके पाँच शिष्य प्रसिद्ध हैं:—१—टिकैतदास, २—श्यामदास, ३—दामोदरदास, ४—निर्मलदास और ५—नारायणदास।

यारी साहब (सं० १७२५)

यारी साहब बीरू साहब के शिष्य थे। ये जाति के मुसलमान थे और दिल्ली में निवास करते थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १७२५ से १७८० तक माना गया है। इनके शिष्य का नाम बुल्ला साहब था, जो भुरकुड़ा निवासी थे। इनके नाम से कोई विशेष पंथ नहीं चला। इनका प्रभाव अधिकतर दिल्ली, गाजीपुर और बलिया आदि जिलों में है।

इनकी रचना सरल और सरस है। उसमें भाषा का बहुत चलता हुआ रूप है। इनके शब्द बहुत लोकप्रिय हैं। निर्गुण ब्रह्म का निरूपण है। 'सत्गुरु' और

---

१ संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १०६

'सुन्न' पर इनकी रचानयें बहुत विस्तारपूर्वक हैं। इन्होंने 'अलिफनामा' में फारसी का ककहरा लिखा है और प्रत्येक अक्षर से ज्ञान निरूपण किया है। इनके कवित्त और झूलने भी अपनी सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने झूलनों में सूफी-मत के 'मलकूत' आदि शब्दों की व्याख्या की है। इनकी साखियों में अधिकतर "जोति सरूपा आतमा" का वर्णन है।

दरिया साहब (बिहार वाले स० १७३१)

अपने पंथ में दरिया साहब कबीर के अवतार माने जाते हैं। इनकी जन्म-तिथि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में 'दरियासागर' में दो दोहे हैं :—

भाँदों बदी चौथि वार सुक्र, गवन कियो छप लोक।
जा जन शब्द बिबेकिया, मेटेउ सकल सब सोक॥
संवत् अठारह सै सैंतीस, भाँदौं चौथि अँधार।
सवा जाम जब रैन गो, दरिया गौन विचार॥

इसके अनुसार इनका मृत्यु-संवत् १८३७ निकलता है। दरिया पंथियों का कथन है कि दरिया साहब ने १०६ वर्ष की आयु पाई।[1] यदि यह कथन सत्य माना जावे तो इनका जन्म संवत् १७३१ निश्चित होगा। इनका जन्म धरकंधा (आरा) में हुआ था और इनके पिता का नाम पीरन शाह था।

दरिया साहब ने अपने जीवन का अधिकांश धरकंधा में ही व्यतीत किया। काशी और बिहार में इन्होंने कुछ पर्यटन अवश्य किया, पर ये फिर धरकंधा चले आए। बाल्यावस्था से ही ये भक्ति और वैराग्य में लीन थे। विवाह होने पर भी इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया। ये सदैव विरक्त ही रहे।

इनके ग्रंथों की संख्या काफी बड़ी है। इनमें दो ग्रंथ प्रधान हैं, 'दरियासागर' और 'ज्ञान दीपक'। 'ज्ञान दीपक' में तो इन्होंने अपना जीवन वृत्तान्त ही लिखा है। 'दरिया सागर' की शैली बहुत कुछ 'मानस' की शैली के समान है। उसमें दोहे, चौपाई और स्थान-स्थान पर हरिगीतका छंद हैं। समस्त ग्रंथ में निर्गुण ब्रह्म ही का निरूपण किया गया है। अपने स्फुट शब्दों में इन्होंने बसंत, होली और भारती इत्यादि का वर्णन खूब किया है। इन्होंने अष्टपदी—रेखतों की भी रचना की है। इनकी भाषा बहुत साधरण है। शब्दों के रूप भी विकृत किये गए हैं, जैसे घोड़ा का घोड़ला[2], विवेक का बीबेक[3] आदि।

---

१ दरियासागर (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद), पृष्ठ ७५

२ दरिया साहब के चुने हुए पद कौर साखी, पृष्ठ ११

३ दरियासाहब के चुने हुए पद और साखी पृष्ठ १५

दरिया साहब ने अपना पंथ अलग चलाया जो 'दरिया पंथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस पंथ में प्रवेश करने का विशेष नाम 'तख्त बैठना' है। इस पंथ की चार गद्दियाँ प्रसिद्ध हैं जो तेलपा, दैसी, मिर्जापुर (छपरा) और मनुवाँ चौकी (मुजफ्फरपुर) में हैं। दरियासाहब के ३६ शिष्य थे जिनमें प्रधान थे दलदास जी। दरियापंथी अधिकतर बिहार, गोरखपुर और कटक में पाये जाते हैं।

दरिया साहब (मारवाड़ वाले सं० १७३३)

ये जैतारन (मारवाड़) के निवासी और जाति के धुनियाँ थे।[1] इनका जन्म संवत् १७३३ में हुआ था। इनके गुरु का नाम प्रेम जी था। सात वर्ष की अवस्था में इनके पिता की मृत्यु होने पर ये रैन नामक गाँव में चले आए। इनके समकालीन मारवाड़ के राजा बख्तसिंह थे जो एक असाध्य रोग से पीड़ित थे। दरिया साहब की कृपा से वे शीघ्र ही अच्छे हो गए। उस समय से दरिया साहब की बहुत प्रसिद्धि हो गई।

मारवाड़ में दरियापंथी बहुत संख्या में हैं। ये दरियापंथी बिहार के दरिया साहब के पंथ के अनुयायियों से बहुत भिन्न हैं। मारवाड़ वाले दरिया साहब ने अधिकतर साखियाँ लिखी हैं। इन्होंने अपने शब्दों में कबीर की उलटवाँसियों का अनुसरण किया है। इन्होंने अपने आराध्य को 'राम' के नाम से पुकारा है, यद्यपि वह 'राम' आदि और निराकार ब्रह्म है। इनकी बानी में विरह का भी यथेष्ट अंग है। इनके शब्द रागों से सम्बद्ध हैं। ज्ञात होता है, कविता के क्षेत्र में ये कबीर को ही अपना गुरु मानते थे।

बुल्ला साहब (सं० १७५०)

ये यारी साहब के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १७५० और १८२५ के बीच में माना गया है। इनका वास्तविक नाम बुलाकीराम था और ये जाति के कुनबी थे। पहले ये गुलाल साहब के यहाँ नौकर थे, पर इन की भगवद्भक्ति देख कर गुलाल साहब स्वयं इनके शिष्य हो गए। ये भुरकुड़ा (गाजीपुर) के निवासी थे और अन्त समय तक वहीं रहे। इनकी गुरु परम्परा इस प्रकार है :—

---

१ जो धुनियाँ तो भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मति हीना,
तुम भी हो सिरताज हमारा॥

दरिया साहब की बानी, पृष्ठ ५७

इनकी भाषा पूरबी है। आजु भयल अवधूता, गगन-मंडल में हरिरस चाखल, आदि प्रयोग इनकी रचना में बहुत पाये जाते हैं। इन्होंने वसंत, होली, आरती, हिंडोला आदि बहुत लिखे हैं। रेखता और झूलना भी इन्हें विशेष प्रिय हैं। इनके अधिकांश शब्दों में 'सुरत' और 'दसम द्वार' का वर्णन है। हठयोग में इनकी विशेष आस्था है। प्राणायाम के सहारे ये ध्यान के पक्ष में हैं। इनके शेष पदों में चेतावनी और उपदेश हैं। इन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों का निर्देश किया है:—

> खेले नाभा और कबीर, खेले नानक बड़े धीर।
> दसम द्वार पर दरस होय, जन बुल्ला देखे आयु सोय॥[2]

गुलाल साहब (सं० १७५०)

गुलाल साहब का वास्तविक नाम गोविन्द साहब था। ये बुल्ला साहब के शिष्य थे। बुल्ला साहब पहले गुलाल साहब के नौकर थे। बाद में अपने नौकर की भगवद्भक्ति देख कर गुलाल साहब उनके शिष्य हो गए। गुलाल साहब क्षत्रिय थे और इनका आविर्भाव-काल सं० १७५० से १८०० तक माना जाता है। गुलाल साहब बसहरि (गाजीपुर) में जमींदार थे। इन्होंने गृहस्थाश्रम में रहते हुए अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इनकी गद्दी भुरकुड़ा गांव में ही थी, जो बसहरि के अन्तर्गत है। शिष्य-परम्परा में भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य माने गए हैं। गुलाल साहब के शब्द प्रसिद्ध हैं। इन्होंने प्रेम पर बड़ी सरस रचनाएँ की हैं। यह प्रेम कबीर के रहस्यवाद का ही प्रेम है। इनकी भाषा पर पूर्वीपन की छाप है:—

---

१ बुल्ला साहब का शब्दसार (जीवन-चरित्र), पृष्ठ १

२ बुल्ला साहब का शब्दसार (जीवन-चरित्र) पृष्ठ १८

सुन्न सिखर चढ़ि जाइब ही,[१]
करल लिलरवा पपवा भागल हो सजनी[२]
अविगत जागत हो सजनी[३]

इन्होंने 'बाहरमासा' और हिंडोला' भी लिखे हैं, जिनमें निराकार ब्रह्म का वर्णन है। इनके 'होली' और 'बसन्त' में आध्यात्मिक शृंगार की बड़ी मनोहर छटा है। इनके 'रेखते', 'मंगल' और 'आरती में कबीर का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

केशवदास
(सं० १७५०)

इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ विशेष विवरण नहीं मिलता। ये जाति के बनिये और यारी साहब के शिष्य और बुल्ला साहब के गुरुभाई थे। यारी साहब का काल संवत् १७२५ से १७८० तक[४] माना गया है और बुल्ला साहब का सं० १७५० से १८२५ तक।[५] इन तिथियों के अनुसार केशवदास का समय संवत् १७५० के आस-पास ही मानना चाहिए। इनका एक ही ग्रन्थ प्राप्त हुआ है, उसका नाम 'अमीघूँट'। 'अमीघूँट' की भाषा कहीं मारवड़ी और कहीं पूर्वी हिन्दी के प्रभाव से प्रभावित है।

पिय थारे रूप लुभानी हो। म्हारे हरि जू सूँ जुरलि सगाई हो। आदि

इनके फुटकर शब्द बड़े प्रभावशाली हैं। उनके रेखते फारसी शब्दों से पूर्ण हैं। ज्ञात होता है, केशवदास अपनी भाषा के प्रयोग में बड़े स्वतन्त्र थे। भावों में 'सुन्न', 'गगन' और 'पाँच-पच्चीस' ही का उल्लेख अधिक है।

चरनदास
(सं० १७६०)

ये सत देहरा (अलवर) के निवासी थे। इनके पिता का नाम मुरली था जो धूसर बनिया थे। ये गृहस्थ थे और इनके शिष्यों में दयाबाई और सहजोबाई का नाम प्रसिद्ध है। इनका जन्म संवत् १७६० में हुआ। सहजोबाई ने भी इनका यही जन्म-संवत् माना है। इनके चार ग्रंथ प्रसिद्ध हैं।—'अमरलोक', 'अखंड धाम', 'भक्ति पदारथ', 'ज्ञान सरोदय' और 'शब्द'। इनकी रचना साधारण है, पर योग सिद्धान्त उत्तम प्रकार के वर्णित है। इन्होंने भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्य, शील आदि, सद्‌गुणों का विशेष वर्णन किया है तथा विविध विषयों पर भक्तिपूर्ण उपदेश दिए

---

१ गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ ४१
२ गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ २६
३ गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ २६
४ यारी साहब की रत्नावली (जीवन-चरित्र), पृष्ठ १
५ बुल्लासाहब का शब्द सागर (जीवन-चरित्र), पृष्ठ १.

हैं। इनकी विचार-धारा कबीर के सिद्धान्तों के आधार पर ही है। गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा माना गया है। चरणदास ने मूर्तिपूजा का भी तिरस्कार किया है। इनका वास्तविक नाम रणजीत था। बाल्यावस्था ही में इन्होंने सुखदेव नामक साधु से दीक्षा लेकर अपना नाम चरणदास रख लिया था। संत-साहित्य में चरणदास जी का विशेष स्थान है।

बालकृष्ण नायक
(सं० १७६५)

इनका आविर्भाव-काल सं० १७६५ माना जाता है। ये चरणदास के शिष्य थे। इन्होंने अनेक पुस्तकों की रचना की। 'ध्यान-मंजरी' और 'नेह प्रकाशिका' मुख्य हैं। रचना सरस और प्रौढ़ है। 'ध्यानमंजरी' में श्री सीताराम की युगल मूर्ति की शोभा और ध्यान संक्षेप में है और 'नेह प्रकाशिका' में श्री सीता जी का अपनी सखियों के साथ विहार करना वर्णित है। यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि निर्गुण पंथ की परम्परा में होकर बालकृष्ण ने विष्णु के साकार रूप की उपासना की।

श्री अक्षर अनन्य
(संवत् १७६७)

ये जाति के श्रीवास्तवा कायस्थ थे और दतिया के निवासी थे। ये महाराज छात्रपाल के समकालीन दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। एक बार ये रुष्ट हो गए और दरबार से चले गए। राजा साहब उन्हें मनाने के लिए गए। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि अक्षर जी पैर पसारे हुए है। राजा साहब ने कहा—"पाँव पसारा कब से ?" अक्षर जी ने उत्तर दिया "हाथ समेटा जब से" अर्थात् जब से संसार से वैराग्य लिया। महाराज पन्ना ने भी इन्हें आमंत्रित किया, पर ये नहीं गए।

ये वेदान्त के ज्ञाता थे और इन्होंने 'दुर्गा सप्तशती का अनुवाद हिन्दी' कविता में किया। इनके निम्नलिखित ग्रंथ प्रसिद्ध हैं :—

'राजा योग', 'विज्ञान योग', 'ध्यान योग', 'सिद्धान्त बोध' 'विवेक दीपिका', 'ब्रह्मज्ञान' और 'अनन्य प्रकाश'। इन्होंने पद्धरि छंद का विशेष प्रयोग किया है और साधन के दृष्टिकोण से राजयोग का विशद वर्णन किया है।

भीखा साहब
(सं० १७७०)

भीखा साहब गुलाल साहब के शिष्य थे। जाति के ब्राह्मण थे। इनका वास्तविक नाम भीखानन्द था। इनका जन्म सं० १७७० में माना जाता है। ये आजमगढ़ के खनपुर बोहना नामक स्थान पर पैदा हुए।

बाल्वावस्था से ही ये सरल और धार्मिक प्रवृत्ति के थे। अतः ये बारह

वर्ष की अवस्था ही में गुरु की खोज में निकल पड़े और इन्होंने गुलाल साहब को गुरु मान कर भुरकुड़ा में उनसे दीक्षा प्राप्त की। अपने गुरु के सम्बन्ध में ये स्वयं लिखते हैं :—

इक ध्रुपद बहुत विचित्र सूनत भोग पूछेउ है कहाँ।
नियरे भुरकुड़ा ग्राम जाके सब्द आये है तहाँ॥
चोप लागी बहुत जायके चरन पर सिर नाइया।
पूछेउ कहा कहि दियो आदर सहित मोहि बैसाइया॥
गुरु भाव बूझि मगन भयो मानौ जन्म को फल पाइया।
लखि प्रीति दरद दयाल दरवें आपनो अपनाइया॥ [1]

भीखा साहब बारह वर्ष तक अपने गुरु गुलाल साहब के पास रहे। उनकी मृत्यु के बाद ये स्वयं गद्दी के उत्तराधिकारी हुए और उपदेश देते रहे। इनके अनेक ग्रन्थों में 'राम जहाज' नामक ग्रंथ बहुत बड़ा है और उसमें इनके सभी सिद्धान्तों का निरूपण है। इनके विषय में अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें भीखा साहब के महत्त्व की ही घोषणा होती है।

भीखा साहब के पंथ के अनुयायी अधिकतर बलिया जिले में है। इनका उपदेश-स्थान भुरकुड़ा तो भीखा-पंथियों का तीर्थ ही है। इनकी मृत्यु लगभग पचास वर्ष की अवस्था (संवत् १८२०) में हुई।

इन्होंने ईश्वर को 'राम' और 'हरि' नाम से अधिकतर पुकारा है। पर 'अनहद नाद गगन घहरानों' की ध्वनि ही इनकी रचना में गूँजती है। गुरु और नाम-महिमा पर भी इन्होंने बहुत लिखा है। इन्होंने भी होली, बसन्त आदि पर रचना की है। इनके कवित्त और रेखतों में पाप और पुण्य की अच्छी विवेचना की गई है। इन्होंने कुछ कुंडलियाँ भी लिखी है और अलिफ़नामा और ककहरा दोनों ही में अपना ज्ञान निरूपित किया है। इनकी रचनाओं में उपदेश का स्थान अधिक है।

गरीबदास (सं० १७७४)

इन्होंने छुड़ानी (रोहतक) में संवत् १७७४ में जन्म लिया। ये जाति के जाट थे और प्रारम्भ से ही भक्त थे। आगे चल कर ये एक नवीन पंथ के प्रवर्त्तक हुए और जीवन भर गृहस्थ रह कर अपने सिद्धान्तों का उपदेश करते रहे। ये चरनदास के समकालीन थे। इनकी रचना सत्तरह हज़ार पद्यों में कही जाती है जिसमें से केवल एक चतुर्थांश ही मिली है। ये कबीर के बड़े भक्त थे। इन्होंने अपनी 'बानी' में कबीर के जीवन पर भी प्रकाश डाला है। इनके सम्बन्ध में अनेक अलौकिक कथाएँ कही जाती हैं।

---

१ भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १७

गरीबदास ने अपने पूर्ववर्ती भक्तों का परिचय इस प्रकार दिया है :—

दो कौड़ी का जीव था सेना जात गुलाम। भग्ति हेतु गृह आइया धरा सरूप हजाम॥
पीपा का परचा हुआ मिले भक्त भगवान। सीता मग जोवत रही द्वारावती निधान॥
धना भगत की धुन लगी बीज दिया जिन्ह आन। सूख खेत हुआ कंकर बोये जान॥
रैदास रगीला रंग है दिये जनेऊ तोड़। जग्य ज्योनार चोले धरे इक रैदास इक गौड़॥
मांझी, मरद कबीर है जगत करै उपहास। केसो बनजारा भया, भगत बड़ाई दास॥[1]
निश्चय ही से देवल फेरा पूजो क्यों न पहारा। नामदेव दरवाजे बैठा पंडित के पिछवारा॥[2]
नरसौं की तो हुंडी झाली कागज सीस चढ़ाया। ध्योती का तो ब्याह भया जब भात भरन कूँ आया॥
तिरलोचन के भये बिरतिया ऐसी भक्ति कमाई। संतों के तो नाल फिरे अरु तीन लोक ठकुराई॥[3]

गरीब दास ने अनेक प्रकार की रचनाएँ की जिनमें साखी, सवैया, रेखता, झूलना, अरिल, बैत, रमैनी, आरती और अनेक प्रकार के राग हैं। कबीर की रचना की भाँति गरीबदास की रचना भी बहुमुखी है। भाषा के सम्बन्ध में इन्होंने बड़ी स्वतंत्रता ली है। फारसी और अरबी के शब्द स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। अध्यात्मवाद की दृष्टि से गरीबदास की कविता कबीर की कविता से बहुत साम्य रखती है। स्मरण और गुरुदेव के लिए गरीबदास की कविता में बहुत जोर दिया गया है।

गरीबदासी पंथ के बहुत से अनुयायी हैं जो पंजाब में रहते हैं। आज भी छुड़ानी (रोहतक) में फाल्गुन मास में गरीबदासियों का मेला लगता है।[4]

जगजीवनदास (सं० १७७५)

इनका जन्म संवत् १७३९ में सारदाह (बाराबंकी) में हुआ था। ये जाति के चंदेल ठाकुर थे। इन्होंने अपने जीवन का विशेष भाग कोटवा (बाराबंकी और लखनऊ के मध्य में) व्यतीत किया था। ये कबीर से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। इन्होंने जाति-बन्धन को दूर करने के लिए भी भिन्न-भिन्न जातियों से शिष्य चुने थे। इनके शिष्यों में दो मुसलमान भी कहे जाते हैं। इन्होंने सतनामियों में पुनः जागृति उत्पन्न की। जो सतनामी पंथ के अनुयायी औरंगजेब के भय से तितर-बितर हो गए थे उनका संगठन पुनः जगजीवनदास ने किया।[5] इनका आविर्भाव काल सं० १७७५ माना जा सकता है।

जगजीवनदास के तीन प्रधान ग्रंथ हैं—'ज्ञानप्रकाश', 'महाप्रलय' और 'प्रथम ग्रंथ'। इनके अनुसार निर्गुण ब्रह्म की उपासाना ही एकमात्र धर्म है। गुरु की

---

१ गरीबदास जी की बानी, पृष्ठ ३२

२ गरीबदास जी की बानी पृष्ठ ७८

३ गरीबदास जी की बानी पृष्ठ ८०-८१

४ गरीबदास जी की बानी (जीवन-चरित), पृष्ठ २

५ एन्साइक्लोपीडिया ऑव् रेलीजन एंड एथिक्स, भाग ११ (सतनामी)—ग्रियर्सन

सहायता से मुक्ति प्राप्त करना जीव की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अहिंसा और सत्य साधु की पहली विशे ता है। आत्म-समर्पण और वैराग्य से ही संसार के बन्धन तोड़े जा सकते हैं।

मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका आविर्भाव काल सं० १८१८ है। जान टामस भी इसी तिथि का अनुमोदन करते हैं। सतनामी पंथवालों के अनुसार इनका जन्म संवत् १७२७ में और मृत्यु संवत् १८१७ में मानी जाती है।

भीखा पंथ वाले इन्हें गुलाल साहब का शिष्य मानते हैं, पर सतनामी पंथ वाले इनके गुरु का नाम विश्वेश्वरपुरी कहते हैं, जिनका सम्बन्ध किसी प्रकार भी गुलाल साहब की शिष्य-परम्परा से नहीं है। जगजीवनदास के शिष्यों में जलालीदास, दूलनदास और देवी दास मुख्य हैं। जगजीवन दास के अनुयायी बायें हाथ में काला और दाहिने हाथ में सफेद धागा पहनते हैं। कहा जाता है कि बुल्ला साहब और गोविन्द साहब ने इन्हें काले और सफेद धागों से दीक्षा दी थी।

कोटवा में अब भी जगजीवनदास की समाधि है, जहाँ प्रतिवर्ष बहुत बड़ा मेला लगा करता है।

रामचरण (सं० १७७५)

रामचरण रामसनेही मत के संस्थापक थे। इनका जन्म सं० १७१८ में सूरसेन (जयपुर) में हुआ था। ये पहले रामोपासक थे, बाद में मूर्तिपूजा के घोर विरोधी हो गए।

रामसनेही मत मुसलमानी मत से बहुत कुछ मिलता है। उसमें मूर्तिपूजा के लिए स्थान नहीं है। दिन में नमाज की तरह पाँच बार निराकार ईश्वर की आराधना होती है। उसमें जाति-बन्धन भी नहीं है। रामसनेही मत में सदाचार उच्च कोटि का है।

दूलनदास (लगभग सं० १७८०)

इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमानतः ये विक्रम की अट्ठारहवीं शताब्दी के पिछले भाग में थे। इनका जन्म समैसी (लखनऊ) में हुआ था ये जमींदार के पुत्र थे और इन्होंने विरक्त होते हुए भी जीवन-पर्यन्त अपने काम को सँभाला। इनके जीवन का अधिक भाग कोटवा और धर्मे गांव (रायबरेली) में व्यतीत हुआ। धर्मे गांव तो उन्हीं का बसाया हुआ था।

दूलनदास की चौदह गद्दियां प्रसिद्ध हैं। ये बड़े भारी सन्त थे। इनके विषय में भी अनेक अलौकिक कथाएँ प्रसिद्ध हैं, जो इतिहास की कसौटी पर नहीं

१ दूलनदास जी की बानी, पृष्ठ १

कसी जा सकतीं। दूलनदास गृहस्थ थे और इनकी गद्दी में भी गृहस्थों के लिये स्थान है। ये संत मत के होते हुये भी श्रीकृष्ण में विश्वास रखते थे। ये स्वयं लिखते हैं :—

दीनदयाल सरन की लज्या छत्र गोवर्धन ताना।

इनके प्रेम का अंग विशेष भावपूर्ण है।

स्वामी नारायणसिंह (सं० १७८१)

स्वामी नारायणसिंह ने शिवनारायणी मत की स्थापना की। ये चन्द्रवर (रसरा, बलिया) के निवासी और जाति के नरौनी राजपूत थे। मुगल शासक मुहम्मद शाह ने इन्हीं की शिष्यता ग्रहण की थी और शाह की संरक्षिता के कारण, शिवनारायणी मत का बहुत प्रचार हो गया था।[1]

शिवनारायणी मत में परब्रह्म की उपासना है, जो निराकार है। उसमें कोई जाति-बन्धन नहीं है। किसी भी जाति का भक्त शिवनारायणी मत का अनुयायी हो सकता है।

दयाबाई और सहजोबाई (सं० १८००)

इन दोनों का आविर्भाव काल सं० १८०० है। ये चरनदास की शिष्याएँ और मेवात (राजस्थान) की निवासिनी थीं। ये जाति की वैश्य थीं और गृहस्थाश्रम ही में जीवन की मुक्ति मानती थीं। इन्होंने अधिकतर साखियाँ ही लिखी हैं जिनमें गुरुदेव की बहुत प्रार्थना है। दोनों आपस में "संसारी और परमार्थी थी"।[2] मिश्र-बन्धु के अनुसार सहजो बाई हरप्रसाद धूसर की दूसरी पुत्री थीं और सन् १७६० (संवत् १८१७) में हुईं। सहजोबाई ने अपने गुरु चरनदास का जन्म संवत् १७६० माना है। अतः अपने गुरु से छोटी अवस्था होने के कारण इनका जन्म संवत् १७६० के बाद ही मानना उचित होगा। इन दोनों की भाषा ब्रजभाषा ही थी।[3] सहजोबाई की कविता में प्रेम और भक्ति की बड़ी सरस भावनाएँ हैं। इन्होंने गुरु का स्थान गोविन्द से भी ऊँचा माना है। बिना गुरु के जीव का इस संसार से निस्तार नहीं हो सकता। इनकी रचनाएँ हृदय-स्पर्शी हैं।

दयाबाई उसी गाँव डेरा (मेवात) में पैदा हुई थीं जिसमें चरनदास ने जन्म लिया था। इन्होंने सहजोबाई के साथ चरनदास की बहुत सेवा की। संवत् १८१८

---

१. शिवनारायणी (ग्रियर्सन) जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१८, पृष्ठ ११४।

२. संतबानी संग्रह भाग १, पृष्ठ १५४.

३. सेलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिट्रेचर, भाग चार, पृष्ठ ३१०

(लाला सीताराम बी. ए.)

में इन्होंने अपने ग्रंथ 'दयाबोध' की रचना की । इनका एक ग्रंथ और कहा जाता है। उसका नाम है 'विनय मालिका', पर ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ चरनदास के पंथ के अनुयायी किन्हीं दयादास का बनाया हुआ है। बेलवेडियर प्रेस ने तो उसे दयाबाई कृत ही मान कर प्रकाशित किया है। 'दयाबोध' की रचना बहुत सरस है। उसमें गुरु के प्रति अगाध प्रेम छलकता है।

रामरूप (सं० १८०७)

ये प्रसिद्ध चरणदास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल संवत् १८०७ है। इनका एक ही ग्रंथ प्रसिद्ध है। वह है 'बारहमासा' जिसमें इन्होंने भक्ति और ईश्वर-प्रेम का निरूपण किया है। रचना साधारण है।

सहजानन्द (सं० १८३७)

स्वामी सहजानन्द स्वामीनारायणी पंथ के प्रवर्त्तक थे। इनका जन्म सं० १८३७ में अयोध्या में हुआ था। इन्होंने एकेश्वर ब्रह्म की उपासना पर जोर दिया। उस ब्रह्म का नाम कृष्ण या नारायण रक्खा। ये अपने को उसी कृष्ण या नारायण का अवतार मानते थे।

ये अहिंसा के बहुत बड़े समर्थक और मांसाहार, निन्दा आदि पापों के घोर विरोधी थे। इन्होंने जाति की व्यवस्था किसी प्रकार भी नहीं मानी। इसी तरह इन्होंने मूर्तिपूजा का भी तिरस्कार किया।

स्वामीनारायणी पंथ के अनुयायी आजन्म ब्रह्मचारी रहते हैं। ये अहिंसात्मक असहयोग में विश्वास करते हैं। इसी कारण जब मराठा पेशवाओं ने इन पर सख्ती की तो इन्होंने शान्तिपूर्वक मृत्यु स्वीकार की। फर्कंहार का मत है कि सहजानन्द ने वल्लभ सम्प्रदाय के अनाचार की प्रतिक्रिया के रूप में अपने पंथ की स्थापना की जिसमें राधा और कृष्ण दोनों मान्य हैं।[१] पर सहजानन्द की कविता में जिस ईश्वर का रूप मिलता है वह निर्गुण है, सगुण नहीं। इस पंथ का साहित्य अधिकतर गुजराती में है।

तुलसी साहब (हाथरस वाले सं० १८४५)

इनका जन्म सं० १८४५ में माना जाता है। ये ब्राह्मण थे और बाल्यावस्था से ही भक्ति-भावना में लीन थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन हाथरस (अलीगढ़) में ही व्यतीत किया और वहीं अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

---

१ ऐन आउटलाइन ऑव् दि रेलिजस हिस्ट्री ऑव् इंडिया, पृष्ठ ३१८ (जे० एन० फर्कंहार)

ये बड़े विद्वान् थे और प्रत्येक विषय का शास्त्रीय विवेचन करते थे। इन्होंने "घट-रामायण', 'शब्दावली' और 'रत्नसागर' नामक तीन प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की। ये अपने को तुलसी (रामचरित मानसकार) का अवतार मानते थे । इन्होंने निर्गुण ईश्वर की व्याख्या बड़े शास्त्रीय ढंग से की। 'रत्नसागर' में तो इनका व्यावहारिक और अनुभवपूर्ण ज्ञान स्थान-स्थान पर लक्षित होता है । इन्होंने आकाश की उत्पत्ति, रचना का भेद, जन्म-मरण की पीड़ा, कर्म-फल आदि की विवेचना बड़े गंभीर रूप में की है। इन तथ्यों को समझाने के लिए इन्होने पौराणिक और काल्पनिक कथाओं को भी बीच-बीच में सम्बद्ध कर दिया है। इन्होंने दोहा, चौपाई और हरिगीतिका छंद में ही अधिकतर रचना की है। भाषा साधारण है। इन्होंने जिस पंथ का प्रचार किया वह 'आवापंथ' के नाम से प्रसिद्ध है।

पलटूदास
(सं० १८५०)

इनके जीवन की तिथि निश्चत रूप से नहीं कही जा सकती । ये अवध के नवाब शुजाउद्दौला और दिल्ली के शाहंशाह शाहआलम के समकालीन थे । अतः ये विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में फैजाबाद के मौजा नगपुर-जलालपुर में पैदा हुए। ये जाति के बनिया थे और इनके गुरु गोविन्द जी थे, जो भीखासाहब के शिष्य थे । इनके जीवन का अधिक भाग अयोध्या ही में व्यतीत हुआ ।

कहा जाता है कि इनके विचारों की स्वतंत्रता ने इनके कई शत्रु पैदा कर दिये थे, जिनमें अयोध्या के वैरागी भी थे । वैरागियों ने इन्हे जीवित ही जला दिया था। कहते हैं कि ये जगन्नाथ में पुनः प्रकट हुए थे। बाद में सदैव के लिए अन्तर्धान हो गये । इनका भी एक पंथ चला, जिसके अनुयायी अधिकतर अयोध्या में रहते हैं।

इनके विचार अधिकतर कबीर के सिद्धांतों पर ही लिखे गये हैं। हिन्दू और मुसलमान के बीच ये कोई विभाजक रेखा नहीं खींचना चाहते थे । इन्होंने सूफीमत से अपनी पूरी जानकारी प्रकट की है। नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत आदि का वर्णन इन्होंने अनेक बार किया है ।

गाजीदास
(सं० १८७७)

ये मध्यप्रदेशान्तर्गत छत्तीसगढ़ निवासी चमार थे। इनका आविर्भाव काल सं० १८७७ से सं० १८८७ माना जाता है । इन्होंने सतनामी पंथ के सिद्धान्तों का ही प्राचार किया, यद्यपि जगजीवनदास के प्रभाव को इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इन्होंने निराकार एकेश्वरवाद की प्रधानता मानी और मांसाहार और मूर्तिपूजा का विरोध किया। गाजीदास का पंथ अधिकतर चमारों तक ही सीमित रहा ।

संतमत के अनेक कवियों पर विचार करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि उन्होंने यद्यपि मूर्तिपूजा और साकार ब्रह्म की अवहेलना की, तथापि वे हिन्दू जनता के हृदय से पूजन की प्रवृत्ति नहीं हटा सके। किसी सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा के स्थान पर गुरु-पजा अथवा ग्रन्थ-पूजा है। संतमत में यही सबसे बड़ी कमी रही। संत-काव्य साकार ब्रह्म अथवा मूर्ति के स्थान पर कोई भी ऐसी वस्तु नहीं दे सका जिसका आश्रय लेकर जनता की भक्ति-भावना की संतुष्टि हो सकती। इसीलिए मूर्ति के स्थान पर उन्होंने अपने पंथ के ग्रन्थ को ही मूर्तिवत मान लिया। दूसरी बात यह थी कि सन्त काव्य किसी उत्कृष्ट तर्क और न्याय पर निर्भर नहीं था। इसीलिए इसके अनुयायी अधिकतर साधारण कोटि के मनुष्य ही थे। इसका प्रचार प्रधानतः नीच अथवा अछूत जातियों में ही हुआ। जहाँ एक ओर सन्त काव्य द्वारा धार्मिक भावना की जागृति बनी रही, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा धार्मिक क्षेत्र में विशेष ज्ञान की वृद्धि नही हुई।

सन्त काव्य के आधार पर जितने प्रधान पंथ धार्मिक क्षेत्र में प्रगति पा सके, उनका निरूपण इस प्रकार है :—

पंथ	तिथि	केन्द्र	प्रवर्त्तक
१ कबीर पंथ	सं० १५००	बनारस	कबीर
२ सिख	सं० १५५७	पंजाब	नानक
३ मलूकदासी	सं० १६५०	कड़ा मानिकपुर	मलूकदास
४ दादूपंथी	सं० १६८०	राजस्थान	दादू
५ सतनामी या साध	सं० १६८०	नरनोल (दिल्ली के दक्षिण में)	वीरभान, जगजीवनदास, दूलनदास
६ लालदासी	सं० १७००	अलवर	लालदास
७ बाबालाली	सं० १७००	देहनपुर (सरहिंद)	बाबालाल
८ नारायणी ंथ	सं० १७००	...	हरिदास
९ प्रणामी वधामी	सं० १७१०	राजस्थान	स्वामी प्राणनाथ
१० दरियापंथी (अ)	सं० १७६०	धरकंधा (बिहार)	दरियासाहब (बिहारवाले)
११ दरियापंथी (आ)	सं० १७६०	मारवाड़	दरियासहब (मारवाड़ वाले)
१२ दूलनदासी	सं० १७८०	धर्मेगाँव (रायबरेली)	दूलनदास
१३ शिवनारायणी	सं० १७८१	चंद्रवर (बलिया)	स्वामी नारायण

वर्णन भी है तो ध्वंसात्मक रूप म। अधिकतर आध्यात्मिक अंग पर ही सारा काव्य अवलम्बित है। उसी पर यहाँ प्रकाश डालना अभीष्ट है, शेष बातें तो स्पष्ट ही हैं।

कुछ तो मुसलमान सूफियों और राजाओं का असर और कुछ तत्कालीन वायुमंडल का प्रभाव और कुछ धार्मिक परम्परा ने संतों के हृदय में निराकार भावना की सृष्टि कर दी; पर वे भक्त थे, इसलिये यह निराकार भावना बहुत कुछ परिष्कृत हो गई। उन्होंने अपनी उपासना का लक्ष्य साकार और निराकार दोनों के परे माना है।[१] इतना सब होने पर भी उन्होंने अपने ईश्वर को उन्हीं नामों से पुकारा है, जिन नामों से साकार उपासना वाले अपने आराध्य को पुकारते हैं। उनके पास भी राम, गोविन्द, हरि आदि नाम हैं, पर एक बात ध्यान में रखने योग्य है। निराकार भगवान से सम्बन्ध जोड़ने में उपासना ही प्रधान साधन है। इसमें प्रेम के स्थान में श्रद्धा और भय अधिक रहता है। यम-नियम की बड़ी कठोर साधना है; पर संतों में भक्ति का विशेष स्थान है, उपासना का कम। वे अपने ईश्वर से प्रेम अधिक करते हैं।[२] वे अपने ईश्वर के लिये उसकी पतिव्रता स्त्री बन कर संसार को एक लम्बी विरह की रात्रि समझते हैं। उनका प्रेम "छिनहिं चढ़ैं छिन ऊतरैं" नहीं, वे "अघट प्रेम पिंजर बसै' के पोषक हैं। उसी प्रेम से उन्होंने कहा था—आ मेरे देव, मेरी आँखों में आ जा, तुझे अपनी आँखों में बन्द कर लूँ। न मैं किसी और को देखूँगा और न तुझे किसी और को देखने ही दूँगा।

ऐसी स्थिति में निराकार भावना का रूप स्पष्टता पाकर कुछ-कुछ साकार का आभास देने लगता है। निरकार तभी शुद्ध रह सकता है, जब तक उसमें उपासना का भाव अविच्छिन्न रूप से वर्तमान रहता है। उसमें श्रद्धा और भय की निस्पृह और नियंत्रण करने वाली शक्तियाँ छिपी रहती हैं। जब उसमें भक्ति की कोमल भावना आ जाती है, प्रम की प्रबल प्रवृत्ति समुद्र की भाँति विस्तृत रूप रख कर उठ खड़ी होती है तो निराकार का भाव बहुत कुछ विकृत हो जाता है। उस भाव में व्यक्तित्व का आभास होने लगता है। ईश्वर को हृदय फाड़ कर दिखा देने की इच्छा होती है। उसमें अपनापन आ जाता है। वह ईश्वर प्रेम की प्रतिमूर्ति ही बन कर सामने आ जाता है। ऐसी स्थिति में निरकार ईश्वर अपने को केवल विश्व का नियंता न रख कर भक्तों के सुख-दुख में समान भाग लेने वाला दृष्टिगोचर होने लगता है। इस भावना का प्रचार संत मत में बड़े वेग से हुआ। उसका कारण केवल यही था

१ निर्गुण की सेवा करो सगुण को धरो ध्यान। निर्गुण सगुण से परे, तहाँ हमारो ध्यान ॥

२ नैना अन्तर आव तूँ, नैन झाँप तोहि लेऊँ। ना मैं देखों और को ना तोहि देखन देउँ ॥

—कबीर

कि कबीर ने इसी भाव का अवलम्ब लिया था। वे निराकार ईश्वर की उपासना न कर सके। उन्होंने अपने तन-मन से उसकी भक्ति की। उनके लिये भक्ति ही मुक्ति की नसेनी थी।[1] कबीर ने यही भूल की थी, जिस भूल का परिणाम संत मत में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर हुआ। यदि उन्हें निराकार भावना से ईश्वर के प्रति अपना सम्बन्ध प्रकट करना था तो भक्ति और प्रेम से न करते। यदि वे भक्ति और प्रेम को नहीं छोड़ सकते थे तो उन्हें भगवान की साकार भावना से अपने विचारों का प्रचार करना था। न तो व निराकार की ठीक उपासना कर सके और न साकार की पूरी भक्ति ही। इस मिश्रण ने यद्यपि उनके विचारों को प्रचार पाने का अवसर दे दिया; पर ईश्वर-भावना का रूप बहुत अस्पष्ट रह गया। न हम उसे निराकार एकेश्वर की उपासना ही कह सकते हैं और न साकार ईश्वर की भक्ति ही। इसका एक कारण हो सकता है।

संत मत के प्रधान प्रवर्त्तक कबीर थे। वे बड़े ऊँचे रहस्यवादी थे। उन पर मुसलमानी संस्कारों का प्रभाव भी पड़ा था और इसलिये कि वे जुलाहे के घर में पोषित हुए थे, उनका मिलाप भी अनेक सूफियों से हुआ था। उन्होंने सूफी संतों के विषय में अपने बीजक की ४८ वीं रमैनी में भी लिखा है। ऐसी स्थिति में उन्होंने 'अनलहक' का अवश्य अनुभव किया था। इस सूफीमत में "इश्क हकीकी" का प्रधान स्थान है। बिना प्रेम के ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक भक्त के मन में प्रेम का विचार न होगा तब तक वह ईश्वर के मिलने के लिये किस प्रकार अग्रसर होगा? रहस्यवाद तो आत्मा ही की एक प्रवृत्ति है, जिसमें वह प्रेम के वशीभूत होकर अपनी सारी भावनाओं को अनुराग में रंग कर ईश्वर से मिलने के लिये अग्रसर होती है और अन्त में ईश्वर में मिल जाती है। अतएव कबीर रहस्य-वादी होने के कारण प्रेम की प्रधानता को अवश्य मानते। दूसरी बात उनके रामानन्द गुरु से दीक्षित होने की है। इन दोनों परिस्थितियों ने उनके हृदय में प्रेम का अंकुर जमा दिया था। वे मुसलमान के घर में थे, इसलिये बहुत सम्भव है कि ईश्वर की भावना, बचपन ही से इनके मन में निराकार रूप में हुई हो। इन सब बातों ने कबीर के मन में इन्हीं दो भावनाओं को उत्पन्न किया:—

१—निराकार भाव से ईश्वर की उपासना।

२—सूफीमत के प्रभाव से अथवा रामानन्द के सत्संग से प्रेम का अलौकिक स्वरूप।

इन दोनों भावों के मिश्रण ही ने कबीर के आध्यात्मिक भावों का स्वरूप

---

१. भक्ति नसैनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥ —कबीर

निर्धारित किया। यही कारण था कि वे निराकार ईश्वर की भावना प्रेम और भक्ति के साथ कर सके। इस अस्पष्ट भावना का स्वरूप कबीर ने यद्यपि कहीं-कहीं सफलता के साथ खींचा है, तथापि उनके परवर्ती संत कवियों ने तो इस मत का इतना विकृत रूप खड़ा किया है कि उससे कुछ सिद्धान्त ही नहीं निकलता। एक ओर तो प्रेम और भक्ति इतनी तेजी से उमड़ रहे हैं कि किसी के चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की भावना जाग उठी है और दूसरी ओर हवा में निराकार का रूप है। उस शून्याकाश से प्रेम-भावना को कितनी ठेस लगती है! प्रेम और भक्ति के आवेश में निराकार का निरूपण हो ही नहीं सकता। हमारे संत कवियों ने इसी निराकार के अविगत रूप में अपने प्रेम की धारा बहाई है। ऊसर में नदी कितनी दूर तक जा सकती है? निराकार ईश्वर का विरुद ही क्या—

मारग जोवै विरहिनी, चितवै पिय की ओर। सुन्दर पियरे जक नहीं, कल न परत निस भोर॥

इस दोहे से व्यक्ति का बोध होता है, जिसका पता निराकार भावना में लग ही नहीं सकता। इसीलिए संत मत की ईश्वरीय भावना बहुत अस्पष्ट और असंगत है।

आध्यात्मिक भावना में मुख्य-मुख्य जिन अंगों पर संतों ने प्रकाश डाला है उनका विवरण निम्नलिखित है :—

(१) **क्रियात्मक**—सत्पुरुष (निराकार ईश्वर), नाम स्मरण, अनहद शब्द, भक्ति, सुरत, विरह, पतिव्रता-प्रेम, विश्वास, 'निज करता को निर्णय', सत्संग, सहज, 'सार गहनी', मौन, परिचय, उपदेश, 'साँच', उदारता, शील, क्षमा, सन्तोष, धीरज, दीनता, दया, विचार, विवेक, गुरुदेव, आरती।

(२) **ध्वंसात्मक**—चेतावनी, भेष, कुसंग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान और अहमन्यता, कपट, आशा, तृष्णा, मन, माया, कनक और कामिनी, निद्रा, निंदा, स्वादिष्ट अहार, मांसाहार, नशा, 'आनदेव की पूजा', तीर्थ-व्रत, दुर्जन आदि।

सामाजिक भावना के अंग निम्नलिखित हैं :—

(१) **क्रियात्मक**—चेतावनी, समदृष्टि

(२) **ध्वंसात्मक**—भेदभाव, चेतावनी

भाषा

संत काव्य में भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है। भावों का प्रकाशन प्रधान है और भाषा का प्रयोग गौण। इस प्रकार की भाषा के सम्बन्ध में तीन कारण हो सकते हैं।

(१) संत-काव्य जन-समाज के लिए ही लिखा गया था। अतः उसमें भावों के प्रचार एवं प्रसार के लिए भाषा का सरल होना आवश्यक था। कठिन भाषा के द्वारा ईश्वर सम्बन्धी कठिन और दुरूह विषय जन-समाज तक नहीं पहुँच सकता था।

(२) संतों की रचनायें अधिकतर गेय रही हैं; इसलिए भाषा का रूप एक मुख से दूसरे मुख तक जाने में बहुत बदल गया ।

(३) ये रचनायें अधिक समय तक लिपिबद्ध भी नहीं हुईं । अतः जिस प्रदेश में ये प्रचलित रहीं उसी प्रदेश की भाषा का प्रभाव उन पर आ गया । कवियों के प्रदेश-विशेष में रहने के कारण भी भाषा में विभिन्नता है, पर कबीर की रचनाओं में पंजाबीपन की जो छाया है, उसका क्या कारण हो सकता है ? कबीर तो पंजाब के निवासी नहीं थे । इसे कुछ तो प्रान्त विशेष के भक्तों और कुछ लिपिकारों की 'कृपा' का फल ही समझना चाहिए । जो हो, संत-काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है :—

पूरबी हिन्दी, राजस्थानी और पंजाबी ।

रस—संत-काव्य में प्रधान रूप से शान्त रस है । ईश्वर की भक्ति प्रधान होने के कारण निर्वेद ही स्थायी भाव है और आदि से अंत तक शान्त रस की ही सत्ता है । कभी-कभी रहस्यवाद के अंतर्गत आत्मा के विरह वर्णन के कारण वियोग शृंगार भी है । आत्मा जब एक स्त्री के रूप में परमात्मा रूपी पति के लिए व्याकुल होती है तब उसमें वियोग शृंगार की भावना स्वाभाविक रूप से आ जाती है । संयोग शृंगार की भावना बहुत ही न्यून है ।

दुलहिनी गावहु मंगलाचार, हम घर आये हो राजा राम भतार ।

जैसी मिलन की भावनायें बहुत ही कम है । संत काव्य में विरह श्रेष्ठ माना गया है । उसमें परमात्मा से मिलन का साधन ही अधिक है, मिलन की सिद्धि नहीं । अतः शान्त और वियोग शृंगार प्रधान रस हैं । शेष रस गौण है ।

कहीं-कहीं ईश्वर की विशालता के वर्णन में अद्भुत रस भी है । 'एक बिन्दु ते विश्व रच्यो है' जैसी भावनाएँ आश्चर्य के स्थायी भाव को उत्पन्न करती है । कबीर की उल्टबाँसियाँ भी आश्चर्य में डाल देने वाली है । सृष्टि और माया की विचित्रता भी अद्भुत रस की उत्पत्ति में सहायक है ।

कुछ स्थानों पर वीभत्स रस भी है । जहाँ सुन्दरदास स्त्री के शरीर का वीभत्स वर्णन करते हैं, वहाँ जुगुप्सा प्रधान हो जाती है । 'कंचन और कामिनी' शीर्षक अंग में भी अनेक स्थानों पर वीभत्सता है । संक्षेप में संतकाव्य का रस-निरूपण इस प्रकार है :—

प्रधान रस—शान्त, शृंगार (वियोग)
गौण रस—अद्भुत, वीभत्स

छंद

संतकाव्य में सबसे अधिक प्रयोग 'साखियों' और 'शब्दों' का हुआ है । 'साखी' तो दोहा छंद है और 'शब्द' रागों के अनुसार पद है । दोहा छंद बहुत प्राचीन है । अपभ्रंश के बाद प्राचीन हिन्दी में लिखे हुए जैन ग्रंथों में इस दोहा छंद के ही दर्शन होते हैं । इसके बाद डिंगल साहित्य में भी दोहा

छंद का व्यवहार हुआ। तत्पश्चात् अमीर खुसरो ने अपनी बहुत सी पहेलियाँ इसी दोहे छंद मे लिखी। अतः दोहा छंद तो साहित्य में प्रयोग-सिद्ध हो चुका था। पदों का हिन्दी साहित्य मे यह प्रयोग प्रथम बार ही समुचित रूप में किया गया। संतों के 'शब्द' अधिकतर गेय थे अतः वे राग-रागिनियों के रूप में गाये जा सकते थे। इस कारण वे पदों का रूप पा सके। दोहा और पद के बाद तीसरा प्रचलित छद है झूलना। इसका प्रयोग कबीर ने बड़ी सफलतापूर्वक किया, यों कबीर के बाद तो अन्य संत कवियों ने भी इसका प्रयोग किया। इन तीन छंदों के अतिरिक्त चौपाई, (जिसका प्रयोग अधिकतर 'आरती' में हुआ है) कवित्त, सवैया, हंसपद (जिसका प्रयोग अधिकतर 'ककहरा' में हुआ है) और सार (जिसका प्रयोग 'पहाड़ा' में हुआ है) भी संतकाव्य में प्रयुक्त हुए हैं। संतकाव्य में पदों और दोहों का प्राधान्य है जिनका विशिष्ट नाम 'शब्द' और 'साखी' है।

विशेष

नाथपंथ का विकसित रूप संतकाव्य में पल्लवित हुआ जिसका आदि इतिहास सिद्धों के साहित्य में है। गोरखनाथ ने अपने 'पंथ' के प्रचार में जिस हठयोग का आश्रय ग्रहण किया था, वही हठयोग संतकाव्य में साधना का प्रधान रूप हो गया। अतः सिद्ध साहित्य, नाथपंथ और संतमत एक ही विचारधारा की तीन परिस्थितियाँ हैं।

संतकाव्य में मुसलमानी प्रभाव यथेष्ट पाया जाता है। कुछ तो राजनीतिक परिस्थितियो के कारण और कुछ मूर्तिपूजा की उपेक्षा के कारण। संतमत अधिकतर मुसलमानी संस्कृति से ही प्रभावित हुआ। हिन्दूधर्म की रूप-रेखा होते हुए भी संतमत के निर्माण में इस्लाम का काफी हाथ रहा। अतः संतमत में दो संस्कृतियां और दो भिन्न धर्म की प्रवृत्तियां प्रवाहित हैं। यह संतमत की सबसे बड़ी विशेषता है। मूर्ति-पूजा की अवहेलना और जाति-बन्धन का बहिष्कार संतमत ने बड़ी उग्रता से किया। हिन्दी साहित्य में यह देन अंशतः इस्लाम की है।

संतकाव्य में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गई है, वे अनेक बार दोहराये गए हैं। किसी भी कवि ने अपनी ओर से मौलिकता प्रदर्शित करने का श्रम नहीं उठाया। वही बाते बार-बार एक ही रूप में दृष्टिगत होती हैं।[1] इस प्रकार एक कवि की कविता दूसरे कवि की कविता से शब्दों के अतिरिक्त किसी भी बात में भिन्न नहीं है। संतमत में जो अनेक पंथ चले उनमें जो प्रधान भावनायें थीं, वे इस प्रकार हैं:—

१—ईश्वर एक है—वह निराकार और निर्गुण है।

२—मूर्तिपूजा व्यर्थ है—उससे ईश्वर की व्यापकता सीमित हो जाती है।

३—गुरु का महत्त्व ईश्वर से भी अधिक है।

४—जाति-भेद का कोई बन्धन नहीं है। ईश्वर की भक्ति में सभी समान हैं।

१ इंफ्लुएंस ऑव् इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृष्ठ २०६ (डा० ताराचन्द)

पाँचवाँ प्रकरण

प्रेम-काव्य

प्रेम-काव्य की रचना विशेष कर मुसलमानों के कोमल हृदय की अभिव्यक्ति है। जब मुसलमानी शासन भारतवर्ष में स्थापित हो गया, तब हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियाँ परस्पर स्नेह-भाव के जागरण की आकांक्षा करने लगीं। यह सच है कि मुसलमान शासक अपने उद्धत स्वभाव के कारण तलवार की धार मे अपने इस्लाम की तेजी देखना चाहते थे और किसी भी हिन्दू को इस्लाम या मृत्यु—दो में से एक को—चुनने के लिये बाध्य कर सकते थे, पर दूसरी ओर एक शासकवर्ग ऐसा भी था, जो हिन्दुओं को अपने पथ पर चलने की आज्ञा प्रदान करने में सुख अनुभव करता था। ऐसे शासक-वर्ग में शेरशाह का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसने उलमाओं की शिक्षा की अवहेलना कर हिन्दू धर्म के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित किया।[1] शासकों के साथ ऐसे मुसलमान भी थे, जो हिन्दू धर्म के प्रति उदार ही नहीं, वरन् उस पर आस्था भी रखते थे। जहाँ वे एक ओर इस्लाम के अन्तर्गत सूफी धर्म के प्रचार की भावना में विश्वास मानते थे वहाँ दूसरी ओर वे हिन्दुओं के धार्मिक आदर्शों को भी सौजन्य की दृष्टि से देखते थे। प्रेम-काव्य की रचना में इसी भावना का आधार है।

हिन्दी साहित्य के प्रेम काव्य की रचना में मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव भी विशेष रूप से पड़ा है। भारतीय मनोवृत्ति पर मुसलमानों के व्यापारिक, राज-नीतिक एवं विद्या-विषयक प्रभावों की अपेक्षा धार्मिक प्रभाव कुछ अधिक है। यों तो मुसलमानों का आगमन सबसे पहले भारतभूमि पर अरबों के आक्रमण से होता है जो सन् १५ हिजरी (सन् ६३६ ईस्वी) में बहरैन के शासक की आज्ञा से थाना नामक बन्दर स्थान पर हुआ था। उसके कुछ बाद भड़ौच, देवल और ठट्ठा भी मुसलमान आक्रमण के लक्ष्य बने थे तथापि उनका वास्तविक संपर्क ईसा की बारहवीं शताब्दी से होता है जब भारत में मुसलमान सूफी संतों का प्रवेश हुआ और उनकी धार्मिक प्रभुता से प्रभावित होकर यहाँ का जनमत उनकी ओर आकर्षित होने लगा। इससे पूर्व भी नवीं शताब्दी के लगभग तनूखी (नवीं शताब्दी ईस्वी) और बैरूनी (दसवीं शताब्दी ईस्वी) के यात्रा-विवरणों से ज्ञात होता है कि बिना

---

१. ए शार्ट हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल इन इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद, इन्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद)

लड़ाई-भिड़ाई के बहुत ही शान्ति और चैन के साथ यहाँ इस्लाम के प्रभाव बढ़ते जाते थे और दोनों जातियों को एक दूसरे के संबन्ध की बातें जानने का अवसर मिलता जाता था।[१] किन्तु ये प्रभाव ऐसे नहीं थे कि उनसे भारतीय विचार-धारा में स्थायी परिवर्तन होते। अरबों और हिन्दुओं में (जिनमें बौद्ध भी सम्मिलित थे) धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे और अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता के लिए प्रतियोगिताएँ हुआ करती थी।[२]

दो एक उदाहरण हमें ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे कोई हिंदू राजा अपने व्यक्तिगत धार्मिक असंतोष के कारण मुसलमान हो जाता था।[३] किन्तु ऐसे

---

१. अरब और भारत के सम्बन्ध—मौलाना सैयद सुलैमान नदवी। पृष्ठ १६२-१६३

२. सिंध के पास किसी राजा के यहाँ बौद्ध धर्म का एक विद्वान् पंडित था। उसने राजा को शास्त्रार्थ कराने के लिए तैयार किया था। इस पर राजा ने हारूँ रशीद से कहला भेजा था कि मैंने सुना है कि आपके पास तलवार के सिवा और कोई ऐसी चीज या बात नहीं है, जिससे आप अपने धर्म की सच्चाई सिद्ध कर सकें। अगर आपको अपने धर्म की सच्चाई का विश्वास हो, तो आप अपने यहाँ के किसी विद्वान् को भेजिये जो यहाँ आकर पंडित से शास्त्रार्थ करे। खलीफा ने हदीस जानने वाले एक अच्छे विद्वान को इस काम के लिये भेज दिया। जब पंडित अपनी बुद्धि के अनुसार आपत्तियाँ करने लगा, तब मुल्ला उसके उत्तर में हदीसें रखने लगे। पंडित ने कहा कि इन हदीसों को तो वही मान सकता है, जो तुम्हारे धर्म को मानता हो, कुछ लोग यह भी कहते हैं कि पंडित ने पूछा कि अगर तुम्हारा खुदा सब चीजों पर अधिकार रखता है, तो क्या वह अपने जैसा कोई दूसरा खुदा भी बना सकता है? उन भोले-भाले मुल्ला साहब ने कहा कि इस प्रकार का उत्तर देना हमारा काम नहीं है। यह कलाम वाले पंडितों या उन लोगों का काम है जो धर्म की बातों को तर्क और बुद्धि से सिद्ध करना जानते हैं। राजा ने उन मुल्ला साहब को लौटा दिया, और हारूँ रशीद को कहला भेजा कि पहले तो मैंने बड़े लोगों से सुना था और अब अपनी आँखों से भी देख लिया कि आपके पास अपने धर्म की सच्चाई का कोई प्रमाण नहीं है।

अरब और भारत संबंध—मौलाना सैयद सुलैमान नदवी। पृष्ठ १६४-१६५

३ खलीफा मोतसिम विल्लाह के समय में (हिजरी तीसरी शताब्दी, ईस्वी नवीं शताब्दी) जो इस प्रकार की घटना घटी थी, उसका विवरण इतिहास लेखक बिलाज़ुरी (हिजरी तीसरी शताब्दी—ईस्वी नवीं शताब्दी) इस प्रकार देता है:—

काश्मीर, काबुल और मुलतान के बीच में असीफान (असीवान) नाम का एक नगर था। वहाँ के राजा का लाड़ला लड़का बहुत बीमार हुआ। राजा ने मन्दिर के पुजारियों को बुला कर कहा कि इसके कुशल मंगल के लिए प्रार्थना करो। पुजारियों ने दूसरे दिन आकर कहा कि प्रार्थना की गई थी और देवताओं ने कह दिया है कि यह लड़का जीता रहेगा। संयोग से इसके थोड़ी ही देर बाद वह लड़का मर गया। राजा को बहुत अधिक दुःख हुआ। उसने उसी समय जाकर मन्दिर गिरा दिया, पुजारियों को मार डाला और नगर के मुसलमान व्यापारियों को बुलवा कर उनसे उनके धर्म का हाल पूछा। उन्होंने इस्लाम के सिद्धान्त बतलाए इस पर राजा मुसलमान हो गया।

—फुतूहुल बुल्दान, बिलाज़ुरी, पृष्ठ ४४६

उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें कोई मुसलमान मूर्तिपूजक हो जाता था।[१] वस्तुतः साम्प्रदायिक रूप से इस्लाम की प्रतिष्ठा उस समय से होती है जब सूफीसंत अपने सात्विक और निरीह जीवन सिद्धान्तों से जनता की श्रद्धा के पात्र बनने लगे। भारत में सूफी संप्रदाय का स्वागत इसलिये भी विशेष रूप से हुआ कि उसमें वेदान्त की पूरी पृष्ठ-भूमि है और अपने मूल रूप में सूफी संप्रदाय वेदान्त का रूपान्तर मात्र है। अरब और भारत के जो संबन्ध प्राचीन काल से चले आते हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वेदान्त की विचार-धारा अरबी में अवश्य रूपान्तरित हुई होगी और सूफी धर्म ने अपने निर्माण में वेदान्त की चिन्तन-शैली का आश्रय अवश्य ग्रहण किया होगा। फारसी और अरबी के प्राचीन साहित्य में एक पुस्तक है जिसका नाम है 'कलेला दमना' जो बैरूनी के अनुसार संस्कृत पंचतंत्र का अनुवाद है। इस पुस्तक का अनुवाद फारसी में हिजरी दूसरी शताब्दी के पहले ही हो गया था। बाद में इसका अनुवाद अरबी में भी हुआ। इस पुस्तक के लेखक का नाम वेद या पंडित कहा जाता है। प्रो० जखाऊ अपनी पुस्तक 'इंडिया' की भूमिका में इस वेदपा का नाम वेदव्यास के अर्थ में लेते हैं जो वेदान्त के आचार्य हैं। वेदपा चाहे वेदव्यास हों अथवा न हो, किन्तु यदि पंचतंत्र का (जो ईसा की पाचवीं शताब्दी की रचना है) प्रभाव इस्लामी संस्कृति पर पड़ सकता है तो वेदान्त (उत्तर मीमांसा) का (जो ईसा पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी की रचना है) प्रभाव तो बहुत पहले से ही इस्लामी संस्कृति पर पड़ा होगा। इस बात के स्वीकार करने में मुसलमानी लेखकों को आपत्ति है कि वेदान्त का प्रभाव सूफी धर्म पर पड़ा। मौलाना सैयद सुलैमान नदवी अपनी पुस्तक 'अरब और भारत के सम्बन्ध' में लिखते हैं:—"जहां तक हमसे जाँच हो सकी है, हमारे पास कोई ऐसा तर्क नहीं है जिससे यह बात प्रमाणित हो सके कि हिन्दू वेदान्त का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ है, यद्यपि इस्लाम में इस विचार का आरम्भ ईसवी तीसरी शताब्दी के अन्त अर्थात् हुसैन बिन मंसूर हल्लाज के समय से है। वास्तविक बात यह है कि मुसलमानों में मुहीउद्दीन बिन अरबी सब से पहले आदमी हैं, जिन्होंने

---

१. जेरूसलम का निवासी एक अरब यात्री (हिजरी चौथी शताब्दी ईस्वी दसवीं शताब्दी) सिंध के मन्दिरों का हाल लिखता है:—

हवरूआ में पत्थर की दो विलक्षण मूर्तियाँ हैं। वह देखने में सोने और चाँदी की जान पड़ती हैं। कहते हैं कि यहाँ आकर जो प्रार्थना की जाती है, वह पूरी हो जाती है। इसके पास हरे रंग के पानी का एक सोता है, जो बिल्कुल तूतिया सा जान पड़ता है। यह पानी घावों के लिए बहुत लाभदायक है। यहाँ के पुजारियों का खर्च देवदासियों से चलता है। बड़े-बड़े लोग यहाँ आकर अपनी लड़कियाँ चढ़ाते हैं। मैंने एक मुसलमान को देखा था जो उन दिनों मूर्तियों की पूजा करने लगा था।

अहसनुत् तकासीम फी मारफति अकालीम : बुशारी : पृष्ठ ४८३

इस सिद्धान्त का बहुत जोरों से समर्थन किया है । वे स्पेन देश से रहने वाले थे और उन्हें हिन्दू दर्शनों से परिचित होने का कभी अवसर नहीं मिला था । इसलिये यह समझा जाता है कि उन पर भारतीय वेदान्त का नहीं, बल्कि नव-अफ्लातूनी दर्शन का प्रभाव पड़ा था ।[१] यदि यह बात सही भी हो कि हिन्दू वेदान्त का अनुवाद अरबी भाषा में न हुआ हो, फिर भी यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वेदान्त का प्रभाव परोक्ष रूप से नव-अफ्लातूनी दर्शन के द्वारा इस्लामी संस्कृति पर पड़ा हो । अफ्लातूनी दर्शन भी तो वेदान्त से ही प्रभावित था । इस प्रश्न पर कि हिन्दू दर्शन यूनानी दर्शन से प्रभावित है अथवा इसके विपरीत यूनानी दर्शन हिन्दू दर्शन से, वेदान्त के माने हुए सर्वश्रेष्ठ विद्वान् मिस्टर कोल ब्रुक कहते हैं :— "इस प्रसंग में हिन्दू गुरु थ, शिष्य नहीं ।"[२] अतः यह स्पष्ट है कि सूफीमत पर वेदान्त का प्रभाव अवश्य पड़ा था, वह चाहे सीधे ढंग से पड़ा हो अथवा परोक्ष ढंग से । वेदान्त के प्रभाव को लेकर सूफीमत ने अपना स्वतंत्र विकास किया जिसमें कुरान के सात्विक सिद्धान्तों का विशेष रूप से सम्मिश्रण किया गया । जब सूफीमत भारतभूमि पर आया तब वह फिर यहाँ की वेदान्त सम्बन्धी विचार-धारा से प्रभावित हुआ । इस प्रभाव को सूफी धर्म के भी समर्थक स्वीकार करते हैं । मौलाना सैयद सुलेमान नदवी भी लिखते हैं कि "इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर, भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा है ।"[३] भारत में सूफी धर्म किस प्रकार से आया इस विषय पर भी प्रकाश डालना अयुक्तिसंगत न होगा ।

भारत में सूफी धर्म का प्रवेश ईसा की बारहवीं शताब्दी में हुआ । यह धर्म चार संप्रदायों के रूप में आया जो समय-समय पर देश में प्रचारित हुए । उनका नाम और समय निम्नलिखित हैं ।

१. **चिश्ती संप्रदाय**—सन् बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध
२. **सुहरावर्दी संप्रदाय**—सन् तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध
३. **कादरी संप्रदाय**—सन् पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध
४. **नक्शबंदी संप्रदाय**—सन् सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध

ये संप्रदाय अधिकतर तुर्किस्तान, इराक, ईरान और अफगानिस्तान से विविध संतों के द्वारा भारत में प्रचारित हुए । इन संप्रदायों का न तो कोई विशेष संगठन था और न इन्हें विशेष राज्याश्रय ही प्राप्त था । सूफी संत अपनी व्यक्तिगत

१ अरब और भारत के सम्बन्ध—पृष्ठ २०३

२ ए क्लासिकल डिक्शनरी ऑव् हिंदू माइथालोजी एंड रिलीजन—जान डॉसन, पृष्ठ ८२

३ अरब और भारत के सम्बन्ध, पृष्ठ २०३

महत्ता और साधना के अनुसार ही जनता और राज्य में श्रद्धा और आदर की संपत्ति प्राप्त करते थे और अपने आचरण की सात्विकता और पवित्रता से वे अपने सिद्धांतों का प्रचार अपने पर्यटन-क्षेत्र में किया करते थे। ये सूफी संत अपने धार्मिक जीवन में अत्यंत सरल और सहिष्णु थे। और निष्ठावान धार्मिक संतो का सत्संग कर जीवन में उदारता और विशालता का दृष्टिकोण उपस्थित करते थे। धार्मिक स्थानों में परिभ्रमण करके अनुभवजन्य ज्ञान और उपदेश का अपरिमित कोष प्राप्त कर वे प्रकाश-स्तंभ की भाँति अपने सिद्धांतों का आलोक बहुत दूर तक विरोधियों की श्रेणी तक पहुँचा देते थे। इस प्रकार सूफी धर्म ने अपने शान्त और अहिंसापूर्ण प्रभाव से इस्लाम की संस्कृति को जितनी दूर पहुँचा दिया, उतनी दूर मुसलमान शासकों की तलवार भी नहीं पहुँचा सकी। अन्य मतावलंबियों को अपने व्यक्तिगत सात्विक प्रभाव में लाकर इन सूफी संतों ने इस्लाम के अनुयायियों की संख्या में अपरिमित वृद्धि की। यह प्रेम की विजय थी, जिसमें आत्मीयता और विश्वास की अपरिमिति शक्ति थी।

ये चारों सम्प्रदाय अपने मूल सिद्धांतों में समान थे। धार्मिक और सामाजिक पक्षों में ये सभी सम्प्रदाय अत्यंत उदार थे। अनेक देववाद के विपरीत ईश्वर की एकता (Unity of God) और सर्वोपरिता (Transcendental Godhood) सर्वमान्य है और केवल आचारात्मक दृष्टिकोण से इन सम्प्रदायों में नाम मात्र का भेद है। कहीं ईश्वर के गुण जोर से कहे जाते हैं, कहीं मौन रूप से स्मरण किए जाते हैं, कहीं गाकर कहे जाते हैं, इत्यादि। चिश्ती और कादरी सम्प्रदाय में संगीत का जो महत्त्व है, वह सुहरावर्दी और नक्शबंदी सम्प्रदाय में नहीं है। पिछले सम्प्रदायों में नृत्य और संगीत धार्मिक भावना की दृष्टि से अनुचित समझे गए हैं, अन्यथा ईश्वर की उपासना के सरलतम मार्ग की शिक्षा सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मुख्य है। इसीलिए सूफी धर्म में एक सम्प्रदाय के संत सरलता से किसी दूसरे सम्प्रदाय के सदस्य बन सकते थे।

इन सभी सम्प्रदायों में सामाजिक समता और एकता विशेष महत्त्व रखती है। अस्पृश्य जाति के व्यक्ति भी यदि धर्म-परिवर्तन कर इस्लाम धर्म में दीक्षित हो जावें तो वे भी बड़े सम्मान और श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाते थे। पूर्व संस्कारों के प्रति सहिष्णु भाव के साथ उन्हें अन्तर्जातीय विवाह में पूर्ण स्वतंत्रता और सुविधा दी जाती थी। अपने नवीन स्वीकृत धर्म के पूर्ण अधिकार भी उन्हें दिए जाते थे। वर्ण-भेद और वर्ग-भेद के समस्त भावों के पर्याय उनके सात्विक जीवन की श्रेष्ठता ही उनके महान् व्यक्तित्व का मापदंड थी। यहाँ तक कि इस्लाम के न्यायाधीश भी उन्हें शेख, मलिक, मोमिन, खलीफा आदि की उपाधियों से अलंकृत करते थे। सात्विक जीवन की समस्त सुविधाओं से भरपूर क्या सूफी मत में दीक्षित

हो जाने का यह प्रलोभन अस्पृश्य और घृणा से देखी जाने वाली जातियों के लिए कम था ? फल भी यही हुआ कि हजारों और लाखों की संख्या में हिन्दू धर्म के विविध वर्णों के असन्तुष्ट सदस्य सूफी संतों के चमत्कारों से प्रभावित होकर और उनकी सात्विकता और सहिष्णुता से आकर्षित होकर इस्लाम धर्म के अंतर्गत सूफी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और भारत में मुसलमानों की संख्या बरसात की बढ़ी हुई नदी की भाँति बढ़ती ही गई। केवल तीन शताब्दियों में—अर्थात् बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक—सूफी धर्म के अंतर्गत चौदह सम्प्रदायों की वृद्धि हुई जिनका संकेत आईन अकबरी में स्पष्ट रूप से किया गया है। इन सम्प्रदायों के प्रारंभिक इतिहास पर भी दृष्टि डाल लेना चाहिए।

१. **चिश्ती सम्प्रदाय**—इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक ख्वाजा आबू अब्दुल्लाह चिश्ती (मृत्यु सन् ९६६) थे। इस सम्प्रदाय को भारत में लाने का श्रेय सीस्तान के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (सन् ११४२—१२३६) को है जिन्होंने सन् ११९२ में इस भूमि पर इसका प्रचार किया। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती बड़े पर्यटनशील थे। उन्होंने खुरासान, नैशापुर आदि स्थानों में परिभ्रमण कर बड़े-बड़े संतों का सत्संग प्राप्त किया और बहुत काल तक ख्वाजा उसमान चिश्ती हारूनी के समीप भी शिष्य की भाँति रहे और उनके सिद्धान्तों की अनुभूति निकट संपर्क में आकर प्राप्त की। ये मक्का और मदीना की धर्म-यात्रा करते हुए, शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी और शेख अब्दुल कादिर जीलानी के संपर्क में भी आए और उनसे धर्म शिक्षा प्राप्त कर अपने धर्म के सिद्धान्तों में पारंगत हुए। जब सन् ११९२ ई० में शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर आक्रमण किया तो ये भी उसकी सेना के साथ यहाँ आए और सन् ११९५ ई० में अजमेर गए, जहाँ इन्होंने अपना प्रधान केन्द्र स्थापित किया। इसी स्थान पर सन् १२३६ ईस्वी में, ९३ वर्ष की अवस्था में इनका शरीरान्त हुआ। इन्हीं के वंश में वर्तमान सूफी विद्वान् ख्वाजा हसन निजामी हैं जिन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है और कुरान का हिन्दी में अनुवाद कराया है। यह चिश्ती सम्प्रदाय भारत में पनपने वाले सूफी सम्प्रदायों के अंतर्गत सब से पुराना है और इसके अनुयायियों की संख्या अन्य सभी सम्प्रदाय के अनुयायियों से अधिक है। यह वही सम्प्रदाय है जिसका प्रभाव मुगल सम्राट् पर विशेष रूप से रहा। इसी सम्प्रदाय के शेख सलीम चिश्ती के प्रभाव से अकबर को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ जिसका नाम संत के नाम पर सलीम रक्खा गया।

२. **सुहरावर्दी सम्प्रदाय**—सूफी सिद्धान्तों के प्रचार करने और प्रतिभा-संपन्न सूफी सन्तों को उत्पन्न करने की दृष्टि से सुहरावर्दी सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रसिद्ध है। भारत में सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय को प्रचारित करने का श्रेय सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश (सन् ११९९-१२९१ ई०) को है जो बुखारा में उत्पन्न हुए और स्थायी रूप

से ऊँच (सिंध) में रहे। इन्होंने भारत के अनेक स्थानों में अपने संप्रदाय का प्रचार किया विशेष कर सिंध, गुजरात और पंजाब में इनके केन्द्र विशेष रूप से स्थापित हुए। इनकी परंपरा में अनेक यशस्वी सन्त हुए। इनके पौत्र जलाल-इब्न अहमद कबीर मखदूम-इ जहानिया के नाम से प्रसिद्ध हुए जिन्होंने छत्तीस बार मक्का की यात्रा की। मखदूम-इ-जहानिया के पौत्र आबू मुहम्मद अब्दुल्ला नें समस्त गुजरात में अपने धर्म का प्रचार किया। इनके पुत्र सैयद मुहम्मद शाह आलम (मृत्यु सन् १४७५ ई०) इनसे भी अधिक प्रसिद्ध हुए जिनकी समाधि अहमदाबाद के समीप रसूलाबाद में है।

सुदूर पूर्व में बिहार और बंगाल में भी इस सम्प्रदाय ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। इस संप्रदाय के संतों की यशोगाथा पूर्ववर्ती स्थानों के समाधि-लेखों में बड़ी श्रद्धा के साथ लिखी गई है। इस संप्रदाय नें राजाओं तक को अपने धर्म में दीक्षित किया। बंगाल के राजा कंस के पुत्र जटमल का नाम धर्म-परिवर्तन करने वालों में लिया जाता है जो 'जादू जलालुद्दीन' के नाम से प्रसिद्ध हुए। हैदराबाद का वर्तमान राजवंश भी इसी सन्त सम्प्रदाय की परम्परा में है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय का सम्मान जन-साधारण से लेकर बड़े-बड़े राजाओं तक बड़े गौरव के साथ चलता रहा है। प्राचीन और आधुनिक राजवंशों ने इस सम्प्रदाय को बड़ी श्रद्धा-दृष्टि से देखा है। इस परंपरा में होने वाले संत राजगुरु के सम्मान से सम्मानित हुए हैं।

३. **कादरी संप्रदाय**—इस संप्रदाय के आदि प्रवर्त्तक बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जीलानी (सन् १०७८-११६६ ई०) थे। इनके अप्रतिम व्यक्तित्व, तेजस्वी स्वर और सात्विक जीवन चर्या ने इनके संप्रदाय को विशेष लोकप्रियता प्रदान की। इन्होंने अपने सम्प्रदाय में उत्कट प्रेमावेश और भावुकता की सृष्टि की जिससे इस्लाम के मरु-विचारों में भी सरसता का प्रवाह होने लगा। सूफी संतों में अब्दुल कादिर जीलानी अपने भावोन्मेष के लिए प्रसिद्ध हैं।

भारत में इस संप्रदाय का प्रवेश सन् १४८२ ई० में अब्दुल कादिर जीलानी के वंशज सैयद बंदगी मुहम्मद गौस द्वारा सिंध से प्रारंभ हुआ। गौस ने ऊँच (सिंध) में ही अपना निवास-स्थान बनाया। वहीं इनकी मृत्यु सन् १५१७ ईस्वी में हुई। इस सम्प्रदाय में होने वाले संतों का समस्त भारत में स्वागत हुआ, क्योंकि उनकी भावुकता ने देश की भक्ति-परंपरा के समीप पहुँच कर लोक-रुचि को अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया। इस संप्रदाय के संतों के चमत्कार की कथाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं। समस्त उत्तरी भारत, विशेष कर काश्मीर सैयद बंदगी मुहम्मद गौस की प्रभुता के सामने श्रद्धापूर्वक नत-मस्तक रहा। इसी संप्रदाय में प्रसिद्ध सूफी कवि गजाली हुए।

४. **नक्शबंदी संप्रदाय**—इस अंतिम सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक तुर्किस्तान के ख्वाजा वहा अल-दीन नक्शबंद थे जिनकी मृत्यु सन् १३८९ में हुई। भारतवर्ष में इस सम्प्रदाय का प्रचार ख्वाजा मुहम्मद बाकी गिल्लाह बैरंग द्वारा हुआ। इनकी मृत्यु सन् १६०३ ई० में हुई। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस सम्प्रदाय को भारत में प्रचारित करने का श्रेय शेख अहमद फारूकी सरहिन्दी को है जिनकी मृत्यु सन् १६२५ ई० में हुई। इस सम्प्रदाय को भारत में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसका विशेष कारण यह है कि इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण इतना जटिल और बुद्धि-वादी रहा कि वह जनसाधारण के सरल मनोविज्ञान को स्पर्श नहीं कर सका। अपने कठिन तर्कजाल में वह केवल वर्ग-विशेष में ही सीमित होकर रह गया। भारत में आनवाले सम्प्रदायों में सबसे अंतिम सम्प्रदाय होने के कारण भी जनसाधारण की लोकरुचि जो पहले आए हुए सम्प्रदायों को स्वीकार कर चुकी थी, इस सम्प्रदाय की ओर अधिक आकर्षित नहीं हो सकी। इस प्रकार सूफी सम्प्रदायों के अंतर्गत नक्शबंदी सम्प्रदाय सब से अधिक निर्बल और प्रभावहीन रहा।

इन चारों सम्प्रदायों का प्रभाव अपनी सरल ईश्वरोन्मुखी भावना के कारण जन समुदाय में विशेष रूप से पड़ता रहा और समाज के निम्न धरातल के व्यक्ति जिन्हें हिन्दू-समाज में विशेष सुविधाएँ नहीं थीं, इन सम्प्रदायों में दीक्षित होते रहे।

इन सम्प्रदायों से प्रभावित प्रेम-काव्य का परिचय चारण-काल ही से मिलना प्रारम्भ हो जाता है, जब मुल्ला दाउद ने 'चन्दावन' की रचना की थी। यह समय अलाउद्दीन खिलजी के राजत्व-काल का था, जिसमें हिन्दुओं पर काफी सख्ती की जा रही थी। वे घोड़े पर नहीं चढ़ सकते थे। और किसी प्रकार की विलास-सामग्री का उपभोग भी नहीं कर सकते थे।[१] हिन्दू धर्म के प्रति अश्रद्धा होते हुए भी कुछ मुसलमानी हृदयों में हिन्दू प्रेम-कथा के भाव मौजूद थे। 'चन्दावन' या 'चन्दावत' की प्रति अप्राप्त है, पर इस प्रेम-कथा का नाम ही सम्वत् १३७५ की साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचय देने में पर्याप्त है।

धार्मिक काल के प्रेम-काव्य का आदि 'चन्दावन' या 'चन्दावत' से ही मानना चाहिए। यद्यपि इस प्रेम-कथा की परम्परा बहुत बाद में प्रारम्भ हुई, पर उसका श्रीगणेश मुल्ला दाउद ने कर दिया था। 'चन्दावन' या 'चन्दावत' के बाद सम्भव है, कुछ और प्रेम-कथाएँ लिखी गई हों, पर वे साहित्य के इतिहास में अभी तक नहीं दीख पड़ीं। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने 'पदुमावती' में इस प्रेम की परम्परा का निर्देश अवश्य किया है, पर उसके विषय में कोई विशेष परिचय नहीं दिया। उन्होंने 'पदुमावती' में लिखा है :—

१ ए शार्ट हिस्ट्री ऑव् दि मुस्लिम रूल, पृष्ठ ११२ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध वर बाँधा॥[1]

इस उद्धारण के अनुसार संभवतः जायसी के पूर्व प्रेम-काव्य पर कुछ ग्रन्थ लिखे जा चुके थे—'स्वप्नावती', मुग्धावती', 'मृगावती', 'खंडरावती', 'मधुमालती' और 'प्रेमावती'। इनमें से 'मृगावती' और 'मधुमालती' तो प्राप्त हैं, शेष के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। इनके साथ एक ग्रंथ का और परिचय मिलता है। उसका नाम है 'लक्ष्मणसेन पद्मावती'। यह ग्रंथ संवत् १५१६ में लिखा गया। ग्रंथकर्ता का नाम दामो है। इसमें अधिकतर वीर-रस है। "वीर कथा रस करूँ बखान।" अपभ्रंश काल के ग्रंथों के समान इसमें बीच-बीच में संस्कृत में श्लोक और प्राकृत में गाथा है। संक्षेप में मृगावती और मधुमालती का परिचय इस प्रकार है :—

मृगावती—इसके रचयिता कुतुबन थे, जो शेख बुरहान के शिष्य थे। इनका आविर्भाव काल सं० १५५० माना जाता है, क्योंकि ये शेरशाह के पिता हुसेनशाह के समकालीन थे। मृगावती की कथा लौकिक प्रेम की कथा है जिसमें अलौकिक प्रेम का सम्पूर्ण संकेत है। कंचनपुर के राजा की राजकुमारी मृगावती पर चन्द्रगिरि के राजा का पुत्र मोहित हो जाता है। वह प्रेम के मार्ग में योगी बन कर निकल जाता है। अनेक कष्ट झेलने के उपरान्त वह राजकुमारी को प्राप्त करता है। काव्य में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है, ईश्वर विषयक संकेत यथेष्ट है। भाषा अवधी और छन्द दोहा-चौपाई है। इसकी प्रति हरिश्चन्द्र पुस्तकालय में पहले मिली थी, किंतु फिर खो गई।

मधुमालती—इसकी केवल एक प्रति रामपुर स्टेट लाइब्ररी में प्राप्त हो सकी है। इसके लेखक मंझन थे, इन्होंने १५४५ ई० में इसकी रचना की। यह कहानी 'मृगावती' से कहीं अधिक आकर्षक और भावात्मक है। कल्पना भी इसमें यथेष्ट है। इसके द्वारा निस्वार्थ प्रेम की अभिव्यंजना सुन्दर रूप से होती है। इसमें कनेसर के राजा के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम का वर्णन है। कथा में वर्णनात्मकता का अंश अधिक है। प्रेम के चित्रण में विरह को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। विरह ही मनुष्य के लिये ईश्वर को समझने का महत्त्वपूर्ण साधन है।*

इन दो कवियों के बाद मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है, जिन्होंने 'पद्मावत' ('पदुमावती') की रचना की।

---

१ जायसी ग्रन्थावली—सम्पादक पं० रामचन्द्र शुक्ल (ना० प्र० सभा) पृष्ठ १०७–१०८

* सूफियों के अनुसार ईश्वरप्राप्ति के लिए जिसके हृदय में विरह होती है उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेकों रूप में होते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप [illegible]

पद्मावत (पदुमावती)—'पद्मावत' के लेखक मलिक मुहम्मद जायसी के जीवनवृत्त के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। ये जायस के रहने वाले थे[1] और अपने समय के सूफी संतों में विशेष आदर के पात्र थे। ये सैयद मुहीउद्दीन के शिष्य थे[2] और चिश्तिया निजामिया की शिष्य-परम्परा में ग्यारहवें शिष्य थे। मुहीउद्दीन के गुरु शेख बुरहान थे, जो बुंदेलखंडी थे और शतायु होकर सन् १५६२ में मरे। जायसी सूफी सिद्धान्तों को तो जानते ही थे, साथ ही साथ हिन्दूधर्म के लोक-प्रसिद्ध वृत्तान्तों से भी परिचित थे और इस प्रकार जनता की धार्मिक मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करने में विशेष सफल हुए। शेरशाह का आश्रय भी इन्होंने प्राप्त किया था। ये शारीरिक सौन्दर्य से विहीन थे। एक आंख से अन्धे थे और देखने में कुरूप। 'एक आँख कवि महम्मद गुनी' कह कर इन्होंने स्वयं अपना परिचय 'पदुमावती' में दिया है। इनके दो प्रधान मित्र थे—यूसुफ मलिक और सलोनेसिंह, जिन्हें जायसी ने 'मियाँ' के नाम से भी लिखा है। यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ विषमय आम खाते हुए मर गये। जायसी भी उनके साथ थ, पर ये बच गये। वे आम किसी विषैली जन्तु के खाये हुए थे। ये गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगतदेव (आविर्भाव संवत् १५८४) के आश्रित भी रहे। बाद में ये अमेठी नरेश के विशेष कृपा-पात्र हुए, क्योंकि इन्हीं के आशीर्वाद से उन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई थी। इनकी कब्र भी अमेठी राज्य में है। इस प्रकार मरने पर भी इन्होंने अपना सम्बन्ध अमेठी से नहीं तोड़ा।

इन्होंने रामकृष्ण की उपासना जो तत्कालीन समाज में अधिक लोकप्रिय थी, अपने काव्य की सामग्री नहीं बनाई, किन्तु तत्कालीन प्रचलित सूफी सिद्धान्तों को सरल और मनोरंजक रूप में रख कर जनता की रुचि अपनी ओर आकर्षित की। सूफी सिद्धान्तों को हिन्दू-धर्म के प्रचलित विवरणों से सम्बद्ध कर इन्होंने नवीन प्रकार से हिन्दू-हृदय को वशीभूत किया। इनकी एक विशेषता और भी थी। अभी तक के सूफी कवियों ने केवल कल्पना के आधार पर प्रेम-कथा लिख कर अपने सिद्धान्तों का प्रकाशन किया था, पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं की श्रृंखला सजा कर अपनी कथा को सजीव कर दिया। यह ऐतिहासिक कथावस्तु चित्तौरगढ़ के हिन्दू आदर्शों के साथ थी जिससे हिन्दू जनता को विशेष आकर्षण था। यही कारण था कि जायसी की कथा विशेष लोकप्रिय हो सकी। साथ ही साथ प्रेम कहानी का आकर्षक रूप भी रचना के प्रचार में सहायक हुआ। इन्होंने 'पदुमावती'

---

१ जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥

पदुमावती, पृष्ठ १०

२ गुरु मेंहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा॥

पदुमावती, पृष्ठ ८

की रचना हिजरी ९४७ में की ।[१] इसके अनुसार जायसी का कविताकाल सं० १५९७ ठहरता है ।

'पदुमावती' (पद्मावत) की अनेक प्रतियाँ पाई जाती हैं । इनमें निम्न-लिखित मुख्य हैं :—

अ. फारसी लिपि में

१. इंडिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति (फारसी केटलाग) सन् १६९५

२. इंडिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति (फारसी केटलाग) सन् १६९७

३. इंडिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति (फारसी केटलाग) सन् १७०२

४. इंडिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति (उर्दू केटलाग) तिथि अज्ञात

ये सभी प्रतियाँ शुद्ध और साफ लिखी गई हैं ।

आ. देवनागरी लिपि में

१. इंडिया आफिस लाइब्रेरी की हस्तलिखित प्रति (संस्कृत केटलाग) तिथि अज्ञात

२. महाराजा उदयपुर पुस्तकालय की प्रति सन् १८३८

इ. कैथी लिपि में

१. प्रति नं० १ — सन् १७५५

२. बैताल गढ़ प्रति (अपूर्ण) — सन् १७०१

३. प्रति नं० २ — सन् १८२२

कैथी लिपि की प्रतियाँ बहुत अशुद्ध हैं और उनमें पाठान्तर भी अनेक हैं ।

पद्मावत का महत्त्व उसके सुरक्षित रूप में है । फारसी लिपि में लिखे जाने के कारण यह ग्रन्थ पंडितों के हाथों से बचा रह गया, नहीं तो उसकी शुद्धि न जाने कब की हो गई होती । उस समय अवधी का जो रूप था वही फारसी लिपि में सुरक्षित रह गया । अतः जायसी की रचना में तत्कालीन अवधी का रूप बच सका है । हिन्दी साहित्य के केवल जायसी ही ऐसे पुराने लेखक हैं जिनकी कृति का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने है । 'पृथ्वीराजरासो' महान् ग्रंथ होते हुए भी संदिग्ध है, विद्यापति और मीराँ के गेय गीत गायकों के कंठों से बहुत कुछ बदल गए हैं,

---

१ सन नव सै सैतालिस अहा । कथा अरंभ बैन कवि कहा ॥

पदुमावती, पृष्ठ १०

कबीर के पद कबीर पंथियों ने तोड़-मरोड़ डाले हैं तथा अन्य कवियों के ग्रंथ पंडितों ने शुद्ध कर डाले हैं।

जायसी ने तत्कालीन बोलचाल की अवधी में अपनी रचना की। उसमें फारसी और अरबी के स्वाभाविक और प्रचलित शब्द तथा मुहावरे भी मिलते हैं। संस्कृत के पंडित न होने के कारण इनकी कृति स्वाभाविक बोलचाल के शब्दों में यथातथ्य शब्दों से पूर्ण है। यह अच्छा ही हुआ, नहीं तो संस्कृत का ज्ञान होने के कारण ये संस्कृत शब्दों को बोलचाल के रूप में न लिख कर शुद्ध रूप में ही लिखते। इनका संस्कृत न जानना भाषा के वास्तविक स्वरूप को सुरक्षित रखने में सहायक हुआ। मुसलमान होने के कारण इन्होंने अपनी कृति फारसी लिपि और बोलचाल की भाषा ही में लिखी। हाँ, एक कठिनाई अवश्य सामने आती है। उर्दू में स्वर के चिह्न विशेष रूप से नहीं लगाये जाते, इसलिये कहीं-कहीं पाठ-निर्धारित करने में कठिनाई अवश्य आ जाती है। यों, इन्होंने प्रत्येक शब्द वैसा ही लिखा जैसा वह बोला जाता था। ठेठ हिन्दी को फारसी लिपि में पढ़ना जरा कठिन है, इसलिये कहीं-कहीं पाठ-भेद है। बनारस के पंडित रामलखन ने हिन्दी लिपि में 'पद्मावत' को रूपान्तरित करने का सफल प्रयास किया है, पर उसमें बहुत सी अशुद्धिया हैं। सन् १९११ में डा० ए० ग्रियर्सन और महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने एशियाटिक सोसायटी की ओर से 'पद्मावत' का प्रथम खंड प्रकाशित किया जिसमें सभी प्राप्त प्रतियों से सहायता ली गई है और सर्वोत्तम और शुद्ध पाठ निर्धारित किया है। वास्तव में यह संस्करण महत्त्वपूर्ण है।

जायसी कबीर से बहुत अधिक प्रभावित हुये।[1] हठयोग की सारी प्रवृत्ति तो इन्होंने कबीर से ही ली थी। साथ ही साथ ये हिन्दू धर्म के लोकप्रिय सिद्धान्तों से भी साधारणतः परिचित थे। इन सब ज्ञान के साथ ये बड़े भारी सूफी थे और इसीलिये अपने समय में बहुत बड़े संत माने गये और इनकी रचनाएँ सुरक्षित रक्खी गई। 'पद्मावत' की अनेक विशेषताएँ भी हैं। प्रथम तो यह ग्रंथ सूफी सिद्धान्तों का सरल और मनोरंजक निरूपण है। दूसरे राम और कृष्ण की धार्मिक विचार-धारा हटा कर यह एक प्रेम-कहानी के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया गया है। तीसरे इसमें धार्मिक सहिष्णुता उच्चकोटि की है। मुसलमान होते हुए भी जायसी ने हिन्दू धर्म की प्रधान बातों पर अपनी कथा का आरोप किया है और उनकी हँसी न उड़ा कर उन्हें गम्भीर रूप से सामने रक्खा है। चौथे यह काव्यकला का उत्कृष्ट नमूना है। भाषा और भाव सरल होते हुए भी सच्ची कविता का नमूना हिन्दी साहित्य के सामने प्रस्तुत है

---

१ माडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर ऑव् हिन्दोस्तान पृष्ठ १५ (जी० ए० ग्रियर्सन)

इस स्थान पर जायसी के साहित्यिक दृष्टिकोण पर विस्तारपूर्वक विचार करना समीचीन होगा।

जायसी ने अपने 'पद्मावत' की कथा में आध्यात्मिक अभिव्यंजना रक्खी है। सारी कथा के पीछे सूफी सिद्धांतों की रूप-रेखा है, पर जायसी इस आध्यात्मिक संकेत को पूर्ण रूप से नहीं निबाह सके। उसका मुख्य कारण यह है कि जायसी ने मसनवी की शैली का आधार लेते हुए अपने काव्य में प्रत्येक छोटी से छोटी बात का इतना विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है कि विषय के विश्लेषण में सारी आध्यात्मिकता खो गई है। जायसी का अत्यधिक विलास-वर्णन भी आध्यात्मिकता के चित्र को अस्पष्ट कर देता है। इतना तो ठीक है कि रत्नसेन और पद्मावती का मिलन होता है जहाँ तक कि खुदा और बन्दे का एकीकरण है, पर जहाँ रत्नसेन और पद्मावती का अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता हुआ शृंगार वर्णन है वहाँ आध्यात्मिकता को किस प्रकार घटित किया जा सकता है? अतः जायसी का संकेत (Allegory) विशेष-विशेष स्थानों पर ही है। सारी कथा का घटना-पक्ष अध्यात्मवाद से नहीं मिल सका है। इसका एक कारण और भी हो सकता है। वह यह कि जायसी एक प्रेम-कहानी कहना चाहते हैं। ये अपनी प्रेम-कहानी के प्रवाह में सभी घटनाओं को कहते चलते हैं और आध्यात्मिकता भूल जाते हैं। जब मुख्य घटनाओं की समाप्ति पर इन्हें अपने अध्यात्मवाद की याद आती है तो उसका निर्देश कर देते हैं, पर कथा की व्यापकता में अध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाता, क्योंकि कथा घटना-प्रसंग से प्रेरित होकर कही गई है।

जायसी कबीर से विशेष प्रभावित हुए थे। जिस प्रकार कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों के बीच भिन्नता की भावना हटानी चाही उसी प्रकार जायसी ने भी दोनों संप्रदायों में प्रेम का बीज बोने का प्रयत्न किया। दोनों में सूफीमत के सिद्धांतों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है और इसी के फलस्वरूप दोनों रहस्यवादी हैं। ये संसार के प्रत्येक कार्य में एक परोक्ष सत्ता का अनुभव करते हैं और उसी को प्रधान मान कर ईश्वर की महानता का प्रचार करते हैं। अन्तर केवल इतना है कि कबीर अन्य धर्मों के लिए लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं रखते—वे उद्दंडता के साथ विपक्षी मत का खंडन करते हैं, उनमें सहिष्णुता का एकान्त अभाव है, पर जायसी प्रेम-पूर्वक प्रत्येक धर्म की विशेषता स्वीकार करते हैं और ईश्वर के अनेक रूपों में भी एक ही सत्ता देखने का विनयशील प्रयत्न करते हैं। कबीर ने जिस प्रकार अपने स्वतंत्र और निर्भीक विचारों के आधार पर अपने पंथ की 'कल्पना' की उस प्रकार जायसी ने नहीं की, क्योंकि जायसी के लिए जैसा तीर्थ-व्रत था वैसा ही नमाज-रोजा। ये प्रत्येक धर्म के लिए सहिष्णु थे, पर कबीर अपने ही विचारों का प्रचार देखना चाहते थे।

कबीर विधि-विरोधी और लोक-व्यवस्था का तिरस्कार करने वाले थे, पर जायसी ने कभी किसी मत के खंडन करने की चेष्टा नहीं की। इसका एक कारण था। जायसी का ज्ञान-क्षेत्र अधिक विस्तृत था। इन पर इस्लाम की संस्कृति के साथ-साथ हिन्दू-धर्म की संस्कृति भी पूर्ण रूप से पड़ी थी—वे कबीर की भाँति केवल सत्संगी जीव नहीं थे—पर गम्भीर रूप से शास्त्रीय ज्ञान से पूर्ण मनुष्य थे। यह बात दूसरी है कि इन्होंने जन-साधारण की अवधी भाषा का प्रयोग किया, इस प्रकार का प्रयोग तो तुलसीदास ने भी किया था। ये भाषा के व्यवहार में कबीर के समकक्ष होते हुए भी ज्ञान-निरूपण में अधिक मननशील और संयत थे। ये मसनवी की शैली में प्रेम-कहानी कहते हुए भी अपनी गम्भीरता नहीं खोते। यही इनकी विशेषता है। जायसी अपने ज्ञान में उत्कृष्ट होते हुए भी कबीर की महत्ता स्वीकार करते हैं :—

ना—नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहै सौं मैं हारा ॥[1]

जायसी ने अपनी सम दृष्टि से दोनों धर्मों को अपनी प्रेम-कहानी के सूत्र से एक कर दिया है। हिन्दू पात्रों के जीवन से इन्होंने सूफी सिद्धांत निकाले हैं। 'अखरावट' में भी उन्होंनों एक ओर सूफी मत का वर्णन किया है, दूसरी ओर वेदान्त का।

सूफीमत

साईं केरा बार, जो थिर देखै औ सुनै। नई-नई करै जुहार, मुहम्मद निति उठि पाँच बेर ॥
ना-नमाज है दीन क थूनी। पढ़ै नमाज सोइ बड़ गूनी ॥
कही सरीअत चिसती पीरू। उधरित असरफ औ जहँगीरू ॥
तेहि के नाव चढ़ा हौं धाई। देखि समुद जल जिउ न डेराई ॥
जेहिं के ऐसन सेवक भला। जाइ उतरि निरभय सो चला ॥
राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत मार बुड़की ॥
ढूढ़ि उठै लेइ मानिक मोती। जा समाइ जोति महँ जोती ॥
जेहि कहँ उन्ह अस नाव चढ़ावा। कर गहि तीर खेइ लेइ आवा ॥
सांची राह सरीअत जेहि बिसवास न होइ। पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोइ ॥[2]

वेदान्त

माया जारि अस आपुहि खोई। रहै न पाप, मैलि गइ धोई ॥
गौं दूसर भा सुन्नहि सुन्नू। कहँ कर पाप, कहाँ कर पुन्नू ॥
आपुहि गुरू, आपु भा चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला ॥
अहै सो जोगी, अहै सो भोगी। अहै सो निरमल अहै सो रोगी ॥

---

१ अखरावट (जायसी ग्रंथावली) पृष्ठ ३६५
ना० प्र० सभा, काशी (१९२४)

२ अखरावट (जायसी ग्रंथावली) पृ० ३५३-३५४

अहै सो कड़वा अहै सो मीठा। अहै सो आमिल अहै सो सीठा॥
वै आपुहि कहँ सब महँ मेला। रहै सो सब महँ, खेलै खेला॥
उहै दोउ मिलि एकै भयऊ। बात करत दूसर होइ गयऊ॥
जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिंन कोइ।
जो मन चाहा सो किया जो चाहै सो होइ॥[1]

इस प्रकार जायसी ने हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों की संस्कृति का चित्र अपनी रचनाओं में प्रदर्शित किया है। यहाँ यह देखना आवश्यक है कि जायसी के साहित्यिक दृष्टिकोण को निर्मित करने में प्रत्येक संस्कृति का कितना हाथ है।

(क) मुसलमान संस्कृति

(१) मुसलमान संस्कृति का स्पष्टतः प्रभाव तो पहले जायसी की रचना-शैली पर ही पड़ा। 'पद्मावत' की रचना-शैली मसनवी के ढंग की है। समस्त रचना में अध्याय और सर्ग न होकर घटनाओं के शीर्षकों के आधार पर 'खंड' हैं। कथा ५७ 'खंडों' में समाप्त हुई है। कथा-प्रारंभ के पूर्व स्तुति खंड में ईश्वर स्तुति, मुहम्मद और उनके चार मित्रों की वंदना, फिर तत्कालीन राजा (शेरशाह) की वंदना है। उसके बाद आत्म-परिचय देकर कथारम्भ किया गया है। आदि से अंत तक प्रबन्धात्मकता की रक्षा की गई है। यह सब मसनवी के ढंग पर किया गया है।

ईश्वर स्तुति

सुमरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥[2]

मुहम्मद स्तुति

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मोहम्मद पूनो करा॥
चारि मीत जो मुहम्मद ठाऊँ। जिन्हहिं दीन्ह जग निरमल नाऊँ॥[3]

सुल्तान स्तुति

सेरसाहि देहली सुल्तानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥[4]

आत्म-परिचय

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। सोइ, बिमोहा जेइ कवि सुनी॥[5]
जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू॥[6]

---

१ अखरावट (जायसी ग्रन्थावली) पृष्ठ ३६८
२ 'पद्मावत', पृष्ठ १
३ 'पद्मावत', पृष्ठ ५
४ 'पद्मावत', पृष्ठ ५
५ 'पद्मावत', पृष्ठ ६
६ 'पद्मावत', पृष्ठ १०

हौं पंडितन केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देई डगा ॥[१]

(२) समस्त कथा में सूफी सिद्धांत बादल में पानी के बूँद की भाँति छिपे हुए हैं। 'सिंहलद्वीप वर्णन' खंड में सिंहलगढ़ का वर्णन आध्यात्मिक पद-प्राप्ति के रूप में किया गया है।

नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ वज्र किवार।
चार बसेरे सों चढ़ै, सत सों उतरै पार ॥
नव पौरी पर दसवँ दुआरा। तेहि पर बाज राज घरियारा ॥[२]

इसमें साधकों की चार अवस्थाओं शरियत, तरीकत, हकीकत और मारिफत का संकेत बड़े चातुर्य से किया गया है। अन्त में समस्त कथा को सूफी मत का रूपक दिया गया है।

मैं एहि अर्थ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछु और न सूझा ॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माँही ॥
तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥
गुरू सुवा जेहि पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमयी यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा ॥[३]

(३) जायसी को इस्लाम धर्म में पूरी आस्था थी। उसके अनुसार इन्होंने मसनवियों की प्रेम-पद्धति का ही अधिक अनुसरण किया है, यद्यपि बीच-बीच में हिन्दू लोक-व्यवहार के भाव अवश्य आ गए हैं। पद्मावती का केवल रूप वर्णन सुन राजा रत्नसेन का विरह में व्याकुल हो जाना बहुत हास्यास्पद है। मसनवियों की प्रेम-पद्धति इसी प्रकार की है। रत्नसेन की व्याकुलता का चित्र जायसी ने इस प्रकार खींचा है :—

सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई ॥
प्रेम-घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई ॥
परा सो प्रेम समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसभारा ॥
बिरह भौंर होइ भांवरि देई। खिन-खिन जीव हिलोरा लेई ॥
खिनहिं उसास बूड़ि जिउ जाई। खिनहिं उठै निसरै बौराई ॥
खिनहिं पीत खिन होइ मुख सेता। खिनहिं चेत खिन होइ अचेता ॥
कठिन मरन तें प्रेम बेवस्था। ना जिउ जियें न दसवँ अवस्था ॥
जनु लेनिहार न लेहि जिउ, हरहि, तरासहिं ताहि ॥
एतनै बोल आव मुख, करै तराहि तराहि ॥[४]

---

१ 'पद्मावत', पृष्ट १०
२ 'पद्मावत', पृष्ठ १८
३ 'पद्मावत', पृष्ठ ३३२
४ 'पद्मावत', पृष्ठ ५३

(४) जायसी के विरह-वणन में वीभत्सता आ गई है। शृंगार रस के अंतर्गत विरह में रति की भावना प्रधान रहनी चाहिए, तभी रस की पुष्टि होगी। जायसी ने विरह में इतनी वीभत्सता ला दी है कि उससे रति के भाव को बहुत बड़ा आघात लगता है। वह वीभत्सता भी मसनवी की शैली से उद्भूत है।

विरह के दगध कीन्ह तन भाठी। हाड़ जराइ कीन्ह जस काठी।।
नैन नीर सों पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया।।
विरह सरागन्हि भूँजै मांसू। गिरि-गिरि परै रकत कै आँसू।।[१]

इस विरह-वर्णन से सहानुभूति उत्पन्न न होकर जुगुप्सा उत्पन्न होती है। हिन्दी कविता के दृष्टिकोण से यह विरह-वर्णन शृंगार रस का अंग नहीं हो सकता।

(५) मसनवी की वर्णनात्मकता भी जायसी को विशेष प्रिय थी। इन्होंने छोटी-छोटी बातों का बड़ा विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इससे चाहे कथा का कलेवर कितना ही बढ़ जावे, पर सजीवता को आघात लगता है। पाठक वर्णन-विस्तार में प्रधान भाव को भूलने लगता है और कथा की साधारण बातों में उलझ जाता है। 'पद्मावत' में इस वर्णन-विस्तार की बहुत अधिकता आ गई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वर्णन बहुत बड़े हो गए हैं :

(अ) सिंहल द्वीप वर्णन

अमराई की अलौकिकता, पनघट का दृष्य, हिन्दू-हाट, गढ़ और राजद्वार।

(आ) सिंहल द्वीप यात्रा वर्णन

प्राकृतिक वर्णन, मानसिक भावों के अनुकूल और प्रतिकूल दृश्य वर्णन।

(इ) समुद्र वर्णन

जल-जीवों का वर्णन, सात समुद्रों का वर्णन।

(ई) विवाह वर्णन

व्यवहारों की अधिकता, समारोह।

(उ) युद्ध वर्णन

शौर्य, शस्त्रों की चमक, झनकार, हाथियों की रेलपेल, सिर और धड़ का गिरना, वीभत्स व्यापार।

(ऊ) बादशाह का भोज वर्णन

भोजनों की लम्बी सूची।

(ए) चित्तौर गढ़ वर्णन

सिंहलगढ़ की भाँति वर्णन-विस्तार।

(ऐ) षट् ऋतु, बारह मासा वर्णन

उद्दीपन की दृष्टि से प्राकृतिक दृश्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन।

---

१. 'पदमावत', पृष्ठ ७०

(ख) हिन्दू संस्कृति

(१) डिंगल साहित्य के बाद हिन्दी कविता का जो प्रवाह मध्यदेश में हुआ उसमें ब्रजभाषा और अवधी का विशेष हाथ रहा। यों तो अमीर खुसरो ने खड़ीबोली, ब्रजभाषा और अवधी तीनों पर अपनी प्रतिभा का प्रकाश डाला था, पर वह रचना केवल प्रयोगात्मक थी। मलिक मुहम्मद जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का सफल प्रयत्न किया। जायसी के बाद तुलसीदास ने तो अवधी को 'मानस' के कोमल कलेवर में अमर कर दिया। जायसी का अवधी प्रयोग यद्यपि असंस्कृत था, उसमें साहित्यिक सौन्दर्य की मात्रा तुलसी से अपेक्षाकृत कम थी, तथापि भाषा की स्वाभाविकता, सरसता और मनोगत भावों की प्रकाशन-सामग्री के रूप में जायसी ने अवधी को साहित्य क्षेत्र में मान्य बना दिया। इस अवधी प्रयोग के साथ जायसी ने हिन्दी छन्दों का भी सरस प्रयोग किया। दोहा और चौपाई यद्यपि कुतुबन द्वारा प्रयुक्त हो चुके थे, पर प्रेमाख्यानक काव्य में इन छन्दों का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग जायसी के द्वारा हुआ। इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थ 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोहा-चौपाई छन्दों में लिखे। सात चौपाई की पंक्तियों के बाद एक दोहा छन्द है। चौपाई की एक पंक्ति ही पूरा छन्द मान ली गई है। यदि दो पंक्तियों को छन्द माना जाता तो जायसी को आठ पंक्तियाँ लिखनी पड़तीं।

(२) जायसी ने हिन्दू-संस्कृति के अंतर्गत अनेक दार्शनिक और धार्मिक बातों की चर्चा की है। यद्यपि यह चर्चा अनेक प्रकार से अपूर्ण है, पर इससे हिन्दू प्रवृत्ति की ओर कवि की रुचि स्पष्ट लक्षित हो जाती है। हिन्दू संस्कृति की निम्न-लिखित बातों की ओर कवि का विशेष लक्ष्य है :—

(अ) वेदान्त

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै। सूरज दिपै अकास, मुहमद सब महँ देखिए ॥[1]

(अ) हठयोग

नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा। औ तहँ फिरहिं पाँच कुटवारा।
दसवें दुवार गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका ॥[2]

(इ) रसायन

होइ अबरक ईंगुर भया, फेरि अगिनि महँ दीन। काया पीतर होइ कनक, जो तुम चाहहु कीन ॥[3]

(३) संयोग और वियोग शृंगार-वणन यद्यपि कहीं-कहीं मसनवी की प्रेम-पद्धति से प्रभावित हो गए हैं, पर वे अंततः हिन्दू संस्कृति के आधार पर ही

---

१ 'अखरावट', पृष्ठ ३६५

२ 'पद्मावत', पृष्ठ १००

३ 'पद्मावत', पृष्ठ १४०

लिखे गए हैं। हिन्दू पात्रों के होने के कारण उनका दृष्टिकोण भी हिन्दू आदर्शों से पूर्ण है। विरह में षट्ऋतु और बारहमासा तो हिन्दी कविता की विशेष वस्तु है। अलंकारों के वर्णन में हिन्दी काव्य-परिपाटी का ही अनुसरण किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अनेक अलंकारों का भाव और चित्र आधार एक मात्र हिन्दू संस्कृति और साहित्य से ओतप्रोत है।

(४) पात्रों का चरित्र-चित्रण हिन्दू जीवन के आदर्श से पूर्ण सामंजस्य रखता है। पात्र स्वभावतः दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। एक का दृष्टिकोण सतोगुणी और दूसरे का तमोगुणी होता है। दोनों में संघर्ष होता है। अन्त में पाप पर पुण्य की विजय हो जाती है और सम्पूर्ण कथा सुखान्त होकर एक शिक्षा और उपदेश सम्मुख रखने में समर्थ होती है। यही बात 'पद्मावत' के प्रत्येक पात्र के सम्बन्ध मे है। रत्नसेन में प्रेम का आदर्श है। वह सम्पूर्ण रूप से धीरोदात्त दक्षिण नायक है। धीरोदात्त नायक में जितने गुण होने चाहिए वे सभी गुण रत्नसेन में हैं। पद्मावती स्त्री-धर्म की मर्यादा में दृढ़ और प्रेम करने वाली है। नागमती भी प्रेम के आदर्श में दृढ़ है "मोहिं भोग सों काज न बारी। सोंह दीठि की चाहन हारी ॥" में उनका उत्कृष्ट नारीत्व निहित है। वह रूपगर्विता भले ही हो, पर अपने पति के साथ सती होने की क्षमता रखती है। गोरा-बादल तो अपने वीरत्व के कारण अमर हैं। राजपूती स्वाभिमान और स्वामिभक्ति का आदर्श उनके प्रत्येक कार्य में है। दूसरी ओर अलाउद्दीन राघव चेतन और देवपाल की दूती तामसी प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। अलाउद्दीन लोभी, अभिमानी और इन्द्रिय-लोलुप है राघवचेतन अहंकारी, कृतघ्नी, निर्लज्ज, नीच और वाममार्गी है। देवपाल की दूती धूर्त, प्रगल्भ और आडम्बरपूर्ण है। इन दोनों वर्गों के पात्रों में युद्ध होता है और अन्त में सतोगुण की विजय होती है। सूफीमत के सिद्धान्तों से कथावस्तु का विकास होने तथा ऐतिहासिक घटना का आधार लेने के कारण घटनाओं में कहीं-कहीं व्याघात आ गया है और वे दुःखान्त हो गई हैं, पर सूफीमत के दृष्टिकोण से मरण दुःखान्त न होकर सुखान्त का साधन रूप है। रत्नसेन की मृत्यु के बाद पद्मावती और नागमती का सती होना जहाँ एक ओर हिन्दू स्त्री के आदर्श की पूर्ति करता है, वहाँ दूसरी ओर सूफीमत के मिलन का उपक्रम भी करता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में हिन्दू संस्कृति का प्रभाव पूर्ण रीति से है।

'पद्मावत' की कथा

'पद्मावत' की कथा अन्य प्रेम-कथाओं की भाँति प्रेम की अनुभुतियों से पूर्ण है। सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती के सौन्दर्य की प्रशंसा हीरामन तोता से सुन कर चित्तौड़ का राजा रत्नसेन उससे विवाह करने के लिए सिंहलद्वीप की ओर प्रस्थान करता है। मार्ग में अनेक विस्तृत सागरों को पार कर

वह सिंहल द्वीप पहुँचता है। वहाँ शिवजी की सहायता से भीषण युद्ध के बाद रत्नसेन पद्मावती से विवाह करता है। कुछ दिनों बाद वह चित्तौड़ लौट आता है। ज्योतिष सम्बन्धी अनाचार पर रत्नसेन राघवचेतन को देश-निकाला दे देता है जो अलाउद्दीन से मिलकर, पद्मावती के सौन्दर्य की कहानी कह कर चित्तौड़ पर चढ़ाई करवा देता है। गोरा-बादल की सहायता के कारण अलाउद्दीन विजय प्राप्त नहीं कर सका, परन्तु वह छलपूर्वक राजा को बाँध ले जाता है। यहाँ पद्मावती गोरा-बादल की सहायता से राजा को चतुराई पूर्वक छुड़ा लेती है। रत्नसेन की अनुपस्थिति में देवपाल अपनी दूती भेज कर पद्मावती से प्रेम-याचना करता है। रत्नसेन जब यह सुनता है तो वह द्वन्द्व युद्ध में देवपाल का सिर काट लेता है, पर देवपाल की साँग से खुद भी मर जाता है। पद्मावती और नागमती सती हो जाती हैं। स्वयं कवि इस कथा का सारांश स्तुति-खण्ड में इस प्रकार देता है :—

सिंहल द्वीप पदमिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलउद्दीन देहली सुलतानू। राघो चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिंदू तुरकन भई लराई॥
आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै॥[१]

प्रेम-काव्य की कथाएँ अधिकतर काल्पनिक ही हैं, पर जायसी ने कल्पना के साथ-साथ इतिहास की सहायता से अपने 'पद्मावत' की कथा का निर्माण किया। रत्नसेन की सिंहल-यात्रा काल्पनिक है और अलाउद्दीन का पद्मावती के आकर्षण में चित्तौड़ पर चढ़ाई करना ऐतिहासिक। टाड ने पद्मिनी (या पद्मावती) के पति का नाम भीमसीं लिखा है, पर आईन अकबरीकार ने रत्नसिंह ही लिखा है। जायसी ने यही नाम अपनी प्रेम-कथा के लिए चुना है। जायसी ने देवपाल का चित्रण भी कल्पना से ही किया है। रत्नसेन की मृत्यु सुल्ताना के द्वारा न होकर देवपाल के हाथ से होना भी कवि की अपनी कल्पना है।

कवि ने अपनी कथा का विस्तार बड़े मनोरंजक ढंग से किया है। जहाँ घटनाओं की वास्तविकता का चित्रण किया है वहाँ तो कवि भाव-जगत् में बहुत ऊँचा उठ गया है। घटनाओं की शृंखला पूर्ण स्वाभाविक है। यदि कहीं उसमें दोष है तो वह आदर्श और अतिशयोक्ति के कारण। हिन्दू-धर्म के आदर्शों ने कवि को एक सात्विक पथ पर चलने के लिए बाध्य किया है। कथा में कवि की मनोवृत्ति ऐसी ज्ञात होती है कि वह संसार को उसके वास्तविक नग्न स्वरूप में चित्रित करना चाहता है, पर उसका आध्यात्मिक संदेश और आदर्श के प्रति प्रेम उसे ऐसा करने से रोकते हैं। रत्नसेन के प्रेमावेश में अस्वाभाविकता है और यह अस्वाभाविकता इसीलिये आ गई है कि कवि इस प्रेमावेश को आत्मा या साधक के प्रेमावेश में घटित करना

१ 'पद्मावत' स्तुति-खंड, पृष्ठ १०

चाहता है। वस्तुस्थिति के वर्णन में जो अस्वाभाविकता है उसमें भी साहित्य के आदर्श बाधा डाल देते हैं। कहीं-कहीं उसमें आध्यात्मिक तत्व खोजने के प्रयत्न में स्वाभाविकता का नाश हो जाता है। पद्मावती के रूपवर्णन में नखशिख खंड के अन्तर्गत कवि लंक (कमर) चित्रण में लिखता है :—

बसा लंक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लंक वह खीनी॥
परिहँस पियर भए तेहि बसा। लिए डंक लोगन्ह कहँ डसा॥
मानहुँ नाल खंड दुई भये। दुहुँ बिच लंक तार रहि गए॥[1]

(संसार बर्रं की कमर की कृशता की प्रशंसा करता है, पर पद्मावती की कमर उसकी कमर से भी पंतली है। बर्रं लज्जित हो इसीलिये पीली पड़ गई है और ईर्ष्यावश डंक लेकर लोगों को काटती फिरती है। उसकी कमर मृणाल के दो खंड हो जाने पर बीच में लगे हुए तारों के समान क्षीण है।)

यहाँ यह वर्णन कितना अतिशयोक्तिपूर्ण है। इसमें चाहे साहित्यिक चमत्कार भले ही हो, पर स्वाभाविकता नहीं है। आध्यात्मिक चित्रण की भावना में भी वर्णन की स्वाभाविकता में दोष आ गया है। पद्मावती के 'बरुनी-वर्णन' में आध्यात्मिकता इस प्रकार प्रदर्शित की गई है:—

बरुनी का बरनौ इमि बनी। साधे बान जानु दुई अनी॥
जुरी राम रावन कै सैना। बीच समुद्र भये दुई नैना॥
बारहि पार बनावरि साधा। जा सहुँ हरै लाग बिष बाधा॥
उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बना ओही के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ-रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहि सूत बेध अस गाढ़े॥
बरुनि बान अस ओ पहँ बेधे रन बन ढाँख॥
सौजहि तन सब रोवाँ पखिहि तन सब पाँख॥[2]

बरुनी को बाणों का रूप देकर संसार के रोम-रोम में उनका अस्तित्व घोषित करना वास्तव में उच्चकोटि का संकेत है। ऐसे ही स्थलों पर कहीं-कहीं वर्णन में अस्वाभाविकता आ जाती है, पर ऐसे वर्णन किसी प्रकार भी शिथिल नहीं होते, यह कवि की प्रतिभा की महानता है।

'पद्मावत' की कथा इतिवृत्तात्मक होते हुए भी रसात्मक है। बिना इतिवृत्त के कौतूहल की सृष्टि नहीं होती और बिना वर्णन-विस्तार के रसात्मकता नहीं आती। जहाँ जायसी ने कौतूहल की सृष्टि की है वहाँ इन्होंने वर्णन-विस्तार में भी मनोरंजन की यथेष्ट सामग्री रक्खी है। कथावस्तु के पाँच भाग होते हैं। प्रारम्भ,

---

१ 'पद्मावत', पृष्ठ ५१
२ 'पद्मावत', पृष्ठ ४६

आरोह, चरम सीमा, अवरोह और अंत। रसात्मकता के साथ कथा वस्तु का रूप इस प्रकार है :—
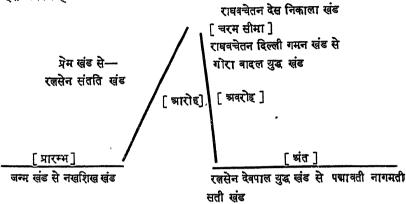
राघवचेतन देस निकाला खंड ही कथा के प्रवाह को बदल देता है, अतः वही कथा की चरम सीमा है। जन्म खंड से नखशिख खंड तक वातावरण की सृष्टि होती है। प्रेम खंड से संघर्ष प्रारम्भ होता है जो राघवचेतन देस निकाला खंड में उत्कर्ष को प्राप्त होकर चरम सीमा का निर्माण करता है और उसकी समाप्ति गोरा-बादल के युद्ध में होती है। अंत में रत्नसेन देवपाल युद्ध से पद्मावती और नाग-मती के सती होने में कथा की समाप्ति है।

प्रधान कथा रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम की ही है। यदि इसे आधिका-रिक कथा-वस्तु मान लिया जावें तो इसकी सहायता के लिए इस आख्यान में प्रासंगिक कथा-वस्तु निम्नलिखित पात्रों की होगी :—

१. **राघवचेतन**—चित्तौड़ की चढ़ाई के पश्चात् इसका निर्देश भी नहीं है। यह केवल अवसर-विशेष पर काम कर कथावस्तु से निकल जाता है।

२. **हीरामन तोता**—इसका भी विवाह के बाद निर्देश नहीं है। यह सिंहलद्वीप का पथ-प्रदर्शन कर अपना कार्य समाप्त कर देता है।

३. **तूफान**—यह अलाउद्दीन और रत्नसेन के बीच सन्धि कराने में प्रयुक्त पाँच रत्न उपस्थित करने में ही कथावस्तु में स्थान पाता है।

४. **देवपाल दूती**—यह रत्नसेन और देवपाल में युद्ध कराने की अनु-क्रमणिका प्रस्तुत करती है।

इनके द्वारा प्रासंगिक कथावस्तु का निर्माण होता है जिससे प्रधान या आधिकारिक कथावस्तु का विकास होता है। 'पद्मावत' में कथावस्तु की ही प्रधानता है, क्योंकि कवि ने उन्हीं घटनाओं की सृष्टि की है जिनसे पात्रों के

आदर्श की पूर्ति होते हुए भी कौतूहल उत्पादन करने वाली प्रेम-कथा की रूप-रेखा निर्मित हो जावे । अतः 'पद्मावत' घटना-प्रधान कहा जा सकता है, पात्र-प्रधान नहीं । घटना-प्रधान में वर्णनात्मकता का बहुत बड़ा स्थान है जिस पर पीछे विचार हो चुका है। कवि जिस चीज को हाथ में लेता है उसी का वर्णन-विस्तार कर देता है। उदाहरणार्थ सिंहलद्वीप में फूलों-फलों और घोड़ो के नाम, भोजन में पकवानों के नाम, पद्मावती-रत्नसेन की प्रथम भेंट के समय सोलह शृंगार का वर्णन, रत्नसेन का रसायन और हठयोग-सम्बन्धी ज्ञान आदि आवश्यकता से अधिक वर्णित है।

'पद्मावत' का सबसे बड़ा सौन्दर्य पात्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में है। नागमती का विरह-वर्णन, उसकी उन्माद दशा, पशु-पक्षियों का उससे सहानुभूति प्रकट करना, पक्षी द्वारा संदेश आदि सभी स्वाभाविकता के साथ विदग्धतापूर्ण भाषा में वर्णित हैं। बारहमासा में वेदना का कोमल स्वरूप, हिन्दू दाम्पत्य-जीवन का मर्मस्पर्शी माधुर्य, प्रकृति की सजीव अभिव्यक्ति से हृदय की मनोहर अनुभूति है । इसी मनोवैज्ञानिक चित्रण में रसों का सफल प्रदर्शन हुआ है । जहाँ रत्नसेन पद्मावती-मिलन में संयोग और नागमती के विरह-वर्णन में वियोग शृंगार की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वहाँ गोरा-बादल के उत्साह में वीर रस जैसे साकार हो गया है । रत्नसेन के योगी होने और कथा के अन्तिम भाग में मारे जाने पर करुण रस की बड़ी सरस अभिव्यक्ति है । इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से नहीं, प्रत्युत मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी 'पद्मावत' प्रेम-काव्य का एक चिरस्मरणीय रत्न रहेगा।

मलिक मुहम्मद जायसी के बाद प्रेम-काव्य में उसमान का नाम आता है जिन्होंने 'चित्रावली' नामक ग्रंथ लिखा।

'चित्रावली' को हम 'पद्मावत' की छाया कह सकते हैं। 'पद्मावत' में जिन-जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है, उन्हीं विषयों पर 'चित्रावली' में भी विस्तारपूर्वक वर्णन है, किन्तु यह कथा 'पद्मावत' की भाँति ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बद्ध नही है । यह कल्पना-प्रसूत है । इसके सम्बन्ध में स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं :—

"कवि ने इस ग्रंथ में ठौर-ठौर पर वेदान्त और अद्वैतवाद की झलक दिखलाने में कमी नहीं की है। कथा ऐतिहासिक घटना से नही ली गई जान पड़ती बल्कि कल्पना-प्रसूत है । नैपाल के राजसिंहासन पर एक भी पँवार राजा नहीं हुआ है । कथा विचारने से आध्यात्मिक प्रतीत होती है और इसीलिए ग्रंथ में सुजान को शिव का अवतार लिखा है ।"[१]

---

१ चित्रावली (जगन्मोहन वर्मा द्वारा सम्पादित) भूमिका पृष्ठ, १६
नागरी प्रचारिणी सभा, १९१२

स्वयं कवि ने अपनी कथा को कल्पित बतला कर लिखा है :—

कथा एक मैं हिएं उपाई। कहत मीठ और सुनत सुहाई ॥
कहौं बनाय जैसे मोहिं सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा ॥[१]

'चित्रावली' की कथा में घटनाओं की शृंखला बहुत लम्बी और बहुत कौतूहलपूर्ण है उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है। कथा को विस्तृत रूप देने के लिये जबर्दस्ती विपत्तियों की कल्पना की गई है। संक्षेप में नैपाल के राजा धरनीधर पँवार के पुत्र सुजान कुमार अनेक कठिनाइयों के बाद कँवलावती और चित्रावली से विवाह करने में समर्थ होते हैं। दो राजकुमारियों से विवाह करने के पूर्व जितनी कठिनाइयाँ सामने आती हैं उनका विस्तृत वर्णन 'चित्रावली' में है।

इस ग्रंथ में जहाँ कल्पना का प्राधान्य है, वहाँ ग्रंथ में आध्यात्मिकता रखने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। सरोवर खंड में चित्रावली का जल में छिप जाना ईश्वर के गुप्त होने से साम्य रखता है। सखियाँ खोजती हैं और नहीं पातीं जिस प्रकार मनुष्य ईश्वर की खोज नहीं कर पाता।

गुपुत तोहि पावहि का जानी, परगट महँ जो रहिह छपानी।
चतुरानन पढ़ि चारौं बेदू, रहा खोजि पै नाव न भेदू।
संकर पुनि हारे कै सेवा, ताहि न मिलिउ और को देवा।
हम अंधी जेहि आपुन सूझा, भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा।
कौन सो ठाऊँ जहाँ तुम नाहीं, हम चषु जोति न देखहिं काहीं।
पावै खोज तुम्हार सो, जेहि देखलावहु पन्थ।
कहा होइ जोगी भये, औ पुनि पढ़े गरंथ ॥[२]

आध्यात्मिकता के साथ 'चित्रावली' में नीति के भी दर्शन होते हैं। इस नीति का आधार उसमान की लोकोक्तियाँ हैं, जो समस्त ग्रंथ में भरी पड़ी हैं।

'चित्रावली' में भूगोल भी यथेष्ट वर्णित है। रचना के समय में अँग्रेजों का वर्णन उसमान की बहुज्ञता का सूचक है। उस समय अँग्रेजों को भारत में आये कठिनता से एक वर्ष ही व्यतीत हुआ था। इतने थोड़े समय में उसमान का अँग्रेजों के सम्बन्ध में उल्लेख उनकी ज्ञान-राशि का सूचक है :—

वलंदीप देखा अँग्रेजा, तहाँ जाइ नहि कठिन करेजा।
ऊँच नीच धन संपति हेरा, मद बराह भोजन जेहि केरा ॥

श्री जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं :—

"उस समय अँग्रेजों को आये इस देश में बहुत थोड़े दिन हुए थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी सन् १६०० में लंडन में बनी थी और १६१२ में सूरत में कम्पनी ने

---

१ चित्रावली (जगन्मोहन वर्मा द्वारा, संपादित) भूमिका पृष्ठ १४
२ 'चित्रावली' (ना० प्र० सभा) पृष्ठ ४७-४८

अपना गोदाम बनाया था। उसके एक वर्ष बाद १६१३ का रचा हुआ यह ग्रंथ है। उस समय कवि का एक साधारण गाजीपुर ऐसे छोटे नगर में रह कर अंग्रेज के विषय में इतनी जानकारी रखना कोई साधारण बात नहीं है।"[1]

उसमान जहाँगीर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम शेख हुसेन था। इनके चार भाई थे। ये गाजीपुर के निवासी थे और निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में हाजी बाबा के शिष्य थे। इन्होंने 'चित्रावली' में हाजी बाबा की प्रशंसा जी खोल कर की है। उसमान कविता में अपना नाम 'मान' रखते थे।

इन प्रेमकथाओं के अतिरिक्त अनेक प्रेमकथाएँ ऐसी भी लिखी गई जो संपूर्णतः आख्यानक थीं और उनमें प्रेम के मनोविज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यंजना नहीं है। ये प्रेमकथायें गद्य और पद्य दोनों ही में लिखी गई हैं :—

ऐसी प्रेमकथाओं में निम्नलिखित प्रमुख हैं :—

[पद्य में]

१ **माधवानल कामकन्दला**—माधवानल और कामकन्दला की प्रेम-कथा प्रमुख रूप से तीन कवियों द्वारा कही गई है। पहले कवि हैं जैसलमेर के वाचक कुशल लाभ। इन्होंने संवत् १६१६ में रावल मालदे के राज्यकाल में कुमार हरिराज के मनोरंजनार्थ ५५३ पद्यों में (चौपाई, दोहा और गाहा में) लिखी। इस रचना का नाम 'माधवानल कामकन्दला चरित्र' है। दूसरे कवि हैं आलम। इन्होंने हिजरी ९९१ (संवत् १६४०) में शाहंशाह जलालुद्दीन अकबर के राज्यकाल में दोहा-चौपाई में यह रचना लिखी। इसका नाम 'माधवानल भाषा बन्ध कवि आलमकृत, है। तीसरे कवि हैं गणपति जो नरसा के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १५८४ में राणा नाग के राज्यकाल में दोहों में यह रचना लिखी। इसका नाम 'माधवानल प्रबन्ध दोग्धबन्ध कवि गणपतिकृत' है। इसका निर्देश चारणकालीन साहित्य में हो चुका है।

२ **कुतुब सतक**—यह सम्पूर्ण रूप से एक प्रेम-कथा है जिसमें दिल्ली के सुलतान फिरोजशाह के शाहजादे कुतुब दी और एक मुसलमान किशोरी साहिबा का प्रेम-वृत्तान्त है। ढाढ़िनी देवर के प्रयत्नों से साहिबा फन्दे में आ जाती है और दोनों का विवाह हो जाता है। यह कथा (वचनिका) तुकान्त गद्य में है और बीच-बीच में दोहे हैं। इस प्रेमकथा का लिपिकाल संवत् १६३३ है रचियता का नाम अज्ञात है।

३ **रस रतन**—इस ग्रंथ में सूरसैन की बड़ी लम्बी कथा वर्णित है। इसमें स्थान-स्थान पर नीति, शृंगार और काव्य के अनेक अंगों का वर्णन है। इसमें

---

[1] चित्रावली (ना० प्र० सभा) पृष्ठ १७

प्रेमाख्यानक शैली का सम्पूर्णतः अनुसरण किया गया है और प्रत्येक बात का वर्णन विस्तारपूर्वक है। इस ग्रंथ के लेखक मोहनदास के पुत्र पुहकर कवि थे, जो जाति के कायस्थ थे। ये प्रतापपुर (मैनपुरी) के निवासी थे और जहाँगीर के समकालीन थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६७५ माना गया है।

४ **ज्ञानद्वीप**—इस ग्रंथ में राजा ज्ञानद्वीप और रानी देवजानी की प्रेम-कथा है। इसके लेखक मऊ (दोसपुर, जौनपुर) निवासी शख नबी थे। इनका समय सं० १६७६ माना गया है।

५ **पंच सहेली कवि छीहल री कही**—इस रचना में पाँच तरुणी स्त्रियों—मालिन, तंबोलिन, छीपन, कलालिन, सोनारिन ने प्रोषितपतिका नायिका के रूप में अपने प्रियतमों के विरह में अपने हृदय के करुण आवेगों का वर्णन सरोवर के किनारे जल भरते समय कवि छीहल से किया। प्रत्येक तरुणी ने अपने विरह का वर्णन अपने पति के व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के उल्लेख और तत्सम्बन्धी उपमाओं और रूपकों के सहारे किया है। कुछ दिनों बाद जब कवि छीहल की फिर उनसे भट हुई तो वे अपने पतियों के आगमन से प्रसन्न थीं। इस रचना में केवल ६५ दोहे हैं। इसका लिपिकाल संवत् १६६६ है।

६ **सदैवछ सावलिंगा रा दूहा**—इसमें मूगी पटण (अमरावती) के राजा सालिवाहन के पुत्र सदैवछ और मंत्री पुत्री सावलिंगा की प्रेम-कथा है। प्रारम्भ की वार्ता के बाद इसमें ३१ दोहे हैं। जिस 'फुटकर कविता' में यह रचना है, उसका लिपिकाल संवत् १७१० है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

७ **सोरठ रा दूहा**—यह रचना भी 'फुटकर कविता' (लिपिकाल संवत् १७१०) में है। इसमें बीजो और राव रूड़ो की स्त्री सोरठ के प्रेम के दोहे हैं। इसकी एक प्रति 'बीजा सोरठ री बात' भी है जिसका लिपिकाल सं० १८२२ है। इसमें गद्य-पद्य दोनों ही हैं। रचयिता अज्ञात है।

८ **कनक मंजरी**—इस ग्रंथ में रत्नपुर के व्यापारी धनधीर साह की स्त्री कनक मंजरी से वहाँ के राजकुमार ने पति-प्रवास में प्रेम-याचना की, पर वह सफल न हो सका। इस ग्रंथ के लेखक औरंगजेब के सूबेदार निजामत खाँ के आश्रित कवि काशीराम थे। काशीराम ने यह कथा राजकुमार लक्ष्मीचन्द के लिए लिखी थी। संभव है, इसके पीछे लेखक का कोई उद्देश्य हो। काशीराम का आविर्भाव-काल संवत् १६२० माना गया है।

९ **मैनासत**—यह एक नीति सम्बन्धी कथा है जो साधन कवि द्वारा दोहा-चौपाई में लिखी गई है। इसमें मालन रतना ने रानी मैना के पातिव्रत की परीक्षा ली है। जिस 'फुटकर कविता री संग्रह' में यह कथा है, उसका लिपिकाल संवत् १७२४ और १७२७ के बीच में है।

१० **मदन सतक**—यह भी नीति सम्बन्धी ११३ दोहों में लिखी गई एक प्रेम-कथा है जिसमें मदन कुमार और चंपकमाल का प्रेम वर्णित है। इसके रचयिता का नाम दाम है। दोहों के बीच-बीच में वार्ता (गद्य) भी है। यह कथा भी 'फुटकर कविता रौ संग्रह' में है जिनका लिपिकाल संवत् १७२४ और १७२७ के बीच में है।

११ **ढोला मारू रा दूहा**—यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है और इसके रचयिता कुशललाभ कहे जाते हैं। इसमें ढोला और मारव या मारू की प्रेम-कहानी है। इसका निर्देश चारणकालीन साहित्य में हो चुका है। कुशललाभ के 'दूहों' में हरराज ने चौपाइयाँ जोड़ कर 'ढोला मारू री चौपही' की रचना की। 'राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज' भाग १, में 'ढोला मारू री चौपाई' की तीन प्रतियाँ प्राप्त हुईं जिनका लिपिकाल क्रमशः संवत् १७२६,१८१६ और १७६४ है। संवत् १७६४ वाली प्रति का नाम 'ढोला मारवणी री वात' है। बीकानेर में प्राप्त हुए एक संग्रह ग्रंथ में जो 'ढोलै मारू रा दूहा' संग्रहीत है, उसका लिपिकाल संवत् १७५२ है।

१२ **विनोद रस**—इसमें उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के पुत्र जयसेन और वहाँ के सेठ श्रीदत्त की पुत्री लीलावती की प्रेम-कथा है। इसके रचयिता का नाम सुमति हंस है। इसमें पद्य संख्या १६७ है। ग्रंथ दोहा-चौपाई छंद में लिखा गया है। बीच-बीच में संस्कृत श्लोक भी हैं। इसका लिपिकाल संवत् १७२७ है।

१३ **पुहुपावती**—इस रचना में राजकुँवर एवं पुहुपावती की प्रेम कहानी है। रचयिता का नाम दुःख हरनदास कायस्थ है। इसका रचना-काल संवत् १७३० के लगभग है। यह रचना औरंगजेब के समय में लिखी गई थी। इसका विवरण अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है।

१४ **नल दमन**—इसमें सुप्रसिद्ध आख्यान नल-दमयंती का इतिवृत्त है। इसके रचयिता सूरदास हैं, जो पुष्टि-मार्गी महाकवि सूरदास से भिन्न हैं। इसका रचनाकाल भी औरंगजेब के समकालीन संवत् १७३० है।

१५ **जलाल गहाणी री वात**—इसमें गजनीपुर के पातिशाह कुल्हनसीब के लड़के जलाल और थट्टोभाखर के पातिशाह मृग तमायची की बहिन गहाणी की प्रेम-वार्ता मृग तमायची की स्त्री बूँबना के साथ है। यह गद्य-पद्य मय है। इसका लिपि-काल संवत् १७५३ है।

१६ **हंस जवाहर**—इस ग्रंथ में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम-कथा है। इसके लेखक दरियाबाद (बाराबंकी) के निवासी कासिमशाह थे। इनका काल संवत् १७८८ माना गया है।

१७ चंदन मलयागिरि री बात—इसमें २०२ दोहों में चंदन और मलयागिरि की प्रेम-कथा वर्णित है। इसके रचयिता का नाम भद्रसेन है। इसका लिपिकाल संवत् १७९७ है। इसकी एक दूसरी प्रति भी है जिसका लिपिकाल सं० १८२२ है। इसमें दोहों की संख्या केवल १८९ है।

१८ मधुमालती—इसमें मधुमालती की प्रेम-कथा है। रचयिता निगम कायस्थ हैं। इसकी रचना ७९६ दोहा-चौपाई छंदों में हुई है। इसका लिपिकाल संवत् १७९८ है।

१९ त्रिया विनोद—इस काल्पनिक कथा में मदनपुरी के श्रीपाल नामक सेठ की व्यभिचारिणी स्त्री की प्रेमलीला है। रचना दोहा-चौपाई छंदों में है जिनकी संख्या १५८१ है। इसके रचयिता का नाम मुरली है। लिपिकाल संवत् १८०० है।

२० इंद्रावती—इस ग्रंथ में कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आजमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम-कथा है।

इसके लेखक मुगल बादशाह मुहम्मद शाह के समकालीन (सं० १८०१) नूरमुहम्मद थे।

२१ कामरूप की कथा—इस ग्रंथ में राजकुमार कामरूप और राजकुमारी की प्रेम-कथा है। इस ग्रंथ के लेखक हरसेवक मिश्र थे जो ओरछा दरबार के कवि थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८०१ माना गया है।

२२ चंद कुंवर री बात—इसमें अमरावती के राजकुमार और वहाँ के सेठ की पुत्री चंद कुँवरि की प्रेम-कथा है। रचयिता प्रतापसिंह हैं। इसमें पद्य-संख्या ९५ है, बीच-बीच में गद्य भी है। इसका लिपिकाल संवत् १८२२ है।

२३ प्रेमरतन—इस ग्रंथ में नूरशाह और माहे मुनीर की प्रेम-कथा है। इसके लेखक फाजिल शाह थे, जो सं० १९०५ में छतरपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह के दरबार में थे।

२४ पना वीरमदे री बात—इसमें ईडर के राव राई भाण के कुँवर वीरमदे और पूंगल के सेठ शाहरतन की कन्या पन्ना की प्रेम-कहानी का वर्णन है। रचना गद्य और पद्य दोनों में है। इसका लिपि-काल संवत् १९१४ है। रचयिता अज्ञात है।

[गद्य में]

१ बात संग्रह—इस संग्रह में राजस्थान की प्रचलित १०५ कहानियाँ संग्रहीत हैं जिनमें अनेक प्रेम-कहानियाँ भी हैं। इसका लिपिकाल संवत् १८२३ है।

२ **वीजल विजोगण री कथा**—इसमें गुजरात नरेश विजयसाल के पुत्र वीजल और सेठ कन्या विजोगण की प्रेम-कथा है। इसका लिपिकाल संवत् १८२६ है।

३ **मोमल री बात**—इसमें गुजरात के सोलंकी राजा साल्ह और एक दासी कन्या मोमल की प्रेम कथा है। यह रचना 'फुटकर वार्ता रौ संग्रह' में है, जिसका लिपिकाल संवत् १८४७ है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

४ **रावल लखणसेन री बात**—इसमें रावल लषणसेन का विवाह जालोर के अधिपति कान्ह दे की पुत्री से हुआ, किन्तु वह नीवो सेमालोत के साथ चोरी से छिपकर चली गई। बाद में रावल लषणसेन ने नीवो से इसका बदला लिया। यह रचना भी 'फुटकर बातां रौ संग्रह' में है जिसका लिपिकाल संवत् १८४७ है। रचयिता का नाम अज्ञात है।

५ **राणै खेतै री बात**—इसमें चित्तौड़ के राणा खेतों का एक बढ़ई की लड़की से प्रेम का वर्णन है। ('फुटकर वातां री संग्रह', लिपिकाल संवत् १८४७)।

६ **देवरै नायक दे री बात**—इसमें देवली के अधिपति देवरो और सोरठ के अहीर राजा मूंढो की पुत्री नायक दे की प्रेम-कथा है। यह रचना भी 'फुटकर वातां रौ संग्रह' के अंतर्गत है जिसका लिपिकाल संवत् १८४७ है।

७ **बींझरै अहीर री बात**—इसमें बीझरो अहीर और उसकी बहिन की नँनद के साथ प्रेम-कथा है। कथा तो गद्य में है किन्तु बीच-बीच में शृंगार रस के चुभते हुए दोहे हैं। यह भी 'फुटकर वातां रौ संग्रह' में है। अतः लिपिकाल संवत् १८४७ है।

८ **ऊमादे भटियाणी री बात**—इसमें जोधपुर के राव मालदे की भटियाणी रानी ऊमादे को एक दासी कन्या के प्रति इसलिए ईर्ष्या हुई कि राव मालदे उसे प्यार करते थे। रानी ने प्रतिज्ञा की कि वह जीवन भर अपने पति से नहीं बोलेगी। उसने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति की और जब राव मालदे की मृत्यु हुई तो वह उनके साथ सती हुई। यह रचना भी उपर्युक्त संग्रह ग्रंथ में है जिसका लिपिकाल संवत् १८४७ है।

९ **सोहणी री बात**—इसमें जठमल अरोड़ा की स्त्री सोहणी की, उसके प्रेमी मलियार से प्रेम-कथा है। यह रचनाभी उपर्युक्त संग्रह ग्रंथ में है। लिपिकाल संवत् १८४७ है।

१० **पँमै घोरान्धार री बात**—इसमें कूडल के अधिपति बुध पेंमों (उर्फ घोरान्धर) की प्रेम गाथा कंडोई की अत्यन्त रूपवती कन्या के साथ है। यह रचना भी उपर्युक्त संग्रह ग्रंथ में है। लिपिकाल संवत् १८४७ है।

प्रेम-काव्य का सिंहावलोकन

हिन्दू और मुसलमान संस्कृतियों का प्रेम-पूर्ण सम्मिलन ही प्रेम-काव्य की अभिव्यक्ति है। हिन्दू धर्म के प्रधान आदर्शों को मानते हुए भी सूफी सिद्धान्तों के निरूपण में मुसलमान लेखकों की कुशलता है। इन दोनों भिन्न सिद्धान्तों के एकीकरण ने प्रेम-काव्य को सजीवता के साथ ही साथ लोकप्रियता भी प्रदान की। फल स्वरूप जिस प्रकार सन्त-काव्य की परम्परा धार्मिक काल के बाद भी चलती रही उसी प्रकार प्रेम-काव्य की परम्परा भी धार्मिक काल के बाद भी साहित्य में दृष्टिगोचर होती रही।

वर्ण्य विषय

प्रेम-काव्य की समस्त कथा हिन्दू पात्रों के जीवन में घटित होती है जिसमें स्थान-स्थान पर हिन्दू देवी और देवताओं के लिए सम्मान की शब्दावलियाँ प्रयुक्त हैं। यद्यपि ऐसी प्रेम-कथाओं का निष्कर्ष एकमात्र सूफी मत का प्रतिपादन ही है, पर उसमें हिन्दू धर्म के लिए न तो अश्रद्धा है और न अपमान ही। हिन्दू धर्म और देवताओं का निर्देश अलौकिक घटनाओं और चमत्कार उत्पन्न करने में पाया जाता है। सारी कथावस्तु प्रेमाख्यान में ही विस्तार पाती है और उसमें किसी प्रकार की उपदेश देने की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। कथा-समाप्ति पर संक्षेप में कथा के अंगों और पात्रों को सूफी मत पर घटित कर दिया जाता है और समस्त कथा में एक आध्यात्मिक अभिव्यंजना (Allegory) आ जाती है। उदाहरण के लिए जायसी का 'पद्मावत' ही लिया जा सकता है। समस्त कथा रत्नसेन और पद्मावती के प्रेम और उसके विकास में समाप्त हो जाती है, अन्त में जायसी इस कथा में सूफी सिद्धान्तों की रूप-रेखा निर्धारित करते हैं। अतः हिन्दू धर्म के वातावरण में सूफी सिद्धान्त के प्रचार करने में इस प्रेम-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। सभी प्रेम-कथाएँ मुसलमानों के द्वारा नहीं लिखी गईं। बहुत से हिन्दू लेखकों ने भी प्रेम-कथाएँ लिखी हैं जिनमें प्रेम-काव्य की परम्परा का अनुसरण किया गया है। कथावस्तु भी हिन्दू पात्रों के जीवन को स्पर्श करती है, पर उसमें किसी सूफी सिद्धान्त के निरूपण करने का प्रयत्न नहीं किया गया। उसमें केवल आख्यायिका और उसमें उत्पन्न मनोरंजन की भावना ही प्रधान है। यह आख्यायिका कहीं-कहीं ऐतिहासिक हो जाती है, कहीं-कहीं काल्पनिक। हरराज की ढोला मारवणी चउपही, काशीराम की कनक मंजरी, हरसेवक की कामरूप की कथा आदि ऐसी प्रम-कथाएँ है जिनमें केवल कथा का कौतूहल है, किसी सिद्धान्त विशेष का प्रतिपादन नहीं।

अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि जब प्रेम-कथा किसी मुसलमान के द्वारा लिखी गई है तो उसमें कथा की गति में सूफी मत के सिद्धान्तों की गति भी चलती रहती है, जब प्रेम-कथा किसी हिन्दू के द्वारा लिखी गई है तो उसमें केवल प्रेम की रसमयी कहानी रहती है, किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन की चेष्टा नहीं।

छन्द

इस प्रेम-काव्य की समस्त परम्परा में दोहा और चौपाई छन्द ही प्रयुक्त हुए हैं; वर्णनात्मकता में ये छन्द इतने उपयुक्त साबित हुए कि आगे चल कर तुलसीदास ने अपने 'मानस' के लिए भी ये छंद ही उपयुक्त समझे। अवधी भाषा के साहचर्य से दोहा और चौपाई छंद इतने सफल हुए जितने वे ब्रजभाषा के सम्पर्क में आकर नहीं। श्री जगन्मोहन वर्मा लिखते हैं:—

"ब्रजभाषा में दोहा रचने में बिहारी सिद्धहस्त थे और उनके दोहों में बड़े गूढ़ भाव पाये जाते हैं जिसके विषय में 'सतसय्या' के दोहरे अरु नावक के तीर' की जनश्रुति प्रख्यात है। पर पद-लालित्य में उनके दोहे भी पूर्वी भाषा के दोहों को कभी नहीं पहुँच सकते।"[1]

वर्मा जी के इस कथ [illegible]

'मधुमालती' और [illegible] पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है। जायसी ने पाँच के बदले [illegible] पद्मावत में रक्खीं। तुलसीदास ने सात के बदले आठ पं[illegible] कारण यह ज्ञात होता है कि मुसलमानों ने चौपाई के दो चरणों को ही चौपाई [illegible] लिया। इस प्रकार वास्तव में 'मृगावती' और 'मधुमालती' में ढाई चौपाई के बाद और 'पद्मावत' में साढ़े तीन चौपाई के बाद एक दोहा है। तुलसीदास संस्कृत के विद्वान् और पिंगल के आचार्य थे, अतः उन्होंने आठ पंक्तियाँ लिख कर वास्तव में चार चौपाई के बाद एक दोहा रक्खा, जो काव्य की दृष्टि से युक्तिसंगत था।

भाषा

प्रेम-काव्य की भाषा अवधी है। अवधी भाषा [illegible] उन्होंने अपने पहले ब्रजभाषा के साथ ही अवधी [illegible] [illegible] दृष्टिकोण [illegible] तक ही सीमित [illegible] के समय में काव्य की दो ही प्रधान भाषाएँ थीं, ब्रज[illegible] अवधी। दोनों के आदर्श भिन्न-भिन्न थे। काल[illegible] अनुसार अवधी कविता में ब्रज[illegible] से पहले प्रयुक्त हुई। अवधी ने अपभ्रंश का लोकप्रिय 'विअक्खरी' या 'दोहया' छन्द ही प्रयोग के लिये स्वीकार किया। खुसरो ने एक सुन्दर दोहा लिखा है:—

गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस। चल खुसरो घर आपने, साँझ भई चहुँ देस॥

दोहा छन्द अवधी में ऐसा 'फिट' हुआ कि अन्य किसी भाषा में 'दोहे' के साथ इतना न्याय नहीं हुआ। यही हाल चौपाई का रहा। अवधी में चौपाई का जो रूप निखरा वह ब्रजभाषा में भी नहीं। ब्रजभाषा का सौन्दर्य तो पद, सवैया और कवित्त में उद्भासित हुआ। यही कारण है कि तुलसी ने 'मानस' को अवधी

---

१. चित्रावली (श्री जगन्मोहन वर्मा) भूमिका, पृष्ठ ७
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९१२)

में लिख कर दोहे और चौपाइयों ... कवितावली' ब्रजभाषा में लिख कर सवैयों और कवित्तों ... गीतावली' और 'विनयपत्रिका' में भी ब्रजभाषा की छटा पदों में ... ही चौपाई में सौन्दर्य ला सकी। सूरदास और बिहारी की ब्रजभाषा भी दोहों की रचना में अपेक्षाकृत असफल ही रही। बिहारी में पद ... है

जो अवधी इस प्रेम-काव्य में प्रयुक्त है, वह ... सरल और स्वाभाविक है। वह जन-समाज की बोली के रूप में है। उसमें संस्कृत के कठिन समास या दुरूह शब्दावलियाँ नहीं हैं। तुलसीदास ने अपनी अवधी को संस्कृतमय कर अपने शब्द-भाण्डार का अपरिमित परिचय दिया है, पर प्रेम-काव्य के कवियों ने भाषा का यथातथ्य स्वरूप कविता में सुरक्षित रक्खा। तुलसीदास ने लिखा—

जो छवि सुधा पयोनिधि हो ... सोई॥
सोभा रजु मंदर सिंगारू ... आरू॥

जायसी ने लिखा—

काल ... छिटकाई ... ।

पहले उद्धरण में यदि पांडित्य और सरसता है तो दूसरे में स्वाभाविकता और ... । प्रेम-काव्य के कवियों ने अवधी का अत्यन्त स्वाभाविक और यथातथ्य स्वरूप सुरक्षित रखा। साहित्य को प्रेम-काव्य की यह सबसे बड़ी देन है।

प्रेम-काव्य में प्रधान रस शृंगार है। शृंगार के दो पक्ष हैं, संयोग और वियोग। ... प्रे... का प्राधान्य है, वहां वियोग शृंगार का आधिक्य ... है, ... का विरह ईश्वर से बहुत दिनों तक रहता है। अन्त में ... कार की कठिनाइयों को पार कर संयोग की अवस्था आती है। इसलिए वियोग का अनुभव यथेष्ट समय तक रहता है। यह वियोग प्रेम-काव्य में प्रायः किसी राजकुमारी के सौन्दर्य की कहानी सुनकर अथवा चित्र देख कर जाग्रत हुआ करता है। 'पद्मावत' में रत्नसेन को हीरामन तोते द्वारा कही हुई पद्मावती की प्रेम-कहानी सुन कर विरह का अनुभव होता है। 'चित्रावली' में राजकुमार सुजान चित्रावली की चित्रसारी में उसका चित्र देख कर वियोग में दुःखी होता है। मान भी प्रेम-काव्य में मध्यम और गुरु हो जाता है। अधिकतर गुरु मान ही हुआ करता है, क्योंकि साधना में बड़ी कठिनाई से ईश्वर से सामीप्य प्राप्त होता है। प्रवास भूत और भविष्य दोनों प्रकार का होता है। नागमती का विलाप प्रवास के दृष्टिकोण से वियोग शृंगार का अच्छा उदाहरण है। प्रेमकाव्य में शृंगार रस की सम्पूर्ण विवेचना है। स्पष्टता के लिए प्रेम-काव्यान्तर्गत शृंगार रस के अंगों का निरूपण करना अयुक्तिसंगत न होगा :—

जहाँ तक धर्म से संबंध है, हिन्दुओं के वेदान्त और मुसलमानों के सूफीमत में बहुत साम्य है। नदवी साहब सूफी मत को वेदान्त से प्रभावित मानते हैं। वे कहते हैं :—"इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि मुसलमान सूफियों पर, भारत में आने के बाद, हिन्दू वेदान्तियों का प्रभाव पड़ा।[1] इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों ने प्रेम-काव्य की रूप-रेखा का निर्माण किया। जो प्रेमकथाएँ मुसलमान लेखकों द्वारा लिखी गई हैं, उनमें धार्मिक संकेत अवश्य है, पर जो प्रेमकथाएँ हिन्दू लेखकों द्वारा लिखी गई हैं उनमें काव्यत्व और घटना-वैचित्र्य ही प्रधान है। इतना अवश्य है कि हिन्दू प्रेम-कथाकारों ने मुसलमानों द्वारा चलाई गई प्रेम-कथा के आदर्शों का पूर्ण रूप से पालन किया है। दोनों प्रकार के लेखकों में भाषा का भी थोड़ा अन्तर है। मुसलमान लेखकों ने भाषा का सरल और स्वाभाविक रूप रक्खा है, क्योंकि वे साहित्यिक भाषा से पूण परिचित नहीं थ, किन्तु हिन्दू लेखकों ने अपनी भाषा में काव्यत्व लाने की भरपूर चेष्टा की है। इससे भाषा पूर्ण स्वाभाविक नहीं रह गई। उसमें संस्कृत की बहुत सी पदावलियाँ स्थान पा गई हैं। इतना होने पर भी मुसलमान लेखक हिन्दू लेखकों से प्रेम-कथा लिखने में आगे माने जायँगे। साधारण भाषा में उत्कृष्ट भावों का प्रदर्शन करना कवित्व की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। इस कसौटी पर मुसलमान लेखकों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।" पं० रामचंद्र शुक्ल इन आख्यानकों के सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"हिन्दी में चरित-काव्य बहुत थोड़े हैं। ब्रजभाषा में तो कोई ऐसा चरित-काव्य नहीं, जिसने जनता के बीच प्रसिद्धि प्राप्त की हो। पुरानी हिन्दी के 'पृथ्वीराज रासो', 'बीसलदेव रासो', 'हम्मीर रासो' आदि वीर-गाथाओं के पीछे चरित-काव्य की परम्परा हमें अवधी भाषा में ही मिलती है। ब्रजभाषा में केवल ब्रजवासीदास के 'ब्रजविलास' का कुछ प्रचार कृष्ण-भक्तों में हुआ, शेष 'राम रसायन' आदि जो दो-एक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए वे जनता को कुछ भी आकर्षित नहीं कर सके। केशव की 'रामचंद्रिका' का काव्य-प्रेमियों में आदर रहा, पर उसमें प्रबन्ध-काव्य के वे गुण नहीं हैं, जो होने चाहिए। चरित-काव्य में अवधी भाषा को ही सफलता हुई और अवधी भाषा के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं 'रामचरित मानस' और 'पद्मावत'। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में हम जायसी के उच्च स्थान का अनुमान कर सकते हैं।"[2]

---

१ अरब और भारत के सम्बन्ध पृष्ठ २०३, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९२९

२ जायसी ग्रन्थावली, सम्पादक पं० रामचंद्र शुक्ल

(नागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९२४)

छठाँ प्रकरण

राम-काव्य

उत्तरी भारत में राम-भक्ति का जो प्रचार हुआ, उसका एकमात्र श्रेय रामानन्द ही को है। रामानन्द के पूर्व यद्यपि अनेक वैष्णव भक्त हो चुके थे तथापि राम-भक्ति के वास्तविक आचार्य रामानन्द ही समझे गए। रामानन्द ने संस्कृत के साथ जन-समाज की बोली में भी वैष्णव धर्म का प्रचार किया। रामानन्द के शिष्य कबीर ने यद्यपि राम नाम का आश्रय लेकर भी संतमत की रूप-रेखा निर्धारित की, तथापि राम-भक्ति का पूर्ण विकास तुलसीदास की रचनाओं में ही हुआ। राम-काव्य के कवियों पर विचार करने से पूर्व राम-भक्ति के विकास पर दृष्टि डालना उचित होगा।

राम का महत्त्व प्रथम हमें 'वाल्मीकि रामायण' में मिलता है। इसकी तिथि ईसा के ६०० या ४०० वर्ष पूर्व मानी जाती है।[१] वाल्मीकि के प्रथम और सप्तम काण्ड तो प्रक्षिप्त माने गए हैं, पर द्वितीय से षष्ठ काण्ड तो मौलिक और प्रामाणिक हैं। यद्यपि उनकी वास्तविकता में कहीं-कहीं संदेह है, पर अधिकतर उनका रूप विकृत नही हो पाया है। 'वाल्मीकि रामायण' का दृष्टिकोण लौकिक है। इसकी यह सबसे बड़ी विशेषता है, क्योंकि इसके द्वारा ही हम धर्म के यथार्थ रूप का परिचय पा सकते हैं। ग्रंथ धार्मिक न होने के कारण अन्धविश्वास और भावोन्मेष से रहित है, अतः इसमें हम लौकिक दृष्टिकोण से धर्म का रूप पा सकते हैं। राम प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य ही हैं, उनमें देवत्व की छाया भी नहीं है। वे एक महापुरुष अवश्य हैं, पर अवतार नहीं। 'वाल्मीकि रामायण' म वैदिक देवता ही मान्य हैं, जिनमें इन्द्र का स्थान अवश्य कुछ ऊँचा है। इनके सिवाय कुछ अन्य देवी और देवता भी हैं, जिनमें कार्त्तिकेय और कुबेर तथा लक्ष्मी और उमा मुख्य हैं। विष्णु और शिव का भी स्थान महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उतना ही जितना ऋग्वेद में है। अतः 'वाल्मीकि रामायण' में विष्णु और राम का कोई सम्बन्ध नहीं है और न राम अवतार-रूप में ही हैं। वे केवल मनुष्य हैं, महात्मा हैं, धीरोदात्त नायक हैं।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व राम अवतार के रूप में माने जाते हैं। इस समय मौर्यवंश का विनाश हो गया था। उसके स्थान पर सुंग वंश की स्थापना हो गई थी।

---

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव इंडिया, पृष्ठ ४
[जे. एन. फर्कहार]

बौद्ध धर्म विकास पर था। इसी समय बुद्ध ईश्वरत्व के गुणों से विभूषित होने लगे थे। बौद्धमत में वे नवीन शक्तियों से संयुक्त भगवान के पद पर आरूढ़ होने जा रहे थे। सम्भव है, बौद्ध धर्म की इस नवीन प्रगति ने राम को भी देवत्व के स्थान पर आरूढ़ कर दिया हो। इस समय 'वायुपुराण' में राम की भावना विष्णु के अवतारों में मानी गई। उसमें राम ईश्वरत्व के पद पर अधिष्ठित होते हैं। 'वायुपुराण' का रचना-काल संदिग्ध है। उसकी रचना कुछ इतिहासज्ञों द्वारा ईसा के ५०० वर्ष पूर्व भी मानी गई।[1] जो हो, 'वायुपुराण' अधिक अंशों में बौद्धमत की भावना से अवश्य प्रभावित हुआ।

'बाल्मीकि रामायण' के प्रक्षिप्त अंशों में ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवों के रूप में समान प्रकार से मान्य हैं और राम अंशतः विष्णु के अवतार हैं। इन्द्र के अनेक गुण विष्णु में स्थापित हो गये हैं और वे अब अपनी शक्ति का विस्तार कर रहे हैं। राम के रूप में विष्णु की उपासना का क्षेत्र विस्तृत हो गया, क्योंकि देव-पूजा के साथ-साथ वीर-पूजा की भावना भी हिन्दू धर्म के अंतर्गत आ गई।

ईसा के २०० वर्ष बाद 'महाभारत' में 'अनुगीता' के अंतर्गत विष्णु के अवतारों की मीमांसा की गई है। उसमें विष्णु के छः अवतार माने गए हैं :— वाराह, नृसिंह, वामन, मत्स्य, राम और कृष्ण। 'मानव धर्म शास्त्र' के अंतर्गत मोक्ष-धर्म के एक विशेष भाग का नाम 'नारायणीय' है जिसमें वैष्णव धर्म का विकास और भी हुआ है। उसमें विष्णु का विकास 'व्यूह' के रूप में हुआ है। इस प्रकार विष्णु स्रष्टा के रूप में चतुर्व्यूहियों का वेश धारण करते हैं। इसमें वासुदेव के साथ-साथ सात्वत और पंचरात्र नाम भी इस वैष्णव मत के लिए प्रयुक्त हुए हैं। 'नारायणीय' में विष्णु के अवतारों की संख्या छः से बढ़ कर दस हो गई। 'नारायणीय' के बाद 'संहिता' में भक्ति का सम्बन्ध भी विष्णु से हो गया।[2] राम-भक्ति में इस शक्ति ने सीता का रूप धारण किया। राम का पूर्ण रूप गुप्त काल में ही निर्मित हुआ जब 'विष्णु पुराण' (ईस्वी सन् ४००) की रचना हुई। ईसा की छठी शताब्दी के बाद राम की भक्ति का विकास 'राम पूर्व तापनीय उपनिषद' और 'राम उत्तर तापनीय उपनिषद' में हुआ, जहाँ राम ब्रह्म के अवतार माने गए हैं। जिस ब्रह्म के, वे अवतार हैं, उसका नाम विष्णु है। इसके बाद ही 'अगस्त सुतीक्ष्ण सम्वाद संहिता' में राम का महत्त्व अलौकिक रूप में घोषित किया गया है। आगे चल कर 'अध्यात्म रामायण' में राम देवत्व के सबसे ऊँचे शिखर पर आ गए हैं। उनकी

---

१ एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एन्ड एथिक्स,
भाग १२, पृष्ठ ५७१

२ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर, पृष्ठ १८४
(जे० एन० फर्क्हार)

महिमा का विस्तृत विवरण ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'भागवत पुराण' द्वारा प्रचारित हुआ। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक राम के रूप में परिवर्द्धन होता रहा। इसी समय रामभक्ति ने एक सम्प्रदाय का रूप धारण किया।[१] रामानन्द ने चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसी राम-मत का प्रचार उत्तर-भारत में जाति-बन्धन को ढीला कर सर्व-साधारण में किया। इस राम-भक्ति का प्रचार तुलसीदास की रचनाओं द्वारा चिरस्थायी जीवन और साहित्य का एक अंग बन गया। रामानन्द ने दास्य भाव से उपासना की। उसी का अनुसरण तुलसीदास ने किया। अपने विचारों का प्रतिपादन रामानन्द ने अनेक ग्रंथों में किया जिनमें मुख्य ग्रंथ "वैष्णव मतांतर भास्कर' और 'श्री रामार्चन पद्धति' माने गये हैं। सम्भव है, प्रचारक और सुधारक होने के कारण रामानन्द ने अन्य ग्रन्थों की रचना भी की हो, पर वे ग्रंथ अब अप्राप्त हैं। सम्प्रदाय सम्बन्धी एक ग्रन्थ का पता चलता है। वह है 'राम रक्षा स्तोत्र' या 'सञ्जीवनी मंत्र', पर उस ग्रंथ की रचना इतनी निम्न कोटि की है कि वह रामानन्द के द्वारा लिखा गया ज्ञात नहीं होता। यह भी सम्भव हो सकता है कि मंत्र या स्तोत्र लिखने में प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं हो पाता। नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०० की खोज-रिपोर्ट में इस ग्रंथ के लेखक को अज्ञात माना गया है। खोज रिपोर्ट १९०६-७-८ में इस ग्रंथ के लेखक कबीर माने गए हैं। सम्भव है, प्रारम्भिक 'राम रक्षा स्तोत्र' रामानन्द ने लिखा हो, बाद में उसका रूप विकृत हो गया हो। यह भी सम्भव है कि रामानन्द के शिष्यों में से किसी ने रामानन्द के नाम से ही यह स्तोत्र लिख दिया हो। जो हो, यह रचना अत्यन्त साधारण है। रामानन्द ने संस्कृत के अतिरिक्त भाषा में भी काव्यरचना की। यद्यपि उनका कोई महान ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं, तथापि उनके कुछ स्फुट पद अवश्य पाये जाते हैं। रामानन्द की हिन्दी साहित्य सम्बन्धी सेवा यही क्या कम है कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कबीर और अपने आदर्शों से तुलसी जैसे महाकवि उत्पन्न किये। रामानन्द के आदर्शों से प्रभावित होकर राम-काव्य की जो धारा हिन्दी साहित्य में प्रवाहित हुई, उस पर यहाँ विचार करना आवश्यक है।

राम-साहित्य की प्रगति

तुलसी ने रामानन्द के सिद्धान्तों को लेकर अपनी प्रतिभा से जो रामभक्ति सम्बन्धी कविता की, उसका महत्त्व स्थायी सिद्ध हुआ। न केवल उनके काल में ही, वरन् परवर्ती काल में भी राम-भक्ति की धारा अबाध रूप से प्रवाहित होती रही। तुलसी की प्रतिभा और काव्य-कला इतनी उत्कृष्ट प्रमाणित हुई कि उनके बाद किसी भी कवि की रामचरित सम्बन्धी रचना उनके मानस की समानता में

---

१ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, पृष्ठ ४७ (सर आर० जी० भंडारकर)

प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकी। कृष्ण-काव्य की लोकप्रियता किसी अंश तक राम-साहित्य के लिए बाधक मानी जा सकती है, पर तुलसी की काव्य-रचना की उत्कृष्टता आने वाले कवियों को प्रसिद्धि प्राप्ति का अवसर न दे सकी। मानस के सामने कोई भी प्रबन्ध-काव्य आदर की दृष्टि से न देखा गया। इतना अवश्य है कि राम-साहित्य में तुलसी की रचना कवियों के लिए पथ-प्रदर्शन का कार्य अवश्य करती रही। संक्षेप में राम-साहित्य की विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

१. राम साहित्य ने वैष्णव धर्म के आदर्शों को सामने रख कर सेवक-सेव्य भाव पर जोर दिया।

२. ज्ञान और कर्म से भक्ति श्रेष्ठ समझी गई।

३. इस साहित्य में सभी प्रकार की रचना-शैलियों का प्रयोग किया गया। इसमें श्रव्य के साथ-साथ दृश्य काव्य भी पाया जाता है और मुक्तक रचनाओं के साथ-साथ प्रबन्ध काव्य भी।

रामकाव्य के सबसे प्रधान कवि तुलसीदास हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से राम-काव्य को ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दी साहित्य को आलोकित कर दिया है। अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में तुलसीदास ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने दोहा और चौपाई में राम-कथा को पहली बार प्रस्तुत किया।

तुलसीदास का समकालीन मुनिलाल भी एक ऐसा कवि था जिसने संवत् १६४२ में 'रामप्रकाश' नामक एक ग्रन्थ की रचना राम-कथा पर की थी। उस ग्रंथ की विशेषता यह थी कि राम-कथा का चित्रण रीतिशास्त्र के अनुसार किया गया था। अतः केशवदास के पूर्व भी रीतिशास्त्र की सम्यक् विवेचना की ओर हिन्दी साहित्य के कवियों का ध्यान आकर्षित हो चला था।

तुलसीदास के पूर्व साहित्य में दो कवियों का नाम और मिलता है, जो किसी प्रकार तुलसीदास की काव्य-परम्परा से सम्बद्ध किए जा सकते हैं। प्रथम कवि थे भगवतदास। ये श्रीनिवास के शिष्य और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के पोषक थे। इन्होंने अद्वैतवाद के खण्डन के लिए 'भेद भास्कर' नामक ग्रंथ लिखा। इनका आविर्भावकाल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अंत माना जाता है।

द्वितीय कवि थे चन्द। इन्होंने दोहा-चौपाई में 'हितोपदेश' का अनुवाद इसी नाम से किया। इनका आविर्भावकाल संवत् १५३२ मानना चाहिए। 'हितोपदेश' का अनुवाद संवत् १५६३ में हुआ। तुलसीदास के पूर्व दोहा-चौपाई में रचना करने में सफलता प्राप्त करना कवि की प्रतिभा का द्योतक है। रचना सरल और प्रौढ़ है। इनका परिचय अभी हाल ही में मिला है।[१]

१ खोज रिपोर्ट १९२०-२१-२२

इन कवियों के बाद तुलसीदास पर विचार करना आवश्यक है।

तुलसीदास

तुलसीदास ही राम-साहित्य के सम्राट् हैं। इन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव-जीवन की जितनी व्यापक और सम्पूर्ण समीक्षा की है, उतनी हिन्दी साहित्य के किसी कवि ने नहीं की। इस समीक्षा के साथ ही उन्होंने लोक-शिक्षा का भी ध्यान रखा और मानव-जीवन में ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो विश्व-जननी हैं और समय के प्रवाह से नहीं बह सकते। इन्होंने इन आदर्शों की भित्ति पर अपनी भक्ति के स्वरूप की इतनी अच्छी विवेचना की कि वह तत्कालीन धार्मिक अव्यवस्था में पथ-प्रदर्शन का काम कर गई। इस भक्ति में नीति की धारा भी मिली हुई है। इस प्रकार इस कवि ने विश्वव्यापी विचारों की इतनी गवेषणापूर्ण व्याख्या की कि हम उसे अपने साहित्य के सर्वोच्च आसन पर अधिष्ठित करने में स्वयं गौरवान्वित हैं।

तुलसीदास का जीवन-चरित्र सम्पूर्ण रूप से हमारे सामने प्रामाणिक होकर अभी तक नहीं आया। स्वयं तुलसीदास ने अपना विस्तृत परिचय नहीं दिया। उनके ग्रंथों में यत्र-तत्र कुछ विवरण बिखरा हुआ मिलता है। वह भी उन्होंने अपने परिचय के रूप में नहीं दिया, वरन् अपने दैन्य और निराश हृदय के भावों को प्रकाशित करने के लिए ही दिया है। यदि तुलसीदास को आत्म-ग्लानि न होती तो शायद वे अपने विषय में इतना भी नहीं लिखते, किन्तु जो कुछ भी हमारे सामने है वही प्रामाणिक है। संक्षेप में तुलसीदास द्वारा दिया हुआ आत्म-चरित उन्हीं के शब्दों में घटना के क्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है।

अन्तर्साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास का जीवन वृत्त

जन्म-तिथि +

माता-पिता

रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी॥[1]

नाम

(अ) राम को गुलाम नाम राम बोला राख्यो राम,
काम यहै नाम द्वै हौं कबहुँ कहत हौं।[2]

१ 'तुलसी ग्रंथावली' पहला खंड, ('मानस') पृष्ठ १८

२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड, ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५०४

(आ) केहि गिनती महँ ? गिनती जस बन घास ।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास ॥[१]

(इ) साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो
राम बोला नाम, हौं गुलाम राम साहि कों ।[२]

बाल्यावस्था

(अ) मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई ।[३]

(आ) जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो ।[४]

(इ) तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ ।[५]

(ई) द्वार-द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ[६]

(उ) स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सो टोटक,
औचक उलटि न हैरो ।[७]

(ऊ) बारे ते ललात लिलात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को ।[८]

(ऋ) जननी जनक तज्यो जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे ।
मोहुँ से कोउ कोउ कहत रामहिं को सो प्रसंग केहि केरे॥
फिर्यों ललात बिनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोंहि हेरे ।
नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब हौं बबुर बहेरे ॥[९]

(ॠ) खायो खोंची माँगि मैं तेरो नाम लिया रे ।
तेरे बल बलि आजु लौं जग जागि जिया रे ॥[१०]

जाति और कुल

(अ) मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम कों ।[११]

(आ) जायो कुल मंगन बधावनों सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को ।[१२]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('बरवै रामायण') पृष्ठ २४
२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२६-२२७
३ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१४
४ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१९
५ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५९९
६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५९९
७ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५९८
८ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१९
९ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५७७
१० तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ४७७
११ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२८
१२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१९

(इ) दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को ।[1]
(ई) धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ ।[2]
(उ) भलि भारत भूमि भले कुल जन्मि समाज सरीर भलो लहि कै ।[3]

गुरु

(अ) बन्दौ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि ।[4]
(आ) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।[5]
(इ) रीझो गुरु पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक सुखद सदा विरद बहत हौं ।[6]

गृहस्थ जीवन

(अ) लग कहैं पोचु सो न सोचु न संकोचु,
मेरे ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं ।[7]
(आ) काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगार न सोऊ ॥[8]
(इ) लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय ।
जोबन-जुर जुवती कुपथ्यकरि भयो त्रिदोष भरि मदन बाय ॥[9]

वैराग्य और पर्यटन

(अ) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।[10]
(आ) अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु ।[11]
(इ) सेइय सहित सनेह देह भर कामधेनु कलि कासी ।[12]
(ई) मुक्ति जनम महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर ।
जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥[13]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५२८
२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२७
३ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१०
४ 'तुलसी ग्रंथावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ३
५ 'तुलसी ग्रंथावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ १८
६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५०५
७ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ ५०५
८ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२७
९ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५०७
१० 'तुलसी ग्रंथावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ १८
११ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ४७२
१२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ४७०
१३ 'तुलसी ग्रंथावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ३२४

(उ) वारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि,
　　अङ्कित जो जानकी चरन जलजात की ।[१]

(ऊ) तुलसी जौ राम सौं सनेह साँचो चाहिए,
　　तौ सेइए सनेह सों विचित्र चित्रकूट सो ॥[२]

(ऋ) गाँव बसत वामदेव, मैं कबहूँ न निहोरे ।[३]

(ॠ) नौमी भौमवार मधुमासा । अवधपुरी यह चरित प्रकासा ॥[४]

(ऌ) बासर ढासनि के ढका, रजनी चहुँदिस चोर ।
　　संकर निजपुर राखिए चितै सुलोचन कोर ॥[५]

(ॡ) भागीरथी जलपान करौं
　　अरु नाम द्वै राम के लेत नितै हौं ।[६]

(ए) देवसरि सेवौं वामदेव गाउँ रावरे ही,
　　नाम राम ही के मांगि, उदर भरत हौं ।[७]

वृद्धावस्था

(अ) चेरो राम राय को सुजस सुनि तेरौ हर,
　　पाइँ तर आइ रह्यो सुरसरि तीर हौं [८]

(आ) राय की सपथ सरबस मेरे राम नाम,
　　कामधेनु काम तरु मोसे छीन छाम को ॥[९]

(इ) जरठाई दिसा रविकाल उग्यो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे ।[१०]

रोग

(अ) अविभूत, वेदन विषम होत भूतनाथ,
　　तुलसी विकल पाहि पचत कुपीर हौं ।
　　मारिये तो अनायास कासीवास खास फल,
　　ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं ।[११]

(आ) रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
　　भूतनाथ पाहि पद पंकज गहतु हौं ।[१२]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २३६
२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २३७
३ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ४६३
४ 'तुलसी ग्रंथावली,' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ २०
५ 'तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ १२४
६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२७
७ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४३
८ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४३
९ 'तुलसी ग्रंथावलो' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४८
१० 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१०
११ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४४
१२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४४

(इ) साहसी समीर के दुलारे रघुबीर जू के,
बाँह पीर महाबीर बेगि ही निवारिये ।।[१]

(ई) महाबीर बाँकुरे बराकी बाहु पीर क्यों न,
लंकिनी ज्यों लात घात ही मरोरि मारिए ।।[२]

(उ) पूतना पिसाचिनी ज्यों कपि कान्ह तुलसी की,
बाहुपीर, महाबीर तेरे मारे मरैगी ।।[३]

(ऊ) आपने ही पाप तें, त्रिताप तें कि साप तें,
बढ़ी है बाहु बेदन कही न सहि जात है ।[४]

(ऋ) घेरि लियो रोगनि कुलोगनि कुजोगनि ज्यों,
बासर जलद घनघटा धुकि धाई है ।[५]

(ॠ) पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर मुँह पीर,
जरजर सकल सरीर पीर भई है ।[६]

(ऌ) तातें तनु पेषियत, घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निकसत लोन रामराय को ।।[७]

(ॡ) भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत,
सोऊ रघुबीर बिन, सकै दूरि करि को ।[८]

(ए) तुलसी तनु-सर सुख-जलज भुज रुज गज बरजोर ।
दलत दयानिधि देखिए, कपि केसरी किसोर ।।
भुज तरु-कोटर रोग-आदि बरबस कियो प्रवेस
बिहँगराज-बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ।।[९]

यश-प्राप्ति

(अ) हौं तो सदा खर को असवार तिहारोई नाम गयंद चढ़ायो ।[१०]

(आ) छार तें सँवारि कै पहार हूँ तें भारी कियो,
गारो भयो पञ्च में पुनीत पच्छ पाइ कै ।[११]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २५७
२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २५८
३ तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २५८
४ 'तुलसी ग्रंथावली ' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २६०
५ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २६१-२६२
६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २६२
७ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २६४
८ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २६४
९ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ १२४
१० 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१५
११ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१५

(इ) पतित पावन राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरि सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो ॥[1]

(ई) नाम सो प्रतीत प्रीति हृदय सुथिर थपत।
पावन किय रावन रिपु तुलसिहु से अपत ॥[2]

(उ) केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास।
नाम जपत भये तुलसी तुलसीदास ॥[3]

(ऊ) घर-घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
जे तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय ॥[4]

तत्कालीन परिस्थिति

(अ) ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि.
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी।[5]

(आ) खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच-बस,
कहैं एक एकन सौं 'कहाँ जाई का करी'।[6]

(इ) गारी देत नीच हरिचंद हू दधीच हूँ को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियत हैं[7]

(ई) बीसी विस्वनाथ की विषाद बड़ो वारानसी,
बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की।[8]

(उ) दारिदी दुखारी देखि भूसुर भिखारी भीरु,
लोभ मोह काम मोह कलिमल घेरे हैं ॥[9]

(ऊ) संकर-सहर सर नरनारि वारिचर,
विकल सकल महामारी माँजा भई है।[10]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५०१

२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५२६

३ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('बरवै रामायण') पृष्ठ २४

४ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ ११४

५ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२५

६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२५

७ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२६

८ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४५

९ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४६

१० 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४७

(ऋ) एक तो कराल कलिकालि सूल मूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
बेद धर्म दूरि गए भूमि चोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ॥[1]

(ॠ) पाहि हनुमान करुना निधान राम पाहि,
कासी कामधेनु कलि कुहत कसाई है ॥[2]

(ऌ) हाहा करै तुलसी दयानिधान राम ऐसी,
कासी की कदर्थना कराल कलिकाल की ॥[3]

(ॡ) राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परिमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है ॥
आस्रम बरन धरम विरहित जग लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत अपने अपने रंग रई है ॥
सांति सत्य सुभ रीति गई घटि बढ़ी कुरीति कपट कलई है ॥
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत हुलसति खलई है ॥
परमारथ स्वारथ साधन भए अफल सकल, नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु धरनी कलि गोमर बिबस बिकल जामति न बई है ॥[4]

(ए) अपनी बीसी आपु ही पुरिहि लगाये हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ ॥[5]

(ऐ) तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन ॥[6]
बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम तें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि देखावहि डाँटि ॥

(ओ) सखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान ॥
स्रुति संमति हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक ॥
गोंड़ गँवार नृपाल महि यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल ॥[7]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४७
२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४६
३ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४६
४ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५३३
५ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ १२४
६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ १५३
७ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ १५२-१५३

आत्म-ग्लानि

(अ) नाम तुलसी पै भोंडे भाग, सो कहायो दास,
किए अंगीकार ऐसे बड़े दगाबाज को।[१]

(आ) राय दसरत्थ के समर्थ तेरे नाम लिए,
तुलसी से कूर को कहत जग राम को।[२]

(इ) केवट पषान जातुधान कपि भालु तारे,
अपनायो तुलसी सों धींग धमधूसरो।[३]

(ई) राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत,
मोसे दीन दूसरे कुपूत कूर काहली॥[४]

(उ) रावरो कहावौं गुन गावौं राम रावरोई,
रोटी द्वै हौं पावों राम रावरी ही कानि हौं।[५]

(ऊ) स्वारथ को साज न समाज परमारथ को,
मोसों दगाबाज दूसरो न जग जाल है।[६]

(ऋ) तुलसी बनी है राम रावरे बनाए ना तौ,
धोबी कैसो कूकर न घर को न घाट को॥[७]

(ॠ) अपत, उतार, अपकार को अगार जग,
जाकी छाँह छुए सहमत ब्याध बाधको।[८]

(लृ) राम सों बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो
राम सों खरो है कौन मोसो कौन खोटो॥[९]

आत्म-विश्वास

(अ) तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहु तें डरि है।[१०]

(आ) कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखि है राम तौ मारिहै को रे[११]

(इ) राखि हैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान से सेवक हैं जेहि केरे।
नाक रसातल भूतल में रघुनायक एक सहायक मेरे॥[१२]

---

१ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २०५
२ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २०५
३ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २०६
४ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २०८
५ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१६
६ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१६
७ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१७
८ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१७
९ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५०२
१० 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१३
११ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१३
१२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१३

(ई) प्रीति राम नाम सौं प्रतीति रामनाम की,
प्रसाद राम नाम के पसारि पाँय सूति हौं ॥[१]

(उ) राम ही के नाम तें जो होइ सोई नीको लागै,
ऐसोई सुभाव कछु तुलसी के मन को ।[२]

(ऊ) नीके कै ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ो उर आखर दू को ।[३]

(ऋ) साहिब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो ॥
रामबोला नाम हौं गुलाम राम साहि को ।[४]

(ॠ) तुलसीनाथ बिना तुलसी जग दूहरे सो करिहौं न हहा है ॥[५]

(ऌ) तुलसी सरनाम गुलाम है रामको जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ ।
माँगि कै खैवो मसीत को सोइबो लैबे को एक न दैबे को दोऊ ॥[६]

(ॡ) साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हौं सो हौं राम को ॥[७]

(ए) तुलसी को भलों पोंच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि, मेरी मति दूब है ॥[८]

(ऐ) जागैं भोगी भोग ही, बियोगी रोगी सोग बस,
सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के ॥[९]

(ओ) राखे रीति अपनी जो होइ सोई कीजै बलि,
तुलसी तिहारों घरजायउ है घर को ॥[१०]

(औ) तुलसी तोंहि विशेष बूझिए एक प्रतीत प्रीति एकै बलु ॥[११]

(अं) समुझि समुझि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ ।
तुलसीदास अनायास रामपद पाइ है प्रेम पसाउ ।[१२]

(अः) विश्वास एक राम नाम को ।
मानत नहिं परतीति अनत ऐसोइ सुभाइ मन बाम को ॥[१३]

---

१ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २१८
२ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२१
३ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२४
४ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२६-२२७
५ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२७
६ 'तुलसी ग्रंथावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२८
७ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२८
८ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२८
९ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २२९
१० 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २३२
११ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ४७२
१२ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५५१
१३ 'तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५४२

(क) परिहरि देह जनित चिंता दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो ॥[१]

(ख) हैं काके द्वै सीस ईस के जो हठि जन की सीम चरै।
तुलसिदास रघुबीर बाहु बल सदा अभय काहू न डरै ॥[२]

(ग) एक भरोसो, एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥[३]

नम्रता

(अ) संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु ॥[४]

(आ) भाषा भनति मोर मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ॥[५]

(इ) कवि न होउँ नहिं बचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ॥[६]

(ई) कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ॥[७]

(उ) वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धंधक धोरी ॥[८]

(ऊ) कवि कोविद रघुबर चरित, मानस मंजु मराल।
बाल विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल ॥[९]

रचनाएँ

(अ) संवत सोरह सै इकतीसा। करौं कथा हरि पद धरि सीसा ॥[१०]

(आ) जय संवत फागुन सुदि पांचै गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु ॥[११]

मरण-संकेत

(अ) पेखि सप्रेम समै सब सोच विमोचन छेम करी है।[१२]

(आ) राम नाम जस बरणि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अबही तुलसी सौन ॥[१३]

---

१ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५५०
२ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('विनयपत्रिका') पृष्ठ ५३२
३ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('दोहावली') पृष्ठ १२७
४ 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ४
५ 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ७
६ 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ७
७ 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ८
८ 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ६
९ 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ ११
१० 'तुलसी ग्रन्थावली' पहला खंड ('मानस') पृष्ठ २०
११ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('पार्वती मङ्गल') पृष्ठ २६
१२ 'तुलसी ग्रन्थावली' दूसरा खंड ('कवितावली') पृष्ठ २४८
१३ 'तुलसी सतसई'

इन प्रमाणों के आधार पर तुलसी के आत्म-चरित का यह रूप है :—

तुलसीदास हुलसी के पुत्र थे। इनका जन्म उच्च कुल में हुआ था, यद्यपि ये उसे अपनी आत्म-ग्लानि से 'मंगन' कुल में भी कह देते थे। इनका नाम 'रामबोला' था जो आगे चल कर तुलसी और तुलसीदास में परिणत हो गया। ये बालकपन से ही अपने माता-पिता के संरक्षण का लाभ नहीं उठा सके, फलतः इनकी बाल्यावस्था बहुत दुःख से व्यतीत हुई। इन्हें रोटियों तक के लिए तरसना पड़ा। द्वारा-द्वार जाकर इन्होंने भिक्षा माँगी और चार चनों को अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष (चार फलों) के समान समझा। भिक्षा माँग कर अपना बाल-जीवन व्यतीत करने के कारण ही सम्भवतः तुलसीदास ने अपने को 'मंगन' कहा है। अन्त में ये गुरु (नरहरि ?) के संरक्षण में आ गये, जिन्होंने शूकर-क्षेत्र में राम-कथा सुनाई। उस समय तुलसीदास बालक ही थे और गंभीर बातें नहीं समझ सकते थे। बड़े होने पर इनका विवाह भी हुआ। 'मेरे ब्याह न बरेखी' और 'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब' के आधार पर कुछ समालोचकों का कथन है कि इनका विवाह नहीं हुआ। जब विवाह ही नहीं हुआ तो इन्हें किसी की लड़की से अपने लड़कों का ब्याह तो करना नहीं था, इसीलिए ये निर्द्वन्द्व थे। 'मेरे ब्याह न बरेखी' का अर्थ यह नहीं है कि 'मेरा ब्याह या बरेखी नहीं हुई' पर अर्थ है "मेरे यहाँ न तो ब्याह ही होना है और न बरेखी ही, क्योंकि किसी की बेटी से अपना बेटा तो ब्याहना नहीं है।" "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब" का अर्थ इतना तो निकल सकता है कि संभवतः उनके कोई सन्तान न हो, पर यह नहीं निकल सकता कि ये अविवाहित थे। निस्सन्तान होने पर इनका यह कथन सत्य हो सकता है कि "मेरे ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं" और "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहु की जाति बिगार न सोऊ"। फिर विनय-पत्रिका का यह पद—

> लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय।
> जौबन जर जुवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥

तो यह स्पष्ट घोषित करता है कि तुलसीदास का विवाह हुआ था। बाह्य साक्ष्य तथा जनश्रुति के भी सभी प्रमाणों से सिद्ध होता है कि इनका विवाह हुआ था। 'मानस', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' और 'गीतावली' में तुलसी ने विवाह का वर्णन और लोकाचार इतने विस्तार और सूक्ष्म-दृष्टि से वर्णन किया है कि ज्ञात होता है कि इन्होंने विवाह की विधि बहुत निकट से देखी थी।

उन्होंने अपने वैराग्य के पूर्व को कथा नहीं लिखी, पर वैराग्य-दशा और पर्यटन का यथेष्ट वर्णन किया है। राम की कथा जो इन्होंने शूकर-क्षेत्र में अपने गुरु से सुनी थी, वह अब जाकर पल्लवित हुई और इन्होंने अनेक स्थानों में पर्यटन किया। ये अपनी वैराग्य-यात्रा में चित्रकूट, काशी, वारिपुर, दिगपुर,

अयोध्या, आदि स्थानों में बहुत घूमे । इनकी वृद्धावस्था शान्ति से व्यतीत नहीं हुई। इन्हें बाहुपीर उठ खड़ी हुई, जिसके शमन के लिए इन्ह शिव, पार्वती, राम और हनुमान की स्तुति करनी पड़ी। इन्हें अपने जीवन म तत्कालीन परिस्थितियों से असन्तुष्टि थी । लोगों में धर्म के लिए कोई आस्था नहीं रह गई थी । राजनीतिक वातावरण अस्त-व्यस्त था । जीविका बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती थी । किसान खेती नहीं कर सकता था, भिखारी को भीख नहीं मिलती थी । वितण्डावाद की सृष्टि हो रही थी । अनेक प्रकार के 'पंथ' निकल रहे थे । पाखंड फैल रहा था। दंड की अधिकता हो रही थी। काशी में उस समय महामारी का भी प्रकोप था ।

तुलसीदास ने संवत् १६३१ में 'मानस' की रचना की, जय संवत् (सं० १६४३) में 'पार्वती मंगल' और रुद्रबीसी (सं० १६६५-१६८५) के बीच 'कवितावली' के कुछ कवित्तों की रचना की। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथों की रचना-तिथि का निर्देश तुलसीदास ने नहीं किया ।

इस समय तक इनका यश सभी स्थानों में व्याप्त हो गया था। यहाँ तक कि इनका आदर राजाओं और तत्कालीन शासक द्वारा भी हुआ । ये लोगों में वाल्मीकि के समान पूज्य हो गये ।

ये बहुत ही नम्र थे । इतने विद्वान् होने पर भी अपने को मूर्ख, भक्त होने पर भी अपने को पापी और महान् होने पर भी अपने को दीन कहने में ही इन्होंने अपना गौरव समझा। सम्भवतः अपने पूर्ववर्त्ती जीवन की कलुष-स्मृति इन्हें इतना अशान्त बनाये हुए थी । इन्होंने अपने को न जाने कितनी गालियाँ दी हैं। कूर, काहली, दगाबाज, 'धोबी कैसो कूकर', अपत, उतार, 'अपकार को अगार', धींग, धूमधूसर आदि न जानें कितने अपशब्द इन्होंने अपने ऊपर प्रयुक्त किये हैं पर इसके साथ ही इन्हें राम की उदारता में विश्वास था और उसके सहारे इन्होंने अपने जीवन में भय की लेशमात्र भी मात्रा नहीं रक्खी । यही इनका आत्म-विश्वास था । ये निर्द्वन्द्वता से राम-नाम का भजन, चाहे वह आलस या क्रोध ही में किया गया हो, जीवन की सबसे बड़ी विभूति समझते थे ।

इनकी मृत्यु-तिथि अनिश्चित है । अपने महा-प्रयाण के अवसर पर इन्होंने क्षेमकरी पक्षी के दर्शन किये थे, ऐसा कहा जाता है, पर "पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेमकरी है" यह तो साधारणतः किसी समय भी कहा जा सकता है, क्योंकि प्रस्थान के समय क्षेमकरी पक्षी को देखना शुभ समझा गया है । यह आवश्यक नहीं है कि मृत्यु (महा-प्रयाण) के समय ही यह तुलसी के द्वारा कहा गया हो। राम-नाम का वर्णन कर तुलसीदास ने मौन होने के पूर्व अपने मुख में तुलसी और सोना डालने की इच्छा प्रकट की थी, इसे भी जनश्रुति समझना चाहिए, क्योंकि यह दोहा किसी प्रामाणिक प्रति में नहीं मिलता ।

बाह्य साक्ष्य के आधार पर तुलसीदास का जीवन वृत्त

तुलसीदास के समकालीन और परवर्ती लेखकों ने तुलसीदास के जीवन पर प्रकाश अवश्य डाला है, पर वह यथेष्ट नहीं है। ऐसे लेखकों ने या तो तुलसीदास के काव्य की प्रशंसा कर दी है या उनकी भक्ति की। कवि के व्यक्तित्व और जीवन पर सम्यक् विचार किसी के द्वारा नहीं हुआ। थोड़ा-बहुत विवेचन हुआ है, वह भक्ति के दृष्टिकोण से ही हुआ है। निम्नलिखित ग्रन्थों में तुलसीदास का निर्देश किया गया है :—

(१) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' (ले० गोकुलनाथ, सं० १६२५)
(२) 'भक्तमाल' (ले० नाभादास, सं० १६४२)
(३) 'गोसांईं चरित्र' (ले० बाबा वेणीमाधवदास, सं० १६८७)
(४) 'तुलसी चरित' (ले० बाबा रघुबरदास, समय अज्ञात)
(५) 'भक्तमाल की टीका' (ले० प्रियादास, सं० १७६९)

'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में नन्ददास की वार्ता के सम्बन्ध में तुलसीदास का उल्लेख किया गया है। तुलसीदास से सम्बन्ध रखने वाले अवतरण इस प्रकार हैं :—

१. नन्ददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते ।। सो विनंकू नाच तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शोक बहुत हतो ।। सो वा देश मेंसूं एक सङ्ग द्वारका जात हतो ।। सो नन्ददास जी ऐसे विचारे कें में श्री रणछोड़ जी के दर्शन कूं जाऊँ तो अच्छो है ।। जब विनने तुलसीदास जी सूं पूँछी तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते जासूं विनने द्वारका जायबे की नाहीं कही .....।।[1]

२. सो वे नन्ददास जी ब्रज छोड़ के कहूँ जाते नाहीं हुते ।। सो नन्ददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी काशी में रहते हुते ।। सो विनने सुन्यो नन्ददास जी श्री गुसांई जी के सेवक भये हैं ।। जब तुलसीदास जी के मत में ये आई के नन्ददास जी ने पतिव्रता धर्म छोड़ दियो है आपने तो श्री रामचंद्र जी पति हुते ।। सो तुलसीदास जी ने ये विचार कें नन्ददास जी कुं पत्र लिख्यो ।। जो तुम पतिव्रता धर्म छोड़ कें क्यों तुमने कृष्ण उपसना करी ।। ये पत्र जब नन्ददास

---

१ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८
[वैष्णव रामदास जी गुरु श्रीगोकुलदास जी (डाकोर) सं० १९९०]

जी कुं पहुँचो तब नन्ददास जी ने बाँच के ये उत्तर लिख्यो ।। जो श्री रामचंद्र जी तो एक पत्नीव्रत हैं सो दूसरी पत्नीन कुं कैसे सम्भार सकेंगे एक पत्नी हुँ बरोबर सँभार न सके ।। सो रावण हर ले गयो और श्रीकृष्ण तो अनन्त अबलान के स्वामी हैं और जिनकी पत्नी भये पीछे कोई प्रकार को भय रहे नहीं है एक कालावच्छिन्न अनंत पत्नीन कुं सुख देत हैं ।। जासूं मैंने श्रीकृष्ण पती कीन हैं ।। सो जानोगे ।।[1]

३. सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई ।। जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है ।। सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें ।।[2]

४. सो नन्ददास जी के बड़े भाई तुलसीदास जी हते ।। सो काशी जी तें नन्ददास जी कुं मिलबे के लिये ब्रज में आये । सो मथुरा मे आय के श्री यमुना जी के दर्शन करें पाछे नन्ददास जी की खबर काढ़के श्री गिरिराजजी गये उहाँ तुलसीदास जी नन्ददास जी कुं मिले ।। जब तुलसीदास ने नन्ददास जी सुं कही के तुम हमारे संग चलो ।। गाम रुचे तो आयोध्या में रहो ।। पुरी रुचे तो काशी में रहो ।। पर्वत रुचै तो चित्रकूट में रहो ।। बन रुचे तो दंडकारण्य में रहो । ऐसे बड़े-बड़े धाम श्रीरामचंद्र जी ने पवित्र करे हैं ।।[3]

५. जब नन्ददास जी श्रीनाथ जी के दर्शन करने कूं गये ।। तब तुलसीदास जी हुँ उनके पीछे गये । जब श्रीगोवर्धननाथ जी के दर्शन करे तब तुलसीदास जी ने माथो नमायो नहीं ।। तब नन्ददास जी जान गये । जो ये श्रीरामचंद्र जी बिना और दूसरे कूं नहीं नमे हैं ।।[4]

तब नन्ददास जी श्री गोकुल चले तब तुलसीदास जी हूँ संग संग आये तब आयके नन्ददास जी ने श्रीगुसाईं जी के दर्शन करे ।। साष्टांग दण्डवत् करी और तुलसीदास जी ने दण्डवत् करी नहीं ।। और नन्ददास जी कुं तुलसीदास जी ने कही के जैसे दर्शन तुमने वहाँ कराये वैसे ही यहाँ कराओ ।। जब नन्ददास जी ने श्रीगुसाईं जी सों बीनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं । श्रीरामचन्द्र जी बिना और कुं नहीं नमें हैं तब श्रीगुसाईं जी ने कही तुलसीदास जी बैठो ।।[5]

इन उद्धरणों से तुलसीदास के सम्बन्ध में आगे दी बातें ज्ञात होती हैं :—

---

१ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ ३२
२ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता पृष्ठ ३२
३ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता पृष्ठ ३३
४ दो सौ बावन वैष्णवन की पृष्ठ ३४
५ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता पृष्ठ ३५

१. तुलसीदास नन्ददास के बड़े भाई थे।

२. तुलसीदास राम के अनन्य भक्त थे। वे काशी में रहते थे और उन्होंने रामायण भाषा में की थी।

३. तुलसीदास ने काशी से ब्रज-यात्रा भी की थी, वहाँ वे नन्ददास से मिले थे।

४. तुलसीदास राम के सिवा किसी को माथा नहीं नवाते थे। वे अपनी ब्रज-यात्रा में श्रीगुसाईं विट्ठलनाथ से भी मिले थे।

तुलसीदास की अनन्य भक्ति, काशी-निवास और मानस-रचना तो अन्तर्साक्ष्य से भी स्पष्ट है, किन्तु उनका नन्ददास से सम्बन्ध किसी प्रकार से भी अनुमोदित नहीं है। तुलसीदास की ब्रज-यात्रा और विट्ठलनाथ से भेंट अन्तर्साक्ष्य से स्पष्ट नहीं होती। य बातें बाबा वेणीमाधवदास के 'गुसाईं चरित' से अवश्य पुष्ट होती हैं।

वेणीमाधव दास ने नन्ददास को तुलसीदास का गुरुभाई माना है।

नन्ददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन सेस सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बन्धु भये तेहिते। अति प्रेम सों आय मिले यहिते॥[1]

पर उसमें भी गोसाईं, विट्ठलनाथ से मिलाप की बात नहीं है। तुलसीदास जी का वृन्दावन-गवन भी वेणीमाधवदास ने लिखा है :—

वृन्दाबन में तँह ते जु गये। सुठि राम सुघाट पै बास लये॥
बड़धूम मचौ सुचि संत जुरे। मुनि दरसन को नरनारि जुरे॥

इस प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में कही हुई बातें अन्तर्साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य से पुष्ट अवश्य हो जाती हैं। विश्वस्त तो उन बातों को मानना चाहिए जो अन्तर्साक्ष्य से प्रमाणित होती है।

नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में तुलसीदास पर एक ही छप्पय लिखा है :—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो।
त्रेता काव्य निबन्ध करी शत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्म इत्यादि परायन।
अब भक्तनि सुखदैन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहनिशि व्रत धारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नवका लियो॥
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो॥[2]

इस छप्पय से तुलसीदास के विषय में केवल इतना ही ज्ञान होता है

---

१ 'मूल गोसाईंचरित' (श्रीवेणीमाधवदास विरचित), पृष्ठ २६
(गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १९९१)

२ 'श्रीभक्तमाल' सटीक, पृष्ठ ७३७

कि वे राम-भक्त थे और उन्होंने संसार के हित के लिए अवतार लिया था। तुलसीदास के व्यक्तित्व और काव्य के विषय में कुछ नहीं लिखा गया।

संवत् १७६९ (या १७७०) में 'भक्तमाल' की जो टीका प्रियादास ने लिखी थी उससे अवश्य तुलसीदास के जीवन की सात घटनाओं का परिचय मिलता है।[१]

वेणीमाधवदास का मूल गोसाईं चरित अवश्य ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें तुलसीदास का जीवन-वृत्त प्रारम्भ से लेकर अन्त तक तिथियों तथा अनेक घटनाओं के आधार पर लिखा गया है। इसके लेखक तुलसीदास के शिष्य वेणीमाधवदास थे जिन्होंने इसकी रचना सं० १६८७ में की। इसका निर्देश पहले पहल शिवसिंह-सरोज (सं० १९३४) में किया गया है[२], पर अभी तक इसका कोई पता नहीं था। अभी कुछ वर्ष हुए उन्नाव के वकील श्री रामकिशोर शुक्ल ने स्वसम्पादित नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित 'रामचरित-मानस' के आरम्भ में इसे प्रकाशित किया है। उन्हें यह प्रति "कनकभवन अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायक से प्राप्त हुई थी।" इसमें तिथियों और घटनाओं का क्रम इतने सिलसिले से दिया गया है कि हमें साहित्य में वैसा और दूसरा ग्रन्थ नहीं मिलता। इसकी यही नियमित लेखन-शैली उसकी प्रामाणिकता में संदेह का कारण बन गई है। राय बहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास ने यद्यपि इस ग्रन्थ को प्रामाणिक मान कर इसके आधार पर एक आलोचनात्मक ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास' की रचना की है, पर अभी तक हिन्दी के विद्वानों ने इस पर अपनी स्वीकृति नहीं दी। इस पर संदेह करने के कारण निम्नलिखित हैं :—

(क) तिथि-सम्बन्धी

१. हिन्दी में तिथियों का इतना नियमित निर्देश करने की प्रथा थी ही नहीं। एक भी ग्रन्थ हमें नहीं मिलता जिसमें इस प्रकार तिथियों पर जोर दिया गया हो। तिथियों के इस विवरण का विचार नवीन है। इसलिए सम्भव है, यह आधुनिक रचना हो।

२. इसके अनुसार तुलसी का जीवन १२६ वर्ष का विस्तृत काल हो जाता है, जो यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

---

१ दि रामायन ऑव् तुलसीदास भूमिका पृष्ठ २१
जे० एम्० मैक्फी (१९३०)

२ इनके जीवन-चरित्र की पुस्तक वेणीमाधवदास कवि पसका ग्रामवासी ने जो इनके साथ-साथ रहे बहुत विस्तरपूर्वक लिखी है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तक में ऐसी विस्तृत कथा को हम कहाँ तक संक्षेप में वर्णन करें।
शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४२७.
(नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १९२६)

(ख) साहित्यिक

१. हितहरिवंश की मृत्यु सं० १६०६ में मानी गई है, पर इसमें उनका जीवन काल सं० १६०६ के बाद तक चला जाता है। ओरछा से उनका सम्बन्ध सं० १६२० के बाद तक माना गया है।

२. **सूरदास और गोकुलदास**—सूरदास तुलसीदास से सं० १६१६ में मिले और अपने साथ गोकुलनाथ का एक पत्र लाये। गोकुलनाथ का जन्म संवत् १६०८ माना जाता है।[1] अतएव सूरदास जी जब उनका पत्र लाये तब उनकी अवस्था केवल ८ वर्ष की होगी। गोकुलनाथ जी इतने समय में ही सूरदास जी के हाथ पत्र भेज सके होंगे?

३. **मीरांबाई और उनका पत्र**—'गोसाईं-चरित' के अनुसार संवत् १६१६ से १६२८ के बीच किसी समय अपने परिजनों से पीड़ित मीराँबाई का पत्र तुलसीदास के पास आया और तुलसीदास ने उत्तर लिखा। मीराँबाई के विचारों से सहमत न होने वाले विक्रमादित्य ही थे, जो संवत् १५९३ तक गद्दी पर रहे। उसके बाद गद्दी बनवीर ने छीन ली।[2] मीराँबाई को पत्र १५९४ तक ही लिखना चाहिए था, उसके २२ वर्ष के बाद नहीं। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तो मीराँबाई की मृत्यु संवत् १६०३ में मानते हैं।[3]

४. **केशवदास और 'रामचन्द्रिका'**—वेणीमाधव ने 'रामचन्द्रिका' की रचना सं० १६४३ के लगभग बतलाई है, पर केशवदास जी ने स्वयं अपनी रामचन्द्रिका का रचना-काल सं० १६५८ दिया है :—

सोरह से अट्ठावन कातिक सुदि बुधवार। रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्हों अवतार।[4]

सं० १६५३ में गोसाईं चरितकार ने तो केशव को प्रेत मान लिया है, जब उनकी 'रामचन्द्रिका' की रचना भी नहीं हुई थी।

(ग) ऐतिहासिक

१. अकबर के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा गया है, उसका इतिहास में कुछ भी उल्लेख नहीं है।[5]

---

१ 'चौरासी वैष्णव नी वार्ता' श्री गुसाँई जीना चतुर्थलाल जी श्री गोकुलनाथ जी छे बनावी छे तेमनो जन्म संवत् १६०८ में भयो हतो। अेटले ते सूरदास जी ना अवसान समये लगभग २२ वर्ष ना अर्थात् सूरदास जीना समकालीन होता।

'सूरदास जी नूं जीवन चरित', पृष्ठ २५

२ 'उदयपुर राज्य का इतिहास', पहली जिल्द, पृष्ठ ४०१

३ 'उदयपुर राज्य का इतिहास' (रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)

४ 'रामचन्द्रिका' पृष्ठ ४ (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)

५ दिल्ली पति बिनती करी, दिखरावहु करमात। मुकरि गए बंदी किए, कीन्हें कपि उत्पात॥
बेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब बाम। हाहाकार मच्यो महल, पटको नृपहि धड़ाम॥

२. सं० १६६९ में रहीम का जीवन अत्यन्त दुःखी था, उस समय बरवै में उनका नायक-नायिका का रस पूर्ण वर्णन अप्रामाणिक है।[1]

३. जहाँगीर का काशी आना सं० १६७० में लिखा गया है, पर इतिहास इसका साक्षी है कि १६६९ के बाद जहाँगीर काशी की ओर आया ही नहीं।[2]

इन तिथियों के सम्बन्ध में स्वयं बाबू श्यामसुन्दर दास जी निश्चित नहीं हैं। वे लिखते हैं—संवतों के विषय में एकाएकी वेणीमाधव दास का अन्ध-अनुसरण ठीक नहीं हैं।

(घ) अलौकिक घटनाएँ

वेणीमाधवदास ने न जाने कितनी अलौकिक घटनाएँ तुलसी के जीवन से जोड़ रक्खी हैं।

१. उनका जन्म लेते ही राम का उच्चारण करना।

२. बत्तीसों दाँतों का होना, पाँच वर्ष के समान दीखना, रुदनहीन।

६. गौरा माई का तुलसीदास पर कृपा करना।

४. शिव का दर्शन देना।

५. प्रेत का दर्शन।

६. लड़की को लड़का बना देना।

७. विधवा स्त्री के पति को फिर से जिला देना।

८. पत्थर के नन्दी का हत्यारे के हाथ प्रसाद पाना।

९. कृष्ण का राम में रूपान्तरित हो जाना।

इन्हीं सब बातों के कारण अभी तक 'गोसाईं चरित' की प्रामाणिकता के विषय में संदेह है।

'गोसाईं चरित' के आधार पर तुलसीदास का जीवन-चरित्र संक्षेप में इस प्रकार है :—

तुलसीदास के पिता राजापुर के राजगुरु थे। वे "सरवार के विप्र" थे, माता का नाम हुलसी था। इनका जन्म सं० १५५४ में श्रावण शुक्ल सप्तमी को

मुनिहि मुक्त ततछन किए, छमापराध कराय।
बिदा कीन्ह सनमान जुत, पीनस में पधराय॥
(गोस्वामी तुलसीदास, परिशिष्ट, पृष्ठ २४३ हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३१)

१ कवि रहीम बरवा रचे, पठए मुनिवर पास। लखि तेइ सुन्दर छंद में, रचना किए प्रकाश॥
गोस्वामी तुलसीदास, परिशिष्ट, पृष्ठ २४५

२ जहाँगीर आयो तहाँ, सत्तर संवत बीत। धन धरती दीबो चहै, गहे न गुनि विपरीत॥
गोस्वामी तुलसीदास, परिशिष्ट, पृष्ठ २४५

हुआ। उत्पन्न होते ही ये रोये नहीं, वरन् इन्होंने राम का उच्चारण किया। इसीलिए इनका नाम 'रामबोला' पड़ा। इनके बत्तीसों दाँत थे और ये पाँच वर्ष के बालक की भाँति शरीर से बड़े थे। तीन दिन बाद हुलसी की मृत्यु हो गई। मृत्यु से पहले हुलसी ने अपनी दासी चुनियाँ से पुत्र की रक्षा का भार लेने की प्रार्थना की थी। हुलसी की मृत्यु के बाद चुनियाँ 'रामबोला' (तुलसी) को अपनी ससुराल हरिपुर ले गई। पाँच वर्ष के बाद वह भी साँप के काटने से मर गई। हरिपुर से राजापुर संदेश भेजा गया कि 'रामबोला' को ले जाओ, पर तुलसी के पिता बालक को अशुभ जानकर वापस लेने को तैयार नहीं हुए। ५ वर्ष का 'रामबोला' द्वार-द्वार भीख मांगने लगा। इस दैन्य में 'रामबोला' की रक्षा का भार ब्राह्मण स्त्री का रूप रख गौरामाई (पार्वती) ने लिया। दो वर्ष तक 'रामबोला' का इस प्रकार पोषण हुआ। पार्वती का कष्ट जानकर शिव ने अनन्तानन्द के शिष्य नरहर्य्यानिन्द को स्वप्न में दर्शन देकर 'रामबोला' की रक्षा का भार ग्रहण करने का आदेश दिया। नरहर्य्यानिन्द ने 'रामबोला' के सब संस्कार कर उसे राम की कथा शूकर-क्षेत्र में सुनाई। यह तिथि संवत् १५६१ है। शूकर-क्षेत्र में नरहर्य्यानिन्द पाँच वर्ष तक रहे। उन्होंने 'रामबोला' को 'तुलसी' नाम दिया। इसके बाद नरहरि तुलसीदास को लेकर काशी आये। यहाँ ये पंचगंगा घाट पर शेष सनातन से मिले। शेष सनातन तुलसी की प्रतिभा पर मुग्ध हो गये। उहोंने नरहरि से तुलसी को माँग लिया और अपना शिष्य बना लिया। तुलसीदास शेष सनातन के संरक्षण में पन्द्रह वर्ष रहे और इस काल में उन्होंने "इतिहास पुरानरु काव्य-कला" सभी कुछ पढ़ डाला। जब शेष सनातन की मृत्यु हुई तो तुलसीदास राजापुर आकर राम की कथा कह कर अपना जीवन व्यतीत करने लगे।

इसी समय यमुना के तीर पर तारिपता गांव के ब्राह्मण ने अपनी पुत्री का विवाह तुलसीदास के साथ संवत् १५८३ में कर दिया। पाँच वर्ष तक तुलसी का वैवाहिक जीवन रहा। इसके बाद स्त्री के चुपचाप पितृ-गृह चले जाने पर तुलसी जब उसके पीछे ससुराल जाते हैं, तो उन्हें स्त्री की भर्त्सना मिलती है। वे वैराग्य ले लेते हैं और इस दुःख में उनकी स्त्री की मृत्यु संवत् १५८९ में हो जाती है।

इसके बाद तुलसीदास ने लगभग पंद्रह वर्ष तक तीर्थयात्रा और पर्यटन किया। अंत में चित्रकूट को इन्होंने अपना निवास बनाया। यहाँ इन्हें प्रेत-दर्शन हुए, जिससे इन्होंने हनुमान और राम के दर्शन किये। इन्हे यहाँ दरियानन्द स्वामी मिले, हितहरिवंश का पत्र मिला और इनका सूरदास से सम्मिलन हुआ। सूरदास ने तुलसीदास को अपना 'सूरसागर' दिखलाया। यह घटना संवत् १६१६ की है। इसके बाद इन्हें मेवाड़ से मीरांबाई का पत्र मिला और इन्होंने उसका उत्तर दिया।

संवत् १६१६ के बाद इन्होंने एक बालक के गाने के लिए राम और कृष्ण सम्बन्धी पद्यों की रचना की और संवत् १६२८ में उन्हें 'राम-गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' के नाम से संग्रहीत किया। इसके बाद ये चित्रकूट से काशी चले गये। रास्ते में वारिपुर और दिगपुर नामक दो स्थानों पर रुके, जहाँ इन्होंने कुछ कवित्तों की रचना की। काशी में शिवजी ने दर्शन देकर इन्हें राम-कथा लिखने के लिए प्रेरित किया। इन्होंने संवत् १६३१ में 'रामचरित मानस' की रचना अयोध्या में आकर की। इसके बाद इनका साहित्यिक जीवन नियमित रूप से आरम्भ होता है।

'मानस' की प्रसिद्धि ने काशी के कुछ लोगों को प्रेरित किया कि वे 'मानस' की प्रति चुरा लें, इसीलिए तुलसीदास को वह प्रति अपने मित्र टोडर के यहाँ सुरक्षित रखनी पड़ी। काशी के पंडितों के कष्ट पहुँचाने पर इन्होंने सवत् १६३३ और १६४० के बीच में 'राम विनयावली' ('विनय पत्रिका') की रचना की। इसके बाद ये मिथिला गये और शायद इसी यात्रा में इन्होंने 'रामलला नहछू', 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' की रचना की। संवत् १६४० में इन्होंने 'दोहावली' का संग्रह किया और संवत् १६४१ में 'वाल्मीकि रामायण' की प्रतिलिपि तैयार की। संवत् १६४२ में 'सतसई' लिखी। उसी समय काशी में महामारी का प्रकोप हुआ, इसे 'मीन की सनीचरी' कहा गया है। इस सम्बन्ध में भी तुलसीदास ने कुछ रचानाएँ कीं। सवत् १६४२ के बाद तुलसीदास केशवदास से मिले। तुलसीदास ने केशवदास को 'प्राकृत कवि, कह कर मिलने से इनकार कर दिया था। बाद में जब केशवदास ने एक रात्रि ही में 'रामचन्द्रिका' लिख कर प्रस्तुत की, तो तुलसीदास जी केशवदास से मिले। संवत् १६४९ में ये नैमिषारण्य गये। वहां ये नाभादास, नन्ददास और गोपीनाथ से मिले। ये वृन्दावन से चित्रकूट गए। इसके बाद इन्होंने अनेक अलौकिक कार्य किए। केशवदास को प्रेत-योनि से छुड़ाया, चरखारी के राजा की दुहिता को स्त्री-पति बदल कर पुरुष-पति दिया। यहाँ से ये दिल्ली-दरबार में कुछ करामात दिखाने के लिए बुलाये गये। वहाँ दिल्लीपति को शिक्षा देकर ये महाबन (काशी) चले आए। मार्ग में अयोध्या में मलूकदास से भी मिले।

इसके बाद महाबन (काशी) ही में रहे। यहाँ उन्होंने पुनः अलौकिक कार्य किए। एक विधवा के पति को पुनः जीवित किया। अपने मित्र टोडर की मृत्यु पर उसके उत्तराधिकारियों का 'पंचनामा' लिखा। इसके बाद संवत् १६६९ में इन्होंने अनेक रचनाएँ की। 'बरवै', 'बाहुक', 'वैराग्य संदीपिनी' और 'रामज्ञा प्रश्न' की रचना की। 'नहछू', 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' को अभिमन्त्रित किया। संवत् १६७२ में जहांगीर तुलसीदास के दर्शनों के लिए काशी

आया, वह तुलसीदास को धन सम्पन्न करना चाहता था, पर तुलसीदास ने सब कुछ अस्वीकार किया। अंत में संवत् १६८० में गंगा तीर पर असीघाट में तुलसीदास ने श्रावण कृष्ण ३, शनिवार को महाप्रस्थान किया।

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर ॥ ११६ ॥

'तुलसी-चरित' के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। इसका कुछ भी साहित्यिक महत्त्व नहीं है। संवत् १९६९ की ज्येष्ठ मास की 'मर्यादा' में श्री इन्द्रदेवनारायण ने इस ग्रंथ की सूचना दी थी। इसके लेखक का नाम उन्होंने तुलसीदास के शिष्य बाबा रघुबरदास बतलाया था। इसके सम्बन्ध में उनका कथन था—

"इस ग्रंथ का नाम 'तुलसीदास चरित' है। यह बड़ा ही वृहत् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा। इनमें भी उपखंड हैं।" इस ग्रंथ की छंद संख्या इस प्रकार लिखी हुई है :—

एक लाख तैंतीस हजारा। नौ सै बासठ छंद उदारा ॥

दुःख है कि १,३३,९६२ 'उदार' छंदों में इंद्रदेव नारायण ने केवल ५३ छंद ही दिये हैं, शेष अभी तक ज्ञात नहीं। इन ५३ छंदों के आधार पर तुलसी का जीवन-चरित इस प्रकार है :—

तुलसीदास के प्रपितामह का नाम परशुराम मिश्र था। वे सरवार देश में मझौली के कसैया ग्राम के निवासी थे, पर बाद में स्वप्न में हनुमान जी के आदेश से वे राजापुर में बस गए। इनके पुत्र का नाम था शंकर। शंकर मिश्र ने दो विवाह किए। पहले से इन्हें १० सन्तानें हुई। दूसरे से दो पुत्र हुए, संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए; जेष्ठ पुत्र का नाम था मुरारी मिश्र। मुरारी मिश्र के चार पुत्र हुए, गणपति, महेश, तुलाराम और मंगल। तुलाराम ही तुलसीदास थे। इन चार भाइयों के दो बहनें भी थीं, वाणी और विद्या। यह वंश-वृक्ष इस प्रकार है :—
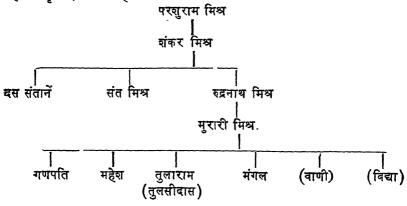
तुलसीदास के तीन विवाह हुए थे। तीसरा विवाह कंचनपुर के उपाध्याय लक्ष्मण की पुत्री बुद्धिमती के साथ हुआ। इस स्त्री के साथ विवाह में इन्हे छः हजार मुद्राएँ प्रप्त हुई थीं। इतिहास इस विषय में मौन है। अतः इसका कोई महत्त्व नहीं है। फिर 'तुलसी-चरित' के शेष अंश भी अभी तक प्रकाश में नहीं आए, जिससे इसकी प्रामाणिकता की जाँच की जा सके। अतः अभी 'तुलसी-चरित' के आधार पर कुछ कहना असंगत है।

नाभादास के 'भक्तमाल' की टीका प्रियादास ने सं० १७६९ में की। उन्होंने नाभादास के एक छप्पय का ही सहारा लेकर जनश्रुति के आधार पर तुलसीदास के जीवन की अनेक घटनाएँ लिखी हैं। उन घटनाओं में से अनेक ऐसी हैं जो अलौकिक है। प्रियादास ने अपनी टीका में तुलसीदास के वैवाहिक जीवन, हनुमान दर्शन, ह्महत्या-निवारण,अचोरों से रक्षा, मृत पति को जिलाना, दिल्लीपति बादशाह से संघर्ष, वृन्दावन-गमन आदि घटनाओं का विवरण अवश्य दिया है जो किम्बदंती के रूप में प्रचलित हैं, पर इनमें तिथि आदि का कोई विवरण नहीं है। तुलसीदास की जीवनी कुछ घटनाओं की शृङ्खला मात्र होकर रह गई है। जीवन के तत्व उसमें नहीं है। न तो इन घटनाओं से तुलसीदास की कृतियों पर प्रकाश पड़ता है और न उनके काव्य के दृष्टिकोण पर। कुछ अलौकिक घटनाएँ भक्तों के हृदय पर प्रभाव भले ही डालें, पर साहित्यिक जिज्ञासुओं को वे किसी प्रकार भी सतुष्ट नहीं कर सकतीं। अतः प्रियादास की टीका को जनश्रुति का लिखित रूप ही समझना चाहिए, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। एफ० एस० ग्राउज ने 'रामचरितमानस' का अंग्रेजी अनुवाद किया है। उसके प्रारम्भ में उन्होंने तुलसी का जो जीवन-चरित दिया है वह सम्पूर्ण रूप से प्रियादास की टीका के आधार पर ही है।[1]

जनश्रुति के अनुसार[2] तुलसीदास का जन्म संवत् १५८९ में माना गया है। पं० रामगुलाम द्विवेदी ने भी स्वसंपादित 'रामचरित मानस' की भूमिका में तुलसीदास का जन्म संवत् १५८९ में माना है। इसे सर ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। इनका जन्म राजापुर में हुआ था और ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। ये अभुक्तमूल नक्षत्र में पैदा हुए थे। अतः जन्म होते ही माता-पिता द्वारा त्याग दिए गए। फलस्वरूप इनकी बाल्यावस्था दुःख में बीती, बाद में ये नरहरि के सम्पर्क में आ गए। इनकी कछ शिक्षा-दीक्षा हुई और ये किसी तरह ज्ञान प्राप्त कर सके। इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था और इनके पुत्र का नाम तारक था।

१ दि रामायन ऑव् तुलसीदास (अनुवाद ग्राउज) इलाहाबाद, १८७७

२ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, भाग २२, पृष्ठ ५४१

ये अपनी स्त्री को बहुत प्यार करते थे। एक बार इनकी स्त्री इनसे बिना पूछे ही अपने पिता के घर चली गई। इन्होंने प्रेमावेश में उसी समय अपनी ससुराल को प्रस्थान किया। भरी हुई नदी पार कर ये ससुराल पहुँचे। वहां भी भरी हुई स्त्री की भर्त्सना सुन इन्हें वैराग्य हुआ। ये अनेक स्थानों पर भ्रमण करते रहे, अन्त में अनेक अलौकिक चमत्कार दिखलाकर कर संवत् १६८० में पंचत्व को प्राप्त हुए। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रसिद्ध है :—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर। श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

इस प्रकार तुलसीदास के जीवन सम्बन्धी तीन साक्ष्य हमारे सामने उपस्थित हैं। १. अन्तर्साक्ष्य २. बाह्यसाक्ष्य और ३. जनश्रुति। इनमें सब से अधिक प्रामाणिक अन्तर्साक्ष्य है, क्योंकि वह स्वयं लेखक के द्वारा उपस्थित किया गया है। सब से कम प्रामाणिक जनश्रुति है, क्योंकि वह समय के प्रवाह में परिवर्तित होती रहती है। बाह्यसाक्ष्य से भी प्रामाणिक बातें ज्ञात हो सकती हैं यदि व अनेक घटनाओं से समर्थित हों। जब तक कि तथ्यपूर्ण और विश्वस्त खोज नहीं होती तब तक हमें अन्तर्साक्ष्य की सामग्री को ही प्रामाणिक मानना चाहिए। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में तुलसीदास का जन्म संवत् १५८३ में दिया है। वे बेणीमाधवदास के 'गोसाईंचरित' का निर्देश करते हुए लिखते हैं कि "उसके देखने से इन महाराज क सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तक में ऐसी विस्तृत कथा को हम कहा तक संक्षेप में वर्णन करें।"[१] वेणीमाधवदास ने तुलसी का जन्म संवत् १५५४ दिया है। यदि सेंगर महाशय ने इस जीवन चरित्र को देखा होता तो वे इस संवत् का निर्देश अवश्य करते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। इससे ज्ञात होता है कि सरोजकार ने 'गोसांईचरित' का नाम ही सुन कर, उसका उल्लेख कर दिया है।

अभी कुछ वर्षों से तुलसीदास की जन्मभूमि के सम्बन्ध में कुछ जिज्ञासुओं के द्वारा खोज की जा रही है। 'सुकवि सरोज' (द्वितीय भाग) के लेखक पं० गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' ने यह सिद्ध किया है कि गोस्वामी जी का स्थान सोरों ही था। वे अन्य प्रमाण देते हुए लिखते हैं—

"अयोध्या, चित्रकूट, काशी आदि अनेक स्थानों का गोस्वामी जी ने अपने जीवन में अनेक बार और भलीभांति भ्रमण किया था, किन्तु अपने जन्मस्थान (सोरों) से जब से गए फिर नहीं आए, और यह है भी स्वाभाविक। इन बातों से यह भलीभाँति सिद्ध होता है कि गोस्वामी जी की जन्मभूमि सोरों ही थी, राजापुर नहीं।[२]

---

१ शिवसिंह सरोज (शिवसिंह सेंगर), पृष्ठ ४२० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (१९२६)

२ 'सुकवि सरोज' (द्वितीय भाग) पं० गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' श्रीसनाढ्यादर्श ग्रन्थमाला, टीकमगढ़, (बुँदेलखण्ड) सं० १९९०

पं० रामनरेश त्रिपाठी भी तुलसीदास का जन्म-स्थान सोरों ही मानते हैं। वे तुलसीदास की कविता में प्रयुक्त विशेष शब्दों और मुहावरों को (जो सोरों में ही बोले और समझे जाते हैं) उद्धृत कर तुलसीदास की जन्मभूमि सोरों ही मानने के प्रमाण उपस्थित करते हैं।[१]

श्री रामदत्त भारद्वाज और श्री भद्रदत्त शर्मा सोरों में प्राप्त हुई सामग्री[२] के आधार पर तुलसीदास की जन्मभूमि सोरों ही मानते हैं। वे लिखते हैं :—

"तुलसीदास के पूर्व पुरुष रामपुर में रहते थे (जिसका नाम पीछे से नन्ददास ने श्यामपुर रख लिया था)। यह ग्राम एटा जिले में सोरों से प्रायः दो मील पूर्व में स्थित है। कतिपय विशेष परिस्थितियों के कारण इनके पिता पं० आत्माराम शुक्ल, सनाढ्य ब्राह्मण भारद्वाज गोत्रीय को अपनी वृद्धा माता और पत्नी के साथ सोरों के योगमार्ग मुहल्ले में जाना पड़ा। परन्तु उनके भाई उसी गांव में रहते रहे। तुलसीदास के जन्म के कुछ ही दिन पीछे इनकी माता का देहान्त हो गया था और कुछ ही काल के अनन्तर पिता का भी। अतः उनकी रक्षा का भार उनकी बुढ़िया दादी के कंधों पर आ पड़ा।" आदि[३]

---

१ 'तुलसीदास और उनकी कविता'—(पं० रामनरेश त्रिपाठी)
हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद १९३९ पृष्ठ ६५-७०

२ (अ) 'मानस' के बालकांड की एक प्रति की पुष्पिका जो सं० १६४३ की लिखी हुई कही जाती है।
(आ) 'मानस' के अरण्यकांड की एक प्रति की पुष्पिका जो आषाढ़ शुक्ल सं० १६४३ की लिखी हुई कही जाती है।
(इ) कृष्ण रस रन्जित 'सूकर क्षेत्र माहात्म्य भाषा' की एक प्रति, जिसका रचना काल सं० १६७० बताया गया है।
(ई) मुरलीधर चतुर्वेदी कृत 'रत्नावली' की एक प्रति, जिसका रचना-काल सं० १८२९ बताया गया है।
(उ) 'रत्नावली लघु दोहा संग्रह' की दो प्रतियाँ।
(ऊ) 'दोहा रत्नावली' की एक प्रति।
(ए) सोरों में तुलसीदास के स्थान का अवशेष।
(ऐ) तुलसीदास के भाई नन्ददास के उत्तराधिकारी।
(ओ) सोरों में स्थित नरसिंह जी का मन्दिर।
(औ) सोरों में नरसिंह जी चौधरी के उत्तराधिकारी।
—'तुलसीदास'—पृष्ठ ८० डा० माताप्रसाद गुप्त,
(प्रयाग विश्वविद्यालय हिंदी परिषद्), १९४२

३ तुलसी चर्चा, पृष्ठ १३-१४ श्री रामदत्त भारद्वाज, श्री भद्रदत्त शर्मा (शिवनारायण माहेश्वरी, लक्ष्मी प्रेस, कासगंज, सं० १९९८)

डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'तुलसीदास' के अध्ययन में कवि की जन्मभूमि राजापुर या सोरों थी, इस विषय में काफी गवेषणा की है। अपने निष्कर्ष में उनका कथन है :—

"राजापुर की जनश्रुति का अब से कुछ प्राचीनतर रूप तुलसीदास के सोरों के साक्ष्य का अंशता समर्थन करता है; दोनों स्थानों के साक्ष्यों में अंतर अवश्य यह है कि एक तो सोरों की सामग्री वहाँ के बदरिया गाँव में ससुराल का उल्लेख करती है और राजापुर की जनश्रुति यहाँ से महेवा गांव में ससुराल होने का उल्लेख करती है, और दूसरे, सोरों की सामग्री कवि की राजापुर यात्रा का कोई उल्लेल नहीं करती और राजापुर की जनश्रुति के अनुसार कवि सोरों से आकर राजापुर इतने दिनों तक रहता है कि वहाँ पर एक बस्ती उसके तत्वावधान में बस जाती है और उसमें बहुत सी प्रथाएँ उसके उपदेशों का आधार ग्रहण करके चल पड़ती हैं। इस दशा में थोड़ी देर के लिए सोरों की सामग्री के तथा राजापुर की उपयुक्त जनश्रुति के साक्ष्य में जहाँ पर अन्तर है वहाँ पर यदि हम राजापुर की जनश्रुति को ही प्रामाणिक मानें तो भी सन्त तुलसी साहिब के उल्लेख इसका स्पष्ट विरोध करते हैं, और सन्त तुलसी साहिब की आत्मकथा के सम्बन्ध में ऊपर हम देख आये हैं कि अधिक से अधिक उसे हम किन्हीं परंपराओं का प्राचीनतम उल्लेख मान सकते हैं, इसलिए यह एक विचित्र समस्या है कि सोरों के निकटवर्ती प्रान्त में—हाथरस सोरों के निकट ही है—राजापुर जन्म-स्थान होने के प्रमाण मिले और राजापुर और उसके आस-पास सोरों जन्म-स्थान होने के प्रमाण मिले। फलतः दोनों पक्षों के प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यह कहना कठिन है कि दोनों में से कौन सा स्थान कवि का जन्म-स्थान था, और यह भी सर्वथा असंभव नहीं कि कोई तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह अवश्य निश्चित जान पड़ता है कि गोस्वामी जी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और उन्होंने कदाचित् उसी शूकर-क्षेत्र की यात्रा की थी जो सोरों कहलाता है।"[1]

जितनी सामग्री इस संबन्ध में उपलब्ध हुई है उसकी परीक्षा करने से तुलसीदास की जन्मभूमि का निर्धारण सोरों के पक्ष में अधिक युक्तिसंगत ज्ञात होता है।

तुलसीदास के ग्रन्थ

तुलसीदास के समकालीन और परवर्ती लेखकों ने तुलसीदास के 'मानस' का ही निर्देश अधिकतर किया है।[2] अन्य ग्रन्थों के विषय में कुछ लिखा ही नहीं गया।

---

१ तुलसीदास, (पृष्ठ १२९-१३०) डा० माताप्रसाद गुप्त

२ सो एक दिन नन्ददास के मन ऐसी आई ॥ जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है ॥ सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।
'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता,' पृष्ठ ३२
वैष्णव रामदास जी गुरु श्री गोकुलदास जी १९६० (डाकौर)

भिखारीदास ने ग्रंथों के नाम न लिख कर केवल कविता की भाषा की प्रशंसा कर दी है।[१] वेणीमाधवदास ने अपने 'मूल गोसाईंचरित' में तुलसीदास के अनेक ग्रन्थों का निर्देश किया है। रचना-तिथि के क्रम से ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है :—

१. राम गीतावली	संवत् १६२८
२. कृष्ण गीतावली	१६२८
३. रामचरित मानस	१६३१
४. राम विनयावली (विनयपत्रिका)	१६३९ के लगभग
५. रामलला नहछू	१६३९
६. पार्वती मंगल	१६३९
७. जानकी मंगल	१६३९
८. दोहावली	१६४०
९. सतसई	१६४२
१०. बाहुक	१६६९
११. वैराग्य संदीपिनी	१६६९
१२. रामाज्ञा	१६६९
१३. बरवै	१६६९

'कवितावली' का कोई निर्देश नहीं है। कुछ कवित्तों की रचना के संबन्ध में अवश्य लिखा गया है।

शिवसिंह सेंगर ने तुलसीदास के ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए 'सरोज' में लिखा है:—

"इनके बनाये ग्रन्थों की ठीक संख्या हमको मालूम नहीं हुई। केवल जो ग्रन्थ हमने देखे, अथवा हमारे पुस्तकालय में हैं, उनका जिक्र किया जाता है। प्रथम ४९ काण्ड रामायण बनाया है, इस तफसील से १. चौपाई-रामायण ७ कांड, २. कवितावली ७ कांड, ३. गीतावली ७ कांड, ४. छन्दावली ७ कांड, ५. बरवै ७ कांड, ६. दोहावली ७ कांड, कुंडलिया ७ कांड। सिवा इन ४९ कांडों के १. सतसई, २. रालशलाका, ३. संकट मोचन, ४. हनुमत् बाहुक, ५. कृष्ण गीतावली, ६. जानकी मंगल, ७. पार्वती मंगल, ८. करखा छन्द, ९. रोला छन्द, १०. झूलना छन्द इत्यादि और भी ग्रन्थ बनाये हैं। अन्त में विनयपत्रिका महाविचित्र मुक्ति रूप प्रज्ञानन्द सागर ग्रन्थ बनाया है। चौपाई गोस्वामी महाराज की ऐसी किसी कवि ने नहीं बना पाई, और न विनयपत्रिका के समान अद्भुत ग्रन्थ आज तक किसी कवि महात्मा

---

१ तुलसी गंग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
जिनके ग्रन्थन में मिली, भाषा विविध प्रकार॥—'काव्यनिर्णय'

ने रचा। इस काल में जो रामायण न होती तो हम ऐसे मूर्खों का बेड़ा पार न लगता।[1]

इस प्रकार सरोजकार के अनुसार तुलसीदास के ग्रन्थों की संख्या १८ है (७ रामायण और ११ अन्य)।

सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने तुलसीदास के ग्रन्थों का निर्देश तीन स्थानों पर किया है :—

१. इंडियन एंटिकरी (सन् १८९३) 'नोट्स ग्रान तुलसीदास' इसके अनुसार तुलसीदास ने २१ ग्रन्थ लिखे।[2]

मानस, गीतावली, कवितावली, दोहावली, छप्पय रामायण, राम सतसई, जानकी मंगल, वैराग्य सन्दीपिनी, रामलला नहछू, बरवै रामायण, रामाज्ञा प्रश्न या राम सगुनावली, संकटमोचन, विनयपत्रिका, बाहुक, रामशलाका, कुंडलिया रामायण, करखा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण, श्रीकृष्ण गीतावली।

इस निर्देश के बाद ग्रियर्सन ने तुलसी के १२ ग्रन्थ ही माने हैं जो उन्होंने आगे चलकर 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एंड ऐथिक्स' में दिए।

२. इंट्रोडक्शन टु दि मानस (खड़गविलास प्रेस)

इसके अनुसार तुलसीदास ने १७ ग्रन्थ लिख, पर वे वास्तव में २१ ग्रन्थ हैं, क्योंकि ५ ग्रन्थों का समुच्चय ग्रियर्सन ने 'पंचरत्न' के नाम से लिखा है।[3]

३. एनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एंड एथिक्स[4]

इसके अनुसार ग्रियर्सन ने तुलसी के १२ ग्रन्थ ही प्रामाणिक माने हैं। वे ग्रन्थ हैं :—

छोटे ग्रन्थ—रामलला नहछू, वैराग्य सन्दीपिनी, बरवै रामायण, जानकी मंगल, पावती मंगल, रामाज्ञा।

बड़े ग्रन्थ—कृष्ण गीतावली, विनय पत्रिका, गीतावली, कवितावली, दोहावली और रामचरित मानस।

सन् १९०३ में 'बंगवासी' के मैनेजर श्री शिवबिहारीलाल वाजपेयी ने 'बंगवासी' के ग्राहकों को समस्त तुलसी ग्रन्थावली उपहार में दी थी। उस ग्रंथावली के अनुसार तुलसीदास के ग्रन्थों की संख्या १७ निर्धारित की गई थी। बाद में

---

१ शिवसिंह सरोज (शिवसिंह सेंगर) पृष्ठ ४२७-४२८
नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (१९२६)

२ इंडियन एंटीकरी, भाग २२, १८९३, पृष्ठ १२२

३ रामचरितमानस (खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर) १८८९

४ एंनाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एंड एथिक्स, भाग १-२, पृष्ठ ४७०

तुलसीदास की तीन पुस्तकें और जोड़ दी गई थीं। उक्त ग्रन्थावली के सम्बन्ध में श्री शिवबिहारीलाल वाजपेयी ने लिखा था :—

'हम इस वर्ष महाकवि गोस्वामी तुलसीदास जी के १७ ग्रन्थ हिन्दी बंगवासी के ग्राहकों को उपहार देंगे। इनमें मानस रामायण अति प्रकांड तथा भारत-प्रसिद्ध ग्रन्थ है। भारत के नर-नारी इसके लिये लालायित हैं...इस मानस रामायण के अतिरिक्त गोस्वामी जी की १६ और रामायण हम अपने पाठकों को उपहार देते हैं। इन रामायणों में सुन्दर काव्य-तत्व तथा स्वतन्त्र कथाएँ पृथक्-पृथक् रूप से वर्णित हैं, किन्तु दुःख इतना ही है कि इन १६ रामायणों का प्रचार इस देश में बहुत कम है। इनका प्रचार बढ़ाने के लिये ही हम इन्हें उपहारस्वरूप देने को उद्यत हुए हैं।

इस बार के उपहार का सूचीपत्र देखिए :—

१ मानस रामायण
२ श्रीराम नहछू
३ वैराग्य संदीपिनी
४ बरवै रामायण
५ पार्वती मंगल
६ जानकी मंगल
७ श्रीराम गीतावली
८ श्रीकृष्ण गीतावली
९ दोहावली
१० श्री रामाज्ञा प्रश्न
११ कवित्त रामायण
१२ कलिधर्माधर्म निरूपण
१३ विनयपत्रिका
१४ छप्पय रामायण
१५ हनुमान बाहुक
१६ हनुमान चालीसा
१७ संकट मोचन

इन १७ ग्रन्थों के बाद इस ग्रन्थावली में तीन ग्रन्थ और जोड़ दिए गए। वे ग्रन्थ थे :—

कुंडलिया रामायण, छन्दावली, तुलसी सतसई।

इस प्रकार तुलसीदास की कुल ग्रंथ-संख्या २० हुई। ग्रियर्सन की सूची और इस सूची में यह अन्तर है कि ग्रियर्सन ने रामशलाका, करखा रामायण, रोला रामायण और झूलना रामायण के नाम लिये हैं और इस सूची में कलि धर्माधर्म निरूपण, हनुमान चालीसा और रामायण छन्दावली के नाम अतिरिक्त हैं। यदि ग्रियर्सन की सूची में ये तीन अतिरिक्त नाम और जोड़ दिए जावें, तो तुलसीदास की ग्रंथ-संख्या (२१+३) २४ हो जाती है।

---

१ सम्वत् १९६० का हिन्दी बंगवासी का नवीन उपहार, पृष्ठ १-२
शिवबिहारीलाल वाजपेयी
मैनेजर हिन्दी बंगवासी
३८-२ नं० भवानीचरण दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता, सन् १९०३ ई०

मिश्रबन्धुओं ने अपने 'नवरत्न' में तुलसीदास की ग्रन्थ-संख्या २५ दी है। उन्होंने ग्रियर्सन की दी हुई २१ पुस्तकों की सूची में ४ ग्रन्थ और बढ़ा दिए हैं। वे चार ग्रन्थ हैं :—

छन्दावली रामायण, पदावली रामायण, हनुमान चालीसा और कलि धर्मा-धर्म निरूपण।

इन २५ ग्रन्थों में मिश्रबन्धु निम्नलिखित ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं मानते[१] :—

१	करखा रामायण	८	वैराग्य सन्दीपिनी
२	कुंडलिया रामायण	९	बरवै रामायण
३	छप्पय रामायण	१०	संकट मोचन
४	पदावली रामायण	११	छन्दावली रामायण
५	रामाज्ञा	१२	रोला रामायण
६	रामलला नहछू	१३	झूलना रामायण
७	पार्वती मंगल		

इन दस ग्रन्थों को निकाल देने पर शेष १२ ग्रंथ मिश्रबन्धुओं के अनुसार प्रामाणिक हैं :—

१	मानस	७	हनुमान चालीसा
२	कवितावली	८	रामशलाका
३	गीतावली	९	रामसतसई
४	जानकी मंगल	१०	विनयपत्रिका
५	कृष्ण गीतावली	११	कलि धर्माधर्म निरूपण
६	हनुमान बाहुक	१२	दोहावली

प्राचीन टीकाकारों ने भी तुलसीदास के १२ ग्रन्थ माने हैं। श्रीबन्दन पाठक रामलला नहछू की टीका के प्रारम्भ में लिखते हैं :—

और बड़े खट् ग्रन्थ के, टीका रचे सुजान।
अल्प ग्रन्थ खट् अल्प मति, विरचत बन्दन ज्ञान॥

पं० महादेवप्रसाद ने बन्दन पाठक का समर्थन करते हुए पं० रामगुलाम द्विवेदी का वह कवित्त उद्धृत किया है, जिसके अनुसार तुलसीदास ने बारह ग्रंथ लिखे :—

रामलला नहछू त्यों विराग संदीपिनि हुँ,
बरवै बनाइ बिरमाई मति साँई की।
पारवती जानकी के मंगल ललित गाय,
रम्य राम आज्ञा रची कामधेनु नाँई की॥

---

१ नवरत्न (मिश्रबन्धु) पृष्ठ ८१-१०१
गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ (चतुर्थ संस्करण, १९९१)

दोहा औ कवित्त गीतबन्ध कृष्ण,राम कथा,
रामायन बिनै माँहि बात सब ठाँई की।
जग में सोहानी जगदीस हू के मनमानी,
संत सुखदानी बानी तुलसी गुसांई की ।।

जानकी शर्मा के शिष्य कोदोराम ने भी तुलसी के ग्रंथों के सम्बन्ध में एक कवित्त लिखा है :—

मानस गीतावली कवितावली बनाई कृष्ण—
गीतावली गाई सतसई निरमाई है।
पारवती मंगल कही मंगल कही जानकी की,
रामाज्ञा, नहछू अनुरागयुक्त गाई है।।
बरवै वैराग्य संदीपिनी घनाई बिनैपत्रिका बनाई,
जामें प्रेम परा छाई है।
नाम कला कोष मणि तुलसीकृत तेरा काव्य,
नहि कलि में काऊ कवि की कविताई है।।

इसमें दोहावली के स्थान में सतसई है और नामकला कोस मणि नामक तेरहवाँ काव्य है। अन्यथा रामगुलाम द्विवेदी द्वारा निर्देशित बारह काव्य ग्रंथ इसमें भी परिगणित हैं।[१]

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के अनुसार तुलसीदास के नाम से पाये हुए ग्रंथों का विवरण इस प्रकार है :—

१ आरती
पद्य-संख्या—६८
विषय—राम व अन्य अवतारों की आरती

२ अंकावली
पद्य-संख्या—११५
विषय—ज्ञान का वर्णन

३ उपदेश दोहा
पद्य-संख्या—१४०
विषय—उपदेश

४ कवित्त रामायण
पद्य-संख्या—१४४०
विषय—राम-कथा

---

१ इंडियन एंटीकरी, भाग २२ (१८९३) पृष्ठ १२३

१ खोज रिपोर्ट सन् १९२०-२१-२२

२ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

३ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

४ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

५. कृष्ण चरित्र

पद्य-संख्या—२९५

विषय—गीतों में कृष्ण-चरित्र

६. गीता भाष्य

पद्य-संख्या—७५

विषय—श्री मद्भगवद्गीता का अनुवाद

७. गीतावली रामायण

पद्य-संख्या—२३००

विषय—पदों में राम-कथा

८. छन्दावली रामायण

पद्य-संख्या—१२५

विषय—विविध छन्दों में राम-कथा

९. छप्पय रामायण

पद्य-संख्या—१२६

विषय—छप्पय में राम-कथा

१०. जानकी मंगल

पद्य-संख्या—२७०

विषय—सीता स्वयंवर

११. तुलसी सतसई

पद्य-संख्या—८१२

विषय—आध्यात्मिक और नीतिमय दोहे

१२. तुलसीदास जी की बानी

पद्य-संख्या—८१८०

विषय—ज्ञान, वैराग्य और उपदेश

---

५ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

६ खोज रिपोर्ट सन् १९०४

७ खोज रिपोर्ट सन् १९०४

८ खोज रिपोर्ट सन् १९०३

९ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

१० खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

११ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

१२ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

१३. दोहावली

पद्य-संख्या—७६०

विषय—राम-कथा

१४. ध्रुव-प्रश्नावली

पद्य-संख्या—८८

विषय—ज्योतिष

१५. पदावली रामायण

पद्य-संख्या—८०

विषय—पदों में राम-कथा

१६. बरवै रामायण

पद्य-संख्या—८०

विषय—बरवै में राम-कथा

१७. बाहु सर्वांग

पद्य-संख्या—२०८

विषय—हनुमान जी का स्तोत्र

१८. बाहुक

पद्य-संख्या—१६०

विषय—हनुमान जी की स्तुति

१९. भगवद्गीता भाषा

पद्य-संख्या—६१०

विषय—भगवद्गीता का हिन्दी अनुवाद

२०. मंगल रामायण

पद्य-संख्या—१६०

विषय—शिव-पार्वती का विवाह

---

१३ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

१४ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

१५ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

१६ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

१७ खोज रिपोर्ट सन् १९०३

१८ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

१९ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

२० खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

२९. वैराग्य सन्दीपिनी

पद्य-संख्या—८५

विषय—ज्ञान, वैराग्य के लक्षण

३०. वृहस्पति कांड

पद्य-संख्या—३००

विषय—वृहस्पति की बारह राशियों की दशा का फल

३१. श्रीकृष्ण गीतावली

पद्य-संख्या—३००

विषय—पदों में कृष्ण-कथा

३२. श्रीपार्वती मंगल

पद्य-संख्या—१९५

विषय—श्री महादेव-पार्वती का विवाह

३३. श्रीराम नहछू

पद्य-संख्या—५०

विषय—राम के नहछू का मंगल-गान

३४. सगुनावली

पद्य-संख्या—४३२

विषय—शकुनाशकुन जानने की रीति

३५. सूरज पुराण

पद्य-संख्या—१९०

विषय—सूर्य की कथा

३६. ज्ञान कौ प्रकरण

पद्य-संख्या—२५०

विषय—ज्ञान का वर्णन

---

२९ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

३० खोज रिपोर्ट सन् १९०३

३१ खोज रिपोर्ट सन् १९०४

३२ खोज रिपोर्ट सन् १९०३

३३ खोज रिपोर्ट सन् १९०३

३४ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

३५ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

३६ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११

३७. ज्ञान दीपिका

पद्य-संख्या—५१०

विषय—ज्ञान, वैराग्य

इन ग्रंथों में सभी ग्रंथ प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। यह तो स्पष्ट ही है कि इस सूची में कुछ ग्रंथ ऐसे अवश्य हैं जो हाथरस वाले तुलसी साहब द्वारा रचित हैं। तुलसी नाम के कारण ग्रंथों के निर्धारण में भी भ्रम हो गया है। मानस-कार तुलसी राम-भक्तों की सगुणवादी परंपरा में हैं और तुलसी साहब संतों की निर्गुणवादी परंपरा में।

संवत् १९८० में नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) ने तुलसीदास के केवल १२ ग्रंथ प्रामाणिक मान कर उनका प्रकाशन 'तुलसी ग्रंथावली' खंड १ और २ के रूप में किया। वे ग्रंथ हैं :—

ग्रंथ	खंड
१ मानस	तुलसी ग्रंथावली पहला खंड
२ रामलला नहछू	तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड
३ वैराग्य संदीपिनी	
४ बरवै रामायण	
५ पार्वती मंगल	
६ जानकी मंगल	
७ रामाज्ञा प्रश्न	
८ दोहावली	
९ कवितावली	
१० गीतावली	
११ श्रीकृष्ण गीतावली	
१२ विनयपत्रिका	

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में इन्हीं १२ ग्रंथों को प्रामाणिक माना है।[1] लाला सीताराम ने भी अपने 'सेलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिट्रेचर' में तुलसीदास के १२ प्रामाणिक ग्रंथ माने हैं।[2]

यदि तुलसीदास की शैली पर दृष्टि डाल कर इनके समस्त मिले हुए ग्रंथों की समीक्षा की जावे तो इन १२ ग्रंथों के अतिरिक्त 'कलिधर्माधर्म निरूपण' भी प्रामाणिक माना जाना चाहिए। यहाँ तुलसीदास के प्रधान ग्रंथों की विस्तृत समा-लोचना करना आवश्यक है।

---

३७ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-७-८

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ १४२

२ सेलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिट्रेचर, पुस्तक ३, पृष्ठ ८-१९, (लाला सीताराम बी० ए०)

रामलला नहछू

रचना-तिथि—'रामलला नहछू' की रचना-तिथि केवल वेणीमाधवदास के 'गोसाईं चरित' से मिलती है। 'गोसाईं चरित' के ६४ वें दोहे में लिखा गया है :—

मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोय। मुनि प्राँचे मंत्रित किए, सुख पावें सब कोय।

इसके अनुसार तुलसीदास ने 'नहछू' की रचना मिथिला-यात्रा में की थी। वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास ने मिथिला-यात्रा सं० १६४० के पूर्व ही की थी। अतः 'नहछू' का रचना-काल सं० १६३९ के लगभग मानना चाहिए। इतनी बात अवश्य है कि वेणीमाधवदास ने मिथिला-यात्रा के प्रसंग में तो 'नहछू' की रचना का उल्लेख नहीं किया, संवत् १६४० की घटनाओं के वर्णन करते समय यह दोहा लिख दिया है। संवत् १६६९ के लगभग तुलसीदास ने 'विनयावली' (विनय-पत्रिका) की रचना की। 'नहछू' और 'विनयपत्रिका' के दृष्टिकोण में महान् अन्तर है। सम्भव है, तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' को अपने जीवन के दुःख-सुख से प्रेरित होकर लिखा हो और 'नहछू' को लोगों के गाने के लिए बना दिया हो। 'नहछू' में कवि का न तो अभ्यास है और न प्रयास ही। ऐसी स्थिति में या तो 'नहछू' कवि के काव्य-जीवन के प्रभात की रचना होनी चाहिए ('मानस' से बहुत पहले) या ऐसी रचना जिसे कवि ने चलते-फिरते बना दिया हो, जिसे लोग अश्लील गीतों के स्थान पर गा सकें। जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह रचना सरल और सुबोध रखी गई, उसमें काव्य-प्रतिभा प्रदर्शित करने की आवश्यकता भी नहीं समझी गई। जन-साधारण की रुचि के लिए ही शायद कवि ने आवश्यकता से अधिक शृंगार की मात्रा 'नहछू' में रख दी है। ऐसी परिस्थिति में यदि 'नहछू' और 'विनय-पत्रिका' की रचना एक ही समय में हुई तो वे दो पुस्तकें भिन्न दृष्टिकोण से लिखी गईं। इसी कारण दोनों में इतना अधिक अन्तर है।

विस्तार—'रामलला नहछू' एक प्रबन्धात्मक काव्य है। उसमें किसी प्रकार का कथा-विभाग नहीं है। एक ही वर्णन में ग्रंथ समाप्त हो गया है। उसमें केवल २० छंद हैं।

छंद—'नहछू' में सोहर छंद है, जिसमें १२, १० के विश्राम से २२ मात्रायें होती हैं। यह छंद आनन्दोत्सव या विवाह के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है।

वर्ण्य विषय—इसमें राम का नहछू वर्णित है। इसके सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास तथा डा० बड़थ्वाल लिखते हैं :—

"भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्त में अवध से लेकर बिहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन से नहछू कराने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका में

वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छंद है, जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर गाती हैं। पंडित रामगुलाम द्विवे ी का मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। संयुक्त प्रदेश, मिथिला आदि प्रान्तों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचंद्र जी का विवाह अकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसीलिए विवाह में नहछू नहीं हुआ। गोसाईं जी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गन्दे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिए बनाया है।"[1]

यह 'नहछू' विवाह के अवसर का ही नहछू है, यज्ञोपवीत के समय का नहीं, क्योंकि रचना में 'दूलह' शब्द का प्रयोग हुआ है।

गोद लिहे कौशल्या बैठी रामहिं वर हो। सोभित दूलह राम सीस पर आंचर हो ॥[2]
दूलह कै महतारि देखि मन हरषई हो। कोटिन्ह दीनेउ दान मेघ बनु बरषई हो ॥[3]

यदि यह राम के विवाह का नहछू है तो उसे मिथिला में होना चाहिए, क्योंकि राम विवाह के पूर्व अयोध्या आये ही नहीं, किन्तु 'नहछू' में स्पष्ट लिखा हुआ है कि यह नहछू अवधपुर में हुआ :—

आज अवधपुर आनन्द नहछू राम क हो। चलहु नयन भरि देखिय सोभा धाम क हो ॥[4]

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नहछू अयोध्या में राम के विवाह के अवसर पर हुआ। यह कथन रामचरित की घटना से मेल नहीं खाता। इसीलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसीदास ने इस 'नहछू' को विवाह के समय गाने के लिए बना दिया है। इसमें कथा की सत्यता पर न जाकर प्रथा की सत्यता पर जाना चाहिए, राम का नहछू तो एक बहाना मात्र है। तुलसीदास ने वर के लिए राम, वर की माता के लिए कौशल्या, वर के पिता के लिए दशरथ आदि शब्द प्रयुक्त कर दिये हैं। वस्तुतः यह राम-कथा से सम्बन्ध रखने वाला नहछू न होकर साधारण नहछू की रीति पर लिखी हुई रचना है। इसीलिए प्रबन्धात्मकता में कहीं-कहीं दोष दीख पड़ते हैं और ऐसे प्रसंग मिलते हैं :—

कौसल्या की जेठि दीन्हे अनुसासन हो। नहछू जाय करावहु बैठि सिंहासन हो ॥[5]

'कौसल्या' की कोई 'जेठि' नहीं थी, कौसल्या स्वयं सब की 'जेठि' थीं, पर जनसाधारण में वही होता है कि वर की माता को उसकी 'जेठि' आज्ञा देकर नहछू की रीति सम्पन्न कराती है। सर्वसाधारण के लिए यह रचना होने पर ही उसमें शृंगार

---

१ गोस्वामी तुलसीदास (बा० श्यामसुन्दर दास, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) पृष्ठ ९६ हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३१

२ रामलला नहछू, छन्द ६

३ रामलला नहछू, छन्द १४

४ रामलला नहछू, छन्द १३

५ रामलला नहछू, छन्द ६

की मात्रा अधिक है, नहीं तो तुलसीदास अपने गम्भीर काव्यों में कभी इतने शृंगार को स्थान नहीं दे सके।

कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो। चन्दबदनि मृग लोचनि सब रस खानिहि हो॥
नैन बिसाल नउनिआँ भौं चमकावइ हो। देइ गारी रनिवासहिं प्रमुदित गावइ हो॥[1]

एक स्थान पर लिखा गया है कि दशरथ इन परिचारिकाओं के शृंगार पर मुग्ध हो उठे।[2] मर्यादा पुरुषोत्तम राम के पिता के सदाचार की सीमा इतनी निम्न नहीं हो सकती। यहाँ दशरथ का तात्पर्य राम के पिता से न होकर 'वर' के पिता से है। फिर विवाहोत्सव में तो थोड़ा-बहुत शृंगार क्षम्य भी माना जाना चाहिए।

विशेष—काव्य की दृष्टि से रचना साधारण है। इसमें न तो तुलसी के समान कवि की उत्कृष्ट प्रतिभा के दर्शन होते हैं और न उसकी भक्ति का दृष्टिकोण ही मिलता है। भाषा ठेठ अवधी है, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्द कम हैं। आले, उँदरन, जेठि, तरीवन, कीदहु आदि ग्रामीण शब्द हैं।

वैराग्य संदीपिनी

रचना-तिथि—वेणीमाधवदास कृत 'गोसांई चरित' के अनुसार इसकी रचना-तिथि सं० १६६९ है। इस समय की घटनाओं का वर्णन करते हुए वेणीमाधवदास ने यह दोहा लिखा है :—

बाहुपीर व्याकुल भए, बाहुक रचे सुधीर।
पुनि विराग संदीपिनी, रामाज्ञा सकुनीर॥[3]

बाबू श्यामसुन्दरदास और डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल इस रचना को संवत् १६४० के पूर्व की रचना मानते हैं। वे लिखते हैं :—

"इसमें तो संदेह नहीं की वैराग्य-संदीपिनी दोहावली के संग्रहीत होने से पहले बनी, क्योंकि वैराग्य-संदीपिनी के कई दोहे दोहावली में संग्रहीत हैं। इस बात की आशंका नहीं की जा सकती है कि दोहावली ही से वैराग्य-संदीपिनी में दोहे लिये गये हों, क्योंकि वैराग्य-संदीपिनी एक स्वतंत्र ग्रंथ है और दोहावली स्पष्ट ही संग्रह ग्रंथ। दोहावली का संग्रह १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रंथ १६४० से पहले ही बन चुका होगा।"[4]

इस कथन में सत्यता होते हुए भी सन्देह के लिये स्थान रह जाता है। यदि 'वैराग्य-संदीपिनी' का रचना-काल सं० १६६९ अशुद्ध है तो 'दोहावली का

---

१ रामलला नहछू, छन्द ८
२ रामलला नहछू, छंद ५
३ गोसांई चरित्र, दोहा ९५
४ गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ९२

रचना-काल सं० १६४० शुद्ध मानने का कौन सा विशेष कारण है ? दोनों ही संवत् वेणीमाधवदास के द्वारा दिये गये हैं। हाँ, इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वैराग्यसंदीपिनी' तुलसीदास की प्रारम्भिक रचना होनी चाहिए, क्योंकि वह काव्य की दृष्टि से विशेष प्रौढ़ नहीं है।

विस्तार—इस ग्रंथ का विस्तार ६२ छंदों में है। इनमें ६४ दोहे, २ सोरठे और १४ चौपाइयाँ हैं। यह ग्रंथ चार भागों में विभाजित है:—

(१) मंगलाचरण और वस्तु संकेत—७ छंदों में
(२) सन्त स्वभाव वर्णन—२६ छंदों में
(३) सन्त महिमा वर्णन—६ छंदों में
(४) शांति वर्णन—२० छंदों में

छंद—इसमें तीन छंद प्रयुक्त हैं; दोहा, सोरठा और चौपाई।

वर्ण्य विषय—इस ग्रंथ का विषय ७ वें दोहे में स्वयं कवि ने स्पष्ट कर दिया है:—

तुलसी वेद पुरान मत, पूजन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपिनी, अखिल ज्ञान को सार॥

इस प्रकार ग्रंथ में शांत रस का प्राधान्य है, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और शांति का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

विशेष—यह रचना सम्पूर्ण ग्रंथ के रूप में की गई थी, क्योंकि अन्त में कवि ने कहा है:—

यह विराग संदीपिनी, सुजन सुचित सुनि लेहु।
अनुचित वचन विचारि कै जस सुधारि तस देहु॥ ६२॥

इस ग्रंथ पर संस्कृत का भी कुछ प्रभाव है, क्योंकि संस्कृत श्लोक के भावों पर दोहे लिखे गये हैं।[1] सरल छंदों में तुलसीदास ने कल्पना की उड़ान के बिना शांत रस का वर्णन तुले हुए शब्दों में किया है। वैराग्य 'संदीपिनी' की यह विशेषता है।

बरवै रामयाण

रचना-तिथि—वेणीमाधवदास ने 'बरवै रामायण' का रचना-काल सं० १६६९ दिया है:—

कवि रहीम बरवै रचे पठये मुनिवर पास। लखि तेइ सुन्दर छन्द में रचना किए प्रकास॥

'बरवै रामायण' एक सम्यक् ग्रंथ नहीं है। उसमें समय-समय पर लिखे गये छंदों का संकलन है। अतः उसका रचना-काल एक निश्चित संवत् न होकर कुछ

---

१. महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाय।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाय॥ —दोहा नं० ३५

वर्षों का काल होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि बरवै का संग्रह संवत् १६६९ में हुआ हो।

विस्तार—यह एक स्वतंत्र ग्रंथ नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसमें कथा नियमित रूप में न होकर बहुत स्फुट है। वह केवल सूत्र रूप ही में है। इसमें मंगलाचरण भी नहीं है। कांडों का विस्तार भी अनुपात रहित है :—

बाल कांड	११ छंद (सीता-राम के सौन्दर्य-वर्णन के साथ धनुष-यज्ञ की कथा का संकेत मात्र)
अयोध्या कांड	८ छंद (कैकेयी-क्रोध, वन-यात्रा, ग्रामवासी-वार्तालाप)
अरण्य कांड	६ छंद (शूर्पणखा-कूट, कंचन-मृग, सीता-वियोग)
किष्किधा कांड	२ छंद (राम-सुग्रीव-मैत्री)
सुन्दर कांड	६ छंद (राम-सीता-विरह-वर्णन)
लंका कांड	१ छंद (सेना-वर्णन)
उत्तर कांड	२७ छंद (चित्रकूट-महिमा, शान्त रस-वर्णन)

कुल ६९ छंद हैं जिसमें कथा-विस्तार बहुत अनियमित है। पंडित शिवलाल पाठक का कथन था कि गोसाँई जी की 'बरवै रामायण' बहुत विस्तृत रचना है। आजकल की प्राप्त बरवै रामायण तो उस वृहत् रामायण का अवशेषांश है। पर यह कथन सत्य ज्ञात नहीं होता, क्योंकि इस ग्रंथ में बरवै इतने स्फुट और अप्रबन्धात्मक हैं कि वे किसी कथा भाग का निर्माण नहीं कर सकते। उत्तर कांड में तो कोई कथा है ही नहीं। बरवै का यह कांड और 'कवितावली' का उत्तर कांड एक-सा ज्ञात होता है।

छंद—इसमें बरवै छंद प्रयुक्त है। इसमें १२, ७ के विश्राम से १९ मात्राएँ होती हैं। यह छंद रहीम को विशेष प्रिय था। कहा जाता है कि रहीम का एक सिपाही अपनी नव-विवाहिता पत्नी के पास अधिक दिनों तक ठहर गया। चलते समय उसकी पत्नी ने एक छंद लिखकर पुनः आने की प्रार्थना की और रहीम से क्षमा-याचना भी की। वह छंद था—

प्रेम प्रीति को बिरवा चले लगाय। सींचन की सुधि लीजो मुरझि न जाय॥

रहीम ने यह छंद देख अपने सिपाही का अपराध क्षमा कर दिया और इसी छंद में अपना 'नायिका-भेद' लिखा। उन्होंने स्वयं ही इस छंद में रचना नहीं की, प्रत्युत अपने मित्रों को भी यह छंद लिखने के लिए बाध्य किया।

वर्ण्य विषय—इसमें राम-कथा कही गई है, पर यह कथा संकेत रूप में ही है। बालकांड में राम-जन्मादि कुछ नहीं है। सीता-राम का सौन्दर्य-वर्णन और जनकपुर में स्वयंवर का संकेत मात्र है। इसी प्रकार अन्य कांडों की कथा भी अत्यंत

संक्षेप में है। लंकाकांड के केवल एक बरवै में सेना-वर्णन ही है।[1] उत्तर कांड में कोई कथा ही नहीं, ज्ञान और भक्ति का वर्णन मात्र है। समस्त ग्रन्थ में भरत का नाम एक बार भी नहीं आया। ग्रन्थ स्फुट रूप से लिखा गया है, उसमें प्रबन्धात्मकता का ध्यान ही नहीं रक्खा गया।

विशेष—'बरवै रामायण' के प्रारम्भिक छन्द तो अलंकार-निरूपण के लिए लिखे गये ज्ञात होते हैं। इसी प्रकार उत्तर कांड में शांत रस का निरूपण है। यहाँ तुलसीदास प्रथम बार रस और अलंकार-निरूपण का प्रयास करते हैं। भाषा अवधी है जिसमें छन्द की साधना सफलतापूर्वक हुई है। यदि इस ग्रन्थ में उत्तर कांड न होता तो यह रीति-कालीन रचना कही जा सकती थी। यहाँ कवि की कला ही अधिक है, भाव-गांभीर्य कम, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'बरवै रामायण' के कुछ छन्द कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हो गये हैं। ऐसे छन्द अधिकतर बाल कांड और उत्तर कांड के हैं।

पार्वती मंगल

रचना-तिथि—वेणीमाधवदास ने 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि सं० १६६९ की घटनाओं के वर्णन में दी है :—

> मिथिला में रचना किये, नहछू मंगल दोय।
> मुनि प्रांचे मन्त्रित किए, सुख पावें सब कोय॥[2]

तुलसीदास ने मिथिला की यात्रा सं० १६४० के पूर्व की थी, अतः यह ग्रन्थ 'नहछू' और 'जानकी मंगल' के साथ सं० १६४० के पूर्व ही बना और संवत् १६६९ में परिष्कृत हुआ। किंतु इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने ग्रन्थ की रचना-तिथि दी है :—

> जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु। अस्विनि विरचेउँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु॥[3]

(मैंने जय संवत् में फाल्गुन शुक्ल ५, नक्षत्र अश्विनी में गुरुवार के दिन इस मंगल की रचना की जिसे सुनकर क्षण-क्षण में सुख होता है।) सुधाकर द्विवेदी के अनुसार ग्रियर्सन ने यह जय संवत् १६४३ में माना है।[4] अतः 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि सं० १६४३ ही माननी होगी। सम्भव है, तुलसीदास ने मिथिला-यात्रा

---

१ विविध वाहिनी विलसत, सहित अनन्त।
जलधि सरिस को कहै, राम भगवन्त॥

२ मूल 'गोसांई चरित', दोहा ९४

३ 'पार्वती मंगल', छन्द ५

४ इंडियन एंटीकरी, भाग २२ (१८९२) पृष्ठ १५-१६
(जी० ए० ग्रियर्सन)

सं० १६४३ में भी की हो, जिसका निर्देश वेणीमाधवदास ने न किया हो। अथवा वेणीमाधवदास का मत गलत हो।

विस्तार—यह ग्रंथ नियमित रूप से लिखा गया है। प्रारम्भ में मंगलाचरण और अन्त में स्वस्ति-वचन है। इस ग्रंथ में १६४ छन्द हैं, जिनमें १४८ अरुण हैं और १६ हरिगीतिका हैं।

छंद—अरुण या मंगल और हरिगीतिका। अरुण छन्द ११+९ के विश्राम से २० मात्रा का और हरिगीतिका १६+१२ के विश्राम से २८ मात्रा का छन्द है।

वर्ण्य विषय—इसमें शिव-पार्वती-विवाह वर्णित है। 'रामचरित मानस' की वर्णन-शैली से साम्य रखते हुए भी यह ग्रंथ 'मानस' में वर्णित शिव-पार्वती-विवाह से भिन्न है। 'मानस' में पार्वती के दृढ़ व्रत की परीक्षा सप्तर्षियों द्वारा ली गई है, इसमें पार्वती की परीक्षा वटु वेश में स्वयं शिव लेते हैं। 'मानस' में पार्वती ने स्वयं ऋषियों के साथ वाद-विवाद में भाग लिया है, 'पार्वती मंगल' में पार्वती अपनी सहचरी के द्वारा शिव को उत्तर देती हैं। 'मानस' में 'जस दूलह तस बनी बराती' का रूप है और शिव-विवाह में भी सर्प लपेटे रहते हैं, 'पार्वती मंगल' में शिव का अशिव वेश में परिवर्तन हो जाता है। यह प्रभाव 'कुमार-सम्भव' के कारण ही जान पड़ता है। 'कुमार सम्भव' के सर्ग ७ श्लोक ३२-३४ मे शिव में जो परिवर्तन हुआ है, वही 'पार्वती-मंगल' में भी पाया जाता है। इस कथा के साथ प्रचलित परम्परागत प्रथाएँ भी वर्णित हैं—कुहबर में जुवा, जेवनार, परिछन, शकुन आदि। 'मानस' में वर्णित शिव-पार्वती के विवाह से यह कथा-भाग कहीं अधिक विदग्धतापूर्ण है, यद्यपि वर्णनात्मकता उतनी अच्छी नहीं है।

विशेष—यह रचना पूर्वी अवधी में हुई है। भाषा की दृष्टि से यह 'मानस' के समकक्ष है, परन्तु शली की दृष्टि से नहीं।

जानकी मंगल

रचना-काल—वेणीमाधवदास के पूर्वोल्लिखत दोहे के अनुसार इसकी रचना भी मिथिला-यात्रा के समय अर्थात् संवत् १६४० के पूर्व हुई, पर 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि अन्तर्साक्ष्य के अनुसार सं० १६४३ निर्धारित की गई है। 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' सम्पूर्ण सादृश्य रखने के कारण एक ही काल की रचनायें मानी जानी चाहिए। कथा-शैली और वर्णन-शैली तथा छन्द-प्रयोग में दोनों समान हैं। अतः 'जानकी मंगल' की रचना भी सं० १६४३ में माननी चाहिए।

विस्तार—इस ग्रंथ का विस्तार २१६ छंदों में है, जिनमें १९२ अरुण और २४ हरिगीतिका छंद हैं । ८ अरुण के पीछे एक हरिगीतिका छंद है । इस ग्रंथ का प्रारम्भ नियमित रूप से मंगलाचरण में होता है और अंत मंगल-कामना में ।

वर्ण्य विषय—इसमें सीता-राम का विवाह वर्णित है । राम के साथ उनके अन्य तीन भाइयों का भी विवाह हुआ है, पर कथा-क्षेत्र में 'जानकी मंगल' की कथा 'मानस' की कथा से भिन्न है । 'जानकी मंगल' में पुष्प-वाटिका वर्णन, जनकपुर-वर्णन और लक्ष्मण का दर्पोत्तर है ही नहीं । परशुराम का गर्वापहरण भी सभा में न होकर बारात के लौटने पर मार्ग में हुआ है । यह प्रभाव 'वाल्मीकि रामायण' का ज्ञात होता है । वेणीमाधवदास के कथनानुसार तुलसीदास ने सं० १६४१ के लगभग 'वाल्मीकि रामायण' की प्रतिलिपि की थी ।[1] यदि वेणीमाधवदास का यह कथन प्रामाणिक मान लिया जावे तो सम्भव है 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव तुलसीदास पर 'जानकी मंगल' की रचना करते समय पड़ा हो । तुलसीदास ने सोचा हो कि 'मानस' में जानकी-विवाह 'वाल्मीकि रामायण' से भिन्न प्रकार का है, 'जानकी मंगल' में उसके अनुकूल ही हो । इसमें भी परम्परागत वैवाहिक प्रथाओं का वर्णन स्वतंत्रतापूर्वक हुआ है ।

विशेष—'जानकी मंगल' की रचना 'पार्वती मंगल' के समान अवधी में ही हुई है । 'पार्वती मंगल' और 'जानकी मंगल' में निम्न लिखित बातों में साम्य है, जिससे ज्ञात होता है कि दोनों एक ही काल की रचनाएँ हैं :—

१. दोनों का नाम एक सा ही है और दोनों का आधार संस्कृत ग्रंथों पर है । 'पार्वती मंगल' का आधार 'कुमारसम्भव' और 'जानकी मंगल' का आधार 'वाल्मीकि रामायण' है ।

२. दोनों में एक ही प्रकार के छंद हैं और उनका क्रम भी एक सा है । ८ अरुण के पीछे १ हरिगीतिका छंद है ।

३. दोनों में एक ही भाषा अवधी और एक ही वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है ।

४. दोनों की कथा 'मानस' से भिन्न है । दोनों में एक ही प्रकार का मंगलाचरण और एक ही प्रकार का अन्त है ।

एक बात में अन्तर अवश्य है । 'पार्वती मंगल' में रचना-काल (जय संवत् दिया गया है, पर 'जानकी मंगल' में नहीं । सम्भव है 'पार्वती मंगल' और 'जानकी

---

[1] लिखे बालमीकी बहुरि इकतालिस के मांहि ।
मगसर सुदि सतिमी रवौ पाठ करन हित ताहि ॥ गो० च०, दोहा ५५

मंगल' एक ही ग्रंथ मान कर ('मंगल दोय') लिखे गये हों और एक रचना-संवत् दोनों के लिये प्रयुक्त हो ।

रामाज्ञा प्रश्न

रचना-काल—वेणीमाधवदास ने 'रामाज्ञा' की तिथि सं० १६६६ दी है ।

बाहु पीर व्याकुल भये, बाहुक रचे सुधीर । पुनि विराग संदीपिनी, रामाज्ञा शकुनीर ॥[1]

सर जार्ज ग्रियर्सन का कथन है कि मिर्जापुर के लाला छक्कन लाल ने सन् १८२७ में 'रामाज्ञा' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से की थी । छक्कन लाल के शब्द इस प्रकार हैं :—

"श्री संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवार की लिखी पुस्तक श्री गुसाईं जी के हस्त कमल की प्रहलाद घाट श्री काशी जी में रही । उस पुस्तक पर से श्री पंडित राम गुलाम जी के सतसंगी छक्कन लाल कायस्थ रामायणी मिरजापुर वासी ने अपने हाथ से संवत् १८८४ में लिखा था ।"[2] यह मूल प्रति तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई कही जाती है जिस पर स्वयं कवि ने सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार तिथि डाली थी । दुर्भाग्य से यह प्रति चोरी चली गई । इस प्रमाण के अनुसार रामाज्ञा की रचना-तिथि सं० १६५५ निर्धारित होती है । यह भी संदिग्ध है, क्योंकि मिश्र बन्धुओं के कथनानुसार "छक्कन लाल को 'रामाज्ञा' नहीं, रामशलाका मिली थी"[3] किन्तु यदि 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'रामशलाका' एक ही ग्रंथ के दो नाम हैं तो फिर संदेह के लिए स्थान नहीं है । सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि संवत् १६५५ 'रामाज्ञा' की रचना-तिथि न होकर प्रतिलिपि-तिथि ही मानना उचित है, क्योंकि तुलसीदास अपने ग्रंथ की रचना-तिथि आरम्भ में ही लिख देते हैं । उदाहरण के लिए 'रामचरित मानस' और 'पार्वती मंगल' ग्रंथ हैं जिनके प्रारम्भ ही में रचना-तिथि दी गई है ।

विस्तार—इस ग्रंथ में सात सर्ग हैं, प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक हैं और प्रत्येक सप्तक में सात दोहे हैं। इस प्रकार ग्रंथ की कुल छंद-संख्या ३४३ है ।

वर्ण्य विषय—इसमें राम-कथा का वर्णन है । दोहों में यह वर्णन इस प्रकार है कि प्रत्येक दोहे से शुभ या अशुभ संकेत निकलता है, जिससे प्रश्नकर्ता अपन प्रश्न का उत्तर पा लेता है । इसका दूसरा नाम 'दोहावली रामायण' भी है । समस्त कथा सात सर्गों में विभाजित है । सर्गों के अनुसार कथा इस प्रकार है :—

---

१ मूल गोसाईं चरित, दोहा ९५

२ इंडियन एंटीक्वेरी भाग २२ (१८९३) पृष्ठ ९६

३ हिन्दी नवरत्न, पृष्ठ ८२

प्रथम सर्ग—बाल कांड
द्वितीय सर्ग—अयोध्या कांड और अरण्य कांड (पूर्वार्ध)
तृतीय सर्ग—अरण्य कांड (उत्तरार्ध) और किष्किंधा कांड
चतुर्थ सर्ग—बाल कांड
पंचम सर्ग—सुन्दर कांड और लंका कांड
षष्ठ सर्ग—उत्तर काड
सप्तम सर्ग—स्फुट

चतुर्थ सर्ग में पुनः बाल कांड लिखने के कारण यद्यपि कथा के क्रम में अवरोध होता है, तथापि कवि को ऐसा करना इसलिए आवश्यक जान पड़ा, क्योंकि मध्य में भी शकुन का मंगलमय और आनन्दमय रूप रखना था। इसके लिये उन्हें मंगलमय घटना की आवश्यकता थी। राम की कथा में बालकांड के बाद की कथा दुःखद है। अतः सुखद घटना के लिये उन्हें फिर बालकांड की कथा चतुर्थ सर्ग में लिखनी पड़ी।

प्रथम सर्ग के सप्तम के सप्तक दोहे में गंगाराम नाम आया है।[१] इस नाम के आधार पर एक कथा चल पड़ी है—

गंगाराम राजघाट के राजा के पंडित थे। एक बार वहाँ के राजकुमार शिकार खेलने के लिये जंगल में गये। उनके साथी को बाघ ने मार डाला। इस पर यह खबर फैल गई कि राजकुमार मारे गये। राजा ने घबरा कर प्रह्लाद घाट पर रहने वाले पं० गंगाराम ज्योतिषी को सत्य बात के निर्णय करने की आज्ञा दी। शर्त यह थी कि यदि वे ठीक उत्तर दे सके तो एक लाख रुपये से पुरस्कृत होंगे, अन्यथा प्राणदन्ड पावेंगे। गंगाराम ज्योतिषी तुलसीदास के मित्र थे उन्होंने अपनी विपत्ति का समाचार तुलसीदास को दिया। तुलसीदास ने छः घंटे में रामाज्ञा की रचना कर गंगाराम को उसकी प्रति दे दी। इसके अनुसार गंगाराम ने राजकुमार के दूसरे दिन सकुशल लौट आने की बात और समय राजा साहब को बतला दिया। वास्तव में यह बात सच निकली। राजा साहब ने गंगाराम ज्योतिषी को एक लाख से पुरस्कृत किया जिसे उसने तुलसीदास की सेवा में समर्पित करना चाहा। तुलसीदास ने उस धन में से सिर्फ बारह हजार लेकर हनुमान जी के बारह मन्दिर बनवा दिये।

इस कथा का आधार केवल प्रथम सर्ग के अन्तिम सप्तक का अन्तिम दोहा है और उसी के आधार पर जनश्रुति, पर यह कथा सत्य ज्ञात नहीं होती,

१ सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर, गोगन गंगाराम॥ १-७-७

क्योंकि इतनी लम्बी रचना केवल ६ घंटे में नहीं बन सकती और इससे शकुन का समय भी नहीं निकलता। केवल शुभ या अशुभ लक्षण ज्ञात हो सकता है।[१]

'रामाज्ञा' की राम-कथा पर वाल्मीकि रामायण का ही अधिक प्रभाव है। परशुराम का मिलन राज-सभा में न होकर 'वाल्मीकि रामायण' के समान मार्ग ही में होता है। इसका निर्देश प्रथम सर्ग के बाल कांड में है, चतुर्थ सर्ग के बाल कांड में नहीं।

चारिउ कुंवर बियाहि पुर गवने दसरथ राउ। भए मंजु मंगल सगुन गुरु सुर संभु पसाउ॥
पंथ परसुधर आगमन समय सोच सब काहु। राज समाज विषाद बड़, भय बस मिटा उछाहु॥[२]

इसी प्रकार सर्ग षष्ठ में राम राज्याभिषेक के बाद न्याय की कथाएँ भी 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार हैं :—

विप्र एक बालक मृतक राखेउ राजदुवार।
दंपति विलपत सोक अति, आरत करत पुकार॥[३]
बग उलूक झगरत गये, अवध जहाँ रघुराउ।
नीक सगुन विवरिहि झगर, होइहि धरम निआउ॥
जती स्वान संवाद सुनि, सगुन कहब जिय जानि।
हंस बंस अवतंस पुर विलग होत पय पानि॥[४]

इसी प्रकार सीता-निर्वासन और लवकुश-जन्म की ओर भी संकेत है :—

असमंजसु बड़ सगुन गत, सीता राम वियोग।
गवन विदेस, कलेस कलि, हानि, पराभव रोग॥[५]
पुत्र लाभ लवकुस जनम सगुन सुहावन होइ।
समाचार मंगल कुसल, सुखद सुनावइ कोइ॥[६]

ये कथाएँ 'मानस' में नहीं हैं। अतः इस कथा पर सम्पूर्ण रूप से 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव है।

विशेष—इस ग्रंथ में काव्योत्कर्ष और प्रबन्धात्मकता का अभाव है। प्रत्येक सगुन को स्पष्ट रूप देने के लिए मुक्तक दोहे हैं। भाषा इसकी अवधी और ब्रजभाषा मिश्रित है, अधिकतर अवधी ही है। इसमें काव्य-सौन्दर्य की अपेक्षा घटना-वर्णन ही अधिक है, क्योंकि इसका उद्देश्य रसोद्रेक करना न होकर शुभ और अशुभ शकुन ही बतलाना है। इसमें अनेक दोहे ऐसे हैं, जो 'दोहावली' में भी पाये जाते

---

१ इंडियन एंटीकरी, भग २२, पृष्ठ २०६

२ रामाज्ञा प्रश्न	प्रथम सर्ग,	सप्तक ६	दोहा ३-४
३ रामाज्ञा प्रश्न	षष्ठ सर्ग	सप्तक ५	दोहा १
४ रामाज्ञा प्रश्न	षष्ठ सर्ग	सप्तक ६	दोहा २-३
५ रामाज्ञा प्रश्न	षष्ठ सर्ग	सप्तक ७	दोहा १
६ रामाज्ञा प्रश्न	षष्ठ सर्ग	सप्तक ९	दोहा २

हैं। सप्तम सर्ग को तृतीय सप्तक का अन्तिम दोहा[1] तो 'वैराग्य सन्दीपिनी' और 'दोहावली' का प्रथम दोहा है।

दोहावली

रचना-काल—वेणीमाधवदास ने इसकी रचना-तिथि सं० १६४० दी है :—

मिथिला ते कासी गए चालिस संवत् लाग।
दोहावलि संग्रह किए सहित विमल अनुराग ॥[2]

किन्तु यह तिथि ठीक नहीं मानी जा सकती। 'दोहावली' में अनेक घटनाएँ ऐसी हैं, जो संवत् १६४० के बाद की हैं जैसे :—

अपनी बीती आपुही पुरिहि लगाए नाथ।
केहि विधि विनती विश्व की, करौं विश्व के नाथ ॥[3]

इस दोहे में रुद्रबीसी का वर्णन है। इस रुद्रबीसी का समय संवत् १६६५ से १६६८ तक माना गया है।[4]

भुज रुज कोटर रोग अहि बरबस कियो प्रवेस।
विहगंराज बाहन तुरत काढ़िय मिटइ कलेस ॥
बाहु विटप सुख बिहँग थलु लगी कुपीर कुआगि।
राम कृपा जल सींचिए बेगि दीन हित लागि ॥[5]

इन दोहों में तुलसीदास की बाहु-पीड़ा का वर्णन है। तुलसीदास की बाहु-पीड़ा उनके जीवन के अन्तिम दिनों में मानी गई है। अतः इन दोहों का समय संवत् १६८० के लगभग मानना चाहिए।

'दोहावली' में यदि संवत् १६६५ से १६८० तक की घटनाओं का वर्णन है तो उसका संग्रह सं० १६४० में किस भाँति हो सकता है ? तुलसीदास के जीवन के अन्तिम दिनों की रचना 'दोहावली' में होने के कारण ऐसा अनुमान भी होता है कि इसका संग्रह स्वयं तुलसीदास के हाथ से न होकर उनके किसी भक्त के हाथ से हुआ होगा। ऐसी परिस्थिति में वेणीमाधवदास द्वारा दी गई तिथि अशुद्ध ज्ञात होती है।

---

१. राम वाम दिसि जानकी, लषन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर ॥

२. गोसाईं चरित, दोहा नं० ५४

३. दोहावली, दोहा नं० २४०

४. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृष्ठ २४५

५. दोहावली, दोहा ं० २३६

विस्तार—'दोहावली' में दोहों की संख्या ५७३ है। इनमें अन्य ग्रन्थों के दोहे भी सम्मिलित हैं।

मानस के ८५ दोहे
सतसई के १३१ दोहे
रामाज्ञा के ३५ दोहे
वैराग्य सन्दीपिनी के २ दोहे

शष दोहे नवीन हैं। इनमें २२ सोरठे भी हैं।

छंद—'दोहावली' में स्पष्ट ही दोहा छन्द है, जिसमें १३, ११ के विश्राम से २४ मात्राएँ होती है।

वर्ण्य विषय—'दोहावली' में कोई विशेष कथानक नहीं है। नीति, भक्ति, राम-महिमा, नाम-माहात्म्य, तत्कालीन परिस्थितियाँ, राम के प्रति चातक के आदर्श का प्रेम तथा आत्म-विषयक उक्तियाँ ही मिलती हैं। अनेक दोहों में अलंकार-निरूपण का भी प्रयत्न किया गया है। चातक की अन्योक्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। उनके द्वारा कवि ने अपनी अनन्य भक्ति का स्पष्ट और सुन्दर परिचय दिया है। कलिकाल-वर्णन में तत्कालीन परिस्थितियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।

गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा-महिपाल। साम न दाम न भेद कलि. केवल दंड कराल॥

दोहावली में यह ५५६ वाँ दोहा है। 'कलिधर्माधर्म-निरूपण में' यह ८ वाँ दोहा है।[1]

इसी प्रकार—

साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहि भगति कलि निन्दहिं वेद पुरान।

'कलिधर्माधर्म निरूपण' का यह २२ वाँ 'दोहावली' में ५५४ वाँ दोहा है। यदि 'कलिधर्माधर्म निरूपण' को एक विशिष्ट ग्रन्थ मान लिया जाय तो 'दोहावली' में उसके दोहे भी संग्रहीत किये गये हैं। इस प्रकार 'दोहावली' निश्चित रूप से एक संग्रह ग्रन्थ है।

विशेष—यह ग्रन्थ काव्योत्कर्ष के दृष्टिकोण से साधारण है। कुछ दोहे तो वास्तव में उत्कृष्ट हैं, जो मनोवेगों का स्वाभाविक चित्रण करते है।

कृष्ण गीतावली

रचना-काल—'कृष्ण गीतावली' का रचना-काल वेणीमाधवदास द्वारा सं० १६२८ माना जाता है। इसकी रचना 'राम गीतावली' के साथ ही हुई :—

जब सोरह सै बसु बीस चढ्यौ। पद जोरि सबै शुचि ग्रन्थ गढ्यौ॥
तेहि राम गीतावलि नाम धर्‌यौ। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्‌यौ॥

---

१. षोडष रामायण, पृष्ठ ३२९ श्रीतुट बिहारी राय, कलकत्ता (१९०३)

जिस तरह 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' युग्म हैं, उसी प्रकार 'राम गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली'। दोनों की रचना से यह ज्ञात होता है कि ग्रंथ उस समय लिखे गये होंगे जब कवि पर ब्रजभाषा और कृष्ण-काव्य का अत्यधिक प्रभाव होगा।

विस्तार—'कृष्ण गीतावली' **में स्फुट पदों** का संग्रह है। यह रचना ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत नहीं की गई होगी, क्योंकि न तो इसके आदि में मंगलाचरण है और न अन्त में कोई मंगल-कामना ही। इसमें कोई कांड या स्कन्ध आदि नहीं हैं, राग रागिनियों में घटना-विशेष पर पद लिख दिये गये हैं। ऐसे पदों की संख्या ६१ है।

वर्ण्य विषय—इस ग्रन्थ में कृष्ण की कथा गाई गई है। सूरदास के 'सूरसागर' में जिस प्रकार श्रीकृष्ण-चरित्र पर अनेक पद लिखे गये हैं, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से 'कृष्ण गीतावली' में भी पद-रचना है। 'कृष्ण गीतावली' में निम्नलिखित विषयों पर पद रचना की गई है:—

बाल-लीला, गोपी उपालम्भ, ऊखल-बन्धन, इन्द्र-कोप, गोवर्द्धन-धारण, छाक-लीला, सौन्दर्य-वर्णन, गोपिका-प्रेम, मथुरा-गमन, गोपी-विरह, भ्रमर-गीत और द्रोपदी-चीर। इन सभी घटनाओं का वर्णन बड़े स्वाभाविक ढंग से किया गया है। तुलसीदास ने कृष्ण-चरित्र वर्णन में भी हृदय तत्व की प्रधानता रक्खी है और ये पद 'सूरसागर' के पदों से किसी प्रकार भी हीन नहीं ज्ञात होते। कृष्ण का बाल-चरित्र वर्णन कर तुलसीदास ने इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैला दिया है और उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने कृष्ण चरित्र को उत्कृष्ट साहित्य का रूप दे दिया है। 'कृष्ण गीतावली' तुलसीदास की बड़ी सरल रचना है। यह जितनी सरल है उतनी ही मनोवैज्ञानिक भी।

विशेष—कृष्ण-चरित्र के चित्रण ने तुलसीदास को ऐसे वैष्णव का रूप दे दिया है, जिसे विष्णु की व्यापकता में पूर्ण विश्वास है। उसे राम और कृष्ण में अन्तर नही ज्ञात होता। उसे अवतारवाद में पूर्ण-विश्वास है। 'कृष्ण गीतावली' के कुछ पद 'सूरसागर' से मिलते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि "तुलसीदास की रचनाओं में मिलने वाले सूरदास के इन पदों को तुलसीदास जी ने गाने के लिए पसन्द किया होगा और तुलसीदास जी को प्रिय होने के कारण आगे चल कर उनके शिष्यों ने उचित परिवर्तन के साथ उन्हें उनकी रचनाओं में मिला दिया होगा।"[1]

यह रचना ब्रजभाषा में है तथा कवि की प्रतिभा की पूर्ण परिचायिका है।

---

१ 'गोस्वामी तुलसीदास' पृष्ठ ८१
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३१)

बाहुक

रचना-काल—वेणीमाधवदस ने इसकी रचना सवत् १६६९ में मानी है:—

बाहु पीर व्याकुल भये, रचे सुधीर। पुनि बिराग संदीपिनी, रामाज्ञा सकुनीर ॥[1]

कविता की प्रौढ़ता देख कर अनुमान भी यही होता है कि यह रचना तुलसीदास के जीवन के परवर्ती काल की है। यदि इसी बाहुपीड़ा से हम तुलसीदास की मृत्यु मानें तब तो यह तुलसीदास की अंतिम रचना है और इसका रचना-काल सवत् १६८० है। यदि उपर्युक्त घटना सही न भी हो तो यह रचना सवत् १६६९ के लगभग की तो माननी ही चाहिए।

विस्तार—'बाहुक' एक सम्यक् ग्रन्थ के रूप में लिखा गया ज्ञात होता है। प्रारम्भ में हनुमान की वन्दना छप्पय छन्द में है और अन्त में भी भावना की श्रान्ति है। इसका विस्तार ४४ छन्दों में है।

छंद—'बाहुक' की रचना चार छन्दों में हुई है। छप्पय, झूलना, मत्तगयंद और घनाक्षरी।

वर्ण्य विषय—इस रचना में तुलसीदास ने अपनी बाहुपीड़ा और उसके शमन की प्रार्थना बड़े करुण स्वरों में हनुमान से की है। यह प्रार्थना इतनी करुणा-पूर्ण और हृदय-द्रावक है कि इसे पढ़ कर तुलसीदास के प्रति करुणा और नियति के प्रति क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। भाषा इतनी मँजी हुई और भावों की अनुगामिनी है कि उससे तुलसीदास के पांडित्य और प्रतिभा का परिचय सरलता से पाया जा सकता है। यह रचना तुलसीदास की बहुत प्रौढ़ रचना है और उनकी अमर कृतियों में है। इसमें व्रजभाषा का रूप बहुत ही परिमार्जित है।

विशेष—नागरीप्रचारिणी सभा ने जो 'तुलसीग्रन्थावली' का प्रकाशन किया है, उसमें 'बाहुक' 'कवितावली' के अंतर्गत ही माना गया है। सभंव है, इसका कारण यह हो कि 'कवितावली' के उत्तरकांड में प्रार्थनाएँ हैं और वे सब कवित्त, छप्पय और झूलना छन्द आदि में हैं। 'हनुमान बाहुक' की रचना भी उन्हीं छन्दों में हुई है और वर्ण्य विषय भी हनुमान की प्रार्थना है। अतः 'बाहुक' 'कवितावली' ही से सम्बद्ध कर दिया गया है।

सतसई (?)

रचना-काल—'सतसई' का रचना-काल सं० १६४२ है। 'सतसई' में लिखा है:—

अहि रसना थन धेनु रस गनपति द्विज गुरु वार।
माधव सित सिय जनम तिथि सतसैया अवतार ॥ २१ ॥

---

१ मूल गोसाँई चरित, दोहा ९५

अहिरसना = २, थनधेनु = ४, रस = ६, गनपति द्विज = १, = १६४२ (अंकानां वामतो गतिः)

वेणीमाधवदास अपने 'मूल गोसांई चरित' में भी यही तिथि देते हैं:—

माधौ सित सिय जनम तिथि ब्यालि ससम्बत बीच। सतसैया बरधै लगे प्रेम वारि के सींच ॥

विस्तार—इस प्रकार इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १६४२ निश्चित है। इसमें ७४७ दोहे हैं।[1] सात सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में ११०, द्वितीय सर्ग में १०३, तृतीय सर्ग में १०१, चतुर्थ सर्ग में १०४, पंचम सर्ग में ९९, षष्ठम् सर्ग में १०१ और सप्तम सर्ग में १२९ दोहे हैं।

वर्ण्य विषय—प्रथम सर्ग में भक्ति, द्वितीय सर्ग में उपासना, तृतीय सर्ग में राम-भजन, चतुर्थ सर्ग में आत्म-बोध, पंचम सर्ग में कर्म मीमांसा, षष्ठम सर्ग में ज्ञान-मीमांसा और सप्तम सर्ग में राजनीति के सिद्धान्त इसके वर्ण्य-विषय हैं। सतसई का तृतीय सर्ग तो दृष्टि-कूट से भरा हुआ है। ऐसा ज्ञात होता है कि तुलसी अपने समकालीन काव्य के सभी रूपों में अपनी कुशलता प्रदर्शित करना चाहते थे। अनेक स्थानों पर बड़ी सुन्दर उक्तियाँ हैं जिनमें तुलसीदास का अनुभव और निरीक्षण सन्निहित है। अनेक स्थानों पर हमें उपदेश भी मिलता है। वह केवल उपदेश ही नहीं है वरन् एक सत्य है जिसमें हृदय को छू लेने की शक्ति है।

विशेष—पं० रामगुलाम द्विवेदी और पं० सुधाकर द्विवेदी 'तुलसी सतसई' को तुलसी रचित नहीं मानते। ग्रियर्सन उसे अंशतः तुलसी रचित मानते हैं।[2] प्रधानतः कारण यह दिया जाता है कि इसमें अनेक कूट हैं जो तुलसी के काव्यादर्श के विरुद्ध हैं। सुधाकर द्विवेदी ने 'सतसई' में गणित का अत्यधिक अंश पाकर उसे किसी तुलसी कायस्थ की रचना मान ली है। उस तुलसी कायस्थ को उन्होंने गाजीपुर निवासी भी माना है, क्योंकि 'तुलसी सतसई' के कुछ शब्द-विशेष गाजीपुर में अधिकतर बोले जाते हैं। किन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि 'सतसई' की शैली 'दोहावली' की शैली के समान ही है और 'सतसई' में 'दोहावली' के लगभग डेढ़ सौ दोहे भी हैं। यदि 'दोहावली' तुलसी रचित हो तो 'सतसई' को भी तुलसी रचित मानना समीचीन है। 'सतसई' में सीता-भक्ति का प्राधान्य है। वेणीमाधवदास ने सं० १६४० में तुलसीदास की मिथिला-यात्रा का वर्णन किया है। सम्भव है, मिथिला के वातावरण का प्रभाव 'सतसई' लिखते समय तुलसीदास के हृदय पर रहा हो। फिर 'सतसई' की रचना भी सीता जी की जन्म-तिथि को

१ सतसई सप्तक—श्यामसुन्दर दास
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९३१

२ इंडियन एंटीकरी, भाग २२ (१८९३) पृष्ठ १२८
(ए० ग्रियर्सन)

हुई। अतः सीता की भक्ति का वर्णन 'सतसई' में स्वाभाविक है। चाहे यह ग्रंथ तुलसी रचित हो अथवा न हो, इसमें तुलसी के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्त सम्यक् रूप से दिये गये हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' में 'सतसई' को स्थान नहीं दिया गया। सम्भव है, 'ग्रन्थावली' के सम्पादक-गण पं० रामगुलाम द्विवेदी, पं० सुधाकर द्विवेदी और सर ग्रियर्सन से प्रभावित हुए हों।

कलिधर्माधर्म निरूपण

रचना-तिथि—इस ग्रंथ का रचना-काल किसी प्रकार भी विदित नहीं। वेणीमाधवदास ने भी इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। नागरीप्रचारिणी सभा की 'तुलसी ग्रन्थावली' में भी इसका समावेश नहीं है, किन्तु इसकी रचना-शैली और इसके अनेक दोहे 'दोहावली' आदि ग्रंथों में आने के कारण इसे तुलसीकृत मानना उचित होगा। मिश्र बन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में इसे तुलसीदासकृत माना है :—

"इसकी रचना और भाषा रामायण से बहुत मिलती-जुलती है। यह एक मनोहर प्रशंसनीय ग्रंथ है। इसके तुलसीकृत होने में कोई संदेह नहीं है।"[1]

इस ग्रंथ के दोहे 'दोहावली' में संग्रहीत हैं। अतः यह ग्रंथ 'दोहावली' से पहल बन गया होगा। 'दोहावली' की रचना-तिथि सं० १६६५ के बाद की है, क्योंकि 'दोहावली' में 'बीसी विस्वनाथ की' (सम्वत् १६५५) का वर्णन है। अतः 'कलिधर्माधम निरूपण' सं० १६६५ के पहले की रचना है।

विस्तार—इसमें चार चौपाइयों (आठ पंक्तियों) के बाद एक दोहा है। ऐसे दोहों की संख्या ग्रंथ में २५ है। बीच में एक और अन्त में छः सोरठे भी हैं। एक हरिगीतिका छंद भी है। यह ग्यारह पृष्ठों की रचना है।[2]

छंद—चौपाई, दोहा, सोरठा और हरिगीतिका।

वर्ण्य विषय—इसमें तुलसीदास ने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों, का चित्रण किया है। इन तीनों क्षेत्रों में जो अनाचार है, उसे उन्होंने कलि-धर्म का नाम दिया है। यही समस्त रचना में वर्णित है।

विशेष—यद्यपि इस ग्रन्थ में मंगलाचरण नहीं है, तथापि अन्त समुचित रूप से किया गया है। अन्तिम सोरठा इस प्रकार है :—

नर तन धरि करि काज, साज त्यागि मद मान को
गाइ नाथ रघुराज, माँजि-माँजि मन विमल वर ॥

---

१ हिन्दी नवरत्न, (मिश्र बन्धु) पृष्ठ ९८

२ षोडश रामायण (कलि धर्माधर्म निरूपण) पृष्ठ ३२६ से ३३६
(श्री नटबिहारीराय द्वारा मुद्रित और प्रकाशित, कलकत्ता १९०३)

गीतावली

रचना-काल—अंतर्साक्ष्य से 'गीतावली' के रचना-काल पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें किसी ऐतिहासिक घटना का निर्देश नहीं है। 'कवितावली' की भाँति "मीन की सनीचरी' या 'बीसी विस्वनाथ की' आदि का भी उल्लेख नहीं है। "गीतावली' का रचना-काल वेणीमाधवदास ने संवत् १६२८ माना है। इस ग्रन्थ की रचना का कारण यह दिया गया है :—

तड़के इन बालक आन लग्यो। सुठि सुन्दर कंठ सों गान लग्यो ॥
तिसु गान पै रीझि गोसांई गए। लिखि दीन्ह तबै पद चारि नए ॥
करि कंठ सुनायउ दूजे दिना। अड़ि जाय सो नूतन गान बिना ॥
मिस याहिं बनावन गीत लगे। उर भीतर सुन्दर भाव जगे ॥[1]

यह ग्रंथ 'कृष्ण गीतावली' के साथ ही बना और इसमें संवत् १६१६ से संवत् १६२८ के बीच बने हुए समस्त पदों का संग्रह हुआ :—

जब सोरह सै बसु बीस चढ्यो। पद जोरि सबै सुचि ग्रन्थ गढ्यो ॥
तेहि राम गीतावलि नाम धर्‌यो। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्‌यो ॥[2]

'मूलगोसाई चरित' के अनुसार 'गीतावली' तुलसीदास की प्रथम रचना है, किन्तु 'गीतावली' की शैली और कथा-वस्तु को देखते हुए यह अनुमान करना पड़ता है कि इसकी रचना 'मानस' के पीछे हुई होगी। 'गीतावली' की कथा उत्तर कांड में अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' से साम्य रखती है। कौशल्या आदि का करुण चरित्र भी अधिक विदग्धतापूर्ण है तथा राम का बाल-वर्णन तुलसीदास के ग्रन्थों में सब से उत्कृष्ट है। अतः सम्भव है, इसकी रचना 'मानस' के आदर्शों से स्वतन्त्र होकर बाद में हुई हो, यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना-तिथि विश्वस्त रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती। 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' जय संवत् की रचनाएँ हैं। ये दोनों ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों के आधार पर हैं। 'जानकीमंगल' 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर और 'पार्वतीमंगल' 'कुमार सम्भव' के आधार पर है। अतः इसी परिस्थिति में कदाचित् 'गीतावली' की रचना हुई हो जो वाल्मीकि की कथा से अधिक साम्य रखती है। ये उस समय की रचनाएँ होंगी जब कवि संस्कृत ग्रंथों से अधिक प्रभावित हुआ होगा। इस विचार के अनुसार 'गीतावली' की रचना जय संवत् के आस-पास ही माननी चाहिए अर्थात् 'गीतावली' की रचना लगभग १६४३ में हुई होगी।

---

१ गोसांई चरित ३१ वें दोहे की चौपाइयाँ

२ गोसाईं चरित ३३ वें दोहे की चौपाइयाँ

विस्तार—'गीतावली' सम्यक् ग्रन्थ के रूप में न लिखी जाकर स्फुट पदों के रूप में लिखी गई होगी। इसमें कोई मंगलाचरण नहीं है। ग्रन्थ का प्रारम्भ राम के जन्मोत्सव से होता है।

आजु सुदिन सुभ घरी सुहाई। रूप सील गुन-धाम राम नृप भवन प्रगट भए आई॥[1]

इसमें रामावतार के न तो कारण ही दिये गये हैं और न पूर्ण कथाएँ। ग्रन्थ अनियमित रूप से प्रारम्भ होता है। अतः इसमें कथा के अनेक सूत्र छूट गए हैं। फलस्वरूप कांडों का सानुपात विस्तार नहीं है। कुल ग्रन्थ में ३२८ पद हैं और उनका विभाजन सात कांडों में इस प्रकार हुआ है :—

बालकांड	१०८ पद
अयोध्याकांड	८९ पद
अरण्यकांड	१७ पद
किष्किंधाकांड	२ पद
सुन्दरकांड	५१ पद
लंकाकांड	२३ पद
उत्तरकांड	३८ पद

राम-कथा को देखते हुए किष्किंधा कांड के केवल दो पद 'गीतावली' की स्फुट शैली ही निश्चित रूप से निर्धारित करते हैं। कांडों के असमान होने के कारण घटनाओं का स्वरूप भी विशृंखल है। अयोध्याकांड के प्रथम पद में वशिष्ठ से राम-राज्याभिषेक के लिए दशरथ की विनय है और दूसरे ही पद में राम-बनवास के अनन्तर कौशल्या की राम से अयोध्या में ही रह जाने की प्रार्थना है। कैकेयी-वरदान की समस्त विदग्धतापूर्ण कथा का अक्षम्य अभाव है। घटनाओं की विशृंखलता के साथ ही साथ चरित्र-चित्रण भी पूर्ण नहीं हो पाया। 'मानस' में जिस भरत के चित्रण में तुलसी ने अयोध्या कांड का उत्तरार्ध ही समाप्त कर दिया, उसी भरत का चित्रण गीतावली में अधूरा है। ये अभाव 'गीतावली' के स्फुट रूप में लिखे जाने के कारण ही हैं।

(अ) कृष्ण-काव्य का प्रभाव

वर्ण्य-विषय—तुलसीदास ने 'गीतावली' में राम की कथा पदों में लिखी है। सम्भव है, कृष्ण की कथा का पद-रूप में अत्यधिक प्रचार होते देख कर तुलसीदास ने राम की कथा भी पद-रूप में लिखी हो अथवा साहित्य के क्षेत्र में सम्भवतः सूरदास के 'सूरसागर' ने तुलसीदास का ध्यान इस ओर आकर्षित किया हो। वेणीमाधवदास ने

---

१ तुलसीग्रन्थावली, दूसरा खंड, गीतावली पद १. पृष्ठ २६६

अपने 'गोसांईं चरित' में तुलसीदास का सूरदास से मिलाप होना संवत् १६१६ में लिखा है :—

सोरह सै सोरह लगै, कामदगिरि ढिग बास। सुचि एकांत प्रदेश महँ, आए सुर सुदास ।।

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नट नागर को ।।
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पद-पंकज पै सिर नाय रहे ।।[1]

इसके अनुसार सूरदास का 'सूरसागर' तुलसीदास के समक्ष आ चुका था। यदि वेणीमाधवदास का कथन सत्य भी न माना जावे तब भी 'गीतावली' में अनेक पद ऐसे हैं जिनका पूर्ण साम्य सूरसागर में लिखे गये पदों से होता है :—

(१) गीतावली—कनक रतन मय पालनो रच्यो मनहु मार सुतहार।
सूरसागर—अति परम सुन्दर पालनो गढ़ि ल्यावरे बढ़ैया।

(२) गीतावली—पालने रघुपति झुलावै।
सूरसागर—यशोदा हरि पालने झुलावै।

(३) गीतावली—आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए।
सूरसागर—आँगन खेलत घुटुरुवनि धाए।

(४) गीतावली—जागिए कृपानिधान जान राय रामचन्द्र,
जननी कहै बार बार भोर भयो प्यारे।
सूरसागर—जागिए गुपाललाल, आनन्दनिधि नन्दबाल,
यशुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे ।।

(५) गीतावली—खेलन चलिये आनन्द कन्द।
सूरसागर—खेलन चलिये बाल गोविन्द।

पद ३ और ५ तो इतना साम्य रखते हैं कि तुलसीदास और सूरदास के नाम के अतिरिक्त राम और श्याम के नाम से समस्त पद अक्षरशः मिलते हैं। या तो तुलसीदास ने ही अपनी भक्ति के आवेश में सूरदास के पद को राम पर घटित कर दिया हो, या उन्होंने सूरदास का पद प्रिय लगने के कारण अपने ग्रंथ में रख लिया हो, पर तुलसीदास जैसे महान् कवि से हम इन दोनों बातों की आशा नहीं रखते। सम्भव है, 'गीतावली' के सम्पादकों ने भ्रमवश सूर के पदों को तुलसी के नाम से 'गीतावली' में रख दिया हो। इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि 'गीतावली' पर 'सूरसागर' की स्पष्ट छाप है। शब्दों और पदों के अतिरिक्त आगे के प्रकरणों से भी इस कथन की पुष्टि होती है :—

१ गोसांईं चरित, दोहा ३६ तथा आगे की चौपाई

(१) कृष्ण के समान ही राम का बाल-वर्णन है। राम के बाल-वर्णन का प्रसंग तुलसीदास ने 'गीतावली' को छोड़कर अन्य ग्रंथों में बहुत संक्षेप में किया है। 'मानस' में—

धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति विहँसि गोदि बैठाए॥

और 'कवितावली' में—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं॥

आदि, थोड़ी-सी पंक्तियों में राम का बाल-वर्णन है। 'गीतावली' में यह बाल-वर्णन ४४ पदों में वर्णित है। यह बाल-वर्णन अधिकतर उसी साँचे में ढला हुआ है जिस साँचे में कृष्ण का बाल-वर्णन।

(२) कौशल्या की पुत्र-वियोग में करुण भावनाभिव्यक्ति। यशोदा के समान कौशल्या भी राम के वियोग में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ करती और पूर्व स्मृतियों को जगाती हैं। 'गीतावली' के अतिरिक्त ऐसा वर्णन तुलसी के अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है।

(३) उत्तर कांड के अंतर्गत रामराज्य में हिंडोला, वसन्त, होली, चाँचर-वर्णन ये घटनाएँ अधिकतर कृष्ण-काव्य के क्षेत्र की हैं। राम का मर्यादापूर्ण चरित्र इन घटनाओं के प्रतिकूल है। अतः 'मानस' तथा राम-कथा के अन्य ग्रंथों में तुलसी ने इस शृंगार पूर्ण घटनावली का वर्णन नहीं किया है, पर 'गीतावली' में यह वर्णन दो बार आया है। एक बार तो चित्रकूट के प्रकृति-वर्णन में है :—

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु। सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु॥[1]

और दूसरी बार उत्तर कांड में आया है :—

खेलत बसन्त राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज॥
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ॥[2]

मर्यादा पुरुषोत्तम राम ललनागण के साथ "निपट गई लाज भाजि" के अवसर पर सम्मिलित नहीं हो सकते, पर 'गीतावली' में इस घटना का विस्तृत विवरण है। अतः यह स्पष्ट है कि 'गीतावली' पर कृष्ण-काव्य अर्थात् 'सूरसागर' का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा है।

कृष्ण-काव्य से इतना साम्य होते हुए भी राम और कृष्ण के बाल-वर्णन में कुछ भिन्नता है :—

(अ) तुलसीदास के राम इतने उत्कृष्ट व्यक्तित्व से समन्वित हैं कि उनका साधारण और स्वाभाविक परिस्थितियों में चित्रण करना संभवतः तुलसीदास को रुचिकर

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृष्ठ ३५२

२ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृष्ठ ५२६

न हुआ हो । राम तुलसी के परब्रह्म हैं । अतः आराध्य का इतना ऊँचा आदर्श बाल-वर्णन के समान साधारण कथानक में शायद केन्द्रीभूत न हो सका हो ।

(आ) तुलसीदास की भक्ति दास्य थी । बाल-वर्णन में उन्हें इस बात का ध्यान था कि उनके स्वामी की मर्यादा का अतिक्रमण न हो । इसी के फल स्वरूप मानस में बाल-लीला के दो-चार ही पद्य हैं । स्थान-स्थान पर राम के परब्रह्म होने का निर्देश भी है ।

जाके सहज स्वास स्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह अचरज भारी ॥ (बालकांड)

'गीतावली' में भी इसी अलौकिकता का वर्ण संकेत है । इस कारण वात्सल्य के स्थान पर भय, आश्चर्य आदि भावनाओं का प्राबल्य हो जाता है । स्थान-स्थान पर देवतागण फूल बरसाते हैं और बादलों की ओट से बालक राम का सौन्दर्य देखते हैं :—

"विधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिये" ।

(बालकांड)

(इ) तुलसी का बाल-वर्णन अधिक वर्णनात्मक है । उसमें स्थिति का सांगोपांग निरूपण है, पर यह बाल-वर्णन अभिनयात्मक नहीं हुआ है । समस्त सौन्दर्य एक प्रेक्षक की भाँति ही कवि के मुख से वर्णित है । पात्रों के सम्भाषण का भी अधिकतर अभाव है । यही कारण है कि राम के शृंगार वर्णन के सामने मनोवेगों का स्थान गौण हो गया है । तुलसीदास राम की छवि ही अधिकतर वर्णन करना चाहते हैं—अनेक बार कामदेव को लज्जित होने का आदेश देते हैं, पर वे बालक राम की मनोवृत्तियों में प्रवेश नहीं करना चाहते । सूरदास के अभिनयात्मक चित्रण के अन्तर्गत—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी

किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥

के समान मनोवैज्ञानिक भावनाओं को पात्रों के अभिनय का रूप देकर वर्णन करने की अपेक्षा तुलसीदास पात्रों का सीधा-सादा वर्णनात्मक चित्र खींचते हैं :—

सुभग सेज सोभित कौशल्या, रुचिर राम सिसु गोद लिए ।
बार-बार विधु बदन लोकति, विलोचन चारु चकोर किए ॥

'गीतावली' के बाल-वर्णन में अधिकतर ऐसे ही चित्र प्रस्तुत किये गए हैं, जिनमें अभिनयात्मक तत्व अथवा सम्भाषण का अभाव है । यदि मनोवैज्ञानिक

चित्रण अभिनय के रूप में हुआ. भी है तो वह थोड़ा है, अप्रधान है। इसीलिए राम उतने स्वतंत्र, चपल, चंचल बालोचित स्वाभाविक रूप से क्रीड़ा-मग्न नहीं हैं। उनमें उतनी नैसर्गिकता नहीं जितनी कृष्ण में है। रूठना, गिर पड़ना आदि क्रीड़ाएँ नहीं है। इस प्रकार तुलसी ने अपने आराध्य के सौन्दर्य-चित्रण में—उनकी विरुदावली गान के उत्साह में—बाल-वर्णन की बहुत कुछ स्वाभाविकता अपने हाथ से चली जाने दी है। तुलसीदास ने अधिकतर अपने आराध्य के अंग, वस्त्र और आभूषणादि का वर्णन ही अनेक बार किया है। एक ही प्रकार उत्प्रेक्षा और उपमा घटित की गई है। भावना की पुनरुक्ति से चमत्कार नही आ सका। कामदेव, कमल, स्वर्ण, विद्युत, बादल मयूर आदि की उपमाएँ न जाने कितनी बार प्रस्तुत हैं। 'गीतावली' का गीति-काव्य रूप होने के कारण सम्भवतः इसमें आवर्तन दोष न माना जावे, पर कवि की दृष्टि तो सीमित ज्ञात होती है।

सूरदास और तुलसीदास के बाल-वर्णन में जो अन्तर आ गया है उसके अनेक कारण हो सकते हैं :—

(१) दोनों की उपासना का दृष्टिकोण भिन्न है। सूरदास ने सख्य-भाव से भक्ति की थी, तुलसी ने दास्य भाव से। अतः सूरदास अपने आराध्य से तुलसी की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता ले सकते थे। सूरदास अपने आराध्य से घुल-मिल सकते थे, पर तुलसीदास एक सेवक की भाँति दूर ही खड़े रहना उचित समझते थे। कहीं स्वामी का अपमान न हो जावे; यही कारण था कि तुलसीदास राम का बाह्य रूप-वर्णन कर सके, राम के मनोवेगों में नहीं घुस सके।

(२) दोनों के आराध्य भी भिन्न थे। सूर के कृष्ण ग्राम्य वातावरण से पोषित गोप थे, तुलसी के राम नागरिक जीवन से मर्यादित राजकुमार थे। राम के नैसर्गिक जीवन के विकास की परिस्थितियाँ कम थीं। दूसरे, कृष्ण की अनेक लीलाओं में—माखन चोरी, दधि-दान आदि में—बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिए अधिक अवसर मिल गया। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम-रूप में थोड़ी सी भी उच्छृ-खंलता के लिए स्थान नहीं था। कृष्ण की भाँति वे अनेक स्त्रियों से प्रेम भी नहीं कर सकते थे—वे तो ऐसे संयम के सूत्र में जकड़े थे कि—

> मोहिं अतिसय प्रतीत जिय केरी।
> जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥ (बालकांड 'मानस')

इसीलिए जहाँ सूरदास के लिए श्रीकृष्ण के चरित्र की बहुरंगी सामग्री है वहाँ तुलसीदास के लिए व्यक्तित्व-वर्णन का मर्यादित एवं संकुचित दृष्टिकोण है।

यह निरूपण इस प्रकार किया जा सकता है :—

वर्ण्य-विषय	सूर	तुलसी
१ वातावरण	ग्राम्य (स्वतंत्र)	नागरिक (संयत)
२ व्यक्तित्व	गोप (माखन-चोरी, वंशी-वादन, गोपिका-प्रेम)	राजकुमार (माता की गोद या मणि खचित आँगन में ही खेलना, चौगान)
३ दृष्टि कोण	(अ) चरित्र-वर्णन (आ) विस्तृत क्षेत्र सख्य (अ) मनोवेगों का वर्णन (आ) मानवी संकेत	(अ) व्यक्तित्व-वर्णन (आ) संकुचित क्षेत्र दास्य (अ) दैवी संकेत (आ) दैवी संकेत

यह तुलसी का कला-चातुर्य माना जावेगा कि इन्होंने मर्यदा-परिधि के भीतर भी राम के बाल-जीवन के कुछ अच्छे चित्र खींचे हैं। परिस्थितियों का प्रभाव (Local colour) भी स्वाभाविक है। "राम-जन्म की छठी", 'बारही' "तुला तौलिये घी के", "नरसिंह मन्त्र पढ़े", "झरावति कौशिला", "महि मनि महेस पर सबनि सुधेनु दुहाई" आदि चित्र बहुत स्वाभाविक हैं। इस भाँति राम के बाल-जीवन का क्रमिक विकास भी बहुत सरस और स्वाभाविक है :—

१ पूत सपूत कौशिला जायो (२रा पद)
२ राम शिशु गोद (७ वाँ पद)
३ पालने रघुपति झुलावै (२० वाँ पद)
४ आँगन फिरत घुटुरुवनि धाए (२३ वाँ पद)
५ ठुमुकि-ठुमुकि चलें (३० वाँ पद)
६ खेलन चलिए आनन्दकन्द (३८ वाँ पद)
७ बिहरत अवध बीथिन राम (३९ वाँ पद)
८ कर कमलनि विचित्र चौगानें खेलन लगे खेल रिझये
(४३ वाँ पद)

(आ) गीतावली की कथावस्तु

'गीतावली' की रचना मुक्तक रूप में गीतों में हुई है। अतः 'गीतावली' में गीतिकाव्य का प्रस्फुटन देखना चाहिए। गीतिकाव्य की रचना आत्माभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से ही होती है, उसमें विचारों की एक रूपता रहती है। आराध्य से आत्मनिवेदन के उल्लास में रचना गेय हो जाती है और भावना के घनीभूत होने के कारण संक्षिप्तता आ जाती है। अतः सफल गीतिकाव्य में ये चार बातें—आत्माभिव्यक्ति, विचारों की एकरूपता, संगीत और संक्षिप्तता होनी आवश्यक हैं। "गीतावली' में संगीत का तो प्रधान स्थान है, पर शेष बातों की अवहेलना सी हो गई है। यद्यपि 'गीतावली' में प्रबन्धात्मकता नहीं है, पर घटनाओं की वर्णनात्मकता में पद बहुत लम्बे हो गए हैं। बालकांड में राम-जन्म से सम्बन्ध रखने वाले पद २४ पंक्तियों से कम तो हैं ही नहीं। दूसरा पद तो ४० पंक्तियों का है। इसमें आत्म-निवेदन भी नहीं है; राम-जन्म की वर्णनात्मकता ही है। विविध घटनाओं की सृष्टि के कारण विचारों में एकरूपता भी नहीं है, विचार-धारा और संगीत में साम्य अवश्य है। इस दृष्टि से 'गीतावली' का अरण्यकांड सबसे अधिक सफल कांड है। प्रथम पद ही में राम को ललित घन का रूपक देकर उनका सौन्दर्य-वर्णन मलार राग में किया गया है। यदि 'गीतावली' में घटनाओं की अधिक सृष्टि न की गई होती और कवि भाव-विभोर होकर अपने में आराध्य को लीन कर लेता तो 'गीतावली' उत्कृष्ट गीतिकाव्य के रूप में साहित्य में ऊँचा स्थान पाती।

'गीतावली' में गीत-रचना होने के कारण केवल कोमल भावनाओं को ही प्रश्रय मिला है। रामचरित के जितने कोमल स्थल हैं वे तो गीतावली में विस्तार से वर्णित हैं, पर जितनी परुष घटनाएँ है उनका संकेत मात्र कर दिया गया है। यही कारण है कि कैकेयी-दशरथ सम्वाद, लंका-दहन और राम-रावण-युद्ध का कहीं वर्णन ही नहीं है। ये स्थल गीत के सरस और कोमल वातावरण के लिए उपयुक्त नहीं हो सकते थे।

बालकांड में राम की बाल्यावस्था के बहुत कोमल चित्र हैं। 'मानस' की भाँति इसमें रामावतार की कथाएँ नहीं हैं और न रामचरित्र की विस्तृत आलोचना ही। कवि ने सौंदर्य की अन्तर्दृष्टि से राम की शारीरिक छवि को अनेक प्रकार से वर्णित किया है। उसने उनके शील-सौंदर्य पर विशेष प्रकाश डाला है। ४४ पदों में राम का बाल-वर्णन ही है। समस्त बालकांड घटना-सूत्र के सहारे राम का सौंदर्य-प्रकरण ही कहा जा सकता है। उनका जितना रूप-वर्णन कांड के प्रारम्भ में है उतना ही अंत में, जहाँ जनकपुर की स्त्रियाँ उनके रूप की प्रशंसा करती हैं। बाल-कांड में जनकपुर-प्रसंग बड़े विस्तार से वर्णित है। कुछ स्थलों पर कृष्ण-काव्य का

भी प्रभाव है। ५२ वें पद में तो 'ब्रजवधू अहीर'[1] का वर्णन उस समय किया गया है जब विश्वामित्र के साथ राम, लक्ष्मण उत्तर की ओर जा रहे थे :—
"मधु माधव मूरति दोउ सँग मानो दिनमनि गवन कियो उत्तर अयन" ।। पद नं० ४९

पद नं० ४३ और ४४ में राम का चौगान खेलना लिखा गया है। यह तुलसी के काव्य में काल दोष (Anachronism) माना जा सकता है। जो हो, बालकांड के अंतर्गत जनकपुर में एकत्र नागरिक-वधू अपने प्रेम-कथन से राम की सुन्दरता और भक्ति-भावना की सर्वांग पवित्र चित्रावली प्रस्तुत करती हैं।

अयोध्याकांड में मनोवैज्ञानिक चित्रण की कमी है। कैकेयी-दशरथ सम्वाद में जितनी मनोवैज्ञानिक प्रगति है वह 'मानस' में तो अंकित है, पर 'गीतावली' में उसका चिह्न भी नहीं है। यह कांड कथावस्तु के सौंदर्य से भी हीन है। इतनी बात अवश्य है कि वन-मार्ग की स्त्रियों ने राम, लक्ष्मण और सीता के रूप की प्रशंसा सुन्दर शब्दावली और कल्पना की अनेक-रूपता से अवश्य की है। इस वर्णन में कवि का हृदय ही जैसे अपने आराध्य की प्रशंसा कर रहा है। कवि की भक्ति-भावना तो कुछ स्थलों पर इतनी बढ़ गई है कि वह कौशल्या से भी अपने पुत्र राम के प्रति अमर्यादित शब्द कहलवा देता है —

सुनहु राम मेरे प्रान पियारे।
बारौं सत्य वचन श्रुति सम्मत जाते हौं बिछुरत चरन तिहारे ॥[2]

माता का पुत्र से उसके 'चरण-वियोग' के सम्बन्ध में कहना मातृत्व-पद की अवहेलना करना है। इसी प्रकार तीसरे पद में भी यही बात कही गई है :—

यह दूसन विधि ताहि होत अब, राम चरन वियोग उपजायक।

कथा का अनियमित विकास होने के कारण मानव-चरित्र की आलोचना के लिए कोई स्थान नहीं है। राम का शृंगार-वर्णन ही प्रधान स्थान प्राप्त कर लेता है और उसमें एक ही प्रकार की उपमाओं की पुनरावृत्ति होने लगती है। इस कांड में भी कृष्ण-काव्य का प्रभाव लक्षित होता है। यह प्रभाव दो प्रकार से है। एक तो वसन्त और फाग-वर्णन के रूप में और दूसरा माता के वियोगपूर्ण वात्सल्य में। चित्रकूट के प्रकृति-चित्रण में अनावश्यक रूप से फाग और होली की कल्पना की गई है :—

---

१ मुनि के संग विराजत वीर।

... ...

नयननि को फल लेत निरखि खग मृग सुरभी ब्रजवधू अहीर।
तुलसी प्रभुहिं देत सब आसन निज-निज मन मृदु कमल कुटीर ॥
बालकांड, पद ५२

२ गीतावली, अयोध्याकांड, पद २

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु। सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु॥
झिल्लि झांझ झरना डफ नव मृदंग निसान। भेरि उपंग भृंग रव ताल कीर कल गान॥
हंस कपोत कबूतर बोलत चक्क चकोर। गावत मनहुँ नारि नर मुदित नगर चहुँ ओर॥[१]

यहाँ तुलसीदास ने 'राम ग्राम गुन', 'चाँचरि मिस' भले ही कह दिए हों, पर उनका चित्रण इस रूप में यहाँ आवश्यक है। माता की करुणामयी वात्सल्यभावना भी कृष्ण-काव्य से प्रेरित की हुई ज्ञात होती है, कृष्ण के वियोग में यशोदा की जो दशा है वही राम के वियोग में कौशल्या की। 'सूरसागर' का यह पद :—

मधुकर इतनी कहियो जाय॥
अति कृस गात भई ये तुम बिन परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत दोउ आँखिन हूँकति लीन्हें नाउँ।
जहाँ-जहाँ गो दोहन करते सूँघति सोई-सोई ठाउँ॥
परति पछारि खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं बारि मध्य ते मीन॥[२]

'गीतावली' के निम्नलिखित पद से कितना साम्य रखता है :—

राघौ एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो बड़ धावौ॥
जे पय प्याइ पोखि कर पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाडिले! ते अब निपट बिसारे॥
भरत सौ गुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झांवरे, मनहुँ कमल हिम मारे॥
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन, कहियो मातु संदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन तें इनको बड़ो अँदेसो॥

कृष्ण के वियोग में जो दशा गायों की थी, वही राम के वियोग में घोड़ों की। माता के उद्गारों में कितना साम्य है! इस विषय में अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं। वस्तुतः यह कांड कथा-प्रधान होने की अपेक्षा भाव-प्रधान हो गया है।

अरण्यकांड में तो कथा-वस्तु की नितान्त अवहेलना है। 'मानस' में जितनी घटनाएँ इस कांड के अंतर्गत वर्णित हैं उनमें से आधी भी 'गीतावली' में नहीं हैं। इस कांड के अंतर्गत घटनाओं की लम्बी शृंखला इतनी संक्षिप्त कर दी गई है कि कथा का रूप ही स्पष्ट नहीं होता। जयन्त-छल, अत्रि और अनुसुइया से राम-सीता मिलन, विराध-वध, शरभंग, अगस्त्य और सुतीक्ष्ण से राम-मिलन, शूर्पणखा-प्रसंग, खर-दूषण वध, रावण-मारीच वार्तालाप, नारद-राम-भक्ति संवाद आदि कथाओं का

१ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ ३५२-३५३
२ सूर सुषमा, पृष्ठ ५५, ५६ (नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, १९८४)

संकेत भी नहीं है। सम्भवतः ये घटनाएँ अधिकतर वर्णनात्मक और वीरात्मक होने के कारण छोड़ दी गई हैं। शेष घटनाएँ जो कोमल भावना से युक्त हैं, अवश्य वर्णित हैं। गीध-प्रसंग यद्यपि पूर्व पक्ष में वीरात्मक है, पर उत्तर-पक्ष में करुणाजनक होने के कारण इस कांड में वर्णित है। फिर इस प्रसंग से राम की भक्तवत्सलता भी प्रकट होती है। यही भावना शवरी-प्रसंग में भी है। वहाँ काव्य-सौन्दर्य न होते हुए भी वर्णन-विस्तार है जिससे व्यक्तिगत भक्ति-भावना को भी प्रश्रय मिलता है। यद्यपि इस कांड में काव्य-सौदर्य गौण है तथापि कोमल भावनाओं का प्रस्फुटन करने में कवि ने सतर्कता से काम लिया है। जहाँ कहीं कवि की व्यक्तिगत भावनाओं के प्रदर्शित करने का अवसर मिला है, वहाँ वह चूका नहीं है :—

राघव, भावति मोहि विपिन की बीथिन्ह धावनि।[1]

इसी प्रकार सोलहवें पद में कवि कहता है :—

ऐसो प्रभु बिसरि सठ तू चाहत सुख पायो॥[2]

वन-देवों के द्वारा राम को सीता-समाचार सुनाना ('जबहिं सिय सुधि सब सुरनि सुनाई')[3] यद्यपि अलौकिक घटना में परिगणित किया जायगा, किन्तु राम को सर्वोपरि देव मानने के कारण देवताओं का उनके प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक है। इसीलिए तुलसी ने वन-देवों को कथा में स्थान दिया है।

इस कांड में कवि ने करुण रस की ओर संकेत किया है और वह गीध एवं शवरी-वर्णन के रूप में है। इन घटनाओं पर तुलसी 'मानस' के समान अधिक विस्तार से लिख सकते थे। उन्होंने शवरी के सम्बन्ध में तो ऐसा किया भी है, किन्तु गीतिकाव्य में अधिक सौंदर्य लाने के लिए उन्होंने करुण रस की अभिव्यक्ति कम, किन्तु प्रभावोत्पादक शब्दों में ही की है। दशरथ की मृत्यु के बाद करुण-रस का संकेत हमें यहीं मिलता है। यह स्पष्ट है कि तुलसीदास ने इस कांड में गीतिकाव्य के लक्षणों की रक्षा करने का सम्पूर्ण प्रयत्न किया है।

'गीतावली' का किष्किन्धाकांड महत्त्वहीन है। उसमें केवल दो पद हैं। न तो उसमें कथा ही है और न भाव-सौंदर्य ही। 'मानस' में जो प्रकृति-चित्रण में लोक-शिक्षा का व्यापक रूप मिलता है, वह भी यहाँ प्राप्त नहीं है।

रस की दृष्टि से सुन्दरकांड श्रेष्ठ है। वीर, वियोग-शृंगार और रौद्र रस के साथ ही साथ शान्त रस की भी निष्पत्ति की गई है, यद्यपि यहाँ शान्त रस के लिए कोई स्थान नहीं था। विभीषण का राम पक्ष में आकर सेवा करना तुलसीदास की व्यक्तिगत भक्ति-भावना का चित्रण-सा हो गया है।

---

१ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ २५६

२ तुलसी ग्रंथावली, पृष्ठ ३७३

३ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ ३७३

पद पद्म गरीब निवाज के।
देखिहौं जाइ पाइ लोचन फल, हित सुर साधु समाज के।[1]

समस्त पद भक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत है। विभीषण का राम की शरण में आना तुलसी का भगवान् की शरण में आना ही ज्ञात होता है। अतः यहाँ गीतिकाव्य में व्यक्तिगत भावना का प्राधान्य आ गया ज्ञात होता है। जिन रसों की सृष्टि की गई है वे सभी उत्कृष्ट रूप में हैं। वियोग शृंगार में सीता के हृदय की परिस्थिति, वीर रस में राम-सैन्य-सञ्चालन, रौद्र-रस मे रावण के प्रति हनुमान की ललकार और शान्त रस में 'गरीब निवाज' राम के प्रति तुलसी-हृदय लेकर विभीषण के उद्गार सभी यथास्थान सजे हुए हैं। रस-वैभिन्य की दृष्टि से एक ही स्थल पर अनेक रसों का समुच्चय इस कांड की विशेषता है।

इस कांड में कुछ दोष भी है। सीता और मुद्रिका में वार्तालाप होना बहुत अस्वाभाविक है। यही प्रसंग 'रामचन्द्रिका' में केशवदास ने अच्छी तरह सँभाला है। मुद्रिका से राम की कुशलता पूछने पर सीता को जब मुद्रिका उत्तर नहीं देती तो हनुमान सीता से कहते हैं—

तुम पूछत कहि मुद्रिके, मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई, तुम बिन या कहँ राम।।[2]

(तुम 'मुद्रिके' नाम से सम्बोधन कर समाचार पूछ रही हो, पर इस नाम पर इसका मौन रहना उचित ही है, क्योंकि तुम्हारे वियोग में राम ने इसे 'कंकन' का नाम दे रखा है। अब यह मुद्रिका नहीं रह गई। इसीलिए 'मुद्रिका' नाम के सम्बोधन पर यह उत्तर नहीं दे सकती है।)

पर 'गीतावली' सुन्दरकांड के तीसरे पद में सीता और मुद्रिका में बहुत लम्बा वार्तालाप हुआ है। अन्त में कवि ने कहा है :—

कियो सीय प्रबोध मुँदरी, दियो कपिहि लखाउ।
पाइ असवर नाइ सिर, तुलसीस गुनगन गाउ॥[3]

अशोक-वाटिका-विध्वंस और लंका-दहन जो इस कांड के प्रधान अंग हैं, उनका वर्णन भी नहीं है। उनके अभाव में कांड की वर्णनात्मकता अपूर्ण रह गई है। सम्भवतः गीतिकाव्य के आदर्शो की रक्षा के निमित्त ही उन प्रसंगों को छोड़ देना उचित समझा गया है। काव्य में आगामी घटनाओं का पूर्वोल्लेख (anticipation) कथा-प्रवाह के लिए असंगत है। ऐसी घटनाओं का उल्लेख (यह

१ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृष्ठ ३६०
२ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १४२
(नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ १९१५)
३ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ ३७८-३७९

अभिलाष रैन दिन मेरे राज विभीषण कब पवहिंगे।। १० वाँ पद) भी सुन्दरकांड में हुआ है, पर गीतिकाव्य होने के कारण ये दोष मार्जनीय हैं।

लंकाकांड में वीररस का अभाव आश्चर्यजनक है। नाम के अनुकूल रस की सृष्टि न होना अस्वाभाविक ज्ञात होता है, पर गीतिकाव्य में वीररस की संपूर्ण स्थिति नहीं है। सुन्दरकांड में लंका-दहन उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया, उसी प्रकार लंकाकांड में राम-रावण युद्ध का वर्णन नहीं है। समस्त कांड में शिक्षा, उपदेश और अभिलाषाओं की चित्रावली सजाई गई है। अंगद-रावण सम्वाद के बाद ही लक्ष्मण-शक्ति का वर्णन है। वहाँ वीर रस के बदले करुणरस का ही अधिक चित्रण है, हनुमान के वीरत्व पर तीन पद (८, ९, १०.) अवश्य लिखे गए हैं। लक्ष्मण-शक्ति के बाद ही राम की विजय एक ही पद में कह दी गई है :—

राजत राम काम सत सुन्दर।
रिपु रन जीति अनुज सँग सोभित, फेरत चाप विसिष बनरुह कर॥ आदि

इस कांड के अन्त में करुण-भावना की एक झाँकी है—जिसमें माता के पुत्रागमन की उत्सुकता छिपी हुई है :—

बैठी सगुन मनावति माता।
कब ऐहैं मेरे बाल कुशल घर कहहु काग फुरि बाता॥
दूध भात की दोनी दैहौं, सोने चौंच मढ़ैहौं।
जब सिय सहित विलोकि नयन भरि, रामलषन उर लैहौं॥[1]

उत्तरकांड 'गीतावली' का सब से विचित्र कांड है। इसमें जहाँ एक ओर 'वाल्मीकि रामायण' का प्रभाव है वहाँ दूसरी ओर कृष्ण-काव्य का भी; और इन दोनों के साथ तुलसी के कथा-वर्णन की मौलिकता है। जहाँ तक उत्तरकांड की कथा से सम्बन्ध है, वह 'वाल्मीकि रामायण' से ही ली गई है। राम का राज्याभिषेक, न्याय, सीता-वनवास और लवकुश-जन्म। जहाँ तक राम का विलास, हिंडोला या नख-शिख-वर्णन है वह कृष्ण-काव्य से प्रभावित है। बीच-बीच में कवि की जो भक्ति-भावना है, वह उसकी अपनी है।

उत्तरकांड का प्रारम्भिक भाग बालकांड के समान ही है जहाँ शोभा और सौन्दर्य का सांग वर्णन है, अन्तर केवल राम की अवस्था ही का है। बालकांड में वे बालक हैं, उत्तरकांड में प्रौढ़ व्यक्ति। १८ वें पद से २३ वें पद तक राम का हिंडोला झूलना वर्णित है।

आली री राघौ के रुचिर हिंडोलना झूलन जैए।[2]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड (गीतावली) पृष्ठ ४०६

२ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड पृष्ठ ४२१

यह हिंडोलना-वर्णन वसन्त-वर्णन के साथ है जिसमें :—

'नूपुर किंकिनि धुनि अति सोहाइ। ललना गन जब जेहि धरिहि जाइ ।।'[1]

राम की मर्यादा अक्षुण्ण नहीं रह पाती। उत्तरकांड में राम का सौन्दर्य-वर्णन भले ही हो, पर उनकी मर्यादा का रूप नहीं रह गया। अतः इस ग्रन्थ में राम मर्यादा पुरुषोत्तम का महत्त्व नहीं धारण कर सके। इसीलिए इस ग्रन्थ में लोक-शिक्षा का रूप भी नहीं रह गया। उत्तरकांड में समस्त राम-कथा का सारांश दिया गया है और अंतिम पंक्ति में तुलसीदास की भक्ति-भावना—

तुलसीदास जिय जानि सुअवसर, भगति दान तब माँगि लियो ॥

'गीतावली' के समस्त कांडों की समालोचना करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—

१. 'गीतावली' में कथा का अनियमित विस्तार है जिसमें भावनात्मक चित्रण के लिए अधिक स्थान है। फलतः ग्रन्थ में भावनाओं का प्राधान्य है, घटनाओं का नहीं। मुक्तक-काव्य होने के कारण भावनाएँ विशृंखल हो गई हैं।

२. गीति-काव्य के आदर्शों की रक्षा के लिए परुष एवं ओजपूर्ण स्थलों का एकान्त अभाव है। लंका-दहन एवं राम-रावण-युद्ध की उपेक्षा इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। काव्य का गेय रूप होते हुए भी व्यक्तिगत भावना और गीति-काव्य के संक्षिप्त कलेवर की ओर कवि का ध्यान कम गया है।

३. राम के सौन्दर्य-वर्णन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया गया है। शील का संकेत मात्र है, अतः लोक-शिक्षा का स्वरूप जो 'मानस' में तुलसी का आदर्श है, अप्रकाशित ही रह गया। पात्रों की चरित्र-रेखा भी निर्मित न होने के कारण लोक-शिक्षा का स्वरूप उपस्थित नहीं हो सका, भरत का चरित्र-चित्रण ही नहीं है, सीता का चरित्र एक कोमलांगी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। राम का चरित्र एक सुन्दर राजकुमार सा है। पात्र के सामने आदर्श नहीं रह सके, अतः उनका लोक-रंजक रूप अस्पष्ट ही रह गया। कृष्ण का व्यक्तित्व सौन्दर्य से अधिक निर्मित है, अतएव तुलसीदास राम के व्यक्तित्व को कृष्ण के व्यक्त्वि के बहुत समीप तक ले आये हैं। इसी आधार पर तुलसीदास को सूर के कृष्ण-काव्य से प्रभावित हुआ माना जा सकता है।

४. गीतावली की वर्णनात्मकता ने काव्य के सौन्दर्य को कम कर दिया है। इसका कारण यह है कि तुलसीदास ने मानव-जीवन के अंतरतम प्रदेशों में प्रविष्ट होने की चेष्टा नहीं की। उन्होंने केवल भक्ति के आवेश में आकर कथा-सूत्र

१ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, पृष्ठ ४२३

के सहारे राम के चरित्र का वर्णन कर दिया है। फलतः उनकी 'गीतावली' 'सूरसागर' की एक धुँधली छाया ज्ञात होती है।

५. 'गीतावली' तुलसीदास को ब्रजभाषा पर अधिकार रखने का प्रमाण तो अवश्य दे सकती है, किन्तु गीतिकाव्य में सर्वश्रेष्ठ कवि प्रमाणित नहीं कर सकती। 'गीतावली' में व्यक्गित भावना का अभाव है। तुलसीदास राम-कथा कहना चाहते हैं। वर्णनात्मक प्रसंगों में तुलसीदास की आत्माभिव्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि 'विनयपत्रिका' के समान उनका आदर्श वर्णनात्मकता से हीन होता तब वे अपनी भक्तिभावना स्पष्ट कर पाते। वर्णनात्मकता घटनाओं में ही केन्द्रित हो गई है। ये घटनाएँ कृष्ण-लीलाओं की तरह हैं, पर दोनों में अन्तर यह है कि कृष्ण की लीलाएँ स्वतन्त्र घटनाएँ हैं, पर राम का जीवन एक कथात्मक एवं वर्णनात्मक प्रसंग है। अतः 'गीतावली' न तो पूर्ण रूप से वर्णनात्मक काव्य ही है और न आत्माभिव्यक्ति का उदाहरण ही। कवि मध्य स्थिति में है। कभी इस ओर कभी उस ओर प्रवाहित हो जाता है। तुलसीदास गीतिकाव्य के अन्तर्गत केवल सौन्दर्य की सृष्टि कर सके, किसी उत्कृष्ट काव्यादर्श की नहीं। न तो वे 'विनयपत्रिका' के समान आत्म-निवेदन ही कर सके और न 'मानस' के समान कथा-प्रसंग की सृष्टि ही। अतः 'गीतावली' एकान्त 'माधुर्य' की रचना है।

(इ) रस—'गीतावली' तुलसीदास की काव्य-कला की सबसे मधुर अभिव्यक्ति है। उसमें जहाँ ब्रजभाषा का माधुर्य है वहाँ भावों की कोमलता भी अत्यधिक है, इसीलिए परुष-भाव सम्बन्धी घटनाएँ कथावस्तु के अन्तर्गत नहीं हैं। इस दृष्टिकोण ने तुलसीदास को कोमल रसों के निरूपण करने के लिए ही अधिक प्रेरित किया है। 'गीतावली' में शृंगार रस प्रधान है।

शृंगार—(१) यदि वात्सल्य को भी शृंगार रस के अंतर्गत मान लिया जावे तब तो संयोग शृंगार ही प्रधान हो जाता है, क्योंकि राम का बाल-वर्णन संयोगात्मक अधिक है वियोगात्मक कम। इसके पर्याय कृष्ण का बाल-वर्णन वियोगात्मक अधिक है, संयोगात्मक कम।

(२) तुलसी ने रामकथा का जैसा चित्रण किया है उसके अनुसार भी शृंगार रस को प्रधान स्थान मिलता है। राम के उन्हीं चरित्रों का दिग्दर्शन अधिक कराया गया है जो कोमल भावनाओं के व्यंजक हैं।

(३) 'गीतावली' का अंतिम भाग कृष्ण-काव्य से प्रभावित होने के कारण भी अधिक शृंगारात्मक बन गया है। वसन्त और हिंडोला आदि अवतरणों ने तो शृंगार को और भी अतिरंजित कर दिया है।

शृंगार रस में प्रधानतः निम्नलिखित अवतरण हैं :—

१. राम का बाल-वर्णन	(बालकांड का पूर्वार्ध)	पद १—३७
२. सीता-स्वयंवर	(बालकांड का मध्य)	पद ६०—६४
३. विवाह	(बालकांड का उत्तरार्ध)	पद ६५—१०८
४. वन-गमन	(अयोध्याकांड का प्रारम्भ)	पद १३—४२
५. चित्रकूट वर्णन	(अयोध्याकांड का मध्य)	पद ४४—४६
६. राम का पंचवटी-जीवन	(अरण्यकांड)	पद १—५
७. राम का नख-शिख	(उत्तरकांड)	पद २—१६
८. हिंडोला, वसन्त	(उत्तरकाड)	पद १७—२३

वियोग शृंगार के वर्णन में कवि-कौशल अधिक है, यद्यपि वह परिमाण में कम है। जीवन की वास्तविक परिस्थितियों के चित्रण में वियोग शृंगार अधिक सफल हुआ है। अयोध्याकांड में वियोग शृंगार की चरम सीमा है।

करुण—वियोग शृंगार के मरण-निवेदन की अंतिम स्थिति के बाद करुण रस की सृष्टि होती है जिसमें रति की भावना न होकर शोक की भावना ही प्रधानता प्राप्त करती है। 'गीतावली' में करुणरस के स्थल निम्नलिखित हैं :—

१, दशरथ का स्वर्गारोहण	(अयोध्याकांड)	पद १२ और ५७
२. कौशल्या का विलाप	(अयोध्याकांड)	पद २—४
३. लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप	(लंकाकांड)	पद ५—७

अयोध्याकांड का ५७ वाँ पद (दशरथ का विलाप) करुण रस की पूर्ण अभिव्यक्ति के रूप में है। उसी प्रकार राम के वन-गमन पर कौशल्या का विलाप करुण रस की परिधि में आ सकता है, क्योंकि उन्हें विश्वास नहीं था कि वे राम के वियोग में १४ वर्ष तक जीवित रह सकेंगी। केवल इसी भावना के आधार पर उनका वियोग करुण रस में परिवर्तित हो सकता है। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम को उनके पुनर्जीवित होने की आशा नहीं है, यह संदेह करुण रस की पुष्टि करता है।

हास्य—'गीतावली' में सबसे कमजोर रस हास्य है। इसका कारण यह है कि राम के शील-सौन्दर्य में कवि इतना लीन हो गया था कि उसे साधारणतया हास्य-सामग्री प्राप्त करने में कठनाई प्रतीत हुई। हास्य का जैसा भी रूप 'गीतावली' में प्राप्त होता है वह विशेष व्यंजनायुक्त नहीं है। बालकांड के ६५ वें पद में विश्वामित्र-जनक-परिहास में शतानन्द के प्रति बहुत ही निकृष्ट व्यंग्य है।[1] उससे चाहे क्षणिक कौतूहल के साथ हास्य की भावना उत्पन्न हो, किन्तु वह अभिनन्दनीय

१ राम के प्रसाद गुरु गौतम खसम भए,
रावरेहु सतानंद पूत भये माय के ॥ गीतावली, बालकांड, पद ६५

नहीं है। राम के पैदल चलने पर अहल्या की यह उक्ति कि यदि राम इस प्रकार वन में चलेंगे तो वन म एक भी शिला न रह जायगी, सभी शिलाएँ स्त्रियों के रूप में परिवर्तित हो जायँगी, बहुत साधारण है।[1]

'गीतावली' में तुलसीदास हास्य की उत्कृष्ट सृष्टि नहीं कर सके।

वीर—'गीतावली' में वीर रस के लिए विशेष स्थान न रहते हुए भी, उसकी मात्रा उचित रूप में है। यह तो अवश्य है कि लंकादहन और युद्ध जैसे आवश्यक अंग 'गीतावली' में नहीं लाये गये, पर इस कारण वीर रस का अभाव नहीं है। 'गीतावली' का वातावरण, कोमल और मधुर होने से वीर रस के उद्रेक म मानस कथा के वीर रस के समान तो नहीं हो पाया, पर उसका वर्णन प्रसंग स्थान में अवश्य है। वीर रस के तीन भेदों में (युद्धवीर, दानवीर और दयावीर में) दयावीर और दानवीर का ही 'गीतावली' में अधिकतर वर्णन है। युद्धवीर तो बहुत साधारण है। 'गीतावली' में निम्नलिखित अवसरों पर वीर रस का उद्रेक है :—

(क) दयावीर—

(१) अहल्योद्धार (बालकांड) पद ५५—५७
(२) शवरी-मिलन (अरण्यकांड) पद १७
(३) विभीषण शरणागत-वत्सलता (सुन्दरकांड) पद ३७—४६

(ख) दानवीर—

(१) विभीषण को तिलक (सुन्दरकांड) पद ५२
(२) राम की न्याय-प्रियता (उत्तरकांड) पद २५
(३) सीता-परित्याग (उत्तरकांड) पद २६—२७

(ग) युद्धवीर—

(१) हनुमान-रावण संवाद (सुन्दरकांड) पद १२—१४
(२) जटायु-रावण युद्ध (अरण्यकांड) पद ८
(३) हनुमान का संजीवनी के लिए प्रस्थान (लंकाकांड) पद ८, ९, १०

दयावीर और दानवीर का प्राधान्य है, क्योंकि ये राम के शील और सौन्दर्य से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। यही 'गीतावली' का दृष्टिकोण है।

रौद्र और भयानक—'गीतावली' में रौद्र और भयानक रस के लिए बहुत कम स्थान है। इन दोनों रसों का वर्णन तो उद्दीपन-विभाव और संचारी भावों के रूप में ही अधिक है। रामरावण-युद्ध के अभाव में इन रसों के लिए राम-कथा में कोई अवसर नहीं रह गया। 'गीतावली' के एक-दो स्थलों ही पर इनका निर्देश है :—

---

१ जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी ॥ गीतावली, बालकांड, पद ५६

रौद्र—(१) कैकेयी के प्रति भारत की भर्त्सना (अयोध्याकांड) पद ६०—६१

(२) रावण के प्रति अंगद की भर्त्सना, (लंकाकांड) पद २—४

भयानक—राम का लंका-प्रस्थान (सुन्दरकांड) पद २२

वीभत्स—इस रस का तो 'गीतावली' में पूर्ण अभाव है। इस रस का वर्णन अधिकतर युद्ध, में ही हुआ करता है, पर 'गीतावली' में युद्ध-वर्णन न होने से इस रस को कोई स्थान नही मिल सका।

अद्भुत—इस रस का उद्रेक 'मानस' में अधिक हुआ है। जहाँ राम के लौकिक चरित्रों में ब्रह्मत्व की स्थापना की गई है—"सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी" या "रोम-रोम प्रति राजहीं कोटि-कोटि ब्रह्मांड" में तो इस रस की चरमसीमा है, पर 'गीतावली' में इस रस का विस्तार साधारण है। राम का अवतार-रूप 'गीतावली' में अधिक चित्रित नहीं किया गया। न तो रामावतार के पूर्व की कथाएं ही हैं और न राम-जन्म का अलौकिक वृत्तान्त या विष्णु-सम्भूत अद्भुत शक्ति के प्रादुर्भाव का रूप ही अंकित किया गया है। अतः राम का ब्रह्मत्व अनेक स्थलों पर मिलते हुए भी अधिक कौतूहलोत्पादक नहीं है।

बाल-वर्णन में यह रस प्रधान है :—

जासु नाम सर्वस सदासिव पार्वती के।
ताहि झरावति कौसिल यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के॥[1]

इस प्रकार राम के ब्रह्मत्व के प्रति संकेत ही में इस रस का उद्रेक अधिक हुआ है। निम्नलिखित प्रसंग इस सम्बन्ध में मुख्य हैं :—

(१) राम का बाल-वर्णन (बालकांड) पद १, २, १२, २२

(२) वन-मार्ग में राम सौन्दर्य के प्रति लोगों का आकर्षण (अयोध्याकांड) पद १७—४२

(३) हनुमान का संजीवनी लाना (लंकाकांड) पद १०, ११

गीतावली में आश्चर्य के साथ कौतूहल की सृष्टि ही इस रस का प्रधान आधार है।

शान्त—'मानस' तथा 'कवितावली' के उत्तरकांड में यह रस अधिक है, क्योंकि उक्त दोनों स्थलों में ज्ञान, वैराग्य का वर्णन है। 'गीतावली' के उत्तरकांड में 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकांड ही की कथा है, अतः तुलसीदास को 'गीतावली' में शान्त रस के वर्णन के लिए अधिक अवकाश नहीं मिला। 'गीतावली' के उत्तरकांड

---

१ गीतावली, बालकांड, पद १२

अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकारों का ही प्रयोग किया गया है। गुणों में माधुर्य और प्रसाद का प्राधान्य है। एक बात अवश्य है कि एक ही प्रकार की उपमाओं का आवर्तन अनेक बार हुआ है। राम के सौन्दर्य की उपमा के लिए कामदेव न जाने कितने बार बुलाया गया है। बादल और मोर भी अनेक बार काव्य में लाए गए हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में कवि का कोई आध्यात्मिक या दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं है, पर जहाँ तक राम की कथा के कोमल स्वरूप से सम्बन्ध है, वह बड़ी सफलता के साथ 'गीतावली' में प्रदर्शित हुआ है। राम का सौन्दर्य और ऐश्वर्य ही 'गीतावली' की आत्मा है।

कवितावली

रचना-तिथि—श्री वेणीमाधवदास ने 'कवितावली' नामक ग्रन्थ का न तो कहीं निर्देश ही किया है और न उसकी रचना-तिथि ही दी है। उन्होंने 'गोसाईं चरित' के ३५ वें दोहे में कुछ कवित्तों की रचना का संकेत अवश्य किया है:—

सीतावट तर तीन दिन बसि सुकवित्त बनाय। बंदि छोड़ावन विन्ध नृप, पहुँचे कासी जाय॥

सीतावट के नीचे इन कवित्तों की रचना का समय १६२८ और १६३१ वि० के बीच में है। वेणीमाधवदास के अनुसार कवित्तों की रचना 'गीतावली' के बाद और 'मानस' के पूर्व की है। यह भी निश्चित है कि इस काल के बाद भी कवित्तों की रचना हुई, क्योंकि 'कवितावली' में "मीन की सनीचरी" का वर्णन है जिसका समय सं० १६६९ से १६७१ माना गया है।[1] अतः 'कवितावली' सम्यक् ग्रन्थ के रूप में न होकर समय-समय पर लिखे गए कवित्तों के संग्रह-रूप में है। यदि वेणीमाधवदास का प्रमाण न भी माना जावे तो 'कवितावली' के कुछ कवित्तों का रचना-काल सं० १६६९ के लगभग तो ठहरता ही है।

विस्तार—'कवितावली' में ३२५ छन्द हैं। सात कांडों में उनका विभाजन इस प्रकार है:—

बालकांड	२२	छन्द
अयोध्याकांड	२८	छन्द
अरण्यकांड	१	छन्द
किष्किंधाकांड	१	छन्द
सुन्दरकांड	३२	छन्द
लंकाकांड	५८	छन्द
उत्तरकांड	१८३	छन्द

उत्तरकांड का विस्तार बहुत अधिक है। उसमें कवि की भिन्न विषयों पर

१ इंडियन एंटीक्वेरी, भाग २२, पृष्ठ ९७

स्फुट रचना है। शेष छः कांड मिलकर भी उत्तर कांड की समानता नहीं कर सकते। यह अनुपात-रहित विस्तार ग्रन्थ के स्फुट रूप होने का प्रबल प्रमाण है ।

छंद—इसमें चार प्रकार के छंद प्रयुक्त किये गये हैं—सवैया, कवित्त, छप्पय और झूलना ।

वर्ण्य-विषय—इसमें राम-कथा का वर्णन है। इस वर्णन में तुलसी ने राम के ऐश्वर्य को प्रधान स्थान दिया है। ऐश्वर्य और शक्ति का चित्रण पदों के कोमल और मधुर वातावरण म नहीं हो सकता था, इसीलिए तुलसीदास ने इस उद्देश्य से प्रेरित होकर कवित्त, छप्पय, झूलना आदि छंदों को चुना। वैष्णव धर्म के अन्तर्गत श्री कृष्णोपासना का जो रूप उपस्थित किया गया था, उसमें अधिकतर श्री और सौन्दर्य का चित्रण पदों में ही किया गया था। ग्राम्य-वातावरण में उनके मधुर जीवन की सृष्टि सख्य भाव के दृष्टिकोण से पदों में की गई थी। राम के चरित्र में मर्यादा-पुरुषोत्तम का भाव था। अतः तुलसीदास ने अपनी दास्य भाव की उपासना को करते हुए राम की शक्ति और मर्यादा का चित्रण करना उचित समझा और ओजपूर्ण कवित्त-रचना की आवश्यकता अनुभव की। 'गीतावली' में केवल राम के कोमल जीवन की अभिव्यक्ति ही हुई है, परुष घटनाएँ एक बार ही छोड़ दी गई हैं। 'गीतावली' की उन छोड़ी हुई परुष घटनाओं का 'कवितावली' में विस्तृत विवरण है। इसमें लंकादहन और युद्ध का बड़ा ओजस्वी वर्णन है। 'गीतावली' में राम का आकर्षण एवं सौन्दर्यपूर्ण चित्र है; 'कवितावली' में राम का वीरत्व और शौर्य है। दोनों में राम का चित्र अधूरा है। इन दोनों को मिला देने से राम का चरित्र कोमल और परुष दोनों की दृष्टिकोणों से पूर्ण हो जाता है। आलोचकों का कथन है कि 'कवितावली' का प्रथम शब्द 'अवधेश' ही कथावस्तु में ऐश्वर्य की प्रधानता का संकेत करता है। 'कवितावली' स्पष्टतः एक संग्रह-ग्रंथ है। उसमें न तो नियमित रूप से कथा का विस्तार ही है और न कथा का कांडों में नियमित विभाजन ही। 'गीतावली' की भाँति ही 'कवितावली' में भी अरण्यकांड में एक ही एक छन्द है। अतः कथासूत्र तो सम्पूर्णतः ही छिन्न-भिन्न है, भावनाओं की परुषता का ही यथास्थान वर्णन है। प्रारम्भ में मंगलाचरण भी नहीं है। प्रस्तावना एवं पूर्व-कथा का नितान्त अभाव है। उत्तरकांड से कथा का कोई सम्बन्ध भी नहीं है। उसमें व्यक्तिगत घटनाएँ, तत्कालीन परिस्थितियाँ और विविध भावों के छन्द संग्रहीत हैं। प्रधान प्रसंगों की भी अवहेलना की गई है। अतः 'कवितावली' भिन्न कालीन कवित्त तथा अन्य छंदों का एक संग्रह-ग्रंथ ही है।

पं० सुधाकर द्विवेदी का कथन है कि तुलसीदास के भक्तों ने बहुत से कवित्त और सवैये जो तुलसीदास ने समय-समय पर लिखे थे, 'कवितावली' में संकलित

कर दिये हैं जिनका राम-कथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसे छंद अधिकतर उत्तरकांड ही मे है। सीतावट, काशी, कलियुग की अवस्था, बाहु-पीर, राम-स्तुति, गोपिका-उद्धव-संवाद, हनुमान-स्तुति जानकी-स्तुति, आदि ऐसे ही स्वतन्त्र संदर्भ हैं।

'कवितावली' का बालकांड राम के बालदर्शन से प्रारम्भ होता है। केवल सात दुमिल सवैयों में उनके बाह्य रूप का वर्णन भर कर दिया जाता है, उसमें कोई विशेष मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं है। उसके बाद ही सीता-स्वयम्बर का वर्णन है। विश्वामित्र-आगमन और अहल्या-उद्धार आदि की कथाएँ ही नहीं हैं। राम के द्वारा धनुर्भङ्ग और सीता-विवाह संक्षेप मे वर्णित हैं। धनुर्भङ्ग का वर्णन एक छप्पय में है जिससे परुष नाद की सृष्टि की गई है। २१ वें घनाक्षरी में कथा का संकेत अवश्य कर दिया गया है :—

मख राखिबे के काज राजा मेरे संग दये,
जीते जातुधान जे जितैया बिबुधेश के।
गौतम की तीय तारी, मेटे अघ भूरि भारी,
लोचन अतिथि भये जनक जनेस के॥

धनुर्भंग के अन्त में 'मानस' के समान ही लक्ष्मण-परशुराम संवाद है। इस कांड में तुलसीदास ने अनुप्रास-प्रियता बहुत दिखलाई है :—

छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हें छत्रछाया,
छोनी छोनी छाये छिति आए निमिराज के।
प्रबल प्रचंड बरिबंड बर बेष बपु,
बरबै को बोले बयदेही बरकाज के॥[1]

× × ×

छोनी में न छाँड्यो छप्यो छोनिप को छोना छोटो,
छोनिप छपन बाँको बिरुद बहत हौं॥[2]

× × ×

गोरो गरूर गुमान भरो कहौ कौसिक छोटो सो ढोटो है काको।[3]

अयोध्याकांड की कथा भी अस्त-व्यस्त है। इसमें सभी घटनाओं का वर्णन नहीं है, पर जिन प्रसंगों और पात्रों से राम की श्रेष्ठता और भक्त के आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति प्रदर्शित की जा सकती है, उन्हीं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रसंगों की एकरूपता और घटनाओं में प्रबन्धात्मकता तथा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। 'मानस' के मनोवैज्ञानिक प्रसंगों का सर्वथा अभाव है। कैकेयी-वरदान का संकेत भी नहीं है। काड का प्रारम्भ राम-वन-गमन से होता है। इसमें प्रधान रूप से केवट, मुनि और ग्राम-वधू के ही चित्र भक्ति-भावना से खीचे गये हैं। सीता की सुकुमारता का

१ कवितावली, छन्द ८

२ कवितावली छन्द २८

३ कवितावली छन्द २०

वर्णन भी दो सवैयों में किया गया है। राम की शोभा और सौंदर्य का वर्णन कवि ने विस्तारपूर्वक अवश्य किया है। 'गीतावली' में बालकांड में जो राम के प्रति हास्य है :—

जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहिं अवनी।[1]

वैसा ही हास्य यहाँ अयोध्याकांड में है :—

ह्वैहैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीनी भली रघुनायक जू करुणा करि कानन को पगु धारे॥[2]

अरण्यकांड में केवल एक सवैया है, जिसमें 'हेमकुरंग' के पीछे 'रघुनायक' दौड़े हैं। कांड की अन्य कथाएँ छोड़ दी गई हैं। किष्किंधाकांड में भी केवल हनुमान का सागर के पार जाना लिखा गया है। सुग्रीव-मैत्री और बालि-वध आदि कथाओं की ओर संकेत भी नहीं है।

'कवितावली' का सुन्दरकांड कथानक की दृष्टि से तो महत्त्वहीन है, पर रस की दृष्टि से सर्वोच्च है। भयानक और रौद्र रसों का जितना सफल चित्रण इस कांड में है, उतना 'मानस' में भी नहीं है। इन रसों के उपयुक्त छंद भी घनाक्षरी हैं, जो 'मानस' में नहीं लाया गया। लंका-दहन का ज्वलन्त वर्णन है। इस कांड में क्रोध और भय की भावना स्थायी रूप से रहने के कारण रौद्र और भयानक रसों के उद्रेक में सहायक है। घटनाओं में केवल अशोक वाटिका, लंका-दहन और हनुमान का लौटना ही वर्णित है। इन तीनों घटनाओं में लंका-दहन का वर्णन सर्वोत्कृष्ट है।

लंकाकांड में भी नियमित कथा नहीं है। अंगद और मंदोदरी का रावण को उपदेश बहुत विस्तार से दिया गया है। इसके बाद युद्ध-वर्णन है। रस की दृष्टि से इस कांड को भी उच्च स्थान दिया जा सकता है। इस कांड में युद्ध के कारण वीर, रौद्र और वीभत्स रस का वर्णन अधिक किया गया है। हनुमान का युद्ध विस्तार में है, पर राम का युद्ध संक्षेप में कर दिया गया है। कवि ने राम को यहाँ भी सौंदर्य के उपकरणों से सुसज्जित किया है। युद्ध में भी कवि उनका सौंदर्य नहीं भूल सका :—

सोनित छीटि छटानि जटे तुलसी प्रभु सोहैं महाछवि छूटी।
मानौ मरक्कत सैल विसाल में फैलि चली बर बीर बहूटी॥[3]

कवि ने राम की शक्ति को, उत्कृष्ट रूप से वर्णन करते हुए भी उसे उनके सौदर्य के साथ जोड दिया है। वीर और रौद्र की सृष्टि एकमात्र हनुमान के युद्ध

१ गीतावली, बालकांड, पद ५६
२ कवितावली, अयोध्याकांड सवैया २८
३ कवितावली, लंकाकांड, सवैया ५१

से होती है। भयानक और वीभत्स की सृष्टि रणभूमि और श्मशान की दृश्यावली में है। कथा-सूत्र बहुत संक्षिप्त हो गया है, क्योंकि रस के प्राधान्य से कार्यावली-निर्देश अधिक नहीं हो सका। इतने पर भी वर्णनात्मकता का सौंदर्य कवि ने अपने हाथ से नहीं जाने दिया। इस कांड में तुलसीदास ने अपनी भक्ति-भावना का बड़ा व्यापक रूप रक्खा है, जिससे सामाजिक मर्यादा का भी अतिक्रमण हो गया है। मन्दोदरी के मुख से तुलसीदास ने राम यश का इतना वर्णन कराया है कि वह अपने पति को 'नीच' भी कह सकती है :—

रे कंत, तृन दंत गहि सरन श्रीराम कहि,
आजहुँ यहि भाँति लै सौंपु सीता।[1]
... ...
रे नीच, मारीच बिचलाइ, हति ताड़का,
भंजि सिवचाप सुख सबहि दीन्ह्यौ।[2] आदि

इस कथन से राम की शक्ति-सम्पन्नता अवश्य प्रकट होती है, किन्तु यदि यह प्रसंग मन्दोदरी के मुख से न कहलाया जाकर अंगद द्वारा कहलाया जाता तो सुन्दर होता। राम-कथा लंकाकांड ही में समाप्त हो जाती है, क्योंकि उत्तरकांड केवल भक्ति, नीति और आत्म-चरित्र के अवतरणों से ओत-प्रोत है। लंका के युद्ध के पश्चात् राम-राज्याभिषेक और भरत-मिलाप आदि का कोई उल्लेख नहीं।

उत्तरकांड 'कवितावली' का सबसे बड़ा भाग है। इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की महिमा ही अधिक है। इस कांड में तुलसी के आत्म-चरित का काफी निर्देश है। यही एक प्रधान साक्ष्य है, जिससे तुलसी के जीवन की घटनाओं का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर कवि ने अज्ञात रूप से अपने जीवन की अनेक बातें लिखी हैं। इसी प्रकार 'मूढ़-मन' को सिखावन देने के लिए, संसार की असारता एवं भगवान की भक्त-वत्सलता प्रदर्शित करने के लिए, उन्होंने इस कांड में बहुत-सी व्यक्तिगत बातें लिखी हैं। यदि 'कवितावली' का उत्तरकांड इस रूप में न होता और राम-कथा का केवल उत्तरार्ध ही होता तो हम कवि के जीवन से बहुत अंशों में अपरिचित रहते। इसलिए 'कवितावली' का यह भाग कथा-दृष्टि से भले ही अवांछनीय हो, किन्तु तुलसी के आत्म-चरित की दृष्टि से अवश्य श्लाघ्य है। 'विनयपत्रिका' के समान यह कांड भी स्वतंत्र हो सकता था, क्योंकि यह राम-कथा से रहित है और प्रार्थना से परिपूर्ण है। इसमें भावों की विशृंखलता 'विनयपत्रिका' से भी अधिक है, अतः यह कांड कवि की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालने में पूर्ण समर्थ है।

---

१ कवितावली, लंकाकांड, छंद, १७

२ कवितावली, लंकाकांड, छंद १८

रस—'कवितावली' में परुष रसों का ही यथेष्ट निरूपण हुआ है, क्योंकि इसमें राम के एश्वर्य और शौर्य का ही अधिक वर्णन किया गया है।[1] ऐश्वर्य के साथ ही साथ कवि राम के सौन्दर्य को भी नहीं भूला है। अतः जहाँ वीर रस राम के शौर्य का समर्थक है वहाँ शृंगार रस राम के सौन्दर्य का द्योतक है। 'कवितावली' में प्रधानतः वीर और रौद्र एक दृष्टि से और शृंगार और शान्त दूसरी दृष्टि से प्रयुक्त हुये हैं। अन्य रस गौण रूप से हैं।

शृंगार रस—इस रस के निम्नलिखित प्रसंग हैं:—

(१) राम का बाल-वर्णन और विवाह (बालकांड) छंद १-७, १२-१७

(२) राम वनवास (अयोध्याकांड) छंद १२-२७

इन प्रसंगों में अधिकतर राम की शोभा का ही वर्णन है, अतः संयोग शृंगार का ही प्राधान्य है।

करुण रस—इसका 'कवितावली' में वर्णन ही नहीं है।

हास्य रस—अयोध्याकांड के अन्त में इस रस का एक दी उदाहरण है। जहाँ राम के पैदल चलने पर कहा गया है:—

> ह्वै हैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
> कीन्ही भलो रघुनायक जू करुणा करि कानन को पगु धारे।[2]

एक स्थान पर लंकाकांड में वीर रस के अन्तर्गत हास्य संचारी भाव होकर आया है:—

> ठहर-ठहर परे कहरि कहरि उठैं,
> हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै।[3]

(हनुमान के युद्ध की भयंकरता से बचने के लिये रावण के योद्धा झूठमूठ ही भूमि पर गिर कर कराहने लगते हैं। उन्हें इस अवस्था में देखकर शिव और सिद्ध आदि हँस पड़ते हैं।)

इन प्रसंगों के अतिरिक्त हास्य के लिए 'कवितावली' में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि कवि के दृष्टिकोण से राम के ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र में हास्य की आवश्यकता नहीं थी। वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का 'कवितावली' में उत्कृष्ट प्रयोग हुआ है, क्योंकि ये रस राम की 'शक्ति' से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

---

१ नोट्स आन तुलसीदास (ग्रियर्सन)

२ कवितावली, अयोध्याकांड, छन्द २८

३ कवितावली, लंकाकांड, छंद ४२

वीर रस—इस रस के लिए निम्निलिखित प्रसंग देखे जा सकते हैं :—

१ परशुराम-कथन	(बालकांड)	छंद, १८-२०
२ हनुमान का सागर-लंघन	(किष्किधाकांड),	छंद, १
३ अंगद वचन	(लंकाकांड,)	छंद, १६
४ युद्ध	(लंकाकांड),	छंद, ३३-४६

वह वीर रस अधिकतर कुछ समय बाद रौद्र रस में परिवर्तित हो गया है।

रौद्र रस और भयानक रस—ये रस कवितावली में जितने सुन्दर चित्रित किए गये हैं, उतने ही प्रभावशाली भी हैं। इनके दो प्रसंग बहुत सुन्दर हैं :—

१ लंकादहन	(सुन्दरकांड)	छंद, ४—२५
२ युद्ध	(लंकाकांड)	छंद, ३०, ३१

रौद्र रस की प्रतिक्रिया ही भयानक रस में हुई है। हनुमान के लंका-दहन का जितना उत्कृष्ट वर्णन भयानक रस में किया गया है उतना साहित्य के किसी भी स्थल पर प्राप्त नहीं होता। 'कवितावली' का सुन्दरकांड साहित्य की अनुपम निधि है। भयानक रस का ऐसा निरूपण हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका :—

लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार बसन उघारे, धूम धुन्ध अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि, बारि' बार बारहीं॥
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि, रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं॥
लपट कराल ज्वालजालमाल दहूँ दिसि
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे।
पानी को ललात बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात तू निबाहि रे॥
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ तू पराहि बाप,
बाप! तू पराहि, पूत पूत तू पराह रे।
तुलसी विलोक लोग व्याकुल बेहाल कहैं
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे॥[1]

---

१ कवितावली, सुन्दरकांड, छंद १५-१६

क्रोध और भय का अलग-अलग वर्णन और उनका सम्मिश्रण तुलसीदास ने अभूतपूर्व ढंग से वर्णित किया है।

बीभत्स रस—इस रस का वर्णन युद्ध में ही किया गया है। अतः 'कवितावली' में इसका एक ही स्थल है। वह लंकाकांड में ४९ वें और ५० वें छंद में आया है।

> सोनित सो सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
> प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै।[1]

आदि पंक्तियाँ इस रस की पुष्टि करती हैं इसके विशेष उद्दीपन विभाव नहीं लिख गए।

अद्भुत रस—'कवितावली' की राम-कथा में राम के ब्रह्मत्व का निर्देश कम है, अतः अद्भुत रस की अधिक पुष्टि नहीं हो पाई। लंका-दहन में ही अद्भुत रस का संकेत अधिक मिलता है :—

> 'लघु ह्वै निबुक गिरि मेरु तें विसाल भो'[2]

आदि पंक्तियाँ में इस रस की स्थिति हुई है। इसी तरह हनुमान का युद्ध भी अद्भुत रस की सृष्टि करता है। यहाँ रौद्र रस से अद्भुत रस का सम्मिलन हुआ है, जिस कारण इन आश्चर्यजनक घटनाओं को देखकर राम लक्ष्मण से कहते हैं :—

> देखौ देखौ लखन, लरनि हनुमान की।[3]

अतः अद्भुत रस का परिपाक लंकाकांड के ४० से ४३ छंद तक अधिक हुआ है।

शान्त रस—यह रस 'कवितावली' के समस्त उत्तरकांड में व्याप्त है, जिसमें कवि को राम-कथा से छुटकारा मिल गया है और वह विशेष रूप से अपने व्यक्तिगत जीवन की कठिनाइयाँ और दीनता अपने आराध्य के सामने रख रहा है। इसी दीनता के वशीभूत होकर उसने अपने जीवन का थोड़ा परिचय भी दे दिया है। देवताओं की स्तुतियों में यह रस प्रधान है। राम की स्तुति और वंदना तो जैसे तुलसीदास ने अपने आँसुओं से ही लिखी है। समस्त राम-कथा में तुलसीदास ने भरत का नाम

१ कवितावली, लंकाकांड, छन्द ५०
२ कवितावली, सुन्दरकांड, छन्द ४
३ कवितावली, लंकाकांड, छंद ४०

दो ही बार लिया है ।[1] फिर उनके चरित्र में अंकित शान्त रस का निर्देश तो बहुत दूर की बात है । अतः शान्त रस का वर्णन कथा के अन्तर्गत न होकर कवि के स्वतंत्र व्यक्तिगत भावों ही में हुआ है ।

विशेष—'कवितावली' की रचना एक विस्तृत काल में हुई थी, अतः उसमें तुलसी की विभिन्न शैलियों के दर्शन होते हैं । यदि बालकांड में उनका भाषा-सौन्दर्य लक्षित है तो उत्तरकांड में उनकी भाषा में शाब्दिकता के पर्याय अर्थ गम्भीर्य का स्थान विशेष है । अतएव शैली की दृष्टि से 'कवितावली' तुलसीदास का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । निम्नलिखित दोनों अवतरणों को मिलाने से कथन की स्पष्टता प्रकट होगी :—

(१) बोले बंदी बिरुद, बजाइ बर बाजनेऊ,
बाजे बाजे बीर बाहु धुनत समाज के ।[2] (शाब्दिकता)

(२) राखे रीति आपनी जो होइ सोइ कीजै बलि,
तुलसी तिहारो घरजायउ है घर को ।[3] (अर्थ-गाम्भीर्य)

संक्षेप में 'कवितावली' का निष्कर्ष इस प्रकार है :—

१. इसमें कथा-सूत्र का अभाव है । न तो इसमें धार्मिक और दार्शनिक बातों का प्रतिपादन है और न भक्ति के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण ही ।
२. इसमें राम-कथा के सभी उत्कर्ष-पूर्ण स्थलों का निरूपण है और राम की शक्ति और सौन्दर्य का विशेष विवरण है ।
३. इसमें भयानक रस का वर्णन अद्वितीय है ।
४. इसमें राम-कथा से स्वतन्त्र उत्तरकांड की रचना की गई है, जिसमें निम्नलिखित भावनाओं की अभिव्यक्ति है :—
(अ) आत्मचरित का निर्देश
(आ) तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण
(इ) पौराणिक कथाएँ, भ्रमर-गीत, कलि से विवाद और देवताओं की स्तुति

'कवितावली' की कवित्त और सवैया-शैली तुलसीदास ने प्रथम बार साहित्य

---

१ (अ) कहैं मोहि मैया, कहौं मैं न मैया भरत की,
बलैया लैहौं, भैया, तेरी मैया कैयेयी है ॥
कवितावली, अयोध्याकांड, छन्द ३

(आ) भरत की कुसल अचल ल्यायो चलि कै ।
कवितावली लंकाकांड, छन्द ५५

२ कवितावली बालकांड, छन्द ८

३ कवितावली उत्तरकांड, छन्द १२२

में सफलता के साथ प्रयुक्त की और इसके द्वारा उन्होंने अपने आराध्य की मर्यादा स्पष्ट रीति से घोषित की।

विनयपत्रिका (विनयावली)

रचना-तिथि और विस्तार—वेणीमाधवदास ने 'विनयपत्रिका' (विनयावली) का रचना-काल सं० १६३९ के लगभग दिया है, जब वे मिथिला-यात्रा के लिए प्रस्थान करने वाले थे :—

विदित राम विनयावली, मुनि तब निर्मित कीन्ह।
सुनि तेहि खासीयुत प्रभू, मुनिहिं अभय कर दीन्ह।
मिथिलापुर हेतु पायन किए, सुकृती जन को सुख सौंति दिए ॥[1]

उसमें यह भी लिखा है कि कलियुग से सताए जाने पर तुलसीदास ने अपने कष्ट के निवारणार्थ इस ग्रन्थ की रचना की। ग्रन्थ से यह तो अवश्य ज्ञात होता है कि तुलसी ने अपनी दारुण व्यथा प्रकट करने के लिए यह ग्रन्थ लिखा, पर रचना-काल का निर्णय अन्तर्साक्ष्य से नहीं होता। रचना इतनी प्रौढ़ है कि वह हनुमान-बाहुक के समय में लिखी हुई ज्ञात होती है।

यह रचना सम्यक् ग्रन्थ के रूप में ज्ञात होती है, क्योंकि इसमें मंगलाचरण और क्रम से अन्य देवताओं की प्रार्थना है। उसके बाद राम की सेवा में 'विनय-पत्रिका' पहुँचा कर उसकी स्वीकृति ली गई है नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'तुलसी ग्रन्थावली' के दूसरे खंड में 'विनयपत्रिका' की पद संख्या २७९ दी गई है। बाबू श्यामसुन्दर दास को 'विनयपत्रिका' की एक प्राचीन प्रति प्राप्त हुई है, जो संवत् १६६६ की है अर्थात् यह प्रति तुलसीदास की मृत्यु के १४ वर्ष पूर्व की है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह तिथि 'विनयपत्रिका' की रचना की है या प्रतिलिपि की। बाबू साहब उसके सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"इसमें केवल १७६ पद हैं जब कि और-और प्रतियों में २८० पद तक मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि शेष १०४ पदों में से कितने वास्तव में तुलसीदास जी के बनाए हैं और कितने अन्य लोगों ने अपनी ओर से जोड़ दिए हैं। जो कुछ हो, इसमें संदेह नहीं कि इन १०४ पदों में जितने पद तुलसीदास जी के स्वयं बनाए हुए हैं, वे सब संवत् १६६६ और संवत् १६८० के बीच में बने होंगे।"[2]

यदि यह प्रति प्रामाणिक है तो संवत् १६६६ ही विनयपत्रिका (विनयावली) का रचना-काल ज्ञात होता है।

---

१ गोसाईं चरित, दोहा ५१

२ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, संवत् १९७७, पृष्ठ ८४

वर्ण्य विषय—कुछ आलोचकों का कथन है कि विनयपत्रिका भी कविता-वली या गीतावली की भाँति संग्रह-ग्रन्थ है और इसके प्रमाण में निम्नलिखित कारण दिए जाते हैं :—

(१) इसमें रचना-काल का निर्देश नहीं है।

(२) इसमें क्रम-हीन पदों का संग्रह है जो इच्छानुसार स्थानान्तरित किये जा सकते हैं।

(३) इसमें विचारों की भी विश्रृंखलता है। एक विचार का नियमित विकास नहीं हुआ है।

मेरे विचार से विनयपत्रिका एक पूर्ण रचना है, जिसकी रूप-रेखा ग्रन्थ के रूप में हुई। रचना-काल का निर्देश तो रामाज्ञा में भी नहीं किया गया है, किन्तु इसी कारण से उसे स्फुट ग्रन्थ के रूप में नहीं कहा जा सकता। साधारण रूप से देखने में पद क्रम-हीन जान पड़ते हैं पर वास्तव में उनमें एक प्रवाह—एक क्रम है। प्रारम्भ में गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती आदि की स्तुति है। तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे, अतः वे स्मार्त वैष्णवों के अनुसार पाँच देवताओं की पूजा में विश्वास करते थे। वे देवता हैं—विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश।[1] इन्हीं पंच देवों की स्तुति से उन्होंने विनयपत्रिका प्रारम्भ की है। विष्णु रूप राम की स्तुति तो ग्रन्थ भर में है। प्रारम्भ में शेष चारों देवताओं की वन्दना की गई है। विचारों की विश्रृंखलता ग्रन्थ के स्फुट होने का कोई कारण नहीं हो सकती। पदों में रचना होने के कारण प्रबन्धात्मकता की रक्षा नहीं की जा सकती। फिर इस रचना में कवि का आत्म-निवेदन है, जिसमें भावनाओं का अनियमन कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अतः इन सभी कारणों से विनयपत्रिका एक सम्यक ग्रन्थ है।

विनयपत्रिका की रचना गीति-काव्य के रूप में है। इसे हम तुलसीदास की समकालीन प्रवृत्ति कह सकते हैं। गीति-काव्य अन्तर्जगत काव्य है। उसमें विचारों की एकरूपता संक्षिप्त होकर व्यक्तित्व को साथ ले संगीत के सहारे प्रकट होती है।

संगीत का आधार होने के कारण राग-रागिनियों का ही प्रयोग किया गया है। हर्ष और करुणा की भावना में जयतश्री, केदारा, सोरठ और आसावरी; वीर की भावना में मारू और कान्हरा; श्रृंगार की भावना में ललित, गौरी, बिलावल, सूहो और वसन्त; शांत की भावना में रामकली; वर्णन में विभास, कल्याण मलार और टोड़ी का प्रयोग है। भावना-विशेष के लिये विशेष रागिनी में रचना की गई है। इस तरह इक्कीस रागों में विनयपत्रिका का आत्म-निवेदन है। उन

१ एन् आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव् इंडिया (फ़र्कुहार) पृष्ठ १७९

रागों के नाम हैं—बिलावल, धनाश्री रामकली, वसंत, मारू, भरव, कान्हरा, सारंगा, गौरी, दंडक, केदारा, आसावरी, जयतश्री, विभास, ललित, टोड़ी, नट, मलार, सोरठ, भैरवी और कल्याण। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भावों का अर्थ रस नहीं है। गीतावली में एक ही रस है, वह है शांत। विविध भाव उसके संचारी बन कर ही आये हैं।

विनयपत्रिका में कोई कथा नहीं है। एक भक्त की प्रार्थना है, जो उसने अपने आराध्य से अपने उद्धार के लिए की है। ग्रन्थ का नाम ही विनयपत्रिका है। इस विनयपत्रिका में छः प्रकार के पद हैं :—

१. प्रार्थना या स्तुति—(गणेश से राम तक)
(अ) गण वर्णन—(१) कथाओं द्वारा
(२) रूपकों द्वारा
(आ) रूप वर्णन—अलंकारों द्वारा
(इ) राम-भक्ति याचना—अंतिम पंक्ति में

२. स्थानों का वर्णन
(अ) चित्रकूट (आ) काशी

३. मन के प्रति उपदेश

४. संसार की असारता

५. ज्ञान-वैराग्य वर्णन

६. आत्म-चरित संकेत

राम की प्रार्थना में निम्नलिखित अंग विशेष रूप से पाये जाते हैं :—

१. मानव-चरित्र (लीला)
२. नख-शिख
३. हरिशंकरी रूप
४. दशावतारी महिमा
५. आत्म-निवेदन

विनयपत्रिका में प्रधान रूप से तुलसीदास की मनोवृत्ति का निरूपण है। न घटना की प्रबन्धात्मकता है और न कोई कथा-सूत्र ही; ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सम्बंधी विभिन्न विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन है। राम-भक्ति ही इस ग्रंथ का आदर्श है। राम-भक्ति-प्राप्ति के सब साधन—चाहे उनका सम्बंध देवताओं से हो या स्थानों से—तुलसी द्वारा लिखे गये हैं। ज्ञात होता है, काशी का वर्णन एकमात्र शैव धर्म से प्रभावित होकर ही कवि ने किया है, क्योंकि राम-भक्ति से काशी का कोई सम्बंध नहीं है। राम-भक्ति के लिए, तुलसी के मतानुसार, शिव-भक्ति आवश्यक है। इसी-

लिए परोक्ष रूप से राम-भक्ति के लिए काशी का वर्णन किया गया है :—

तुलसी बसि हरपुरी राम जपु, जो भयो चहै सुपासी ।।[1]

स्तोत्र और पदों के सहारे तुलसीदास ने तत्कालीन प्रचलित भक्ति-परम्परा की रक्षा की। उन्होंने स्तोत्र का प्रयोग देवताओं के बल, विक्रम, शक्ति आदि प्रदर्शित करने के लिए किया। शील-सौंदर्य का वर्णन पदों में हुआ है।

विनयपत्रिका की भावनाएँ बहुत स्वतंत्र हैं। जहाँ एक ओर संसार की असारता का उल्लेख है वहाँ दूसरी ओर मन को उपदेश दिया गया है। कहीं कवि के व्यक्तिगत जीवन की झलक है तो कहीं दशावतारों से सम्बन्ध रखने वाली विष्णु की उदारता एंव भक्त-वत्सलता की पौराणिक कहानियों की शृंखला। अनेक पदों में तो गणिका, अजामिल, व्याध, अहल्या आदि की कथाएँ इतनी बार दुहराई गई हैं कि उनमें कोई नवीनता नहीं ज्ञात होती। यह आवर्तन प्रधानत: निम्नलिखित दो कारणों से है :—

१. तुलसी का हृदय बहुत ही भक्तिमय है जो आराध्य के गुण गान से नहीं थकता।

२. विनयपत्रिका गीति-काव्य के रूप में है, जिसमें प्रत्येक पद स्वतंत्र है।

विनयपत्रिका का दृष्टिकोण बहुमुखी है। यद्यपि राम-भक्ति ही साध्य है; किंतु साधना के रूप अनेक प्रकार से माने गये हैं।

रस—विनयपत्रिका में शान्त रस की बड़ी मार्मिक विवेचना है। सूरदास के विनय पद भी अनुभूति में तुलसी के पदों से गहरे नहीं हैं। तुलसी के स्थायी भाव की प्रौढ़ता सूर में नहीं है, क्योंकि तुलसी की उपासना दास्य भाव की है। रस के आलम्बन विभाव को राम-चरित ने बहुत सहायता दी है, क्योंकि राम अवधेश और मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। इस प्रकार की सहायता कृष्ण-चरित्र से नहीं मिल सकी है। तुलसी की विनयपत्रिका शांत रस के स्पष्टीकरण में जितनी सफल हो सकी, उतनी मानस को छोड़कर कवि की कोई भी कृति नही।

विनयपत्रिका में केवल एक ही रस है और वह है शांत। इस रस के प्राधान्य के कारण अन्य किसी रस की सृष्टि नही हो सकी। अन्य रसों के भाव चाहे किसी स्थान पर आ गए हों, पर वे सब शांत रस के संचारी बन गए हैं। यहाँ विनयपत्रिका की भावना को समझने के लिए शांत रस का निरूपण करना युक्तिसंगत होगा :—

१ विनयपत्रिका, पद २२

(१) स्थायी भाव—निर्वेद

परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हंसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं ॥[१]

(२) विभाव

(अ) आलम्बन विभाव :—

(१) हरि-कृपा

ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम, जिय भरोस मन माँही ॥[२]

(२) गुरु

मीजो गुरू पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि सेवक-सुखद सदा बिरद बहत हौं।[३]

(आ) उद्दीपन विभाव :—

(१) देवता (बिन्दुमाधव, पार्वती)

(बिन्दुमाधव) नखसिख रुचिर बिन्दुमाधव-छबि निरखहिं नयन अघाई।[४]

(पार्वती) देखो देखो बन बन्यो आजु उमाकंत।
मनो देखन तुमहिं आई ऋतु बसंत ॥[५]

(२) स्थान (काशी, चित्रकूट)

(काशी) सेइय सहित सनेह देहभरि कामधेनु कलि कासी।[६]

(चित्रकूट) तुलसी जो राम-पद चहिय प्रेम।
सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम ॥[७]

(३) नदी (गंगा, यमुना)

(गंगा) तुलसी तव तीर तीर सुमिरत रघुवंश बीर,
बिचरत मति देहि मोह-महिष-कालिका ॥[८]

(यमुना) जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न।[९]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १०५
२ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद ११६
३ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद ७६
४ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद ६२
५ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १४
६ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद २२
७ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद २३
८ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १७
९ तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद २१

(अ) अनुभव—रोमांच, कम्प

सुनि सीतापति सील सुभाउ ।
मोद न मन, पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥[1]

(४) संचारी भाव

१ सुबुद्धि—देहि मा ! मोहिप्रण प्रेम, यह नेम निज
राम घनश्याम, तुलसी पपीहा ॥[2]
२ ग्लानि—कहँ लौं कहौ कुचाल कृपानिधि जानत हौ निज की ।[3]
३ गर्व—तुलसीदास अनयास रामपद पइहै प्रेम पसाउ ।[4]
४ दीनता—तुलसीदास निज भवनद्वार प्रभु दीजे रहन परयों ।[5]
५ हर्ष—पावन किय रावन-रिपु तुलसिहु से अपत ।[6]
६ मोह—तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को ।[7]
७ विषाद—दीनदयालु दीन तुलसी की काहु न सुरति कराई ।[8]
८ चिन्ता—कलिकल-ग्रसित दास तुलसी पर काहे कृपा बिसारी ।[9]

विशेष—तलसीदास के पूर्व हिन्दी साहित्य में केवल दो ही कवि थे, जिन्होंने गीतकाव्य में भक्ति की भावना उपस्थित की थी । वे दो कवि थे विद्यापति और कबीर । विद्यापति ने जयदेव का अनुसरण करते हुए 'गीत गोविन्द' की शैली में राधा कृष्ण का वर्णन किया था । उनके सामने नायक-नायिका-भेद की परम्परा थी और था 'गीत गोविन्द' की रचना का आदर्श । शृंगार रस की वासनामयी प्रवृत्ति एकमात्र उनकी कविता की शासिका थी । उसमें भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था, यद्यपि राधा-कृष्ण का चरित्र-गान उन्होंने पदों में किया था ।

कबीर की रचना भक्तिमयी होते हुए भी साकार रूप का निरूपण नहीं कर सकी । उनकी कविता में आत्म-समर्पण की भावना ही स्थिर नहीं हो सकी । रहस्यवाद की अनुभूति और एकेश्वरवाद की भावना दोनों ने मिलकर कबीर की भक्ति को बहुत कुछ उपासना का रूप दे दिया था ।

---

१ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १००
२ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद ६५
३ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद ९०
४ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १००
५ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद ९१
६ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १३०
७ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १५५
८ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १६५
९ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पद १६६

इस प्रकार विद्यापति और कबीर तुलसी के सामने भक्ति का कोई आदर्श स्थापित नहीं कर सके। तुलसी के समकालीन कवियों ने पुष्टि-मार्ग का अवलम्बन कर भक्ति की विवेचना अवश्य की, किन्तु वह भक्ति-भावना का समावेश होते हुए भी आत्म-समर्पण की भावना नहीं थी। अतएव 'विनयपत्रिका' का आदर्श मौलिक रूप से साहित्य में अवतरित हुआ। उन्होंने दास्य-भाव की भक्ति में आत्मा की सभी वृत्तियों को सजीव रूप देकर विनयपत्रिका की रचना की है।

रामचरितमानस

हिन्दी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ 'रामचरितमानस' है।

रचना-तिथि—'मानस' की रचना-तिथि अन्तर्साक्ष्य से संवत् १६३१ है। कवि ने बाल कांड के प्रारम्भ में ही लिखा है :—

संवत सोरह सै इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा।[1]

अतः इस तिथि में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। वेणीमाधवदास ने भी इस ग्रन्थ की रचना-तिथि यही लिखी है :—

राम-जन्म तिथि बार सब, जस त्रेता महँ भास।
तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लग्न ग्रह रास॥

× × ×

यहि विधि भा आरंभ, रामचरित मानस विमल।
सुनत मिटत मद दंस, कामादिक संसय सकल॥[2]

रघुराजसिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में भी यही तिथि दी है :—

कछु दिन करि कासी महँ बासा। गए अवधपुर तुलसीदासा॥
तहँ अनेक की हेंउ सतसंगा। निसि दिन रँगे राम रति रंगा॥
सुखद राम नौमी जब आई। चैतमास अति आनन्द पाई॥
संवत् सोरह सै इकतीसा। सादर सुमिरि भानुकुल ईसा॥
वासर भौन सुचित चित चायन। किय अरंभ तुलसी रामायन॥

अतः अन्तर्साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य दोनों के द्वारा 'मानस' का रचनाकाल संवत् १६३१ निश्चित है।

विस्तार—'रामचरित-मानस' में राम की कथा सात कांडों में लिखी गई है। इन सात कांडों की निश्चित पद्य-संख्या बतलाना कठिन है, क्योंकि ग्रंथ में बहुत से क्षेपक पाये जाते हैं, किन्तु 'मानस' के समस्त छन्द लगभग दस हज़ार हैं। स्वर्गीय श्री रामदास गौड़ ने 'रामचरित-मानस' की भूमिका में लिखा है :

'गोस्वामी जी ने रामचरित-मानस को समाप्त करके अन्त में चौपाइयों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की है :—

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, पृष्ठ २०

२ मूल गोसाईं चरित, दोहा ३८, सोरठा ११

सतपंच चोपाई मनोहर जानि जे नर उर धरैं। दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुपति हरैं॥

"अंकानां वामतो गतिः" की रीति से सत का अर्थ १०० और पंच का ५ लेकर ५.१०० श्री रामचरणदास जी ने भी किया है ...'मानस मयंक' में इससे मिलती-जुलती हुई व्याख्या यों दी है :—

एकावन सत सिद्ध है, चौपाई तहँ चारु। छन्द सोरठा दोहरा, दस रित दस हज्जारु।

अर्थात् चौपाइयों की संख्या ५१०० है और छन्द, सोरठा और दोहा सब मिलकर दस कम दस हजार हैं। अर्थात् समस्त छन्द संख्या ९९९० है।"[1] पं० रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार चौपाइयों की संख्या ४६४७ और सम्पूर्ण छंद संख्या ६१६७ है।[2]

छंद—तुलसीदास ने 'मानस' में प्रधान रूप से दोहा और चौपाई छन्द का ही प्रयोग किया है, पर उनके 'मानस' में इन छन्दों के अतिरिक्त निम्नलिखित छंद भी प्रयुक्त हुए हैं :—

मात्रिक—सोरठा, तोमर, हरिगीतिका' चवपैया, त्रिभंगी।

वर्णिक—अनुष्टुप्, रथोद्धता, स्रग्धरा, मालिनी, तोटक, वंशस्थ, भुजंग-प्रयात्, नग-स्वरूपिणी, वसंत तिलका, इन्द्रवज्रा, शार्दूल विक्रीड़ित।

इस प्रकार तुलसी के 'मानस' में १८ छंदों का प्रयोग हुआ है।

वर्ण्य-विषय—'रामचरितमानस' में राम की कथा का सांगोपांग वर्णन है। इस कथा के लिखने में तुलसीदास ने निम्नलिखित ग्रन्थों का आधार प्रधान रूप से लिया है :—

ग्रन्थ	किस रूप में तुलसी ने ग्रहण किया
१. अध्यात्म रामायण	कथा का दृष्टिकोण
२. वाल्मीकि रामायण	कथा का विस्तार
३. हनुमन्नाटक ४. प्रसन्न राघव	नवीन घटनाएँ (लक्ष्मण परशुराम संवाद) (पुष्प-वाटिका-वर्णन)
५. श्रीमद्भागवत	सूक्तियाँ

इन ग्रंथों के अतिरिक्त नीति तथा धर्म की सूक्तियों के लिए तुलसीदास ने अनेक ग्रंथों का आधार लिया है। पं० रामनरेश त्रिपाठी का कथन है कि "संस्कृत

१ रामचरित मानस की भूमिका, पृष्ठ ६४, ६५ (हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता १९८२)

२ तुलसीदास और उनकी कविता (पं० रामरेश त्रिपाठी), पृष्ठ १२१

के दो सौ ग्रंथों के श्लोकों को भी चुन-चुन कर उन्होंने उनका रूपान्तर करके 'मानस' में भर दिया है ।"[1] तुलसीदास ने मानस के प्रारम्भ में लिखा है :—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्-रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥[2]

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की कथा को एक महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है, जिसमें जीवन के समस्त अंग पूर्ण रूप से प्रदर्शित किए गए हैं। इसके साथ राम का मर्यादा-पूर्ण जीवन और लोक-शिक्षा का आदर्श तो कथा को बहुत ही मनोरम और भाव-पूर्ण बना देता है। तुलसीदास ने अपने ग्रंथ में राम की कथा के साथ ही साथ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों का अत्यन्त स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। 'वाल्मीकि रामायण' में राम महापुरुष हैं और 'अध्यात्म रामायण' में वे सम्पूर्णतः ईश्वर हैं। तुलसी ने अधिकतर अध्यात्म का आदर्श ही स्वीकार किया है, यद्यपि उन्होंने उसमें अपनी मौलिकता को भी स्थान दिया है। यहाँ यह देख लेना उचित है कि 'मानस' किस भाँति 'अध्यात्म-रामायण' और 'वाल्मीकि रामायण' से साम्य रखता है।

इस स्थान पर विस्तार में न जाकर केवल दो स्थलों पर ही विचार करना है, अहल्योद्धार और कैकेयी-वरदान। पहला स्थल अहल्योद्धार ही लीजिए। 'वाल्मीकि रामायण' 'अध्यात्म रामायण' और 'मानस' में इस प्रसंग का निरूपण इस प्रकार है :—

वाल्मीकि रामायण

ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् । लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ॥१३॥
साहि गौतम वाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूवह । त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ॥१६॥
राघवौ तुतदातस्याः पादौ जगृहतुः मुदा । स्मरन्ती गौतम वचः प्रतिजग्राहसाहितौ ॥१८॥[3]

(राम लक्ष्मण ने) देखा कि अहल्या शिला रूप से तपस्या कर रही है। उसमें इतनी प्रभा है कि मनुष्य, देवता और राक्षस कोई भी समीप नहीं जा सकता। वह गौतम के शाप वचन से लोगों के लिए अदृश्यमान थी। उनके वाक्यानुसार जब तक राम के दर्शन न होंगे, तब तक त्रिलोक का कोई व्यक्ति भी उसे नहीं देख सकेगा। राम-लक्ष्मण दोनों ने मुनि-स्त्री जानकर अहल्या के चरण छुए। अहल्या गौतम के बचनों का स्मरण कर उन दोनों के चरणों पर गिरी।

'वाल्मीकि रामायण' में गौतम ने अहल्या को जो शाप दिया था उसमें भी अहल्या के शरीर का यही रूप है :—

---

१ तुलसीदास और उनकी कविता, पृष्ठ १३७
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, पृष्ठ २
३ वाल्मीकि रामायण—[बालकांडे एकोनपंचाशः सर्गः]

वात भक्ष्या निराहारा तप्यन्ती भस्म शायिनी । अदृश्या सर्वभूतानामश्रमेऽस्मिन्वसिष्यसि ॥३०॥[1]

[तू पवन का भक्षण कर निराहार रह कर भस्म-शायिनि बन सभी प्राणियों से अदृश्य होकर आश्रम में निवास करेगी ।]

अध्यात्म-रामायण

दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम । निराहारा दिवारात्रं तपः परमास्थिता ॥२७॥
आतपानिल वर्षादि सहिष्णुः परमेश्वरम् । ध्यायंती राममेकाग्रमनसाहृदि संस्थितम् ॥२८॥

... .

रामः पदा शिलांस्पृष्ट्वा तां चापश्यतपोधनाम् । ननाम राघवोऽहल्यां रामोऽहमिति चाब्रवीत् ॥२६॥[2]

[दुष्टे, दुराचारिणी, तू मेरे आश्रम में निराहार रात्रि-दिन तप करती हुई शिल पर खड़ी रह । धूप, पवन, वर्षा आदि सहकर एकाग्र मन से हृदय में स्थित परमेश्वर राम का ध्यान करती रह ।......

राम ने अपने चरण से स्पर्श करके उस तपस्विनी को देखा और अहल्या को यह कह कर प्रणाम किया कि मेरा नाम राम है ।]

रामचरित-मानस

गौतमनारी श्रापबस उपल-देह धरि धीर ।
चरण-कमल-रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ॥
परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही ।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ॥[3]

इन तीनों अवतरणों से ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि रामायण' में अहल्या अदृश्य है और राम-लक्ष्मण उसके चरण छूते हैं । 'अध्यात्म रामायण' में अहल्या शिला पर खड़ी होकर तपस्या करती है और राम उसे केवल प्रणाम करते हैं । अहल्या राम के चरणों का स्पर्श पाकर पति-लोक जाती है । 'मानस' में अहल्या पाषाण रूप होकर पड़ी रहती है और राम के पवित्र चरणों का स्पर्श पाकर 'आनन्द भरी' पति-लोक को जाती है । तुलसीदास ने कथा-भाग का रूप तो 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार ही रक्खा है, पर दृष्टिकोण अध्यात्म रामायण के अनुसार । तुलसीदास की अहल्या 'वाल्मीकि रामायण' की अहल्या के अनुसार ही पाषाण-रूप है, पर 'अध्यात्म रामायण' की अहल्या की भाँति राम के चरणों का स्पर्श करती है । 'अध्यात्म रामायण' में राम का व्यक्तित्व कुछ महान् हुआ है । वे अहल्या के चरणों का स्पर्श न कर केवल उसे प्रणाम करते हैं । 'मानस' में राम पूर्ण ब्रह्म हैं, अतः वे अहल्या को प्रणाम भी नहीं करते, प्रत्युत गम्भीरता से अपने 'पावन पद' का स्पर्श उसे करा

१ वाल्मीकि रामायण [बालकाण्डे, अष्टचत्वारिंशः सर्गः]
२ अध्यात्म रामायण [बालकाण्डे, पंचमः सर्गः]
३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ६२

देते हैं। यह तुलसीदास का अपने आराध्य के प्रति भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण है। इतने पर भी 'मानस' भावना की दृष्टि से 'वाल्मीकि रामायण' की अपेक्षा 'अध्यात्म रामायण' के अधिक समीप है।

दूसरा स्थल कैकेयी के वरदान का है। उसका वर्णन इस प्रकार है:—

वाल्मीकि रामायण

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते। उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥५४॥
तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह। क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥५५॥[1]

[(मंथरा कैकेयी से बोली) हे कल्याणि, जल के बह जाने पर बाँध बाँधने से क्या लाभ ? अतः उठ, साधन-कार्य कर और महाराज की प्रतीक्षा कर।

इस प्रकार मंथरा द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर विशाल-नेत्रा सौभाग्य-गर्विता कैकेयी कोप-भवन में गई।]

अध्यात्म रामायण

एतस्मिन्नन्तरे देवा देवीं वाणीमचोदयन्। गच्छ देवि भुवो लोकमयोध्यायां प्रयत्नतः ॥४४॥
रामाभिषेक विघ्नार्थं यतस्व ब्रह्म वाक्यतः। मन्थरां प्रविशस्वादौ कैकेयी च ततः परम् ॥४५॥
ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे। तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवेशाथ मन्थराम् ॥४६॥[2]

[इसके बाद देवताओं ने सरस्वती देवी से प्रेरणा की। हे देवि, यत्न-पूर्वक तुम भूलोक में अयोध्या में जाओ। राम के अभिषेक में ब्रह्मा के वचन से विघ्न डालने का यत्न करो। पहले मंथरा में प्रवेश करो बाद में कैकेयी में। विघ्न उत्पन्न होने पर हे शुभे, तुम पुनः स्वर्ग लौट आना। यह सुन कर सरस्वती ने कहा, ऐसा ही होगा। और उसने मंथरा में प्रवेश किया।]

मानस

सकल कहहिं कब होइहि काली। विघन मनावहिं देव कुचाली ॥
तिन्हहिं सोहाव न अवध बधावा। चोरहि चाँदिनि राति न भावा,
सारद बोलि विनय सुर करहीं। बारहि बार पाँय लै परहीं ॥
विपति हमारि विलोकि बड़, मातु करिअ सोइ काजु।
रामु जाहि बन राजु तजि, होइ सकल सुर काजु ॥ १२ ॥
.. ..
बार बार गहि चरन सँकोची। चली विचारि बिबुध मति पोची ॥
हरषि हृदय दसरथ पुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई ॥
नामु मन्थरा मन्द मति, चेरी कैकेइ केरि। अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ॥१३॥[3]

इन अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि रामायण' में मंथरा

---

१ वाल्मीकि रामायण, [अयोध्याकांडे, नवमः सर्गः]
२ अध्यात्म रामायण, [अयोध्याकांडे, द्वितीयः सर्गः]
३ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १६२

और कैकेयी का जो मनोवेग है वह स्वाभाविक और लौकिक है। 'अध्यात्म रामायण' में मंथरा और बाद में कैकेयी की बुद्धि में विपर्यय सरस्वती द्वारा होता है। यहाँ कथा में अलौकिक प्रभाव है। तुलसीदास ने अपने 'मानस' में यह प्रसंग 'अध्यात्म रामायण' से ही लिया है। तुलसीदास की मंथरा और कैकेयी सरस्वती के प्रभाव से अपनी सात्विक बुद्धि खो बैठती हैं। यह प्रसंग इस कारण विशेष रूप से तुलसीदास ने ग्रहण किया, क्योंकि इस अलौकिक प्रभाव से कैकेयी के दोष का परिमार्जन सरलता से हो जाता है। अयोध्या कांड में स्वयं भरद्वाज भरत से कहते हैं :—

> तुम्ह गलानि जिय जनि करहु, समुझि मातुकरतूति।
> तात कैकेइहि दोषु नहिं, गई गिरा मति धूति ॥२०७॥[१]

इन दोनों प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास ने अपने 'मानस' के दृष्टिकोण के लिए अधिकतर 'अध्यात्म रामायण' का ही सहारा लिया है।

'मानस' की कथा 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' की सामग्री से निर्मित होकर आदर्श-समाज और आदर्शधर्म की रूप-रेखा बनाती है। इस कथा में पात्र-चित्रण सबसे प्रधान है। तुलसीदास ने प्रत्येक पात्र को इस प्रकार चित्रित किया है कि वह अपनी श्रेणी के लोगों के लिए आदर्श रूप है। पात्र-चित्रण में तुलसी का ध्येय लोक-शिक्षा है। इसी लोक-शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने के उद्देश्य से तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण से स्वतंत्रता ली है। यों तो 'मानस' में अनेक स्थलों पर आदर्श लोक-व्यवहार की मर्यादा रक्खी है, पर यहाँ केवल एक ही पद्य में पात्र की चरित्र-रेखा स्पष्ट हो जायगी।

> शिव—एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। शिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं ॥[२] (भक्ति)
> पार्वती—जनम कोटि लगि रगरि हमारी। बरौं संभु नतु रहौं कुँआरी ॥[३] (पातिव्रत)
> दशरथ—रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाहि बरुबचनु न जाई ॥[४] (सत्यप्रतिज्ञा)
> जनक—सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ ॥[५] (सत्य-व्रत)
> कौशल्या—जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
> जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना ॥[६]
> (प्रेम और धर्म)

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ २३८
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ २९
३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ३९
४ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १६८
५ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १०८
६ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १७९

सुमित्रा—जौं पै सीय रामु बन जाहीं।
अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥[१] (धर्म-प्रेम)

सीता—जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते।
प्रिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ते ताते ॥[२] (पातिव्रत)

राम—सेवक सदन स्वामि आगमनू।
मंगल मूल अमंगल दमनू ॥[३] (गुरु-प्रेम)
सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥[४] (माता-पिता प्रेम)
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥[५] (भ्रातृ-प्रेम)
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं।
कालहु जीति निमिषि महँ आनौं ॥[६] (स्त्री-प्रेम)
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥[७] (प्रजा-प्रेम)

भरत—भरतहि होइ न राजमदु
बिधि हरिहर पद पाइ।[८] (मर्यादा)

लक्ष्मण—तोरौं छत्रक दण्ड जिमि, तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभु पद सपथ, कर न धरौं धनु हाथ ॥[९] (वीरत्व और-भ्रातृ-प्रेम)

हनुमान—सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तन धारी ॥[१०] (स्वामि-भक्ति)

रावण—निज भुजबल मैं बैरु बढ़ावा।
देइहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ॥[११] (दृढ़ता)

इन पात्रों के अतिरिक्त अन्य पात्रों में भी आदर्श भावना ओतप्रोत है। पात्रों के विविध गुणों का निरूपण विविध भाँति से किया गया है, जिसमें न केवल

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १८६
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १८२
३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १६१
४ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १७३
५ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १७३
६ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ३३३
७ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १८५
८ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ २४७
९ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १०९
१० तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ३५५
११ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४०७

व्यक्तिगत मर्यादा की रक्षा है, प्रत्युत समाजिक मर्यादा भी अक्षुण्ण बनी रहती है। इन आदर्शों के साथ तुलसीदास ने स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता हाथ से नहीं जाने दी है। कला और शिक्षा का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र देखने में नहीं आता। तुलसीदास की इसी आश्चर्यजनक काव्य-शक्ति के कारण 'मानस' का धर्म, समाज और साहित्य में आदरपूर्ण स्थान है।

रस—'मानस' में नवो रसों का उद्रेक सफलता के साथ हुआ है। प्रत्येक कांड में अनेक रस हैं। तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा और काव्य-शक्ति से रसों का चित्रण अनायास ही कर दिया है। अत: किसी कांड में कोई रस विशष नहीं है। सभी कांडों में रस-वैचित्र्य है। वीभत्स रस अवश्य केवल लंका कांड और अरण्य कांड ही में परिमित है। अन्य रस प्रसंग के संकेत से ही प्रवाहित होने लगते हैं। उदाहरण के लिए तुलसीदास का समस्त 'मानस' ही दिया जा सकता है। कुछ नमूने के अवतरण इस प्रकार हैं :—

शृंगार—

(संयोग) प्रभुहिं चितै पुनिचितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधु मंडल डोल ॥[1]

(वियोग) देखियत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकौ तारा।
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी ॥[2]

करुण-

सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ॥
हा रघुन्दन प्रान पिरीते। तुम बिन जियत बहुत दिन बीते ॥[3]

वीर—

जो तुम्हार अनुसासन पावौं कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥
काँचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक इव तोरी ॥[4]

हास्य-

टूट चाप नहि जुरिहि रिसाने। बैठिअ होइहि पाय पिराने ॥[5]
जो पै कृपा जरहि मुनि गाता। क्रोध भए तनु राख बिधाता ॥[6]

रौद्र—

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष केइ तोरा ॥
वेगि दिखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ लगि तव राजू ॥[7]

१	तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १११
२	तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३४७
३	तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ २१८
४	तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १०६
५	तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ११८
६	तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ११६
७	तुलसी ग्रन्थावलीं,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ११५

भयानक—

मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। प्रथम महा झोटिंग कराला॥[1]

वीभत्स—

काक कंक लेइ भुजा उड़ाही। एक ते छीन एक लेइ खाहीं॥[2]

अद्भुत—

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मांड॥[3]

शान्त—

लसत मञ्जु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु। ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंदु॥[4]

इन रसों की व्यापकता बढ़ाने के लिए तुलसीदास ने प्रत्येक संचारी भाव का संकेत कर दिया है। संचारी भावों के सहयोग से रसोद्रेक और भी तीव्र हो गया है। उदाहरणार्थ तुलसीदास ने किस सरलता से संचारी भावों का संकेत किया है, यह निम्न प्रकार से है:

१. निर्वेद—अब प्रभु कृपा करहु यहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती।
२. ग्लानि—भई गलानि मोरे सुत नाहीं।
३. शंका—शिवहिं विलोक सशंकेउ मारू।
४. असूया—तब सिय देखि भूप अभिलाखे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे॥
५. श्रम—थके नयन रघुपति छवि देखी।
६. मद—जग योधा को मोंहि समाना।
७. धृति—धरि बड़ धीर राम उर आनी।
८. आलस्य—रघुबर जाय सयन तब कीन्हा।
९. विषाद—सभय हृदय बिनवति जेहिं तेही।
१०. मति—उपज्यो ज्ञान वचन तब बोला।
११. चिन्ता—चितवत चकित-चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मन चीता॥
१२. मोह—लीन्ह लाय उर जनक जानकी।
१३. स्वप्न—दिन प्रति देखहुँ रात कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने।
१४. विबोध—बिगत निसा रघुनायक जागे।
१५. स्मृति—सुधि न तात सीता कै पाई।
१६. अमर्ष—जो राउर अनुशासन पाऊँ। कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ॥

---

१ तुलसी ग्रंथावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४१३
२ तुलसी ग्रंथावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४१३
३ तुलसी ग्रंथावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ २४
४ तुलसी ग्रंथावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ २५०

१७. गर्व—भुजबल भूमि भूप बिन कीन्हीं । बिपुल वार महिदेवन दीन्हीं ॥
१८. उत्सुकता—बेगि चलिय प्रभु आनिए, भुजबल रिपु दल जीति ।
१९. अवहित्थ—तन सकोच मन परम उछाहू । गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू ॥
२०. दीनता—पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं ।
२१. हर्ष—जानि गौरि अनुकूल, सिय हिय हर्ष न जाय कहि ।
२२. व्रीड़ा—गुरुजन लाज समाज बड़ि, देखि सीय सकुचानि ।
२३. उग्रता—एक बार कालहु किन होई ।
२४. निद्रा—ते सिय राम साथरी सोए ।
२५. व्याधि—देखी व्याधि असाधि नृप, परयो धरणि धुनि माथ ।
२६. मरण—राम राम कहि राम कहि, बालि कीन्ह तनु त्याग ।
२७. अपस्मार—अस कहि मुरछि परे महि राऊ ।
२८. आवेग—उठे राम सुनि प्रेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥
२९. त्रास—भा निरास उपजी मन त्रासा ।
३०. उन्माद—लछिमन समझाए बहु भाँति । पूछत चले लता तरु पाँती ॥
३१. जड़ता—मुनि मग माँझ अचल होइ वैसा । पुलक शरीर पनस फल जैसा ॥
३२. चपलता—प्रभुहिं चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल ।
३३. वितर्क—लंका निशिचर निकर निवासा । इहाँ कहाँ सज्जन कर वासा ॥

विशेष—तुलसी ने 'मानस' में सभी काव्य के गुण सज्जित कर दिए हैं। अलंकारो का प्रयोग भाव-तीव्रता और काव्य-सौन्दर्य के लिये यथास्थान हुआ है। यह प्रयोग काव्य में पूर्ण स्वाभाविकता और सौन्दर्य के साथ है। प्रायः सभी शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का निरूपण 'मानस' के अंतर्गत है। तुलसी द्वारा प्रयुक्त अलंकारों के उदाहरण बड़ी सरलता से काव्य-ग्रंथों में पाये जा सकते हैं, क्योंकि अलंकारों के भाव-प्रकाशन में तुलसी की रचना बहुत ही सरल और सरस है। तुलसी की रचना में जहाँ अपरिमित गुण हैं वहाँ काव्य के दो-एक दोष नगण्य हैं। दोषों में समास-दोष, प्रतिकूलाक्षर और अर्थ-दोष के अन्तर्गत न्याय-विरुद्ध दोष ही तुलसीदास की रचना में कहीं पाये जा सकते हैं।

तुलसीदास का सबसे लोकप्रिय ग्रंथ 'मानस' है, पर उसका पाठ भी संदिग्ध है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने अपने 'मानस' की दो प्रतियाँ की थीं। एक प्रति तो वे अपने साथ मलीहाबाद ले गए थे जहाँ उन्होंने कुछ दिनों निवास किया था। वहां उन्होंने यह प्रति किसी चारण कवि को भेंट कर दी थी। यह अब मलीहाबाद निवासी पं० जनार्दन के अधिकार में है। पं० जनार्दन उस प्रति को दिन का प्रकाश भी नहीं दिखलाना चाहते। ऐसा करने से उस प्रति के 'अपवित्र' हो जाने का भय है। प्रति की जो थोड़ी-बहुत परीक्षा हुई है उससे ज्ञात होता है कि पुस्तक

तुलसीदास लिखित नहीं है । उसमें बहुत क्षेपक भर दिए गए हैं । किन्तु यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसकी पूर्ण परीक्षा न हो जाय । दूसरी प्रति तुलसीदास अपने साथ राजापुर (बाँदा) लेते गए थे । राजापुर की प्रति चोरी चली गई थी और जब चोर का पीछा किया गया तो उसने उस ग्रंथ को यमुना में फेंक दिया था । सम्पूर्ण ग्रंथ में से केवल अयोध्या कांड बहने से बचा लिया गया था, जिस पर पानी के छींटे पड़े हुए हैं और वे छींटे इस वृत्त को घोषित करते हैं । ये दोनों प्रतियाँ तुलसीदास जी द्वारा लिखी कही जाती हैं ।

इनके अतिरिक्त एक तीसरी प्रति भी मिली है जो बनारस के महाराजा बहादुर के राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित है । यह प्रति संवत् १७०४ में अर्थात् तुलसी की मृत्यु के २४ वर्ष बाद तैयार की गई थी । इसी प्रति के आधार पर 'मानस' का एक संस्करण खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित किया गया है, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि खड्ग विलास प्रेस का संस्करण संवत् १७०४ वाली प्रति से अनेक स्थानों में भिन्न है । कहा नहीं जा सकता कि यह भूल कैसे हो सकती है । आवश्यकता तो इस बात की है कि राजापुर और मलीहाबाद की प्रतियाँ तथा 'मानस' की अन्य प्राप्त प्रतियों का परीक्षण किया जावे । खेद का विषय है कि जिस ग्रंथ ने तीन सौ वर्षों से अधिक भारतीय हृदय और मस्तिष्क पर शासन किया है, उसका पाठ आज भी अनिश्चित है ।

'रामचरितमानस' की एक और विश्वसनीय प्रति अयोध्या में प्राप्त हुई है । कहा जाता है कि इस प्रति का प्रथम कांड संवत् १६६१ में लिखा गया था । अन्य कांड अपेक्षाकृत नवीन हैं । यह प्रति 'सावन कुंज' अयोध्या के बाबा छबिकिशोर शरण के संरक्षण में है । पुस्तक के अंत में "संवत् १६६१ वैशाष सुदि ६ बुधवार" लिखा हुआ है । अतः यह ग्रंथ तुलसी की मृत्यु से १९ वर्ष पहले लिखा गया था । तुलसीदास ने अयोध्या ही में 'मानस' का लिखना प्रारम्भ किया था, वे अयोध्या में बहुत दिन रहे भी थे; अतः यह प्रति उनके द्वारा या उन्हीं की देखरेख में लिखी गई कही जाती है । प्रति में अनेक स्थानों पर संशोधन भी है । यह तुलसीदास के हाथ का कहा जाता है ।

काशी के सरस्वती भवन में 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकांड की एक प्रति सुरक्षित है । उसकी पुष्पिका में प्रतिलिपिकार का नाम और समय दिया हुआ है :—

समाप्त चेदं महाकाव्यं श्रीरामायणमिति ॥ संवत् १६४१ समये मार्ग सुदि रवी लि० तुलसीदासेन ॥

इससे लेखक का नाम तुलसीदास ज्ञात होता है, जिसने संवत् १६४१ में

महाकाव्य रामायण की प्रतिलिपि तैयार की ।[1] क्या ये तुलसीदास मानसकार तुलसी ही थे? स्वर्गीय रामदास गौड़ इस सम्बन्ध में लिखते हैं :—

"गोस्वामी जी ने जितनी कविता की है, सभी राम-भक्ति पर । इन बातों पर ध्यान रख कर जब हम देखते हैं कि संवत् १६४१ में काशी जी में बैठकर किसी विद्वान् संस्कृतज्ञ "तुलसीदास" ने वाल्मीकीय रामायण की सुन्दर प्रतिलिपि की, हमें यह कहने में कोई विशेष युक्ति नहीं दीखती कि यह तुलसीदास कोई और थे, जो गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे, जब किसी अन्य सुलेखक और विद्वान् काशीवासी तुलसीदास की कहीं कभी चर्चा भी सुनने में नहीं आई । सुतरांग यह न मानने का कोई सुदृढ़ कारण नहीं दीखता कि काशीवासी वाल्मीकीय उत्तर कांड की यह प्रति प्रातःस्मरणीय मानसकार गोस्वामी तुलसीदास की ही लिखी है ।"[2]

गौड़ जी का यह मत निस्संदेह युक्तिसंगत है । इस सम्बन्ध में एक प्रमाण और भी है । तुलसीदास ने अपने मित्र टोडर की मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारियों में सम्पत्ति के बटवारे के लिए एक पंचनामा भी लिखा था । इस पंचनामा के ऊपर की छः पंक्तियाँ तुलसीदास के हाथ की लिखी हुई कही जाती हैं । पंचनामे की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस प्रकार है :—

श्री जानकी वल्लभो विजयते ।

द्विश्शरं नाभि संधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान् । द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते ॥१॥
तुलसी जान्यो दशरथहि धरम न सत्य समान । रामु तजो जेहि लाग बिनु राम परिहरे प्रान ॥१॥
धर्मो जयति नाधर्मस्सत्यं जयति नानृतम् । क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरः ॥१॥

यह पंचनामा संवत् १६६९ में टोडर की मृत्यु पर तुलसीदास द्वारा लिखा हुआ कहा जाता है ।[3] इस पंचनामे के विषय में बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल लिखते हैं :—

यह "पंचनामा ग्यारह पीढ़ी तक टोडर के वंश में रहा । ११वीं पीढ़ी में पृथ्वीपाल सिंह ने उसे काशिराज को दिया । अब भी यह काशीराज के यहाँ अच्छी तरह सुरक्षित है ।"[4] टोडर तुलसीदास के परम मित्र थे । उनकी मृत्यु पर तुलसीदास को

---

१ इसका निर्देश वेणीमाधवदास ने भी अपने 'गोसाईं चरित' में किया है :—
लिखे वाल्मीकी बहुरि इकतालिस के माँहि ।
मगसर सुदि सतमी रवौ, पाठ करन हित ताहि ॥ गो० च०, दोहा ५५

२ रामचरित 'मानस की भूमिका—गोस्वामी जी की लिपि (श्री रामदास गौड़) पृष्ठ ६०-६१

३ 'गोसाँई चरित' में भी इसका निर्देश है :—
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर । युग सुत टोडर बीचि मुनि, बाँटि दिए घर बार ॥
गो० च०, दोहा ८९

४ गोस्वामी तुलसीदास (हिन्दुस्तानी एकेडेमी), पृष्ठ ११०

अपना "कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछताना" प्रण तोड़ कर पद्य-रचना करनी पड़ी।[1]

पंचनामे की प्रारम्भिक छः पंक्तियाँ उसी हस्ताक्षर में हैं जिसमें संवत् १६४१ की 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तर कांड की प्रतिलिपि है। अतः यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि पचनामे के लेखक तुलसीदास ही 'वाल्मीकि रामायण' के प्रतिलिपि-कार तुलसी थे। राजापुर में सुरक्षित बाल कांड की प्रति इसलिए भी अप्रामाणिक मानी जाती है, क्योंकि उसके हस्ताक्षर इन दोनों प्रतियों के हस्ताक्षर से नहीं मिलते। राजापुर के बाल कांड की अप्रामाणिकता के विषय में यह भी कहा जाता है कि उसके संदर्भ में अनेक भूलें हैं। २५६ वें दोहे के आगे की चौपाई का यह क्रम :—

सकुचहुँ तात कहत एक बाता। मे प्रमोद परिपूरन गाता॥

अशुद्ध है, क्योंकि प्रथम पंक्ति के अर्थ की पूर्ति दूसरी पंक्ति में नहीं होती। राजापुर वाली प्रति में लिखने की तिथि भी नहीं दी गई है।

नागरी प्रचारिणी सभा ने 'मानस' का जो संस्करण प्रकाशित किया है उसका आधार निम्नलिखित प्रतियों पर है :—

(१) राजापुर का हस्त लिखित अयोध्या कांड जो गोस्वामी जी के हाथ का लिखा माना जाता है।

(२) अयोध्या की प्रति (बालकांड) जो गोस्वामी जी के परलोक-वास के ११ वर्ष पीछे की लिखी हुई है।

(३) काशिराज की प्रति।

(४) लाला छक्कन लाल का छपाया लीथो वाला संस्करण जो मिरजापुर के प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी की प्रति के आधार पर छपा था।

(५) सदल मिश्र का संस्करण जो वि० सं० १८६७ में कलकत्ते में छपा था।

(६) डेढ़ सौ वर्ष की लिखी एक हस्तलिखित प्रति।[2]

---

१ चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथयो टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुन गन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥
राम धाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥

२ तुलसी ग्रन्थावली, तीसरा खंड, वक्तव्य, पृष्ठ १-२

इन प्रतियों में सम्वत् १६६१ वाली अयोध्या की प्रति नहीं है, जो सबसे अधिक विश्वसनीय प्रति मानी जाती है। यह विषय चिंत्य है।

तुलसीदास और राजनीति

तुलसीदास ने 'मानस' में लोक-शिक्षा का बहुत व्यापक रूप रक्खा है। उन्होंने केवल व्यष्टि के लिए ही नहीं, समष्टि के लिए ऐसे नियमों की रूप-रेखा निर्मित की जो धर्म एवं समाज के लिए हितकर सिद्ध हो। वे एक महान् सुधारक थे। उन्होंने अपने आराध्य की महत्त्वपूर्ण कथा में जीवन के अंगों को घटित करते हुए आदर्श की ओर संकेत करने का स्थान निकाल ही लिया। उन्होंने जिस कुशलता से उपदेश का अंश कथा में मिलाया है उससे शिक्षा और कला ने एक ही रूप धारण कर लिया है, यही कवि की प्रतिभा का द्योतक है।

तुलसीदास ने राजनीति के सिद्धान्तों का निरूपण अधिकतर 'मानस' ही में किया है। पहले तो उन्होंने समकालीन परिस्थितियों का चित्रण कर—कलियुग के प्रभाव से—राजनीति की दुरवस्था का रूप खड़ा किया है, बाद में राम-राज्य वर्णन में राजनीति के आदर्श की ओर संकेत किया है। 'मानस' में अनेक स्थानों पर राजनीति के सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। तत्कालीन राजनीति के चित्र चार स्थानों पर प्रधान रूप से मिलते हैं। 'दोहावली', 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और 'मानस' में ये स्थल इस प्रकार हैं :—

(१) दोहावली

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल। साम न दाम न भेद कलि, केवल दन्ड कराल॥[१]

(२) कवितावली

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की॥
वेद-धर्म दूरि गए, भूमि चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की॥[२]

(३) विनयपत्रिका

राज समाज समाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परिमिति रति, हेतुवाद हठि हेरि हई है॥[३]

रावण के शासन की अनीतियों से तुलसीदास ने अपने समय में यवनों की राजनीतिक अनीतियों का संकेत बड़े कौशल से किया है :—

भुज बल विस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतन्त्र।
मंडलीक मनि रावन, राज करै निज मंत्र॥१८३॥

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड (दोहावली) दोहा ५५६, पृष्ठ १५३
२ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (कवितावली) छंद १७७, पृष्ठ २४७
३ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खंड (विनय-पत्रिका) छंद १३९, पृष्ठ ५३३

देव जच्छ गंधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि ।
जीति बरीं निज बाहुबल, बहु सुन्दर वर नारि ॥२१४॥
... ...
जेहि विधि होइ धरम निर्मूला, सो सब करहिं वेद प्रतिकूला ।
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं, नगर गाउँ पुर आग लगावहिं ॥
... ...
जप जोग विरागा तप मख भागा, श्रवन सुनै दससीसा ।
आपुन उठि धावै, रहै न पावै, धरि सब घालै खीसा ॥
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा, धरम सुनिअ नहिं काना ।
तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै, जो कह बेद पुराना ॥
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहि कवनि मिति ॥२१५॥[1]

राजनीति की इन दुःखपूर्ण परिस्थितियों से ऊब कर तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर राजनीति के आदर्शों का निरूपण किया है ।

(१) राजा ईश्वर का अंश है :—

साधु सुजान सुशील नृपाला । ईस अंश भव परम कृपाला ॥[2]

(२) राजा का धर्म प्रजा का सुख ही है :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥[3]

(३) राजा में समदृष्टि आवश्यक है :—

मुखिया मुखु सो चाहिये खान पान कहुँ एक ।
पालै पोषै सकल अंग तुलसी सहित विवेक ॥[4]

(४) राजा के कार्यों के लिए प्रजा-जन की सम्मति अपेक्षित है :—

मुदित महीपति मन्दिर आए । सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए ।
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए । भूप सुमंगल बचन सुनाए ॥
प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू । रामहि राय देहु जुवराजू ।
जो पाँचहि मत लागइ नीका । करहु हरषि हिय रामहिं टीका ॥[5]

(५) राजा में चार नीतियाँ होनी चाहिए :—

साम दाम अरु दंड बिभेदा । नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा ॥[6]

(६) राजा का सत्यव्रत होना आवश्यक :—

रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु बरु वचनु न जाई ॥[7]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली	दूसरा खन्ड	(मानस)	पृष्ठ ८०
२ तुलसी ग्रन्थावली	पहला खन्ड	(मानस)	पृष्ठ १७
३ तुलसी ग्रन्थावली	पहला खन्ड	(मानस)	पृष्ठ १८५
४ तुलसी ग्रन्थावली	पहला खन्ड	(मानस)	पृष्ठ २८०
५ तुलसी ग्रन्थावली	पहला खन्ड	(मानस)	पृष्ठ १५९
६ तुलसी ग्रन्थावली	पहला खन्ड	(मानस)	पृष्ठ ३८८
७ तुलसी ग्रन्थावली	पहला खन्ड	(मानस)	पृष्ठ १६८

(७) राजा को निर्भीक और स्वावलंबी होना चाहिए :

(अ) निज भुज बल मैं बैरु बढ़ावा। देइहौं उतरु जो रिपु चढ़ि आवा ॥[1]
(आ) जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥[2]
(इ) निसिचर हीन करौ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ॥[3]

(८) राजधर्म में आलस्य और असावधानी अक्षम्य है :—

बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोस कै सुरति बिसारी ॥
करसि पान सोवसि दिनु राती। सुधि नहि तव सिर पर आराती ॥
राजुनीति बिनु धन बिनु धर्मा। हरिहिं समर्पे बिनु सतकर्मा ॥
विद्या बिनु बिबेक उपजाए। श्रम फल पढ़े किए अरु पाए ॥
संग तें जती कुमंत्र ते राजा। मान तें ग्यान पान तें लाजा ॥
प्रीति प्रनय बिनु मद तें गुनी। नासहिं बेग नीति असि सुनी ॥
रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।
अस कहि बिबिध बिलाप, करि लागी रोदन करन।[4]

(९) राज्य में प्रजा की समृद्धि आवश्यक है :—

(अ) बिबिध जन्तु संकुल महि भ्राजा। प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा।[5]
(आ) पंक न रेनु सोह असि धरनी। नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥[6]

(१०) रक्तपात यथासम्भव बचाया जावे :—

(अ) मंत्र कहौं निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालि कुमारा ॥
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥[7]
(आ) नारि पाइ फिरि जाहि जौ, तौ न बढ़ाइय रारि।
नाहि त सम्मुख समर महँ, तात करिअ हठि मारि ॥[8]

(११) बैर उसी से हो जो बुद्धि-बल से जीता जा सके :—

नाथ बैर कीजे ताही सों। बुद्धि बल सकिअ जीति जाही सों ॥[9]

(१२) राजा को सभी कार्यों का श्रेय अपने सहायकों को देना चाहिए :—

१	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४८७
२	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १२१
३	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ २६३
४	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३०४
५	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३३२
६	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३३२
७	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३९७
८	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३७८
९	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३७

(अ) सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥[1]

(आ) तुम्हरे बल मैं रावनु मारा। तिलकु विभीषन कहुँ पुनि सारा॥[2]

(१३) राजा को आश्रम-धर्म का पूर्ण पालन करना चाहिए :—

(अ) अन्तहु उचित नृपहिं बनबासू। बय बिलोकि हिय होइ हरासू॥[3]

(आ) संत कहहिं अस नीति दसानन। चौथे पन जाइहिं नृप कानन॥[4]

(१४) राजा को स्वदेश स्वर्ग से भी अधिक प्रिय होना चाहिए :—

जद्यपि सब वैकुंठ बखाना। बेद पुरान विदित जग जाना।
अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥[5]

इन उद्धरणों के अतिरिक्त 'मानस' मे ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जहाँ राजनीति का वर्णन बड़े सरल शब्दों में घटनाओं के वर्णन मे किया गया है। संक्षेप में राजा को प्रजा का निष्पक्ष पालन, और दुष्टों का नाश करना चाहिए। उसे सत्यव्रती, निर्भीक, स्वावलम्वी, मेधावी, पराक्रमी, और स्वदेश-प्रेमी होना चाहिए।

तुलसीदास और समाज

तुलसीदास ने समाज की मर्यादा पर विशेष लिखा है। धर्म का पालन बिना समाज के मर्यादा-पालन के नहीं हो सकता। समाज के दो भाग हैं—व्यक्तिगत और सार्वजनिक। इन दोनों क्षेत्रों में तुलसीदास ने अपनी असाधारण काव्य-शक्ति से महान् संदेश दिया है। 'रामचरितमानस' के पात्रों में लोक-शिक्षा का रूप प्रधान रूप से है। पारिवारिक जीवन का आचार 'मानस' में यथास्थान सज्जित है। पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, सखा, सेवक, पुरजन आदि का क्या पारस्परिक व्यवहार होना चाहिए, इन सबका उत्कृष्ट निरूपण तुलसीदास ने अपनी कुशल लेखनी से किया है। 'वाल्मीकि रामायण' में मानवी भावनाओं के निरूपण के लिये आदि कवि ने अनेक प्रसंग लिखे हैं, जो स्वाभाविक होते हुये भी लोक-शिक्षा के प्रचारक नहीं हैं। लक्ष्मण का क्रोध, दशरथ के वचन आदि औचित्य का अति-क्रमण करते हैं, पर तुलसीदास ने ऐसे एक पात्र की भी कल्पना नहीं की, जिससे दुर्वासनाओं और अनाचारों की वृद्धि हो। उन्होंने तामसी पात्रों को भी सद्गुणों की वृद्धि करते हुए चित्रित किया है। सात्विक भावनाओं से भरे हुए पात्रों को तो

१	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३५५
२	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४३२
३	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १७६
४	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ३७३
५	तुलसी ग्रन्थावली	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४४०

उन्होंने मर्यादा का आधार ही अंकित कर दिया है। पारिवारिक जीवन के कुछ चित्र इस प्रकार हैं :—

(राम) बरष चारिदस विपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
　　　　आइ पाय पुनि देखिहौं, मन जनि करसि मलान ॥[१]

(लक्ष्मण) उतरु न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।
　　　　नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त काह बसाइ ॥[२]

(सीता) खग मृग परिजन नगर बनु, बलकल बिमल दुकूल।
　　　　नाथ साथ सुरसदन सम, परनसाल सुखमूल ॥[३]

(भरत) बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृस गात।

(दशरथ) राम-राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जलजात ॥[४]

　　　　सो तनु राखि करबि मैं काहा। जेहि न प्रेम पनु मोर निबाहा ॥[५]

(कौशल्या) धीरजु धरिअ तो पाइअ पारू। नाहित बूड़िहि सबु परिवारू।
　　　　जौंजिय धरिअ बिनय पिय मोरी। राम लषनु सिय मिलहिं बहोरी ॥[६]

(सुमंत) तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई ॥
　　　　मंत्रिहिं राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम मतु तुम्ह सब सोधा ॥[७]

(निषाद) नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा।
　　　　बहुत काल मैं कीन्ह मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी ॥[८]

(हनुमान) सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख, गात हरषि हनुमंत।
　　　　चरन परेउ प्रेमाकुल, त्राहि-त्राहि भगवंत ॥[९]

(प्रजा) सबहि बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लषन सिय बिनु सुखु नाहीं ॥
　　　　जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिन रघुबीर अवध नहिं काजू ॥[१०]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ १७८
२ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ १८५
३ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ १८३
४ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ ४३८
५ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ २१८
६ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ २१७
७ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ १९४
८ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ १९७
९ तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ ३५५
१० तुलसी ग्रन्थावली　पहला खंड　(मानस)　पृष्ठ १९०

(विभीषण) जिन्ह पायन्ह के पादुकाहिं, भरत रहे मन लाइ ।
ते पद आज विलोकिहौं, इन्ह नयनन्हि अब जाइ ।।[1]

इन पात्रों की चरित्र-रेखा के साथ अन्य अनेक पात्रों में तुलसीदास ने जिस आदर्शवाद का स्तर (Standard) निर्धारित किया है, वह समाज को संयमशील बनाने में बहुत सहायक हुआ । यही कारण है कि हिन्दू जीवन में 'मानस' के पात्र आज भी उत्साह और शक्ति की स्फूर्ति पहुँचा रहे हैं ।

उत्तर कांड में तुलसी ने राम-राज्य में समाज का जो चित्र खींचा है, वह वर्णाश्रम धर्म से युक्त है । जब समाज में इस धर्म का पालन किया जावेगा, तभी उसमें सुख-समृद्धि होगी और वह राम-राज्य के समान हो जावेगा । तुलसीदास ने राम-राज्य में आदर्श समाज का जो वर्णन किया है वह इस प्रकार है :—

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप विषमता खोई ॥
बरनाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग ।
चलहि सदा पावहिं सुख, नहिं भय शोक न रोग ।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति रीती ।
सब उदार सब पर उपकारी । विप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारि व्रत रह सब झारी । ते मन बच क्रम पति हितकारी ।।
दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्त्तक नृत्य समाज ।
जितहु मनहि अस सुनिअ जग रामचन्द्र के राज ।।[2]

बाल कांड में भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदरपूर्ण स्थान का निर्देश है । सीता के स्वयम्बर में पुरजनों को यथास्थान बिठलाने का निर्देश करते समय तुलसीदास ने लिखा है :—

देखी जनक भीर भै भारी । सुचि सेवक सब लिए हँकारी ।
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू । आसन उचित देहु सब काहू ।।
कहि मृदु बचन विनीत तिन्ह, बैठारे नर नारि ।
उत्तम मध्यम नीच लघु, निज निज थल अनुहारि ।।[3]

तुलसी ने नारि जाति के प्रति बहुत आदर-भाव प्रकट किया है । पार्वती, अनसुइया, कौशल्या, सीता, ग्राम-वधू आदि की चरित्र-रेखा पवित्र और धर्म-पूर्ण विचारों से निर्मित की गई है । कुछ आलोचकों का कथन है कि तुलसीदास ने नारी जाति की निन्दा की है और उन्हें "ढोल, गँवार" की श्रेणी में रक्खा है । किन्तु यदि 'मानस' पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए हैं, जब नारी ने धर्म के विपरीत आचरण किया है; अथवा निन्दात्मक वाक्य कहने वाले व्यक्ति वस्तु-स्थिति देखते हुए

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ ३६०
२ तुलसी ग्रन्थाली पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४४९-४५०
३ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ १०४

नीतिमय वाक्य कहते हैं। ऐसी स्थिति में वे कथन तुलसीदास के न होकर परिस्थिति-विशेष में पड़ हुए व्यक्तियों के समझने चाहिए। जैसे—

(१) ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।[1]

(२) नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं।।
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच, अदाया।।[2]

पहली उक्ति सागर ने अपनी क्षुद्रता बतलाने के लिए राम से कही और दूसरी रावण ने अपनी महत्ता बतलाने के लिए मन्दोदरी से कही।

तुलसीदास ने समाज का आदर्श विस्तारपूर्वक लिखा, क्योंकि उन्होंने अपने समय में समाज की दुरवस्था देखी थी। समाज-सुधार के लिए ही उन्होंने 'रामायण' की चरित्र रेखा को अपने 'मानस' में परिष्कृत कर नवीनता के साथ रख दिया। तुलसीदास की यही मौलिकता थी। उन्होने अपने 'मानस' में तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण बहुत स्पष्टता के साथ किया है :—

दोहावली—बादहिं सूद्र द्विजन सन, "हम तुम तें कछु घाटि ?
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर" आँखि दिखावहिं डाँटि।।

कवितावली— बबुर बहेरे को बनाय बाग लाइयत,
रूंधबे को सोई सुरतरु काटियत है।
गारी देत नीच हरिचन्द हू दधीच हू को,
आपने चना चबाइ हाथ चाटियत है।।
आप महापातकी, हँसत हरिहर हू को,
आपु हैं अभागी भूरिभागी डाटियत है।
कलि को कलुष मन मलिन किये महत,
मसक की पाँसुरी पयोधि पाटियत है।।[4]

विनय-पत्रिका—आस्रम बरन धरम बिरहित जग, लोक वेद मरजाद गई है।
प्रजा पतित पाखंड पाप रत, अपने अपने रंग रई है।।
सांति सत्य सुभरीति गई घटि, बढ़ी कुरीति कपट कलई है।
सीदत साधु साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है।।[5]

'मानस'—बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नरनारी।
द्विज स्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहि मान निगम अनुसासन।।[6]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खन्ड (मानस) पृष्ठ ३६६

२ तुलसी ग्रन्थावली पहला खन्ड (मानस) पृष्ठ ३७६

३ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खन्ड (दोहावली) पृष्ठ १५२

४ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खन्ड (कवितावली) पृष्ठ २२६

५ तुलसी ग्रन्थावली दूसरा खन्ड (विनयपत्रिका) पृष्ठ ५३३

६ तुलसी ग्रन्थावली पहला खन्ड (मानस) पृष्ठ ४८३

तुलसीदास ने 'मानस' के उत्तर कांड में कलियुग का जो वर्णन किया है वह उन्हीं के समय की तत्कालीन परिस्थिति थी। उस अंश को पढ़ कर ज्ञात होता है कि कवि के मन में समाज की उच्छृंखलता के लिये कितना क्षोभ था। इसी क्षोभ की प्रतिक्रिया उनके लोकशिक्षक समाज-चित्रण के आदर्श मे है।

तुलसीदास और दर्शन

तुलसीदास के ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि उन्होंने संस्कृत के दर्शन-शास्त्र का बड़ा गंभीर अध्ययन किया था। दर्शन की अत्यंत कठिन और रहस्यपूर्ण बातों को उन्होंने बड़ी ही सरलता से अपनी 'भाषा' में रख दिया है। तत्कालीन साहित्य में कोई भी ऐसा कवि नही है, जिसने दर्शन-शास्त्र का परिचय इतनी दक्षता के साथ दिया हो। तुलसीदास के दो ही ग्रंथ ऐसे हैं, जिनमें उनके दर्शन-ज्ञान का पता चलता है। एक तो 'विनपत्रिका' है, दूसरा 'मानस'। 'विनय-पत्रिका' में स्तुति, आत्म-बोध और आत्म-निवेदन का अंश अधिक हो जाने के कारण दर्शन का विशेष स्पष्टीकरण नहीं है, पर कुछ पद ऐंसे अवश्य हैं, जिनसे तुलसी का दर्शन-ज्ञान लक्षित होता है। शंकर के मायावाद के निरूपण में तो वे दक्ष हैं:—

> केसव कहि न जाइ का कहिए।
> देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
> सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
> धोए मिटै न, मरै भीति दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
> रबिकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माही।
> बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
> कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै।
> तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥[1]

इस पद से ज्ञात होता है कि वे शंकर के अद्वैतवाद के प्रतिपादक होते हुए भी उसे 'भ्रम' मानते थे। जो हो, 'विनयपत्रिका' में 'दर्शन' के कुछ सिद्धान्तों का निर्देश अवश्य है, पर उसमें अधिकतर विनय और प्रेम का अंश ही अधिक है।

'मानस' में तुलसी का दर्शन बहुत विस्तृत, व्यापक और परिमार्जित है। उन्होंने घटना-प्रसंग में भी दर्शन का पुट दे दिया है। जहाँ कहीं भी उन्हें भावनाओं के बीच में अवकाश मिला है, उन्होंने दर्शन की चर्चा छेड़ दी है। बाल कांड के प्रारंभ में तो ईश्वर-भक्ति का निरूपण करते हुए उन्होंने अपनी दार्शनिकता के अंग-अंग स्पष्ट किए हैं। इसी प्रकार लक्ष्मण-निषाद संवाद, राम-नारद संवाद, वर्षा-

१. तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड (विनयपत्रिका) पृष्ठ ५१६

शरद वर्णन, राम-लक्ष्मण संवाद, गरुड़ और कागभुशुंडि संवाद में तुलसी ने अपनी दार्शनिकता का परिचय दिया है।

उनका दर्शन किस 'वाद' के अंतर्गत आता है, यह विवाद-ग्रस्त है। कुछ समालोचकों ने इधर सिद्ध किया है कि तुलसी अद्वैतवाद के पोषक थे, कुछ कहते हैं कि वे विशिष्टाद्वैतवादी थे, किन्तु अभी तक कोई भी मत स्पष्ट नहीं हो पाया।

तुलसी के दर्शन सम्बन्धी अवतरणों को देखने से ज्ञात होता है कि वे राम को 'विधि हरि शंभु नचावन हारे' के रूप में मानते थे। अतः वे आदि ब्रह्म हैं। इस ब्रह्म के लिए उन्होंने सभी विशेषणों का प्रयोग किया है, जो अद्वैतवाद के ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इस अद्वैतवाद की व्याख्या में माया के लिये भी स्थान है, जिसका वर्णन तुलसीदास ने अनेक बार किया है। यह तो स्पष्ट है कि तुलसीदास वैष्णव थे, अतः वे अवतारवादी भी थे। इसका प्रमाण उनके 'मानस' में अनेक बार है। वे अपने ब्रह्म को अद्वैतवाद के शब्दों में तो व्यक्त करते हैं, पर उसे विशिष्टाद्वैत के गुण से युक्त कर देते हैं:—

> एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा।
> व्यापक विश्व रूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
> सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपालु प्रनत-अनुरागी॥[1]

यहाँ एक अनीह और अरूप ब्रह्म भक्तों के लिये अवतार लेता है। अद्वैतवाद के रूप में उनका ब्रह्म इस प्रकार है:—

> (अ) गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।[2]
> (आ) नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥[3]
> (इ) व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥[4]
> (ई) ईश्वर अंश जीव अबिनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥[5]
> (उ) निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम्।
> चिदाकाशमाकाश वासं भजेऽहम्

इसी अद्वैत ब्रह्म को जब तुलसीदास विशिष्ट बनाते हैं तब वे सती से प्रश्न कराते हैं:—

> ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकल अनीह अभेद।
> सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥[7]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १०
२ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १३
३ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १४
४ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ १५
५ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४६५
६ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ ४८८
७ तुलसी ग्रन्थावली,	पहला खंड	(मानस)	पृष्ठ २७

आवश्यकता पड़ी, वहीं उसके बाद उन्होंने उसे भक्तिमार्ग का आराध्य भी मान लिया। यह इसीलिए किया गया, क्योंकि वे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट बतला देना चाहते थे। अरण्य कांड में जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र से पूछा—

"ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु, कहहु सकल समुझाइ ॥[1]

उस समय राम ने—

माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव।
बन्ध मोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव ॥[2]

कहकर भी यह स्पष्ट घोषित किया

जा तें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत-सुखदाई ॥[3]

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के मतानुसार "दार्शनिक सिद्धांतों में श्री गोस्वामी जी श्री शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अनुगामी हैं।"[4] अपने प्रमाण में उन्होंने 'मानस' के प्रायः सभी दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले स्थल उपस्थित कर दिये हैं। उनके विचारों से विषय बहुत स्पष्ट हो जाता है, पर यह सिद्ध नहीं हो पाता कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैत के समर्थक नही थे।

तुलसीदास ने अद्वैतवाद का निरूपण अवश्य किया है, पर वे इसे अपना मत नहीं मान सके। मानस में अद्वैतवाद की भावना लाने के निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :—

(१) तुलसीदास ने राम के ब्रह्मत्व का संकेत ही शिव-पार्वती के संवाद में दे दिया था। उसी तत्व-निरूपण में उन्हें राम को विशिष्टाद्वैत के विशेषणों से संयुक्त करना पड़ा।

(२) तुलसीदास धार्मिक सिद्धान्तों में बहुत सहिष्णु थे। अतः उन्होंने अद्वैतवादियों और विशिष्टाद्वैतवादियों का विरोध दूर करने के लिये राम के व्यक्तित्व में दोनों 'वादों' को सम्मिलित कर दिया।

(३) तुलसीदास रामानन्द की शिष्य-परम्परा में थे। रामानन्द की शिष्य परपरा में 'अध्यात्म रामायण' आधारभूत धार्मिक पुस्तक थी।[5] अध्यात्म रामायण की समस्त कथा में अद्वैतवाद की भावना है। अतः तुलसीदास ने जब 'अध्यात्म रामायण' को अपने 'मानस' का आधार बनाया तो वे उसकी अद्वैत भावना की

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ २९८
२ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ २९९
३ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ २९९
४ तुलसी ग्रन्थावली तीसरा खंड (मानस) पृष्ठ ६४
५ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस लिट्रेचर ऑव् इंडिया, पृष्ठ ३२६

अवहेलना भी नहीं कर सके। यही कारण है कि 'मानस' में स्थान-स्थान पर अद्वैत भावना का निरूपण है। इस निरूपण के बाद यह कहा जा सकता है कि तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी थे।

तुलसीदास ने जिस ब्रह्म का निरूपण किया है उसकी मर्यादा विशिष्टाद्वैत से ही निर्मित है।

सीय-राम-मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥[1]

इस चौपाई में विशिष्टाद्वैत की प्रधान भावना सन्निहित है। चित्, अचित् ये ईश्वर के ही रूप हैं। ये उससे किसी प्रकार भी अलग नहीं रह सकते। जब ईश्वर आदि रूप में रहता है, तब चित् और अचित् (संसार सूक्ष्म रूप से) ईश्वर में व्याप्त रहता है और जब ईश्वर अपना विकास करता है तब वह स्थूल रूप धारण करता है। अतः चित् अचित् में ईश्वर की व्याप्ति सब काल के लिए है।[2] इसी में "सीय राममय सब जग जानी' की सार्थकता है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर का स्वरूप पाँच प्रकार का है, पर, व्यूह, विभव, अंतर्यामी और अर्चावतार। तुलसीदास ने अपने ब्रह्म राम को इन्हीं पाँच रूपों में चित्रित किया है :—

१. **पर**—यह वासुदेव-स्वरूप है। यह ऐसा रूप है, जो परमानन्द-मय है और अनन्त है। 'मुक्त' और नित्य' जीव उसी में लीन हैं। यह षड्गुण्य विग्रह (ऐश्वर्य, शक्ति, तेज, ज्ञान और वीर्य से युक्त शरीर) रूप है। इसीलिए राम को यही रूप दिया गया है और उनके प्रत्येक कार्य पर देवता (नित्य जीव) फूल बरसाते और अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

गगन विमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥
बरसहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगहि गगन दुंदुभी बाजी॥[3]

इस पर-रूप का वर्णन 'मानस' में इस प्रकार है :—

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस कौसल्या के गोद॥[4]

२. **व्यूह**—यह स्वरूप विश्व की सृष्टि और उसके लय के लिए ही है। "षड्गुण्य विग्रह में से केवल दो गुण ही स्पष्ट होते हैं। वे गुण चाहे ज्ञान और बल हों, चाहे ऐश्वर्य और वीर्य या शक्ति और तेज हों। तुलसीदास व्यूह के वर्णन में लिखते हैं :—

---

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड (मानस) पृष्ठ ७

२ दि कनवेनशन ऑव् रिलीजन्स इन इंडिया (१६०६) भाग २, पृष्ठ १६-१७ (नरसिंह आयंगर)

३ तुलसी ग्रन्थावली (रामचरित मानस, बाल कांड), पृष्ठ ८४

४ तुलसी ग्रन्थावली (रामचरित मानस, बाल कांड), पृष्ठ ८७

जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंड कोस समेत गिरि कानन॥[१]

३. **विभव**—इस रूप में विष्णु के अवतार मुख्य हैं। यह रूप विशेष रूप से नर-लीला के निमित्त होता है। इसमें "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" का उद्देश्य रहता है। तुलसीदास ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है:—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा, तम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा॥
अंसन्ह सहितमनुज अवतारा, लेइहौं दिनकर बंस उदारा॥
हरिहौं सकल भूमि गरुआई, निरभय होहु देव-समुदाई॥[२]

विभव के निरूपण ही में तुलसीदास ने लिखा है:—

निज इच्छा प्रभु अवतरै, सुर महि गो द्विज लागि।
सगुन उपासक संग तहँ, रहे मोच्छ सुख त्यागि।[3]

४. **अन्तर्यामी**—इस रूप में ईश्वर समस्त ब्रह्मांड की गति जानता है। वह जीवों के अंतःकरण में प्रवेश कर उनका नियमन भी करता है। इसी रूप में राम ने अवतार के रहस्यों को सुलझाया है। तुलसीदास ने अंतर्यामी राम का चित्रण 'मानस' में अनेक स्थानों पर किया है। उदाहरणार्थ अरण्यकांड में यह निर्देश है:—

तब रघुपति जानत सब कारन। उठे हरषि सुरकाज सँवारन।[४]

५. **अर्चावतार**—यह ब्रह्म का वह रूप है, जो भक्तों के हृदय में अधिष्ठित है। वे जिस रूप से ब्रह्म को चाहते हैं, ब्रह्म उसी रूप से उन्हें प्राप्त होता है, तभी तो ब्रह्म की भक्ति सब कालों और सब परिस्थितियों में सुलभ होती है। तुलसीदास ने इसका वर्णन राम-जन्म के समय कौशल्या से कराया है:—

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजिअ सिसुलीला अति प्रिय सीला, यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा॥[५]

इस भाँति तुलसीदास ने 'मानस' में राम को उपर्युक्त पाँच रूपों में प्रस्तुत किया है। लोकाचार्य ने अपने 'तत्वत्रय' में भगवान् के देह का जो रूप लिखा है, वही तुलसीदास ने राम के व्यक्तित्व में निरूपित किया है:—

१ तुलसी ग्रन्थावली, (रामचरित मानस) पृष्ठ ३५१
२ तुलसी ग्रंथावली, (रामचरित मानस) पृष्ठ ८२
३ तुलसी ग्रंथावली, (रामचरित मानस) पृष्ठ ३३६
४ तुलसी ग्रंथावली, (रामचरित मानस) पृष्ठ ३०८
५ तुलसी ग्रंथावली, (रामचरित मानस) पृष्ठ ८४

"भगवान का शरीर सकल जगत् को मोहने वाला है। इस रूप के दर्शन से सांसारिक समस्त भोग्य पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह तीनों तापों का नाश करने वाला है। नित्य मुक्तों से सतत ध्यान करने योग्य यह भगवान का स्वरूप है। दिव्य भूषणों से तथा दिव्य अस्त्रों से सदैव यह शरीर युक्त रहता है। यह भक्तों का रक्षक है। धर्म की रक्षा के लिए जब कोई जगत् में अवतार लेता है तो वह भगवद्देह से ही आविर्भूत होता है।"[1]

तुलसीदास विशिष्टाद्वैत मत में अपनी आस्था रखते थे, इसका एक विश्वस्त प्रमाण बालकांड में रामजन्म के प्रसंग में तुलसीदास ने दिया है। भक्त तुलसीदास ने अपने आराध्य राम के आविर्भाव के समय स्वाभाविक रूप से अपने हृदय की प्रेरणा महारानी कौशल्या के मुख से प्रकट कर दी है। कौशल्या ने जो स्तुति राम के प्रकट होने के समय की है उसमें ब्रह्म का आविर्भाव विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तानुसार ही है। 'मानस' में यह पहला प्रसंग है, जब कवि अपने आराध्य के प्रकट होने का अवसर वर्णन करता है और ऐसी स्थिति में वह अपनी समस्त श्रद्धा-संपत्ति विश्वास-मयी भावनाओं से अपने प्रभु के चरणों में समर्पित करता है। अतः इस अवसर पर कवि तुलसीदास के विचारों और विश्वासों का अत्यंत प्रामाणिक चित्र बिना किसी कृत्रिमता के पाया जा सकता है। उदाहरण के लिए कौशल्या द्वारा की हुई स्तुति में कवि की विशिष्टाद्वैत सम्मत ब्रह्म के आविर्भाव की क्रमिक रूप-रेखा देखिये। क्रम में किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है :—

[स्तुति की पृष्ठभूमि और रूप-चित्रण]

भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौशल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥
लोचन अभिरामं तनु घन स्यामं निज आयुध भुज चारी।
भूषन बन माला नयन बिसाला सोभा सिंधु खरारी॥

[पर रूप]

कह दुई कर जोरी अस्तुति तोरी केहि विधि करौ अनंता।
माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥

[व्यूह रूप]

करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयेउ प्रगट श्री कंता॥

---

१ प्राचीन वैष्णव संप्रदाय—डा० उमेश मिश्र, एम ए०, डी० लिट०
(हिन्दुस्तानी—१९३७, पृष्ठ ४२६)

[विभव रूप]

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

[अन्तर्यामी रूप]

उपजा जब ग्याना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

[अर्चावतार रूप]

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजिअ सिसु लीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा॥

[आविर्भाव का निष्कर्ष और महत्त्व]

विप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गोपार॥[1]

इस भाँति यह निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि तुलसीदास अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में विशिष्टाद्वैतवादी थे।

तुलसीदास और धर्म

तुलसीदास ने ऐसे समय जन्म लिया था जब भारत की धार्मिक परिस्थिति अनेक प्रभावों से शासित हो रही थी। मुसलमानों का राज्य-काल धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दुओं के लिए हितकर नहीं रहा। यदि कुछ साधु-प्रकृति शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार नहीं किये तो उनके धर्माचार को प्रोत्साहित भी नहीं किया। अकबर ही एक ऐसा शासक था जिसने धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया, पर अकबर के पूर्व शासकों की जो नीति थी उसके फलस्वरूप जनता में धार्मिक विद्वेष की आग अभी तक कहीं-कहीं दीख पड़ती थी। यह विरोध धार्मिक शान्ति के प्रतिकूल था, किन्तु इसी समय हिन्दू धर्म के महान् आचार्यों ने जन्म लिया और प्रतिक्रिया के रूप में अपने धर्म को और भी उत्कृष्ट बना दिया। मुसलमानी प्रभाव उन्हें किसी प्रकार भी अपने धर्म-मार्ग से विचलित नहीं कर सका और वे हिन्दू धर्म के महान् संदेश-वाहक हुए। ऐसे ही महान् आचार्यों में तुलसीदास का स्थान है।

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ८४

मुसलमानी प्रभाव के अतिरिक्त तुलसीदास के सामने धर्म की समस्या विचित्र रूप में आई। उन्होंने "गोंड गँवार नृपाल महि, यमन महा महिपाल" की विषम परिस्थिति में अपनी धार्मिक मर्यादा का आदर्श उपस्थित करते हुए अनेक मतों और पंथों से भी समझौता किया। तुलसीदास की यह कुशल नीति थी। उनके समय में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी प्रधान रूप से अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे और प्रत्येक क्षेत्र में वैष्णवों से प्रतिद्वंद्विता कर रहे थे। तुलसीदास ने इनसे विरोध की नीति का पालन न कर उन्हें अपने ही आदर्शों में सम्मिलित कर लिया। तुलसीदास की इस सहिष्णु नीति ने धार्मिक भेदों का एकदम ही विनाश कर दिया। वैष्णव धर्म के इस सिद्धान्त-संगठन ने हिन्दू धर्म को इस्लाम की प्रतिद्वंद्विता में विशेष बल प्रदान किया।

तुलसीदास ने वैष्णव धर्म को इतना व्यापक रूप दिया कि उसमें शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी सरलता से सम्मिलित हो गये। तुलसीदास की इस धार्मिक नीति ने राम-भक्ति के प्रचार का अवसर भी विशेष दिया और 'रामचरित-मानस' को साहित्यिक होने के साथ-साथ धार्मिक ग्रन्थ होने के योग्य बनाया। 'मानस' के वे स्थल धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जो शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गी को वैष्णव धर्म के अन्तर्गत करने के लिये लिखे गये हैं :—

शैव—

(अ) करिहौं इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना॥

... ...

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहिं न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही, सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि, घोर नरक महुँ बास॥[1]

(आ) औरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥[2]

शाक्त—

नहिं तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना॥
भव-भव विभव पराभव कारिनि। विस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि॥[3]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३७१
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ४०६
३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १०२

पुष्टिमार्गी—

(अ) अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू ॥[१]

(आ) सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ॥
तुम्हरिहि कृपा तुमहि रघुनन्दन। जानहि भगत भगत उर चन्दन ॥[२]

(इ) राम भगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके ॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं ॥
सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहि कोउ लहई ॥[३]

राम के व्यक्तित्व में शैव, शाक्त और पुष्टिमार्गियों के आदर्शों की पूर्ति कर तुलसीदास ने राम-भक्ति में व्यापकता के साथ ही साथ शक्ति भी ला दी। शैव और वैष्णवों की विचार-भिन्नता की समाप्ति तुलसीदास की लेखनी से हुई।

तुलसीदास स्मार्त वैष्णव में। वे पंच देवताओं की पूजा में विश्वास करते थे, इसका प्रमाण उनकी विनयपत्रिका में दिया ही जा चुका है। इस दृष्टिकोण से उनकी भक्ति की मर्यादा का रूप और भी स्पष्ट हो गया था। उनके सामने ज्ञान का उतना महत्त्व नही था जितना भक्ति का, यद्यपि उन्होंने ज्ञान और भक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं माना। ज्ञान की अपेक्षा उन्होंने भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है, जिसके विवेचन में उन्होंने उत्तरकांड का उत्तरार्ध लिखा। गरुड़ ने 'भुसुंडि' से यही प्रश्न किया था :—

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहौ बुझाइ कृपानिधि मोही ॥
ग्यानहि भगतिहिं अन्तर केता। सकल कहौ प्रभु कृपा निकेता ॥[४]

और इसका उत्तर सुजान 'काग' ने इस प्रकार दिया :—

भगतिहि ग्यानिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अन्तर। सावधान सोउ सुनु बिहंगवर ॥[५]

और यह अंतर केवल इतना है कि भक्ति स्त्री है और ज्ञान पुरुष है।

ग्यान बिराग जोग, बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना ॥
... ...
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥
माया भगति सुनहु प्रभु दोऊ। नारिवर्ग जानहिं सब कोऊ ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी ॥
भगतहिं सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ॥[६]

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १९९
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ २०७
३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४९०
४ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४९४
५ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४९४
६ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ४९४-४९५

अतः भक्ति पर माया का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। भक्त को "रघुपति कृपा सपनेहुँ मोह न होइ" की भावना तुलसीदास ने अपने 'मानस' में रक्खी है।

ज्ञान की साधना है भी बड़ी कठिन। जो इस कठिन साधना में सफल होते हैं, उन्हें मुक्ति अवश्य मिलती है, पर यह सफलता प्राप्त करना बहुत कष्ट-साध्य है :—

ग्यान कै पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
जौं निरबिघन पंथ निरबहई। सो कैवल्य परमपद लहई॥[1]

इस भाँति तुलसी ने ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता स्पष्ट की है। इस भक्ति का चरम उद्देश्य सेवक-सेव्य भाव की सृष्टि करना है, जो तुलसीदास का आदर्श है। इस आदर्श के सम्बन्ध में तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से घोषित किया है :—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि। भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धांत बिचारि॥[2]

तुलसीदास ने ज्ञान और भक्ति का यह विरोध दूर कर धार्मिक परिस्थितियों में महान् ऐक्य की सृष्टि की। ज्ञान भी मान्य है, पर भक्ति की अवहेलना करके नहीं। इसी प्रकार भक्ति का विरोध भी ज्ञान से नहीं। दोनों में केवल दृष्टिकोण का थोड़ा सा अन्तर है। इसे समझाते हुए श्रीरामचन्द्र ने अरण्यकांड में नारद से कहा है :—

सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करौं सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालकहिं राख महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखैं जननी अरुगाई॥
पौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करै नहिं पाछिल बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहिं मोर बल निज बल नाहीं। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहीं॥
यह बिचारि पण्डित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥[3]

ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, यही तुलसी का दृष्टिकोण है। इस भाँति ज्ञान और भक्ति में साम्य उपस्थित कर तुलसीदास ने बहुत से वितंडावादों की जड़ काट दी। उन्होंने ज्ञान और भक्ति दोनों को मानते हुए भक्ति की ओर ही अपनी प्रवृत्ति प्रदर्शित की है और इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र के मुख से लक्ष्मण के प्रति कहलाया है :—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्याना मोच्छप्रद बेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ४६७
२ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ४६७
३ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३१६

सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला ॥[१]

इस भाँति वे 'ग्यान विग्यान' को भी भक्ति के आधीन समझते हैं । भक्ति से ज्ञान की सृष्टि होती है और ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति की स्थिति रहती है। दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, दोनों में किसी प्रकार का भी विरोध नहीं है, यही तुलसीदास के भक्ति-ज्ञान-प्रकरण का निष्कर्ष है। यह इस प्रकार स्पष्ट है :—

जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥[२]

भक्ति के अनेक साधन तुलसीदास ने बतलाए हैं । वे सभी वर्णाश्रम धर्म के दृष्टिकोण से हैं । तुलसीदास के अनुसार भक्ति के साधन निम्नलिखित हैं, जो स्वयं श्रीरामचन्द्र के मुख से कहलाए गए हैं :-

भगति के साधन कहौं बखानी । सुगम पन्थ मोहिं पावहिं प्रानी ॥[३]

(१) प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती ।[४]
(२) निज निज धरम निरत श्रुति रीती ॥
(३) यहि कर फल पुनि विषय बिरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं । मम लीला रति अति मन माही ॥
(४) संत चरन पंकज अति प्रेमा । मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ॥
(५) गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा । सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
(६) मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
(७) काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरन्तर बस मैं ताके ॥

बचन करम मन मोरि गति, भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्हके हृदय कमल महुँ, करौ सदा विश्राम ॥[५]

भक्ति की सर्वोच्च साधना ही तुलसीदास के धर्म की मर्यादा है । तुलसीदास ने सरल साधन के सहारे जिस प्रकार धर्म की रूपरेखा निर्धारित की थी, उसमें दोषों के आ जाने का सन्देह था । भक्ति करते हुए भी लोग बाह्याडंबर और छल-कपट न करें, इसलिए तुलसीदास ने अपने धर्म के स्वरूप को अक्षुण्ण रखने के लिए संतों के लक्षण भी लिख दिये हैं—

नारद ने श्री रामचन्द्र से पूछा :—

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा । कहहु नाथ भंजन भव भीरा ॥[६]

---

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ २९९
२ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ४९४
३ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ २९९
४ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ २९९
५ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, (मानस) पृष्ठ २९९
६ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, (मानस) पृष्ठ३२०३-२१

तब श्री रामचन्द्र जी ने उत्तर दिया:—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह ते मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानस मद हीना। धीर भगति पथ परम प्रवीना॥
गुनागार संसार दुख रहित बिगत सन्देह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह॥
निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोविंद बिप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मइत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति विवेक बिनय बिग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दम्भ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला॥
सुनि मुनि साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

संक्षेप में तुलसीदास के धर्म की व्याख्या यही है कि—

परहित सरिस धर्म नहि भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।[२]

तुलसीदास और साहित्य

तुलसीदास ने जिस समय लेखनी उठाई थी उस समय उनके सामने केवल चारण-काल के वीर-गाथात्मक ग्रंथ और प्रेम-काव्य तथा संत-काव्य के मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित धार्मिक ग्रंथ थे। चारण-काल में तो काव्य की भाषा ही स्थिर नहीं हुई थी, अतः उसमें साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कम था। प्रेम-काव्य की दोहा-चौपाई की प्रबन्धात्मक रचना में शैली का सौन्दर्य अधिक था और भावों का कम। संत साहित्य में तो एकमात्र एकेश्वरवाद और गुरु की वन्दना थी। उसमें धर्म-प्रचार की भावना अधिक थी, साहित्य-निर्माण की कम। कृष्ण-काव्य के आदर्श भी बन रहे थे, वे अभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए थे। अतः तुलसीदास के समय में साहित्य बहुत ही साधारण कोटि का था। उन्होंने उसे केवल अपनी प्रतिभा से उत्कृष्ट बना दिया, जब कि उनके सामने साहित्यिक आदर्श न्यून मात्रा ही में थे। यही तुलसीदास की अपरिमित शक्ति थी।

भाषा—तुलसीदास के पूर्व अवधी में काव्य-रचना हो चुकी थी, क्योंकि सूफी कवियों ने उसमें प्रेम-गाथाओं की रचना की थी, पर यह अवधी ग्रामीण थी, उसमें साहित्यिक परिष्करण नहीं था। तुलसीदास ने अवधी में 'रामचरित-मानस'

१ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३२१
२ तुलसी ग्रन्थावली पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ४५८

लिख कर उसे उतना ही सुसंस्कृत और मधुर बना दिया जितना ब्रजभाषा में लिखा गया 'सूरसागर'। 'सूरसागर' का दृष्टिकोण तो सीमित है, पर 'मानस' का दृष्टिकोण मनुष्य-जीवन का सम्पूर्ण आलिंगन किए हुए है। अतः 'मानस' का महत्त्व 'सूरसागर' से कहीं अधिक है। तुलसीदास के समय में कृष्ण-काव्य की रचना ब्रजभाषा में होने लगी थी। तुलसीदास ने ब्रजभाषा में भी 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली', 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' की रचना कर अपनी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का परिचय दिया। 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' की ब्रजभाषा इतनी परिष्कृत और सम्बद्ध है कि वैसी कृष्ण-काव्य के प्रमुख कवियों से भी नहीं बन पड़ी।

अवधी और ब्रजभाषा के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य भाषाओं को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया, यद्यपि उन्होंने उनमें से किसी में भी स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखे। 'विनयपत्रिका' में भोजपुरी का यह नमूना कितना सरस और स्वाभाविक है :—

राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहित भव बेगारि महँ परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे॥
बाँस पुरान साजसब अटखट, सरल तिकोन खटोला रे॥
हमहिं दिहल करि कुटिल करम, चँद मंद मोल बिनु डोला रे॥
विषम कहार मार मदमाते, चलहिं न पाँव बटोरा रे।
मंद विलंद अभेरा दलकन, पाइय दुख झकझोरा रे॥
काँट कुरायँ लपेटन लोटन, ठावहिं ठाँउँ बझाऊ रे।
जस जस चलिय दूरि तस निज, बास न भेट लगाऊ रे॥
मारग अगम संग नहि सम्बल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भवत्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥[1]

इस प्रकार तुलसीदास ने बुन्देलखंडी के शब्दों का प्रयोग भी स्वाभाविकता से किया है :—

ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई।
अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो कई॥[2]
... ...
परिवार पुरिजन मोहिं राबहिं प्रान प्रिय सिय जानिबी।
तुलसी सुसील सनेह लखि निज किंकरी करि मानिबी॥[3]

हिन्दी की प्रान्तीय बोलियों के अतिरिक्त तुलसीदास ने मुगलकालीन अरबी, फारसी शब्दों का प्रयोग भी बड़े कौशल से अपनी रचनाओं में किया है। जहाँ

१ तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड (विनयपत्रिका), पृष्ठ ५५८-५५९
२ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १४०
३ तुलसी ग्रन्थावलीं, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १४५

कहीं शब्द काव्य में बैठ नहीं सके वहाँ उनका परिष्कार भी कर दिया गया है। इस प्रकार वे शब्द सम्पूर्ण रूप से अपने बना लिये गये हैं। नीचे लिखे अवतरणों में विदेशी शब्द किस सुन्दरता से स्वदेशी बनाये गये हैं :—

१. असमंजस अस मोहिं अँदेसा (अँदेशा)
२. सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे॥ (कागज़)
३. लोकप जाके बन्दी खाना (ख़ाना)
४. गई बहोर गरीब निवाजू। (गरीब निवाज़)
सरल सबल साहिब रघुराजू॥ (साहब)
५. सो जाने जनु गरदन मारी (गर्दन)
६. मनहुँ वारिनिधि बूड़ जहाजू॥ (जहाज)
७. जे जड़ चेतन जीव जहाना। (जहान)
८. जगमगत जीन जड़ाव जोति सुमोति मनि मानिक लगे (जीन)
९ सजहु बरात बजाय निसाना। (निशान)
१० बाज नफीरी भेरि अपारा। (नफ़ीरी)
११. गवने भरत पयादेहि पाये। (प्यादा)
१२. कुम्भकरन कपि फौज बिडारी (फ़ौज)
१३. बना बजार न जाय बखाना। (बाजार)
१४ भइ बकसीस जाचकन दीन्हा। (बखशीश)
१५. जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू। (बेहाल)
१६ जो कह झूठ मसखरी जाना (मसखरी)
१७. सनकारे सेवक सकल चले स्वामि रुख पाय (रुख)
१८. रिपुदल बधिर भये सुनि सोरा (शोर)
१९. आज करउँ तोहि काल हवाले (हवाले)

ये तो 'मानस' के कुछ ही उदाहरण हैं। तुलसीदास ने अपने अन्य ग्रंथों में भी अरबी, फारसी के अनेक शब्द बड़ी स्वतन्त्रता से प्रयुक्त किये हैं। वे अपनी रचना को जनता की वस्तु बनाना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना सरल से सरल भाषा में की। उनका काव्य-आदर्श भी यही था—

"सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान॥"[1]

तुलसीदास ने अपना 'मानस' भाषा में लिखते समय यह अनुभव अवश्य किया था कि वे साहित्य और धर्म की भाषा संस्कृत छोड़ कर 'भाषा' को स्वीकार

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १०

कर रहे हैं, पर कवि का लक्ष्य राम-कथा का घर-घर में प्रचार करना था। संस्कृत में राम-कथा केवल पंडितों तक ही सीमित थी। वे समकालीन राजनीतिक प्रभाव की प्रतिद्वंद्विता में जनता के हृदय में धार्मिक भावना जागृत कर देना चाहते थे। इसीलिए जहाँ उन्होंने आदि कवि वाल्मीकि को प्रणाम किया है, वहाँ उन्होंने प्राकृत और भाषा में कवियों की वन्दना करते हुए अपनी भाषा में लिखने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट कर दी है :—

१. भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसै नहिं खोरी॥[1]

२. भनिति भदेस बस्तु भल बरनी। राम कथा जग मंगल करनी॥[2]

३. गिरा ग्राम सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान॥[3]

४. राम सुकीरति भनित भदेसा। असमंजस अस मोहि अंदेसा॥[4]

५. सिअनि सुहावनि टाट पटोरे॥[5]

६. तौ फुर होइ जो कहउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥[6]

७. भाषाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥[7]

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उस समय भाषा में जो रचना की जाती थी वह हास्यास्पद और आदरहीन मानी जाती थी। तुलसीदास ने राम-कथा का सहारा लेकर इस भावना के विरुद्ध अपनी लेखनी उठाई। इससे तुलसीदास के हृदय में संतोष भी हुआ, क्योंकि संस्कृत में राम-कथा उन्हें 'प्रबोध' नहीं दे सकती थी।

भाषा में लिखने के कारण तुलसीदास ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को भी सरल बनाकर तद्भव कर दिया था। कुछ शब्द तो प्राकृत-से होकर तद्भव बन ही गये थे और कुछ तुलसीदास ने अक्षरों के उच्चारण की सरलता देकर तद्भव-सा बना दिया था। ऐसे शब्दों में ग्यान (ज्ञान) और रिसि (ऋषि) आदि हैं। इस शैली का अनुसरण करने के कारण तुलसीदास की वर्णमाला इस प्रकार से होगी :—

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ७

२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ८

३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ८

४ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १०

५ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १०

६ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ११

७ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १८

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं

व्यंजन—क ष ग घ

च ज झ

ट ठ ड ढ

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल व

स ह ड़ ढ़

अलंकार, रस और गुण—तुलसीदास की रचनाओं में भावों का प्रकाशन जिस कौशल से होता है, उसमें अलंकार की आवश्यकता नहीं। सरल स्वाभाविक और विदग्धतापूर्ण वर्णन तुलसीदास की शैली की विशेषता है, पर तुलसीदास की प्रतिभा इतनी उच्चकोटि की है कि उसमें अलंकार स्वाभाविक रूप से चले आते हैं। अलंकारों के स्थान के लिए भावों की अवहेलना नहीं करनी पड़ती। उसका कारण यह है कि तुलसीदास का भाव-विश्लेषण इतना अधिक मनोवैज्ञानिक है कि उसकी भाव-तीव्रता या सौन्दर्य-वर्णन के लिए अलंकार की आवश्यकता नहीं रह जाती, पर तुलसीदास एक कुशल कलाकारकी भाँति अलंकार के रत्नों को सरलता से उठाकर काव्य में रख देते हैं। उनका रखना नंददास के 'जड़ने' से श्रेष्ठ है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय लिखते हैं—"रामचरित-मानस की कोई चौपाई भले ही बिना उपमा की मिल जाय, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ऐसा मिलेगा, जिसमें किसी सुन्दर उपमा का प्रयोग न हो। उपमाएं साधारण नहीं हैं, वे अमूल्य रत्न-राजि हैं।"[1]

जहाँ अर्थालंकारों से भाव-व्यंजना को सहायता मिलती है, वहाँ शब्दालंकारों से भाषा-सौन्दर्य में भी वृद्धि हुई है। सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग तुलसी-दास की कुशल लेखनी से कलापूर्ण हुआ है। अलंकार-प्रयोग में एक बात अवश्य है। कुछ अलंकार संस्कृत काव्य ग्रंथों से ले लिये गये हैं। कहीं-कहीं तो वे अपने पूर्व रूप में ही है, पर कहीं-कहीं उनमें परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरणार्थ कुछ अलंकार लीजिए :—

लछिमन देखहु मोर गन, नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस, विष्णु भगत कहुँ देखि॥[2]

यह उपमा श्रीमद्भागवत से अपने संस्कृत रूप में ही ली गई है :—

---

१ तुलसीदास की उपमाएँ—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय
'माधुरी', वर्ष २, खंड १, संख्या १, पृष्ठ ७४

२ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३३१

मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन शिखण्डिनः ।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णाः यथाऽऽच्युतजनाऽऽगमे ॥[१]

यहाँ 'यथाऽऽच्युत जनाऽऽगमे' को तुलसीदास ने विष्णु-भक्त कर दिया, क्योंकि वे वैष्णव थे, किन्तु अलंकार का प्रयोग और भाव वही है। इसी प्रकार जयदेव के 'प्रसन्नराघव' की "यदि खद्योत भासापि समुन्मीलति पद्मनी" का रूपान्तर तुलसीदास ने 'मानस' में—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा ।
कबहुँ कि नलिनी करै बिकासा ॥[२]

कर दिया। अन्य स्थलों पर तुलसीदास के अलंकार उत्कृष्ट रूप में प्रयुक्त हुए हैं। रस-निरूपण का परिचय तुलसीदास के ग्रंथों की विवेचना में हो ही चुका है। मनोवैज्ञानिकता के साथ रस की पूर्णता तुलसीदास की काव्य-कला की सबसे बड़ी सफलता है। रस की अभिव्यक्ति गुण के सहारे कितनी अच्छी हो सकती है, इसके उदाहरण 'मानस' में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। शृंगार रस के अंतर्गत माधुर्य गुण, वीर और रौद्र रस के अंतर्गत ओज गुण और अद्भुत, शान्त तथा अन्य कोमल रसों के अंतर्गत प्रसाद गुण बड़ी कुशलता से प्रयुक्त हुए हैं :—

माधुर्य गुण

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि । कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥[३]
...　　...　　...　　...
बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा । जलखग कूजत गुंजत भृंगा ॥[४]

ओज गुण

भट कटत तन सत खंड । पुनि उठत करि पाखंड ॥
नभ उड़त बहुभुज मुंड । बिनु मौलि धावत रुंड ॥[५]
×　　×　　×　　×
रघुबीर बान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज सिरा ॥
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धरु धरु करहिं भयंकर गिरा ॥[६]

प्रसाद गुण

राम सनेह मगन सब जाने । कहि प्रिय बचन सकल सनमाने ॥
प्रभुहिं जोहारि बहोरि बहोरी । बचन बिनीत कहहिं कर जोरी ॥

---

१ श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय २० श्लोक २०
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३४६
३ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ९६
४ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ९८
५ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३०३
६ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३०३

अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय। भाग हमारे आगमनु राउर कोसल राय॥

गुणों के साथ-साथ तुलसीदास ने वर्ण-मैत्री का भी ध्यान रक्खा है। जहाँ काव्य में प्रयुक्त वर्ण-मैत्री प्रवाह को सहायता देती है, वहाँ दूसरी ओर अर्थ में चमत्कार भी उत्पन्न करती है। इन दोनों बातों के निर्वाह के लिए उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा चाहिये। इसका 'मानस' में से एक उदाहरण लीजिए :—

जौं पटतरिय तीय महुँ सीया। जग अस जुबति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥[2]

इस चौपाई में लघु वर्णों की आवृत्ति प्रवाह के लिए कितनी सरस और उपयुक्त है! अर्थ-सौंदर्य की दृष्टि से तुलसीदास सरस्वती, पार्वती और रति तीनों को सीता से हीन और लघु प्रदर्शित करना चाहते हैं। यह लघुता ही लघु वर्णों से बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुई है। सीता सबसे श्रेष्ठ और महान् हैं, अतः उनके लिए "सीया" गुरु वर्ण प्रयुक्त किए गए हैं :—

सीता—तीय महुँ सीया (दूसरे ही पद में स्त्रियों की हीनता प्रकट करने के लिए 'तीय' शब्द 'जुवति' के लघु अक्षरों में परिवर्तित हो गया है।)

गिरा=मुखर (सभी अक्षर लघु)
भवानी=तनु अरध (सभी अक्षर लघु)

रति=अति दुखित अतनु पति जानी (अन्त के तुकान्त को छोड़ कर इसमें सभी अक्षर लघु हैं)

यदि ध्यान से 'मानस' का अध्ययन किया जावे तो तुलसीदास के पांडित्य की अनेक बातें ज्ञात होंगी।

मनोवैज्ञानिक परिचय—तुलसीदास ने मानव-हृदय की सूक्ष्म प्रवृत्तियों का कितना अधिक अन्वेषण किया था और वे उनका प्रकाशन कितनी कुशलता से कर सकते थे, यह उनके 'मानस' के विद्यार्थी जानते हैं। रसों के अंतर्गत—संचारी भाव के भेदों के अन्तर्गत—हृदय की न जाने कितनी भावनाएँ भरी हुई हैं। मानवी संसार की विभिन्न परिस्थितियों की मनोदशा का अधिकारपूर्ण ज्ञान तुलसीदास के कवित्व की सबसे बड़ी व्याख्या है। उदाहरण के लिए उनके मनोदशा-चित्रण के दो एक चित्र लीजिए :—

(१) तब रामहिं बिलोकि वैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही॥[3]

(आतुरता में हृदय की अस्थिरता इतनी बढ़ जाती है कि योग्य और अयोग्य व्यक्तियों से भी मनुष्य इच्छित वस्तु की याचना करने लगता है। 'सभय हृदय बिनवति जेहि तेही' का भाव कितने थोड़े शब्दों में कितना महान् है!)

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ २१०
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ १०६
३ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड (मानस) पृष्ठ ११०

(२) दलकि उठेउ सुनि हृदय कठोरू । जनु छुइ गयेउ पाक बरतोरू ।[१]

(यहाँ शब्दों की ध्वनि में भाव का कितना उत्कृष्ट प्रकाशन है ! पके हुए बाल-तोड़ के छू जाने की क्रिया 'दलकि उठेउ' से कितनी स्पष्ट की गई है !)

(३) कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी । बोली बिहँस नयन मुँहु मोरी ॥
माँगु माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु ।
देन कहेउ बरदान दुइ, तेउ पावत संदेहु ।[२]

(तुलसीदास जैसे विरक्त संन्यासी से स्त्री की यह भाव-भंगिमा भी देख ली गई ।)

(४) बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू । भूप किसोर देखि किन लेहू ॥[३]
(यह व्यंग कितना गहरा है !)

(५) हमहिं देखि मृग निकर पराहीं । मृगी कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥
तुम्ह आनन्द करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ए आए ॥[४]

(कंचन मृग मारने की उमंग में ही श्रीराम ने सीता खो दी थी । उसी को स्मरण कर श्रीराम के हृदय का क्षोभ कितना करुण और हृदय-द्रावक है !)

इस प्रकार के अनेक चित्र तुलसीदास के ग्रन्थों में पाये जा सकते हैं । यह तो केवल संकेत मात्र है ।

'वाल्मीकि रामायण' के विषय में कहा गया है :—

'रामायण' में जिन विषयों का प्रतिपादन किया गया है, उनमें एक भी विषय अतात्विक नहीं है । योग-दृष्टि से समस्त वस्तुओं का यथा-योग्य निरीक्षण करके ही सबका वर्णन किया गया है । कहा भी है :—

'वाल्मीकेर्वचनं सर्वं सत्यम्' ।[५]

जो बात 'वाल्मीकि रामायण' के सम्बन्ध में कही गई है वही अक्षरशः तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के सम्बन्ध में कही जा सकती है । तुलसीदास ने अपने अध्ययन और काव्य-ज्ञान से साहित्य के आदर्शों को ग्रहण करते हुए भी अपनी मौलिकता रक्खी है ।

'राम' तो वही हैं जो वाल्मीकि, कालिदास या अध्यात्मरामायण के हैं, किन्तु तुलसी के राम वही होते हुए भी उन सबसे भिन्न हैं—वे केवल तुलसी ही के राम हैं । उनके चरित्र में उन्होंने समाज की आदर्शभूत आवश्यकताओं का समावेश

---

१ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १६८
२ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १६८
३ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १०१
४ तुलसी ग्रंथावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ ३१६
५ वाल्मीकि रामायण की विशेषता—पंडित बालकृष्ण जी मिश्र
कल्याण (श्री रामायणाङ्क), श्रावण १९८७, पृष्ठ ३०

किया है। जिसे अनुपयोगी समझा उसे छोड़ दिया, जिसे उपयोगी समझा उस पर विशेष जोर दिया और जिसे आवश्यक समझा उसे जोड़ भी दिया है।[1]

केशवदास

केशवदास हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। इन्होंने साहित्य की मीमांसा शास्त्रीय पद्धति पर कर काव्य-रचना का पांडित्यपूर्ण आदर्श रक्खा।[2] इन्होंने जहाँ एक ओर राम-काव्य के अन्तर्गत 'रामचन्द्रिका' की रचना की वहाँ रीतिकाव्य के अन्तर्गत 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की भी रचना की। साथ ही इन्होंने चारणकाल के आदर्शों को ध्यान में रख कर 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' और 'वीरसिंह-देव चरित' भी लिखे। इस प्रकार केशवदास ने अपने काव्य-आदर्शों में चारणकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल के आदर्शों का समुच्चय उपस्थित किया। इसी दृष्टिकोण से केशवदास के काव्य का महत्त्व है।

केशवदास ने स्वयं अपना परिचय 'रामचन्द्रिका' में इस प्रकार दिया है :—

सुगीत छंद ।। सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध शुद्ध स्वभाव।
कृष्णदत्त प्रसिद्ध हैं महि मिश्र पंडित राव ।।
गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारि कै जिन पाइयो मत साध ।।

दोहा ।। उपज्यो तेहि कुल मन्दमति शठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास ।।[3]

इस वर्णन के अनुसार केशव का वंश-परिचय यह है :—

कृष्णदत्त (सनाढ्य जाति)
|
काशीनाथ
|
केशवदास

अतः केशवदास सनाढ्य ब्राह्मण श्री कृष्णदत्त के पौत्र और 'शीघ्रबोध' बनाने वाले श्री काशीनाथ के पुत्र थे। 'नखसिख' वाले प्रसिद्ध कवि बलभद्र इनके बड़े भाई थे।

---

१ गुसाँई जी और सीता-बनवास—श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह जी
कल्याण (श्री रामायणाङ्क), श्रावण १९८७, पृष्ठ १७६

२ सलेक्शंस फ्राम हिन्दी लिट्रेचर (पुस्तक १, पृष्ठ ५०)
लाला सीताराम, बी० ए०

३ रामचन्द्रिका सटीक (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृष्ठ ७

केशवदास का जन्म संवत् १६१२ के लगभग टेहरी में हुआ था। इनकी कुल-परम्परा में कविता का वरदान था। ये ओरछा-नरेश के दरबारी कवि, मंत्र-गुरु एवं मंत्री थे। वीरसिंहदेव के छोटे भाई इन्द्रजीतसिंह के दरबार म इन्होंने बहुत सम्मान पाया। कहा जाता है कि इन्होंने अपनी नीति-कुशलता एवं सभा-चातुरी से इन्द्रजीतसिंह पर अकबर के द्वारा किया हुआ एक करोड़ रुपये का जुरमाना माफ करा दिया था।[१] ये तुलसीदास के समकालीन थे। वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास और केशवदास की भेंट दो बार हुई। पहली बार काशी में 'मीन की सनीचरी' के बाद सं० १६४३ के लगभग और दूसरी बार १६६९ के पूर्व ('गोसांई चरित' में ठीक संवत् नहीं दिया गया) जब तुलसीदास ने केशवदास को प्रेतयोनि से मुक्ति किया था।[२] वेणीमाधवदास के अनुसार जब सं० १६४३ के लगभग तुलसीदास की भेंट केशवदास से हुई थी तभी 'रामचन्द्रिका' की रचना का सूत्रपात हुआ था। तुलसीदास के अनुसार केशवदास 'प्राकृत कवि' थे। केशवदास ने इस लांछन से मुक्त होने के लिए ही एक रात्रि में 'रामचन्द्रिका' की रचना कर तुलसीदास के दर्शन किए थे।

कवि केसवदास बड़े रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कवि जानि कै दरसन हेतु गये। रहि बाहिर सूचना भेजि दिये॥
सुनि कै जु गोसांई कहै इतनो। कवि प्राकृत केसव आवन दो॥
फिरिगे भट केसव सो सुनि कै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनि कै॥
जब सेवक टेरेउ गे कहि कै हौं। भेंटिहौं काल्हि विनय गहि कै॥
घनस्याम रहे घासिराम रहै। बलभद्र रहै विस्राम लहै॥
रचि राम सुचंद्रिका रातिहि में। जुरै केसवजू असि घाटिहि में॥
सतसंग जमी रस रंग मची। दोउ प्राकृत दिव्य विभूति षची॥
मिटि केसव को संकोच गयो। उर भीतर प्रीति की रीति रयो॥[३]

इससे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो 'रामचन्द्रिका' की रचना तुलसीदास को प्रसन्न करने के लिए की गई थी और दूसरी 'रामचन्द्रिका' का रचना-काल संवत् १६४३ के लगभग है। किन्तु जब 'रामचन्द्रिका' का साक्ष्य लिया जाता है तो ज्ञात होता है कि दोनों बातें ही अशुद्ध हैं। केशवदास 'रामचन्द्रिका' की रचना का कारण इस प्रकार बतलाते हैं:—

---

१ सर्चं फार हिन्दी मेनस्क्रिप्ट्स १९०६-७-८, पृष्ठ ७

२ उड़छै केशवदास, प्रेत हतौ घेरेउ मुनिहिं।
उधरे बिनहि प्रयास, चढ़ि बिनाम स्वरगहि गयो॥ मूल गोसांई चरित, दोहा १८

३ मूल गोसांई चरित दोहा, ५८ की चौपाइयाँ

४ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ७

वाल्मीकि ने केशवदास से कहा :—

नगस्वरूपिणी छंद ।। भलो बुरौ न तू गुनै । वृथा कथा कहै सुनै ॥
न रामदेव गाइहै । न देव लोक पाइहै ॥

षट् पद ।। बोलि न बोल्यो बोल दयो फिरि ताहि न दीन्हो ।
मारि न मार्यो शत्रु, क्रोध मन वृथा न कीन्हो ॥
जुरि न मुरे संग्राम लोक की लीक न लोपी ।
दान सत्य सन्मान सुयस दिशि विदिशा ओपी ॥
मन लोभ मोह मद काम वश, भयो न केशवदास भणि ।
सोइ परब्रह्म श्री राम हैं, अवतारी अवतार मणि ॥

दोहा ।। मुनिपति यह उपदेश दै जब ही भयो अदृष्ट । केशवदास तही कर्‌यो रामचन्द्र जू इष्ट ॥[1]

इसके बाद कवि 'रामचन्द्रिका' लिखने का निश्चय करता है :—

चतुष्पदी छंद ।। जिनको यश हंसा जगत प्रशंसा मुनिजन मानस रंता ।
लोचन अनुरूपनि, श्याम स्वरूपनि अंजन अंजित संता ॥
काल त्रयदर्शी निर्गुणपर्शी होत बिलम्ब न लागै ।
तिनके गुण कहिहौं सब सुख लहिहौं पाप पुरातन भागै ॥[2]

इसके अनुसार केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' की रचना वाल्मीकि मुनि के आदेशानुसार की, तुलसीदास के आदेशानुसार नहीं। यदि "कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो" के अनुसार तुलसी ही को वाल्मीकि मानें तब भी वस्तुस्थिति नहीं सुलझती, क्योंकि केशवदास के अनुसार वाल्मीकि ने उन्हें स्वप्न दिया था और वेणीमाधवदास के अनुसार तुलसीदास ने उनसे मिलना ही कठिनता से स्वीकार किया था।

वेणीमाधवदास के अनुसार 'रामचन्द्रिका' की रचना-तिथि भी अशुद्ध है। 'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ मे ग्रन्थ की रचना-तिथि संवत् १६५८ दी गई है :—

सोरह सै अट्ठावन कातिक सुदि बुधवार । रामचन्द्र की चन्द्रिका तब लीन्ह्यौ अवतार ॥[3]

'रामचन्द्रिका' में वर्णित कवि का अभिप्राय ही प्रामाणिक मानना उचित है। अत: केशवदास के सम्बन्ध में वेणीमाधवदास का कथन नितान्त अशुद्ध है।

ओरछा नगर बसाने वाले राजा रुद्रप्रताप सूर्यवंश में हुए। उनके पुत्र मधुकरशाह थे। मधुकरशाह ने ही केशवदास के पिता काशीनाथ का सम्मान किया था। मधुकरशाह के नौ पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़े रामशाह और सबसे छोटे

१ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ९
२ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १०
३ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ७

इन्द्रजीत थे। रामशाह ने राज्य-भार इन्द्रजीत पर ही छोड़ दिया था। इन्हीं इन्द्रजीत के समय में केशवदास की मान-मर्यादा बढ़ी। इन्द्रजीत ने केशव को अपना गुरु मान लिया था और उन्हें २१ गाँव उपहार में दिये थे।

गुरु करि मान्यो इन्द्रजित तन मन कृपा विचारि। ग्राम दये इकबीस तब, ताके पायँ पखारि॥[१]

और केशवदास ने इन्द्रजीत की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत जीवै जुगजुग, केशोदास जाके राज राज सौ करत है।[२]

केशवदास संस्कृत के आचार्य थे, अतः संस्कृत का ज्ञान इनके कवित्व के लिए बहुत सहायक हुआ। यद्यपि रीतिशास्त्र का प्रारम्भ मुनिलाल के 'राम प्रकाश' और कृपाराम की 'हित तरंगिनी' से हुआ था, पर उसे व्यवस्थित रूप देने का श्रेय केशवदास ही को है।[३] इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण पूर्ण रीति से किया। काव्य में रस की अपेक्षा अलंकार को ये अधिक श्रेष्ठ मानते थे। इसीलिए इन्होंने संस्कृत के दंडी और रुय्यक आदि का आदर्श ही अपनी रचनाओं में अपनाया।

रचनाएँ—केशवदास के सात ग्रंथ प्रसिद्ध हैं :—'विज्ञानगीता', 'रतनबावनी', 'जहाँगीर जस चन्द्रिका', 'वीरसिंहदेव चरित्र', 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया' और 'रामचन्द्रिका'।

लाला भगवानदीन के अनुसार इनकी आठवीं पुस्तक 'नखसिख' है; जो विशेष महत्त्व की नहीं है। इन ग्रन्थों में 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' बहुत प्रसिद्ध हैं। इनसे इन्होंने साहित्य का शृंगार किया है। प्रबंधात्मक रचनाओं में 'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंहदेव चरित' और 'रतनबावनी' मान्य हैं।[४]

केशव कवि के नाम से दो ग्रन्थ और मिलते है। उन ग्रन्थों के नाम हैं :— 'बालि चरित्र' और 'हनुमान जन्म लीला', पर दोनों ग्रन्थों की रचना इतनी शिथिल और निकृष्ट है कि वे महाकवि केशवदास द्वारा रचित नहीं कहे जा सकते।[५]

'रसिकप्रिया' की रचना संवत् १६४८ और 'कविप्रिया' की रचना सं० १६५८ में हुई। 'रसिकप्रिया' में शृंगार रस का विस्तृत निरूपण है, 'कविप्रिया' में काव्य के सभी अंगों का विधिपूर्वक वर्णन है। इन दोनों में काव्य के विविध अंगों की विस्तारपूर्वक समीक्षा की गई है। इनकी विस्तृत विवेचना रीतिकाल के अन्तर्गत ही होगी, क्योंकि इनका विषय ही रीति-शास्त्र है। 'वीरसिंह-देवचरित' 'जहाँगीर

---

१ कविप्रिया, पृष्ठ १० (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सातवी वार, १९२४)

२ कविप्रिया, पृष्ठ २३

३ श्याम बिहारी मिश्र एम० ए० (सर्च फार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स फार १९०९-१०-११)

४ श्याम बिहारी मिश्र एम० ए० (सर्च फार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स फार १९०६-७-८)

५ श्याम बिहारी मिश्र एम० ए० (सर्च फार हिंदी मैनुस्क्रिप्ट्स फार १९०९-१०-११)

जस चन्द्रिका', 'रतनबावनी' और 'विज्ञान गीता' बहुत साधारण ग्रन्थ हैं। केशवदास की प्रतिभा देखते हुए इन चारों ग्रंथों की रचना साधारण कोटि की है। 'रामचन्द्रिका' राम-काव्य का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, अतः उस पर यहाँ विस्तारपूर्वक विचार होगा।

रामचन्द्रिका

'रामचन्द्रिका' के प्रारम्भ में केशवदास ने वाल्मीकि के स्वप्नदर्शन का संकेत किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने केवल 'वाल्मीकि रामायण' का आधार ही लिया होगा, पर 'रामचन्द्रिका' देखने से ज्ञात होता है कि केशवदास 'वाल्मीकि रामायण' के पथ पर ही नहीं चले, वे 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' से भी बहुत प्रभावित हुए। इतना अवश्य ज्ञात होता है कि 'वाल्मीकि रामायण' की वे अवहेलना नहीं कर सके। लवकुश-प्रसंग उन्होंने 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर ही लिखा।

पैंतीसवें प्रकास में अश्वमेध किय राम। सोहन लव शत्रुघ्न को ह्वैहै संगर धाम॥[1]

इसी प्रकार परशुराम-आगमन उन्होंने राम के विवाह के बाद मार्ग ही में वर्णन किया है।

विश्वामित्र बिदा भये, जनक फिरे पहुँचाय। मिले आगली फौज को, परशुराम अकुलाय॥[2]

रचना-तिथि—अन्तर्साक्ष्य से ही ज्ञात होता है कि 'रामचन्द्रिका' की रचना कार्तिक शुक्ल १६५८ में हुई थी।

विस्तार—'रामचन्द्रिका' में ३९ प्रकाश हैं। प्रत्येक प्रसंग में कथा-भाग का नाम देकर उसका वर्णन किया गया है।

छंद—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। एक गुरु (ऽ) के श्री छंद से लेकर केशवदास ने अनेक वर्णों और मात्राओं के छंदों का प्रयोग किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि केशवदास छंदों के निरूपण के लिये ही 'रामचन्द्रिका' लिख रहे है। छंदों का परिवर्तन भी बहुत शीघ्र किया गया है। कथा का तारतम्य छंद-परिवर्तन से बहुत कुछ भंग हो गया है।

वर्ण्य विषय—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में राम की समस्त कथा वाल्मीकि रामायण' के आधार पर कही है, यद्यपि अनेक स्थलों पर अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी प्रभाव पड़ा है। इन ग्रन्थों में 'प्रसन्नराघव' और 'हनुमन्नाटक' मुख्य हैं। यह प्रभाव प्रकरी या पताका रूप ही में अधिक हुआ है, सामान्य रूप से कथा का विकास 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर ही है। कथा का विभाजन कांडों में न होकर प्रकाशों में है, पर कथा का विस्तार अनियमित है। उसमें प्रबन्धात्मकता नही है। प्रारम्भ में न तो रामावतार के कारण ही दिए गए है और न राम के जन्म का ही

---

१ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ३३३

२ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ६५

विशेष विवरण है। राजा दशरथ का परिचय देकर और रामादि चारों भाइयों के नाम गिना कर विश्वामित्र के आने का वर्णन कर दिया गया है। ताड़का और सुबाहुबध आदि का वर्णन संकेत रूप में ही है। हाँ, जनकपुर में धनुष-यज्ञ का वर्णन सांगोपांग है। केशव का सम्बन्ध राज-दरबार से होने के कारण, यह वर्णन स्वाभाविक और विस्तृत है। ऋतुवर्णन और नखशिख आदि ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक दिए गए ह, क्योंकि ये काव्य-शास्त्र से संबन्ध रखते हैं और केशवदास काव्य-शास्त्र के आचार्य हैं। शेष वर्णन कथा-भाग में आवश्यक होते हुए भी प्रायः छोड़ दिए गए हैं, जिससे पात्रों की चरित्र-रेखा स्पष्ट नहीं हो पाई। 'रामचन्द्रिका' में न तो कोई दार्शनिक और धार्मिक आदर्श है और न लोकशिक्षा का कोई रूप ही, जैसा 'मानस' में है। इसी कारण 'रामचन्द्रिका' 'मानस' की भाँति लोकप्रिय नहीं हो सकी। मनोवैज्ञानिक चित्रण भी उतने विदग्धतापूर्ण नही जितने 'मानस' में। 'मानस' में कैकेयी के हृदय का स्पष्ट निरूपण है, उस चरित्र में दैवी भाव रहते हुए भी एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक सत्य है, पर 'रामचन्द्रिका' में यह प्रकरण पूर्ण उपेक्षा से देखा गया है। समस्त प्रसंग कितने क्षुद्र रूप में लिखा गया है :—

दिन एक कह्यो शुभ शोभ रयो। हम चाहत रामहिं राज दयो।
यह बात भरत्थ कि मात सुनी। पठउँ बन रामहिं बुद्धि गुनी॥
तेहि मंदिर में नृप सो विनयो। वरु देहु हतो हमको जो दयो।
नृप बात कही हँसि हेरि हियो। बर मांगि सुलोचनि मैं जो दियो॥
॥ केकयी ॥ नृपता सुविशेषि भरत्थ लहैं। वरषै बन चौदह राम रहैं॥
यह बात लगी उर बज्र तूल। हिय फाट्यो ज्यों जीरण दुकूल॥
उठि चले विपिन कहँ सुनत राम। तजि तात मात तिय बन्धु धाम॥

'मानस' में यह प्रकरण बहुत विस्तारपूर्वक और मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णित है। यहाँ सात पंक्तियों में समस्त प्रकरण कह दिया गया है। कैकेयी का चरित्र कितना ओछा है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे कैकेयी यह अवसर ही खोज रही थी। ककेयी का चरित्र यहाँ मर्यादाहीन है।

केशव ने संवाद अवश्य बहुत लम्बे लिखे हैं, क्योंकि वे स्वयं संवाद का मर्म जानते थे। 'रामचन्द्रिका' में निम्नलिखित संवाद बहुत बड़े हैं :—

१ सुमति-विमति संवाद (पृष्ठ २९-३२)
२ रावण-बाणासुर संवाद (पृष्ठ ३३-३८)
३ राम-परशुराम संवाद (पृष्ठ ६९-७८)
४ रावण-अंगद संवाद (पृष्ठ १६५-१७५)
५ लवकुश-भरतादि संवाद (पृष्ठ ३४४-३४७)

कथा की दृष्टि से 'रामचन्द्रिका' म प्रसंगों का नियमित विस्तार नहीं है। जहाँ

अलंकार-कौशल का अवसर अथवा वाग्विलास का प्रसंग मिला है वहाँ तो केशवदास ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है और जहाँ कथा की घटनाओं की विचित्रता है वहाँ कवि मौन हो गया है। अतः 'रामचन्द्रिका' की कथावस्तु में काव्य-चातुर्य स्थान-स्थान पर देखने को तो अवश्य मिलता है, पर चरित्र-चित्रण या कथा की प्रबन्धात्मकता के दर्शन नहीं होते। भक्ति की जैसी भावना 'मानस' में स्थान-स्थान पर मिलती है वैसी 'रामचन्द्रिका' के किसी भी स्थल पर नहीं है। फलतः 'रामचन्द्रिका' से न तो कोई दार्शनिक सिद्धान्त निकलता है और न कोई धार्मिक ही।

आचार्यत्व—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' में अपने पूर्ण आचार्यत्व का प्रदर्शन किया है। इसके पीछे उन्होंने भक्ति, दर्शन आदि के आदर्शों की उपेक्षा तक कर दी है। उन्होंने केवल छंद-निरूपण के लिए ही पद-पद पर छंद बदले हैं जिससे कथा के प्रवाह में व्याघात हो गया है। इसी प्रकार अलंकार-निरूपण के सामने उन्होंने भावों की अवहेलना तक कर दी है।

कुंतल ललित नील भृकुटी धनुष नैन, कुमुद कटाक्ष बाण सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषणन, मध्यदेश केशरी सुगज गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लक्ष लक्ष ऋक्ष बल, ऋक्षराज मुखी मुख केशोदास गाई है।
रामचन्द्र जू की चमू राजश्री विभीषण की, रावण की मीचु दर कूच चली आई है॥[1]

यहाँ श्री रामचन्द्र की सेना का ओजपूर्ण वर्णन नहीं है, वरन् केशवदास के पाण्डित्य का निदर्शन है। कवि ने प्रत्येक शब्द में तीन-तीन अर्थों की सृष्टि की है, जिससे वे सेना, राज्यश्री और मृत्यु तीनों पर घटित होते हैं। केशवदास ने सेना के बन्दरों के नाम में श्लेष रक्खा है। कुंतल, नील, भृकुटी, धनुष, नैन, कुमुद, कटाक्ष, बाण, सबल, सुग्रीव, तार, अंगद, मध्यदेश, केशरी, सुगज, विग्रह, अनुकूल, ऋक्ष-राज, इन १६ नामों में श्लेष के द्वारा तीन अर्थ केशवदास ने निकाले। यहाँ केशवदास का पाण्डित्य भले ही हो, पर उनके वर्ण्य-विषय का कोई सौन्दर्य नहीं।

इसी प्रकार वर्षा-वर्णन में केशवदास ने कालिका और वर्षा दोनों का एक साथ वर्णन किया है:—

भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर, भूषण जराय ज्योति तडित रलाई है।
दूरि करी सुख सुख सुखमा शशी की नैन, अमल कमल दल दलित निकाई है॥
केशवदास प्रबल करेणुका गमन हर, मुकुत सुहंसक शब्द सुखदाई है।
अम्बर बलित मति मोहै नीलकंठ जू की, कालिका की वरषा हरषि हिय आई है॥[2]

यहाँ केशवदास के पांडित्य में वर्षा का उद्दीपन विभाव बिल्कुल छिप गया है।

---

१. रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १६२
२ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १२७

कुछ स्थल तो वास्तव में उत्कृष्ट हैं। जहाँ केशवदास ने अलंकार द्वारा भाव-व्यंजना और चित्र की स्पष्टता प्रदर्शित की है, उस स्थल पर ऐसा ज्ञात होता है कि कवि अलकारों का पूर्ण शासक है और वह आवश्यकतानुसार चाहे जिस भाव का स्पष्टीकरण चाहे जिस अलंकार से कर सकता है। बादलों के समूह और उनके गर्जन का चित्रण कितना स्पष्ट है :—

घनघोर घने दशहू दिशि छाये। मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आये॥
अपराध बिना छिति के तन ताये। तिन पीड़त पीड़ित ह्वै उठि धाये।[1]

शब्दालंकार के द्वारा केशव ने परशुराम की कठोरता कितनी स्पष्ट की है:—

अब कठोर दशकंठ के, काटहु कंठ कुठार॥[2]

श्रीसीता की दशा कितनी स्पष्ट और करुणाव्यंजक है :—

धरे एक बेनीं मिली मैल सारी। मृणाली मनो पंक सों काढ़ि डारी॥

मृणालो पंक के संसर्ग से जैसी मैली है, वैसी ही उखड़ जाने से कान्तिहीन हो रही है। वह क्षण-क्षण सूखती जा रही है। "मृणाली मनो पंक सों काढ़ि डारी" में श्रीसीता का जितना सुन्दर वाह्य चित्र है उतना ही सुन्दर आन्तरिक चित्र भी है।

अपनी अलंकार-प्रियता से केशव ने रस के उद्रेक में बाधा पहुँचाई है। जहाँ शृंगार रस है, वहाँ का स्थायी भाव विरोधी संचारी भावों के द्वारा नष्ट हो जाता है और पूर्ण रस की सृष्टि नहीं हो पाती। समस्त वर्णन किसी रस-विशेष में न होकर भिन्न-भिन्न भावों में ही विशृंखल रीति से उपस्थित किया जाता है। उदाहरणार्थ जनकपुर में प्रवेश करने पर लक्ष्मण ने अनुरागयुक्त सूर्य का वर्णन किया है जिसमें शृंगार रस का उद्दीपन हो सकता था, पर केशवदास ने उसमें उत्प्रेक्षा अलंकार लाने के लिए अनेक भावों का मिश्रण कर दिया :—

अरुण गात अति प्रात, पद्मिनी प्राणनाथ भय। मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥
परिपूरण सिन्दूरपूर कैधौ मंगल घट। किधौ इन्द्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूख पट॥
कै शोणित कलित कपाल यह, किल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधौ लसत, दिग्भामिनी के भाल को॥[3]

यहाँ सभी शृंगारपूर्ण भावनाओं के बीच में 'शोणित कलित कपाल' की वीभत्स भावना अलंकार-प्रियता के कारण अनावश्यक रूप से रख दी गई है।

केशवदास की भाषा बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा है। इस ब्रजभाषा में उच्चकोटि का स्वाभाविक माधुर्य नहीं आ पाया, क्योंकि केशवदास ने अपना पाण्डित्य दिखलाने की चेष्टा में भाषा का प्रभाव बहुत कुछ खो दिया है। उनका निवास-स्थान बुन्देलखंड के अंतर्गत ओरछा होने के कारण, कविता में बहुत से प्रचलित

---

१. रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १२६

२. रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ६५

३. रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ४०

बुन्देलखंडी शब्द आ गए हैं। उदाहरणार्थ 'सर्वभूषण-वर्णन' में बुन्देलखंडी शब्द की पंक्ति देखिए :—

बिछिया अनौट बांके घुंघरू जराय जरी,
जेहरि छबीली छुद्र घंटिका की जालिका।
मुंदरी उदार पौंची कंकन बलय चुरी,
कंठ कंठमाल हार पहिरे गुपालिका॥
वेणीफूल शीशफूल कर्णफूल मांगफूल,
खुटिला तिलक नकमोती सोहै बालिका।
केशवदास नील बास ज्योति जगमगि रही।
देह धरे श्याम संग मानो दीप मालिका॥[1]

केशव का प्रकृति-चित्रण बहुत व्यापक है। उन्होंने अपने सूक्ष्म निरीक्षण अलंकार के प्रयोग से प्रकृति के दृश्य बहुत सुन्दर रीति से प्रस्तुत किए हैं। ये वर्णन अधिकतर बालकांड में हैं। जहाँ :—

कछु राजत सूरज अरुण खरे। जनु लक्ष्मण के अनुराग भरे॥[2]

में मानसिक चित्र हैं, वहाँ

चढ्यो गगन तरु धाय, दिनकर बानर अरुण मुख।
कीन्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन॥[3]

में कल्पनात्मक सौन्दर्य है। कहीं-कहीं प्रकृति-चित्रण में इन्होंने श्लेष से बड़ी अस्वाभाविक और अशुद्ध कल्पना भी कर ली है, जैसे दंडकवन के वर्णन में वे लिखते हैं :—

बेर भयानक सी अति लगै। अर्क समूह तहाँ जगमगै॥
... ...
पांडव की प्रतिमा सम लेखो। अर्जुन भीम महामति देखो॥[4]

इसमें बेर, अर्क, अर्जुन और भीम शब्दों के श्लेष से प्रकृति का चित्र खींचा गया है जो अनुपयुक्त है।

[बेर=(१) बेरफल (२) काल
अर्क=(१) धतूरा (२) सूर्य
अर्जुन=(१) ककुभ वृक्ष (२) पांडु पुत्र
भीम=(१) अम्ल वेतस वृक्ष (२) पांडु पुत्र
शब्दों की बाजीगरी में यहाँ प्रकृति का चित्र नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

१ कविप्रिया, अथ नखशिख वर्णन, पृष्ठ १४८
२ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ४०
३ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ ४१
४ रामचन्द्रिका सटीक, पृष्ठ १०५-१०६

विशेष—केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' लिखकर भी अपने सामने भक्ति का आदर्श नहीं रक्खा। वे कवि और आचार्य के सम्बद्ध व्यक्तित्व से युक्त थे। 'रामचन्द्रिका' के छब्बीसवें प्रकाश में उन्होंने वशिष्ठ के मुख से रामनाम का तत्त्व और धर्मोपदेश अवश्य कराया है, पर उनमें कवि का कोई सिद्धान्त नहीं है। केशव की अन्य रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे श्रृंगार रस के उत्कृष्ट कवि थे।

केशवदास के परिचितों में बीरबल और प्रवीनराय पातुर का नाम लिया जाता है। बीरबल ने तो केशव को एक ही कवित्त पर छः लाख रुपया दिया था।[1]

केशवदास की रचना अलंकार और काव्य के अन्य गुणों से युक्त रहने के कारण बहुत कठिन होती है जिसका अर्थ बड़े से बड़ा पंडित आसानी से नहीं लगा सकता। इसी के फलस्वरूप यह बात प्रसिद्ध है :—

कवि कहँ दीन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई ॥[2]

केशवदास के बाद राम-काव्य के अन्य कवियों पर विचार करना आवश्यक है।

स्वामी अग्रदास

ये गलता (जयपुर) निवासी प्रसिद्ध 'भक्तमाल' के लेखक नाभादास के गुरु थे। इनका आविर्भाव संवत् १६३२ में हुआ था। ये प्रसिद्ध कवि थे। इन्होंने पाँच पुस्तकें लिखी थीं। एक नवीन पुस्तक जो प्रकाश में लाई गई है वह 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' है। यह कुंडलिया छंद में लिखी गई है। इस ग्रंथ का कुंडलिया छंद इतना सफल हुआ है कि पुस्तक का वास्तविक नाम 'हितोपदेश उपाख्यान बावनी' प्रसिद्ध न होकर 'कुंडलिया' या 'कुंडलिया रामायण' ही प्रसिद्ध हुआ, यद्यपि इस ग्रंथ में रामचरित की चर्चा नहीं है। 'बावनी' नाम से कुंडलियों की संख्या ५२ होना चाहिए, पर यह संख्या ६८ हो गई है। संभव है, किसी कवि ने १६ छंद बाद में जोड़ दिए हों। कुंडलियों के अन्त में लोकोक्तियाँ हैं जिनसे रचना और भी सरस हो गई है।

---

१ वह कवित्त निम्नलिखित कहा जाता है :—

पावक पंछि पसू नग नाग,
नदी नद लोक रच्यो दस चारी।
केशव देव अदेव रच्यो नर
देव रच्यो रचना न निवारी ॥
रचि कै नर नाह बली बलवीर,
भयो कृतकृत्य महाव्रत धारी।
दै करतापन आपन ताहि,
दियो करतार दुहूँ करतारी ॥

२ हिन्दी नवरत्न (महाकवि केशवदास)—मिश्रबन्धु, पृष्ठ ४६७

'ध्यान मंजरी' में ६९ पद हैं, जिनमें राम और अन्य भाइयों के सौंदर्य-वर्णन के साथ सरयू और अयोध्या का भी ध्यान है।

ये तुलसी के समकालीन थे। यद्यपि ये अष्टछाप के लेखक श्रीकृष्णदास जी पयहारी के शिष्य थे, तथापि इनकी प्रवृत्ति रामोपासना की ओर अधिक थी।

इनका वास्तविक नाम नारायणदास था। ये जाति के डोम थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६५७ माना जाता है। ये स्वामी अग्रदास के शिष्य थे।

नाभादास ये भी रामोपासक थे और रामभक्ति के संबन्ध में इन्होंने बहुत सुन्दर पद लिखे हैं। किन्तु उन पदों की अपेक्षा इनका 'भक्तमाल' अधिक प्रसिद्ध है जिसमें २०० भक्तों का परिचय ३१६ छप्पयों में दिया गया है। इन छप्पयों में किसी तिथि आदि का निर्देश नहीं है। भक्तों की कुछ प्रधान और प्रसिद्ध बातों का ही वर्णन किया गया है। यह ज्ञात होता है कि इस पुस्तक द्वारा नाभादास जी कवियों और भक्तों के यश का प्रचार करना चाहते थे। इसी 'भक्तमाल' की टीका प्रियादास ने सम्वत् १७६९ में की। 'भक्तमाल' की टीका का संवत् प्रियादास इस प्रकार देते हैं :—

संवत प्रसिद्ध दस सात सतउनहत्तर,
फागुन मासबदी सप्तमी बताय कै।

सेनापति सेनापति का वास्तविक नाम ज्ञात नहीं। ये इतने कोमल और सरस कवि हैं कि इनसे किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ सकता है। इन्हें भाषा पर उतना ही अधिकार था जितना एक सेनापति को अपनी सेना पर। ये अनूप शहर के निवासी थे और इनका जन्म संवत् १६४६ में हुआ था। इनके पितामह का नाम परशुराम और पिता का नाम गंगाधर था। इनके गुरु का नाम हीरामणि था जैसा कि इनके एक कवित्त से ज्ञात होता है।[1]

इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कवित्त रत्नाकर' है जिसकी रचना सं० १७०६ में हुई है। इसमें इन्होंने अपना सारा काव्य-कौशल प्रदर्शित कर दिया है।

---

[1] दीछित परसराम, दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ, वाकी जग में बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाकौ,
गंगातीर बसत अनूप जिन पाई है॥
महा जान मनि विद्यादान हू कौ चिन्तामनि,
हीरामनि दीछित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई है।
—कवित्त रत्नाकर, पहली तरंग, छंद ५

'कवित्त रत्नाकर' में पाँच तरंगें हैं। उन तरंगों का वर्णन निम्न-लिखित है :—

पहली तरंग	श्लेष-वर्णन
दूसरी तरंग	शृंगार-वर्णन
तीसरी तरंग	ऋतु-वर्णन
चौथी तरंग	रामायण-वर्णन
पाँचवीं तरंग	राम-रसायन-वर्णन

श्लेष-वर्णन में इनका भाषाधिकार स्पष्ट ज्ञात होता है। शृंगार-वर्णन में इनकी सौन्दर्योपासक दृष्टि एवं संयोग-वियोग के चित्र बड़ी कुशलता के साथ खींचे गए हैं। ऋतु-वर्णन तो इनकी अपनी विशेषता है। प्रकृति के सरस वर्णन में इनकी कविता का चरमोत्कर्ष है। शरद-वर्णन का एक चित्र इस प्रकार :—

कातिक की राति थोरी थोरी सियराति,
सेनापति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद फूली मालती सघन बन,
फैलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं।
उदित विमल चंद चांदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर सागर मगन है।[1]

चौथी तरंग में राम की कथा का वर्णन इन्होंने भक्ति और पाण्डित्य दोनों को मिला कर किया है। भाषा पाण्डित्यपूर्ण होते हुए भी कृत्रिम नहीं है। उसमें अनुप्रास और यमक का प्रयोग सरसता और प्रौढ़ता के साथ है। इनकी भक्ति भी उत्कृष्ट प्रकार की है जिस प्रकार रचना अत्यन्त सरस है। 'कवित्त रत्नाकर' का एक प्रामाणिक संस्करण प्रयाग-विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् से प्रकाशित हुआ है। इसके सम्पादक श्री उमाशंकर शुक्ल एम० ए० हैं। 'कवित्त रत्नाकर' के अतिरिक्त 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक एक ग्रंथ और भी सेनापति का कहा जाता है।

हृदय राम

इन्होंने संवत् १६२३ में 'हनुमन्नाटक' नामक एक नाटक की रचना की। यह नाटक संस्कृत के इसी नाम के नाटक के आधार पर लिखा गया है। इसमें राम-भक्ति बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है। तुलसीदास के प्रभाव से रामभक्ति सम्बन्धी रचनाओं में 'हनुमन्नाटक' की रचना महत्त्वपूर्ण है। यह रचना कवित्त और सवैयों में है।

---

१ कवित्त रत्नाकर, तीसरी तरंग, छंद ४०

प्राणचन्द चौहान

इनका समय संवत् १६६७ माना गया है। इन्होंने 'रामायण महानाटक' नाम की एक रचना की, जिसमें राम की कथा सम्वाद-रूप में कही गई है। रचना में वर्णनात्मकता अधिक और काव्य-सौन्दर्य कम है। इनकी अन्य कोई रचना ज्ञात नहीं। ये जहाँगीर के समकालीन थे।

बलदास

इन्होंने ब्रह्म-सृष्टि-ज्ञान तथा योगसाधन-वर्णन पर 'चित्राबोधन' नामक ग्रंथ तुलसीदास की शैली पर लिखा है। इनका संवत् १६८७ माना गया है।

लालदास

ये बरेली निवासी थे। इन्होंने 'अवध विलास' नामक ग्रंथ अयोध्या में लिखा, जिसमें श्री सीताराम की विविध लीलाओं का वर्णन तथा ज्ञानोपदेश है। इनका आविर्भाव-काल संवत् १७०० है। रचना साधारण है।

बाल-भक्ति

ये राम-साहित्य के कवि थे। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इनका काल संवत् १७५० है। राम और सीता का पारस्परिक प्रेम ही इनके ग्रंथ 'नेहप्रकाश' का विषय है। इनका लिखा हुआ एक ग्रंथ और कहा जाता है, उसका नाम है 'दयाल मंजरी'। ये नव-परिचित कवि हैं।

रामप्रिया शरण

इनका आविर्भाव-काल संवत् १७६० है। ये जनकपुर के महन्त थे। इन्होंने 'सीतायण' नामक पुस्तक की रचना की, जिसमें श्री जानकीजी तथा उनकी सखियों का चरित्र-वर्णन है साथ ही राम का चरित्र भी संक्षेपतया वर्णित है। 'सीतायण' का नाम इन्होंने 'सीताराम प्रिया' भी रक्खा है।

जानकी रसिक शरण

इनका आविर्भाव-काल भी संवत् १७६० माना गया है। ये प्रमोदबन अयोध्या के निवासी थे। इन्होंने 'अवधी सागर' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ पर कृष्ण-काव्य का यथेष्ट प्रभाव है। श्री रामचन्द्र और सीता का अष्टयाम वर्णन कर उनका रास, नृत्य, बिहार आदि भी वर्णित है। रचना सरस और मनोहर है।

प्रियादास

इनका आविर्भाव-काल संवत् १७६९ है। ये बड़े प्रसिद्ध कवि और टीकाकार थे। इन्होंने नाभादास के प्रसिद्ध 'भक्तमाल' की टीका लिखी है।

कलानिधि

इनका वास्तविक नाम श्रीकृष्ण था। इनका आविर्भाव-काल भी संवत् १७६९ है। ये उत्कृष्ट कोटि के कवि थे। इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। बूँदी के राव बुद्धिसिंह के आश्रित रह कर इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—

१. 'श्रृंगार रस माधुरी'—इसमें इन्होंने श्रृंगार रस का व्यापक वर्णन किया है।

२. 'वाल्मीकि रामायण'—बालकांड, युद्धकांड, उत्तरकांड, 'वाल्मीकि-रामायण' के इन तीन कांडों का पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद।

३. 'रामायण सूचनिका'—इसमें रामायण की प्रधान-प्रधान घटनाओं की पद्यात्मक सूची है ।

४. 'वृत्त चंद्रिका'—इसमें छन्द-शास्त्र का वर्णन है । मेरु, मर्कटी आदि के वर्णन चित्र रूप में लिखे गये हैं ।

५. 'नवशई'—इसमें श्रृंगार-वर्णन है ।

६. 'समस्यापूर्ति'—इसमें अनेक समस्यापूर्तियाँ हैं । कहीं-कहीं इसी नाम के अन्य कवियों की भी समस्या-पूर्तियाँ सम्मिलित हो गई हैं ।

रचनाएँ सरस और सुन्दर हैं ।

महाराज विश्वनाथसिंह

ये रीवाँ-नरेश राम के प्रसिद्ध भक्त थे । इनका आविर्भाव-काल संवत् १७९० है । ये कवियों के आश्रयदाता थे और स्वयं कवि थे । प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराजसिंह इन्हीं के पुत्र थे । इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की । इनकी रचनाएँ दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं । प्रथम भाग में वे रचनाएँ हैं जो संत-साहित्य से सम्बन्ध रखती हैं और दूसरे भाग में वे हैं जो रामसाहित्य पर लिखी गई हैं । रीवाँ में कबीरपंथ की एक गद्दी है और कबीर के शिष्य धरमदास ने स्वयं रीवाँ में आकर अपने मत का प्रचार किया था । अत: रीवाँ-नरेश परम्परा से कबीर का महत्त्व मानते हैं । महाराज विश्वनाथसिंह रामोपासक भी थे । यहाँ तक कि 'कबीरबीजक' की टीका उन्होंने साकार राम के अर्थ में लिखी है । इनकी ३२ रचनाएँ कही जाती हैं । प्रधान ग्रंथों की सूची इस प्रकार है :—

(अ) संत-काव्य संबंधी

(१) 'शब्द'
(२) 'ककहरा'
(३) 'चौरासी रमैनी'
(४) 'वसंत चौंतीसी'
(५) 'आदि मंगल'

(आ) राम-काव्य सम्बन्धी

(१) 'आनन्द रघुनन्दन नाटक'
(२) 'संगीत रघुनन्दन'
(३) 'आनन्द रामायण'
(४) 'रामचन्द्र की सवारी'
(५) 'गीता रघुनन्दन'
(६) 'रामायण'

ये उद्भट लेखक और विद्याप्रेमी थे । भारतेन्दु जी के अनुसार 'आनन्द

रघुनन्दन' हिन्दी का छंद-प्रधान नाटक है।[१] इस दृष्टि से विश्वनाथसिंह हिन्दी के कवि-नाटककार हैं। इनकी कविता सरल और उपदेशपूर्ण है।

राजा शिवप्रसाद 'सितार-ए-हिन्द' ने 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक के विषय में लिखा है :—

रीवाँ के स्वर्गवासी महाराज विश्वनाथसिंह जू देव का बनाया यह नमूना है बुन्देलखंड के महाराजाओं की हिन्दी का। इस नाटक में सात अंकों में रामजन्मोत्सव से लेकर राम-राज्य तक की कथा है। परन्तु इसमें असली नाम के ठिकाने दूसरे नाम लिखे हैं। जैसे श्रीरामचन्द्र की जगह हितकारी, लक्ष्मण की जगह डील धराधर, रावण की जगह दिकशिरा इत्यादि।[२]

सितार-ए-हिन्द के कथन की स्पष्टता के लिए 'आनन्द रघुनन्दन' का कुछ अंश उद्धृत किया जाता है :—

राक्षस आकर। दिगशिर की आज्ञा है तुम अकेले हितकारिही सों जुद्ध करि कै मारि आवौ जो हितकारी साँचे होइं तौ अकेलहीं कढ़ि हमसों जुद्ध करैं॥

हितकारी। धनुष चढ़ाकर दौड़ता है।

त्रेतामल्ल। भुजभूषण देखो तो हितकारी के मंडलाकार चाँप ते चारों ओर कैसे सर कढ़े हैं जैसे चरखी तें अनल के फुहारे सनमुख धाइ-धाइ सेना कैसी नास होत जाइ है जैसे बाड़व बन्हि मे बारिधि वारि।

भुजभूषण। त्रेतामल्ल देखो देखो अस्त्र छोड़ि स्वामी बड़ो कौतुक कियो ये निश्चर परस्पर पेखि आपुसि ही में लरि मरि गये।

(जय जय करके सब हितकारी की पूजा करते हैं)

सुगल। महाराज अपूर्व यह अस्त्र कौन है।

हितकारी। यह गंधर्वास्त्र मोकों ही चलावै को आवै है।

(दिक्शिरा सेना समेत आता है)

रोला छंद

महा मोद की उमँग अंग भारिहुँ समाति नहि। उछलि-उछलि अक्कास पिले पादप पहार गहि॥
जनु तकि प्रभु मुख चन्द वीर रस बारिध भाये। सहित सैन दिगसीस बेल थल बोरन धाये॥

नराच छंद

लियो सो बान विज्जु चाप चाप देव बर्ज्ज सो। लसे सुभट्ट तर्ज्जि गर्जित गर्ज्जि गर्ज्जं सो॥
पिले संग्राम के उछाह पौन सो उमंडि कै। अनन्द के अनन्त मेह ज्यों चलैं घुमंडि कै॥

---

१ भारतेंदु नाटकावली, पृष्ठ ८३७ (इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग १९२७)

२ नया गुटका, हिस्सा २. (राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द), पृष्ठ १५६ [ई० जे० लेजारस एंड को०, बनारस १९००]

दिक्‌शिरा सूत से । करु मेरो रथ आगे ।

सुगल । भुजभूषण देखो तो यह दिगशिर हमारी सैना में कैसे परो जैसे सूखे बन आगि ।[1]

'आनन्द रघुनन्दन' में पद्य के साथ ब्रजभाषा गद्य का प्रयोग है। इसी कारण प्राचीन हिन्दी नाटकों में 'आनन्द रघुनन्दन' का स्थान महत्त्वपूर्ण है ।

प्रेमसखी

इनका आविर्भाव-काल संवत् १७९१ है। ये सखी संप्रदाय के वैष्णव थे। इनकी भक्ति-भावना बड़ी उत्कृष्ट है। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं; 'जानकी राम को नखशिख', 'होरी छन्दादि प्रबन्ध' और 'कवित्तादि प्रबन्ध'। प्रथम ग्रंथ में श्री सीताराम के नखशिख की शोभा है और दूसरे तथा तीसरे ग्रंथों में श्री राम और सीता की शोभा, क्रीड़ा, फाग, प्रेम आदि पर बरवै और कवित्तादि हैं। रचना सरस है ।

कुशल मिश्र

ये सारस्वत वैष्णव थे और ज्योधरी (आगरा) में रहते थे। इन्होंने 'गंगा नाटक' नाम के ग्रंथ की रचना की। नाटक का नाम अनुपयुक्त है, क्योंकि ग्रन्थ में केवल गंगा की पद्य कहानी है। ग्रंथ में गंगा जी का जन्ममाहात्म्य, बालचरित्र तथा रामचरित वर्णित है । इनका आविर्भाव-काल संवत् १८२६ है ।

रामचरणदास

ये अयोध्या के वैष्णव महन्त थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८२६ है। ये अच्छे कवि थे। इनके पाँच ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'दृष्टान्त बोधिका', 'कवितावली रामायण', 'पदावली', 'रामचरित' तथा 'रस मालिका'। अपने ग्रंथों में इन्होंने रामनाम महिमा, श्रीरामसीता का गूढ़ रहस्य और माहात्म्य का वर्णन किया है। 'पदावली' में इन्होंने विशेष रूप से नायक-नायिका-भेद लिखा है। 'कवितावली रामायण' में इन्होंने कवित्तों और छंदों में रामचरित्र का वर्णन किया है। नीति, उपासक भाव और वैराग्य भी यत्र-तत्र पाया जाता है। इनकी रचना सरस और मनोहर है ।

मधुसूदनदास

इनका आविर्भाव संवत् १८३९ माना जाता है। इनका जीवन-वृत्त कुछ विशेष ज्ञात नहीं। इनकी 'रामाश्वमेध' रचना बहुत प्रसिद्ध है। तुलसीदास की रचना से इसका बहुत साम्य है। रचना भी दोहा-चौपाई में की गई है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक कवि ने 'रामचरितमानस' का आदर्श अपने सामने रक्खा है। रचना मनोहारिणी है। भाषा भी मँजी हुई और सरल है ।

कृपानिवास

इनका आविर्भाव-काल संवत् १८४३ माना जाता है। ये रामोपासक थे और इनके सभी ग्रंथ धार्मिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते हैं। ये अयोध्या

---

१ नया गुटका, हिस्सा २, पृष्ठ १५७

निवासी थे । इन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की है । एक ग्रंथ राधाकृष्ण पर भी है, शेष ग्रंथ सीताराम पर हैं । इनके मुख्य ग्रंथ निम्नलिखित हैं :—

१. 'भावना पचीसी'—इसमें श्रीराम और सीता की सखियों का वर्णन और प्रातःकाल की क्रिया आदि का उल्लेख है ।

२. 'समय प्रबन्ध'—इसमें श्री सीताराम की आठ पहर की लीलाओं का ध्यान और उनकी उपासना का वर्णन है ।

३. 'माधुरी प्रकाश'—इसमें राम और सीता के अंगों की छटा, शोभा और माधुरी का वर्णन है ।

४. 'जानकी सहस्र नाम'—इसमें श्री जानकी जी के सहस्र नाम और उनके जपने का माहात्म्य-वर्णन है ।

५. 'लगन पचीसी'—इसमें राम के प्रेम के लगन संबन्धी पद हैं । रचना साधारणतः अच्छी है ।

इनका लिखा हुआ 'राम आग्रह' ग्रंथ प्रसिद्ध है । यह 'योग वाशिष्ठ' का एक भाग मात्र है । इस ग्रंथ की रचना समथर के राजा विष्णुदास की प्रार्थना पर संवत् १८४४ में हुई । अतः यही समय कवि का आविर्भाव-काल मानना चाहिए ।

गंगाप्रसाद व्यास उदैनियाँ

इनका आविर्भाव-काल संवत् १८५७ माना जाता है । इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं :—

सर्वसुख शरण

१. 'बारहमासा विनय'—जिसमें अधिकतर राम के प्रति विरह-वर्णन है ।

२. 'तत्वबोध'—जिसमें रामभक्ति के साथ ज्ञान और वैराग्य का निरूपण है ।

इनका आविर्भाव-काल संवत् १८५७ माना जाता है । इन्होंने 'महारामायण' नामक ग्रंथ 'योग वाशिष्ठ' के आधार पर हिन्दी गद्य में लिखा । रचना बहुत साधारण है । मिश्र-बन्धु के अनुसार ये अभी तक जीवित हैं ।

भगवानदास खत्री

इनका समय संवत् १८५७ माना गया है । इन्होंने 'शब्द-ब्रह्म' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें भक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन है । रचना उत्कृष्ट है ।

गंगाराम

इनका आविर्भाव-काल संवत् १८५७ है । इन्होंने 'अष्टयाम' नामक ग्रंथ लिखा है, जिसमें श्री राम और सीता की आठों पहर की लीला वर्णित है । रचना साधारण है ।

रामगोपाल

इनका जन्म-संवत् १८६० और मृत्यु-संवत् १९१२ है । ये कालिंजर के कायस्थ थे । इन्होंने 'कवितावली' नामक पुस्तक लिखी जिसमें श्री सीताराम का अष्टयाम या आठों पहर की लीलाएँ वर्णित हैं । रचना साधारण है ।

परमेश्वरीदास

पहलवानदास इनका आविर्भाव-काल संवत् १८६० है। ये भीखीपुर (बाराबंकी) के निवासी थे। इनके गुरु दुलारेदास सतनामी मत के प्रवर्त्तक जगजीवनदास के शिष्य थे। इन्होने 'मसलेनामा' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें ज्ञान और राम-नाम महिमा का वर्णन है। इसमें पहेलियाँ आदि भी हैं, जिनमें ईश-भजन की ध्वनि है। इस क्षेत्र में ये स्वामी अग्रदास के अनुयायी थे।

गणेश इनका आविर्भाव सं० १८६० माना जाता है। ये काशी-नरेश महाराज उदितनारायणसिंह के आश्रित थे। इन्होंने 'वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश' की रचना की जिसमें इन्होंने रामचरित्र के कुछ अशों का पद्यानुवाद किया। कविता साधारणत: अच्छी है। उसमें भक्ति-भावना का पुट भी है।

ललकदास इनका आविर्भाव-काल संवत् १८७० माना जाता है। ये लखनऊ निवासी थे। बेनी 'कवि ने एक परिहास में कहा है—"बाजे बाजे ऐसे डलमऊ में बसत, जैसे मऊ के जुलाहे लखनऊ के ललकदास।" 'सत्योपाख्यान' इनका ग्रंथ कहा जाता है। इसमें रामचन्द्र के जन्म से विवाह तक का चरित्र दोहे और चौपाइयों में लिखा गया है। अनेक स्थानों पर इन्होने संस्कृत और भाषा के कवियों के भाव अपना लिए हैं।

रचना इनकी भाषा सरल है, किन्तु उसमें ऊँचा कवित्व नहीं है।

रामगुलाम द्विवेदी मिर्जापुर निवासी थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८७० है। उत्कृष्ट रामोपासक थे। इन्होंने तुलसीकृत 'मानस' की अच्छी विवेचना की। इन्होंने स्वयं इस विषय में 'प्रबन्ध रामायण' नामक ग्रंथ की रचना की। इनका 'विनयपंचिका' ग्रंथ प्रौढ़ है जिनमें इन्होंने हनुमान, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला, मांडवी, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत, जानकी और राम की विनय लिखी।

जानकीचरण ये अयोध्या निवासी थे। इनके गुरु का नाम श्रीरामचरण जी था। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८७७ माना गया है। इनके दो ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, 'प्रेम प्रधान' और 'सियाराम रस मंजरी'। 'प्रेम प्रधान' में राम और सीता का जन्म, प्रेम और विवाह वर्णित है। 'सियाराम रस मंजरी' में श्रीसीताराम की भक्ति और अयोध्या-मिथिला का वर्णन है। रचना सरस और आकर्षक है।

शिवानन्द इनका आविर्भाव-काल संवत् १८७८ है। इनके ग्रंथ का नाम 'श्रीरामध्यान मंजरी' है जिसमें श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान वर्णित है।

दुर्गेश

इनका आविर्भाव-काल संवत् १८८२ है। ये रीवाँ के महाराजा जयसिंह के समकालीन थे। इन्हीं जयसिंह के नाम से इन्होंने 'द्वैताद्वैतवाद' नामक एक ग्रंथ वेदान्त पर लिखा जिसमें विशिष्टाद्वैत का निरूपण किया गया है। ये अभी तक अपरिचित कवि थे।

जीवाराम (युगल प्रिया)

ये अग्रस्वामी के शिष्य और अयोध्या के महन्त युगलनारायणशरण के गुरु थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८८७ माना गया है। इन्होंने 'पदावली' और 'अष्टयाम' दो ग्रंथों की रचना की। 'पदावली' में इन्होंने भक्ति संबन्धी पदों की रचना की और 'अष्टयाम' में इन्होंने श्रीसीताराम की अष्टयाम लीला का ध्यान लिखा। 'अष्टयाम' ग्रन्थ ब्रजभाषा गद्य में है।

बनादास

इनका परिचय अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है। यद्यपि ये प्रतिभावान कवि नहीं थे, तथापि इन्होने अनेक ग्रंथ लिखे जिनकी संख्या ३२ से कम नहीं है। ये अपनी रचना-तिथि लिखने के पक्षपाती नही थे—

सन सम्मत जानो नहीं, नहिं साका तिथि वार।
इन सब सों मतलब नहीं, करना वस्तु विचार॥

किन्तु इनकी कुछ रचनाओ में तिथि पाई भी जाती है। उसी के आधार पर इनका आविर्भाव-काल संवत् १८९० है। ये अयोध्या निवासी थे और भवहरण कुंज में निवास करते थे। इन्होंने संसार त्याग दिया था और वैरागियों की भाँति रहते थे। इनके अभी तक निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं:—

'अर्ज पत्रिका', 'आत्मबोध', 'उभयप्रबोध', 'रामायण', 'खंडन खंग समस्यावली', 'नाम निरूपण', 'ब्रह्मायण ज्ञान मुक्तावली', 'ब्रह्मायण तत्व निरूपण', 'ब्रह्मायण द्वार', 'ब्रह्मायण पराभक्ति', 'परन्तु', 'ब्रह्मायण परमात्म बोध', 'ब्रह्मायण विज्ञान छत्तीसा', ब्रह्मायण शालि सुषुप्ति', 'यात्रा मुक्तावली', 'राम छटा', 'विवेक मुक्तावली', 'सार शब्दावली' तथा 'हनुमत विजय'।

इन ग्रन्थों में राम-भक्ति-महिमा और ब्रह्मवाद ही अधिकतर निरूपित है। रचना साधारण है।

मोहन

ये अत्रिग्राम (चित्रकूट) निवासी थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८९८ है। इन्होंने 'चित्रकूट माहात्म्य' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें देवताओं' आदि ऋषि वाल्मीकि और कामद नाथ आदि की वंदना है और अंत में चित्रकूट-माहात्म्य वर्णित है। रचना साधारण है।

रत्नहरि

ये बहुत ऊँचे भक्त और कवि थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १८९८ है। इनके निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध है:—

१. 'दूरादूरार्थ दोहावली'—इसमें शब्दों के अनेक अर्थ दिए गए हैं।

२. 'जमक दमक दोहावली'—इसमें यमकालंकार के आधार पर श्री रामचरित वर्णित है।

३. 'राम रहस्य पूर्वार्ध'—इसमे रामचरित की आधी कथा वर्णित है।

४. 'राम रहस्य उत्तरार्ध'—इसमें रामचरित की अन्तिम आधी कथा वर्णित है।

रामनाथ

इनका आविर्भाव-काल संवत् १९०० है। ये पटियाला के महाराज नरेश के समकालीन थे। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—'रसभूषण', 'महाभारतगाथा' और 'जानकी पचीसी'। 'जानकी पचीसी' में इन्होंने श्री जानकी जी का अवतार और उनकी अनुपम छवि का वर्णन किया है।

जनकलाड़िली शरण

इनका आविर्भाव-काल संवत् १९०० है। इन्होंने 'टीका नेरु प्रकाश' नामक बाल अली जू कृत 'स्नेह प्रकाश' की टीका लिखी है। ये जनकराज किशोरी शरण के समकालीन थे।

जनकराज किशोरी शरण (रसिक अलि)

ये राघवेन्द्र दास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १९०० है। यह काल मिश्रबन्धुओं के अनुसार संवत् १८८८ है। इनकी तीन पुस्तकें प्रसिद्ध हैं— १. 'अष्टयाम' (श्री सीताराम की अष्टयाम लीला) २. 'सीताराम सिद्धान्त मुक्तावली' (श्री सीताराम भक्ति, महिमा तथा माहात्म्य वर्णन—इसके साथ ही रस-वर्णन भी है), ३. 'श्री सीताराम सिद्धांत अनन्य-तरंगिणी' (अवध महिमा और युगल नामावली, प्रासाद वर्णन आदि)। रचना सरस है।

गंगाप्रसाद दास

इनका आविर्भाव-काल संवत् १९०७ है। ये बड़े कृष्णभक्त थे, पर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय-पत्रिका' पर गद्य और पद्य में टीका लिखी। ये चित्रकूट निवासी और उमेद सिंह मिश्र के पुत्र थे, जो बड़े कृष्णभक्त थे।

हरबख्शसिंह

इनका आविर्भाव-काल संवत् १९०७ माना जाता है। ये प्रतापगढ़ निवासी विसेन क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम पृथ्वीपाल और पितामह का नाम चन्द्रिकाबख्श था। इन्होंने दो पुस्तकों की रचना की। 'श्री रामायण-शतक' और 'राम रत्नावली'। 'श्री रामायण शतक' में वाल्मीकि और नारद के संवाद द्वारा श्रीरामचन्द्र के गुणों का वर्णन किया गया है। गुणों के वर्णन के साथ रामचरित की सभी घटनाएँ साररूप में वर्णित हैं। पुस्तक के तीन भाग किए गए हैं, रामायण-शतक, तत्व-विचार और ज्ञान-शतक। तत्व-विचार में तत्वों का निरूपण है और आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का गुण-वर्णन किया गया है। ज्ञानशतक में वैराग्य सम्बन्धी बातें हैं। 'रामरत्नावली' में श्रीरामचन्द्रजी की बाल्यावस्था से खाने-पीने और

मर्यादा हो या तुलसीदास का अद्वितीय काव्य-कौशल जिसके कारण अन्य कवियों को उस कथा के वर्णन का साहस ही न हुआ हो। केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' लिखी अवश्य, पर वे अपना दृष्टिकोण भक्तिमय बना ही नहीं सके। उनके पात्र भी अपने चरित्र की श्रेष्ठता अक्षुण्ण न रख सके और राम-साहित्य का सारा भक्ति-उन्मेष काव्य-प्रणाली की निश्चित धाराओं में केशव का नीरस पाण्डित्य लेकर बह गया। इस प्रकार राम-साहित्य अपनी भक्ति-भावना के साथ हमारे सामने तुलसी की कविता में बन्दी होकर रहा, उसे अपने विस्तार का अवसर ही नहीं मिला।

तुलसी की भक्ति-भावना का सूत्रपात इस बीसवीं शताब्दी में रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चिन्तामणि', बलदेवप्रसाद मिश्र के 'कोशलकिशोर और 'साकेत संत', 'जोतिसी' के 'श्री रामचन्द्रोदय' और मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में हुआ। मैथिलीशरण गुप्त ने राम को ईश्वर का विश्वव्यापी रूप देकर अपना आराध्य मान लिया। वे प्रारभ मे ही कहते है :—

राम, तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या? विश्व में रमे हुए नही सभी कही हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे। तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे॥

'साकेत' वास्तव में रामचरित का सुन्दर काव्य है। यद्यपि इसमें लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि कुछ पात्रों का चित्रण शिष्टता की मर्यादा का उल्लघन-अवश्य कर गया है, पर जहाँ तक राम और सीता के चरित्र से सम्बन्ध है वहाँ तक वह आदर्शो और वर्तमान सामाजिक नीति के सिद्धांतों के भी अनुकूल है। 'साकेत' की सब से महान् सफलता कैकेयी का चरित्र-चित्रण है। उसमें मानव-हृदय का स्वाभाविक दौर्बल्य और पश्चात्ताप जितनी सफलता के साथ अंकित किया गया है, उतनी सफलता से शायद 'साकेत' की कोई भी घटना नहीं। उर्मिला का विरह तो किसी अश में रीति-काल की प्रोषितपतिका के विरह-चित्रण की शैली पर हो गया है। हाँ, यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि नवम सर्ग के कुछ पद जो उर्मिला ने अपने विरह में कहे हैं, वे सचमुच हिन्दी साहित्य के अमर रत्न हैं।

'रामचन्द्रोदय' एक महाकाव्य है जिसमे 'रामचन्द्रिका' की शैली और पाण्डित्य है। यह ब्रजभाषा में है। 'कोशलकिशोर' के लेखक बलदेव प्रसाद मिश्र हैं। 'कोशलकिशोर' भी एक महाकाव्य है और महाकाव्य के सभी लक्षण उसमें वर्तमान हैं। उसमें 'सर्ग बन्धो महाकाव्यम्' आदि सभी आवश्यक विधानों का समावेश हो गया है। उसका कथानक कोशलकिशोर भगवान रामचन्द्र जी की किशोरावस्था का चरित्र ही है। विष्णु के अवतार के लिए स्तुति करते हुए देवताओं के चित्रण से आरम्भ होकर यह महाकाव्य श्री रामचन्द्र के विवाह होने के पश्चात् युवराज पद के वर्णन पर समाप्त हो जाता है। बीच में 'रामचरित-मानस' के समान

ही घटनाओं का विस्तार है। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है रामायण के सामयिक अध्ययन का दृष्टिकोण।

राम-काव्य का सिंहावलोकन

राजनीति की जटिल परिस्थितियों में धर्म की भावना किस प्रकार अपना उत्थान कर सकती है यह राम-काव्य ने स्पष्ट कर दिया। अकबर का शासन मुगल-काल में धार्मिक सहिष्णुता का परिच्छेद अवश्य खोलता है, तथापि उसमें धार्मिक उत्थान की भावना नहीं है। उसमें हिन्दू धर्म का विरोध इसलिए नहीं है कि उससे राजनीति की समस्या हल होती है और वह अन्य धर्मों की भाँति सत्य की ओर निर्देश करता है।[1] रामानन्द के बढ़ते हुए प्रभाव ने और कर्मकांड की उपेक्षा के साथ धर्म-प्रचार से जन-समूह की भाषा की उपयोगिता ने राम-साहित्य को विकसित होने का यथेष्ट अवसर दिया। तुलसीदास ने अपनी महान् और असाधारण प्रतिभा के द्वारा राम-काव्य को धर्म और साहित्य के सर्वोत्कृष्ट शिखर पर पहुँचा दिया। उसी समय वल्लभाचार्य की कृष्ण-भक्ति भी सूरदास के स्वरों में गूँजकर साहित्य का निर्माण कर रही थी। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में धर्म-क्षेत्र ही में नहीं, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में भी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। इसका संकेत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में भी मिलता है, जहाँ तुलसीदास नन्ददास की कृष्ण-भक्ति पर आक्षेप कर उन्हें राम की भक्ति करने के लिए प्रेरित करते हैं और नन्ददास कृष्ण-भक्ति की प्रशंसा कर राम-भक्ति की अवहेलना करते हैं।

दोनों काव्यों के दृष्टिकोण भी अलग हैं। राम-काव्य का दृष्टिकोण दास्य भक्ति है और कृष्ण-काव्य का दृष्टिकोण है सख्य भक्ति। दोनों की अलग-अलग दो भाषाएँ भी हो जाती हैं। राम-काव्य की भाषा है अवधी और कृष्ण-काव्य की ब्रजभाषा। किसी भी कृष्ण-भक्त ने अवधी में कृष्ण-कथा नहीं लिखी, किन्तु तुलसी ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता से प्रेरित होकर ब्रजभाषा में भी राम ही की नहीं, वरन् कृष्ण की कथा भी लिखी। अतः तुलसीदास ने राम-साहित्य को ऐसा व्यापक रूप दिया कि वह सच्चे वैष्णव-साहित्य का प्रतिनिधि होकर धर्म और साहित्य के इतिहास में अमर हो गया।

वर्ण्य-विषय

राम-काव्य का वर्ण्य-विषय विष्णु के राम-रूप की भक्ति ही है। इस भक्ति के निरूपण में जहाँ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है, वहाँ राम की विस्तृत कथा भी अनेक रूपों में कही गई है। राम की कथा का स्वरूप अधिकतर 'वाल्मीकि

---

१ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ३७८ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के द्वारा निर्धारित किया गया है। रामानन्द के द्वारा प्रचारित विशिष्टाद्वैत की परिभाषा में राम-काव्य का विकास हुआ है, यद्यपि तत्कालीन प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों का भी निर्देश यथास्थान कर दिया गया है। इस काव्य के सर्वोत्कृष्ट कवि तुलसीदास हुए जिन्होंने रामचरित्र का दृष्टिकोण 'अध्यात्म रामायण' से लेकर राम को पूर्ण ब्रह्म घोषित किया। राम-काव्य के अन्य परवर्ती कवियों ने तुलसीदास को ही अपना पथ-प्रदर्शक मान कर राम-काव्य की रचना की। केशवदास अवश्य राम को तुलसी की दृष्टि से नहीं देख सके। उन्होंने न तो राम के उस ब्रह्मत्व को स्थापित किया जो 'अध्यात्म रामायण' से 'रामचरित-मानस' के द्वारा होकर आया था और न राम के लोक-शिक्षक स्वरूप ही की स्थापना की। वे अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' के कथा-सूत्र पर ही निर्भर रहे हैं और उन्होंने स्थान-स्थान पर भक्ति-भावना का प्रदर्शन न कर अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। इसीलिए धार्मिक दृष्टिकोण के विचार से ही नहीं, काव्य की कठिनता के विचार से भी केशव की 'रामचन्द्रिका' साहित्य में वह स्थान न पा सकी जो तुलसी के 'रामचरितमानस' को मिला। तुलसी को छोड़कर राम-साहित्य में कोई भी कवि ऐसी रचना नहीं कर सका जो धर्म और साहित्य की दृष्टि से अमर होती। तुलसीदास की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभा ने किसी अन्य राम-कवि को प्रसिद्ध होने का अवसर नही दिया। तुलसीदास ही राम-काव्य के एकछत्र अधिपति हैं।

छंद

राम-काव्य की रचना दोहा-चौपाई ही में अधिक हुई। जो छंदपरम्परा सूफ़ी कवियों ने प्रेम-काव्य लिखने में प्रसिद्ध की थी, उसी छंद-परम्परा को राम-काव्य के कवियों ने भी स्वीकार किया, क्योंकि दोहा-चौपाई में प्रबन्धात्मकता का अच्छा निर्वाह होता है और राम की कथा प्रबन्धात्मक ही है। दोहा-चौपाई के अतिरिक्त अन्य छंद भी प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें प्रधानतः कुंडलिया, छप्पय, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, तोमर, त्रिभंगी आदि छंद हैं। केशवदास ने तो 'रामचन्द्रिका' लिखने में छंद-शास्त्र का मंथन कर प्रस्तार के अनुसार अनेक छंदों में राम-कथा लिखी। ऐसे छंद राम की कथा की उतनी अभिव्यक्ति नहीं करते जितनी केशव की काव्य-कला की। 'रामचरितमानस' में जहाँ श्लोक लिखे गए हैं वहाँ वर्णवृत्त छंदों में भी रचना है, पर वे छंद एक ही दो बार प्रयुक्त हुए है। परवर्ती कृष्ण-काव्य के कवियों ने अधिकतर मात्रिक छंदो का ही प्रयोग किया है।

भाषा

राम-काव्य की भाषा प्रधानतः अवधी है, क्योंकि उसमें राम-काव्य का आदर्श ग्रन्थ 'रामचरितमानस' लिखा गया। तुलसीदास ने अवधी के अतिरिक्त ब्रजभाषा का प्रयोग भी अपने अन्य

ग्रन्थों में किया है। केशवदास ने तो ब्रजभाषा ही में 'रामचन्द्रिका' लिखी है। अतः राम-काव्य की दो भाषाएँ माननी चाहिए—अवधी और ब्रजभाषा। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं की शब्दावली, वाग्धाराएँ और क्रियाएँ आदि प्रयुक्त हुई हैं। इन भिन्न भाषाओं में बुन्देली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी भाषाएँ हैं। इन भिन्न भाषाओं की सहायता से अवधी या ब्रजभाषा का रूप अधिक व्यापक हो गया है। उनमें सरलता के साथ भावाभिव्यंजना भी हुई।

अवधी और ब्रजभाषा का जो स्वरूप राम-काव्य में है, वह पूर्ण परिष्कृत भी है। उसमें प्रेम-काव्य की ग्रामीणता अथवा गोकुलनाथ की काव्यहीन वाक्य-शली नहीं है। अवधी और ब्रजभाषा की रचना संस्कृत के परिष्कृत वातावरण में ही हुई है। यह बात दूसरी है कि भाषा में लिखे जाने के कारण शब्दों का रूप सरल कर दिया गया है, पर शब्द-चयन पाण्डित्यपूर्ण है। उदाहरणार्थ तुलसीदास की ये पंक्तियाँ लीजिए :—

जहँ तहँ जूथ-जूथ मिलि भामिनि। सजि नव सप्त सकल दुति दामिनि।
विधु बदनी मृग सावक लोचनि। निज सरूप रति मान विमोचनि॥[1]

यहाँ यूथ का जूथ व स्वरूप का सरूप कर दिया गया है, पर उनका रूप संस्कृत ही है। अतः भाषा सरल होते हुए भी पाण्डित्यपूर्ण है, यही राम-काव्य की प्रेम काव्य से श्रेष्ठता है। जिस अवधी और ब्रजभाषा में राम-काव्य की रचना हुई है, वह भक्ति और प्रेम से पूर्ण है—उसमें सरसता और प्रवाह है।

तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। जहाँ उन्होंने स्तोत्र लिखे हैं वहाँ भाषा कठिन और कर्कश हो गई है। उसमे लम्बे-लम्बे समास और संयुक्ताक्षर हैं, पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'विनयपत्रिका' के उन स्तोत्रों में देवता या देवताओं के शौर्य, बल और शक्ति का निरूपण है, अतः भाषा भी भावों की अनुगामिनी बनकर कर्कश हो गई है। यथा—

भीषणाकार भैरव भयंकर भूत प्रेत प्रथमाधिपति बिपति हर्त्ता॥
मोह मूषक मार्जार संसार भय हरण तारण तरण करण कर्त्ता॥
अतुल बल बिपुल बिस्तार विग्रह गौर अमल अति धवल धरणीधराभं।
शिरसि संकुलित कालकूट पिंगल जटा-पटल शत कोटि विद्युतच्छटाभं॥[2]

अन्य स्थलों पर भाषा बोधगम्य और सरस है।

रस

राम-काव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन ही इतने भागों में विभाजित है कि उससे संपूर्ण रसों की अभिव्यक्ति होती है। 'वाल्मीकि रामायण' महाकाव्य है—राम की समस्त कथा महाकाव्य के रूप ही में 'मानस' में वर्णित है, अतः

१ तुलसी ग्रन्थावली, पहला खंड, (मानस) पृष्ठ १२६

२ तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, (मानस) पृष्ठ ४६५-४६६

महाकाव्य के लक्षण के अनुसार सभी रसों का निरूपण होना चाहिए। इसीलिए 'मानस' में सभी रसों का समावेश है। 'रामचन्द्रिका' में भी नव रसों का वर्णन है। राम-काव्य के अन्य ग्रंथों में भी विविध रसों का निरूपण है। दास्य भक्ति की प्रधानता होने के कारण संत-काव्य की भाँति राम-काव्य में भी शान्त रस का प्राधान्य है। राम विष्णु के अवतार हैं—वे राजकुमार हैं—उनका सीता से विवाह होता है, अतः उनमें सौन्दर्य और माधुर्य की भावना है। इसीलिए राम-काव्य मे शृंगार रस भी प्रधान है। शान्त और शृंगार इन दो प्रधान रसों से राम-काव्य लिखा गया है। अन्य रस गौण रूप से प्रयुक्त हुए है।

विशेष—वैष्णव धर्म का जैसा विकास उत्तर में हो रहा था, वैसा ही दक्षिण में भी हो रहा था। अन्तर केवल भक्ति-भाव के दृष्टिकोण और आराध्य के रूप का था। दक्षिण के मराठा भक्त ईश्वर की साकारोपासना करते हुए भी उसे वैसा ही आदि ब्रह्म मानते थे, जैसा तुलसीदास ने राम को माना है, जो 'विधि हरि हर' से भी ऊपर हैं। अद्वैतवाद के ईश्वर सबन्धी विशेषणों के साथ राम की भक्ति ही दक्षिण में प्रचलित थी, यद्यपि उस भक्ति का कोई विशेष दार्शनिक सिद्धांत नहीं था।[1] इन मराठा भक्तों में तुकाराम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। उनका सिद्धांत कुछ इस प्रकार रक्खा जा सकता है :—

"तुकाराम जी के मन से सारा संसार तीन रूपों में विभक्त था। जड़-सृष्टि, चैतन्ययुक्त जीव और ईश्वर। ईश्वर जड़-सष्टि तथा सचेतन जीवों का अन्तर्यामी अर्थात् अन्तः संचालक है। यह दोनों प्रकार की सृष्टि, जो उसी की इच्छा से निर्मित हुई है, ईश्वर की देह-स्वरूप है और ईश्वर उस देह की आत्मा है। सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व ईश्वर अत्यन्त सूक्ष्म रूप से रहता है। जैसे, देह से विकारादि आत्मा को विकृत नहीं कर सकते, वैसे ही जड़-सृष्टि तथा जीवों के गुणों से ईश्वर-स्वरूप विकृत नही होता। वह सब दोषो से तथा अवगुणों से अलिप्त रहता है। वह नित्य है जीवों तथा जड़-सृष्टि में ओत-प्रोत भरा हुआ है, सबों का अन्तर्यामी है और शुद्ध आनन्दस्वरूप है। ज्ञान, ऐश्वर्य इत्यादि सद्‌गुणों से वह युक्त है। वही सृष्टि का निर्माण करता है, वही उसका पालन करता है तथा अंत में वही उसका संहार भी करता है। भक्त जनों का वह शरण्य है। उसके गुणों का आकलन न होने के कारण ही उसे अगुण या निर्गुण कह सकते हैं।"[2]

---

१ एन आउटलाइन ऑव् दि रिलीजस हिस्ट्री ऑव् इंडिया,
पृष्ठ ३०० (जे० एन० फर्कहार)

२ संत तुकाराम (हरि रामचन्द्र दिवेकर), पृष्ठ १३७
हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३७

तुकाराम की ईश्वर संबन्धी यह व्याख्या रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से बहुत मिलती है। अत: उसका निर्देश राम-काव्य के अन्तर्गत ही होना चाहिए। मराठा संतों की उपासना में विशिष्टाद्वैत से यदि कुछ विशेषता है तो वह यह कि वह एकेश्वरवाद की ओर कुछ अधिक झुकी हुई है।

इन भक्तों के आराध्य का रूप भी राम न होकर 'पांडुरंग', 'विठोबा' या 'विट्ठल' है। 'पांडुरंग' तो शिव का नाम है[१] जो वैष्णव-उपासना में मराठा भक्तों द्वारा प्रयुक्त है। 'विठोबा' या 'विट्ठल' संस्कृत शब्द नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि 'विट्ठल' बहुत ही बाद की रचना है।[२] विट्ठल का अर्थ है 'ईंट पर खड़ा हुआ' (मराठी—विट्=ईंट)। भंडारकर 'विट्ठल' को विष्णु का अपभ्रंश रूप ही मानते हैं। महाराष्ट्र में इस नाम की व्युत्पत्ति यों कही जाती है कि भीमा नदी के तीर पर पुंडलीक नाम का एक व्यक्ति रहता था जो अपने माता-पिता की बहुत सेवा करता था। इस भक्ति से प्रसन्न होकर कृष्ण उसे साक्षात् दर्शन देने के लिए उसके पास आए। पुंडलीक अपने माता-पिता की भक्ति में व्यस्त था। जब उसे ज्ञात हुआ कि स्वयं श्रीकृष्ण दर्शन देने आये हैं तब उसने अपने पास पड़ी हुई ईंट श्रीकृष्ण के पास फेंक कर कहा—कृपया इस पर विश्राम कीजिए। माता-पिता की सेवा के बाद में आपकी ओर देख सकूँगा। श्रीकृष्ण उस भक्त की आज्ञा मान कर ईंट पर खड़े हो गए और कमर पर हाथ रख कर पुंडलीक की ओर देखने लगे। यही विट्ठल की मूर्ति है। वे ईंट पर खड़े हुए अपनी कमर पर हाथ रखे एकटक देख रहे हैं। कहा जाता है कि पुंडलीक के कारण ही विष्णु का विट्ठल रूप से अवतार हुआ और पुंडलीक या पुंडरीक के नाम पर भीमा नदी का गाँव पुंडलीकपुर या पंढरपुर कहा जाने लगा।

उपासना और आराध्य का रूप कुछ भिन्न होते हुए भी मराठा भक्तों की भावना राम-काव्य से बहुत मिलती-जुलती है। तुकाराम ने तो अपनी हिन्दी-कविता की रचना में राम का नाम भी अनेक बार प्रयुक्त किया है :—

> राम कहे सों मुख भला रे, बिन राम से बोख।
> आव न जानू रमते बेरा, जब काल लगावे सीख॥[३]
> तुकादास राम का मग में एकहि भाव।
> तों न पलटू आवे, येही तन जाय॥[४]

---

१ वैष्णविज्म, शैविज्म एंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (सर आ० जी० भंडारकर), पृष्ठ ८८
२ वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (सर आर० जी० भंडारकर), पृष्ठ ८७
३ संत तुकाराम, पृष्ठ १५०
४ संत तुकाराम, पृष्ठ १५७

बार-बार काहे मरत अभागी। बहुरि मरन से क्या तोरे भागी ॥१॥
एहि तन करते क्या ना होय। भजन भगति करे बैकुंठ जाय ॥२॥
राम नाम मोल नहिं बेचे कवरी। वोहि सब माया छुरावत सगरी ॥३॥
कहे तुका मन सु मिल राखो। राम-रास जिह्वा नित चाखो ॥४॥[1]

महाराष्ट्र के भक्त कवियों ने मराठी अभंगों के साथ[2] हिन्दी में भी रचना की। इन रचनाओं में साहित्य का सौन्दर्य न होकर केवल भक्ति का ही सौन्दर्य है। ऐसे महाराष्ट्र भक्तों में निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं :—

जनार्दन (समय—संवत् १५१०)

भानुदास (सं० १५५५)

इनकी प्रभातियाँ तुलसीदास की प्रभातियों के समान ही हैं। हिन्दी-कविता में ये राम और श्याम दोनों ही को समान रूप से मानते हैं :—

झमत झमत राम श्याम सुन्दर मुख तव ललाम, थाती की छूट कछू भानुदास पाई ॥[3]

एकनाथ (सं १६००)

ये बड़े लोक-प्रिय वैष्णव थे। इन्होंने भक्ति का सबसे अधिक प्रचार किया। 'ज्ञानेश्वरी' का प्रचार इनके द्वारा महाराष्ट्र के कोने-कोने में हो गया। इन्होंने 'एकनाथी भागवत' और 'भावार्थ रामायण' की रचना की। इनकी हिन्दी कविता भी बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें तत्कालीन फारसी शब्द भी आ गए हैं।

तुकाराम (संवत् १६६४—१७०६)

इनका जीवन तुलसीदास के जीवन से बहुत मिलता है। गृहस्थाश्रम के बाद वैराग्य लेने पर इन्होंने भक्ति का विशेष प्रचार किया। इन्होंने 'वारकरी' नामक पंथ भी चलाया। इनके अभंग महाराष्ट्र में बहुत प्रसिद्ध है। छत्रपति शिवाजी इनके सम्पर्क मे आये थे और दीक्षित होना चाहते थे, पर तुकाराम ने यह स्वीकार नही किया। ये वीतरागी ही रहे।

नारायण (सवत् १६६५—१७३८)

इन्होंने रामदास नाम से वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। संभवतः यह रामानन्द के प्रभाव के कारण ही हुआ। इन्होने शिवा जी को बहुत प्रभावित किया। इसलिए इनका नाम समर्थ गुरु रामदास हुआ। इनके सिद्धान्तों पर रामदासी पन्थ चल निकला। इनका ग्रंथ 'दशबोध' रामदासी मत में बहुत प्रसिद्ध

---

१ संत तुकाराम, पृष्ठ १५६

२ वैष्णविज्म, शैविज्म ऍंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स, (सर आर० जी० भंडारकर) पृष्ठ ६३

३ हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद (श्रीभास्कर रामचन्द्र भालेराव), पृष्ठ ६५
कोशोत्सव स्मारक संग्रह (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), १९८५

हुआ। इनके उत्साह भरे उपदेश ने महाराष्ट्र को शक्ति से समन्वित कर मुसलमानी सत्ता के सामने निर्भीक और साहसी बना दिया। शिवाजी का शौर्य गुरु रामदास की वाणी का विकसित रूप है।

इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में अन्य वैष्णव भक्त भी हुए, जिन्होंने कुछ हिन्दी-रचना की। उन भक्तों में कन्होबा, जयराम, रघुनाथ व्यास विशेष प्रसिद्ध हैं।

उत्तर और दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म की इस लहर ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में भी हिन्दू-जीवन को सुरक्षित रक्खा और धर्म एवं साहित्य के गौरव की रक्षा की। वैष्णव धर्म का राम-काव्य कृष्ण-काव्य से श्रेष्ठ रहा, क्योंकि राम-काव्य में किसी प्रकार की कलुषता नहीं आने पाई। कृष्ण-काव्य ने आगे चलकर शृंङ्गार रस के वासनामय आतंक के सामने सिर झुका दिया। उसमें धर्म की पवित्रता नहीं रह गई। साहित्य के दृष्टिकोण से भी उत्तर-कालीन कृष्ण-काव्य केवल मनोरंजन और विलासिता का साधन बन कर रह गया है।

सातवाँ प्रकरण

कृष्ण-काव्य

श्रीकृष्ण की भावना का आविर्भाव ईसा की चौथी शताब्दी पूर्व ही हो चुका था। श्रीकृष्ण के अनेक नामों में 'वासुदेव' नाम भी था। हापकिंस का कथन है कि 'महाभारत' में श्रीकृष्ण केवल मनुष्य के रूप मे ही आते हैं, बाद में वे देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए, पर कीथ के विचारानुसार 'महाभारत' में श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व पूर्णरूप से देवत्व की भावना से युक्त है।[1] इतना तो निश्चित है कि ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व के लगभग कृष्ण में देवत्व की भावना आ गई थी, क्योंकि पाणिनि के 'व्याकरण' में वासुदेव और अर्जुन देव युग्म हैं। प्रसिद्ध यात्री मैगस्थनीज ने भी लिखा है कि कृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर में होती थी। यह काल ईसा के ३०० वर्ष पूर्व का है। यदि वासुदेव कृष्ण की पूजा प्रथम मौर्य के समय में प्रचलित थी तब तो इस पूजा का प्रारंभ मौर्य वंश की स्थापना के बहुत पहले हो गया होगा। संभवतः इस पूजा का प्रारम्भ 'उपनिषदों' के साथ ही हुआ क्योंकि 'महानारायण उपनिषद' में विष्णु का पर्यायवाची शब्द वासुदेव है। कृष्ण वासुदेव का ही पर्यायवाची है, अतः कृष्ण ही विष्णु का द्योतक है।

सर भंडारकर वासुदेव और कृष्ण में अन्तर मानते हैं। उनका विचार है कि 'सात्वत' एक क्षत्रिय वश का नाम था जिसे 'वृष्णि' भी कहते थे। वासुदेव इसी सात्वत वंश के एक महापुरुष थे, और उनका समय ईसा के ६०० वर्ष पूर्व है। उन्होंने ईश्वर के एकत्व भाव का प्रचार किया था। उनकी मृत्यु के बाद उसी वंश के लोगों ने वासुदेव ही को साकार रूप से ब्रह्म मान लिया है। 'भगवद्गीता' इसी कुल का ग्रंथ है।

इसी प्रकार वासुदेव का प्रथम रूप नारायण था, बाद में विष्णु और अन्त में गोपाल कृष्ण।

कृष्ण एक वैदिक ऋषि का नाम था, जिसने 'ऋग्वेद' के अष्टम मंडल की रचना की थी, वह उसमें अपना नाम कृष्ण लिखता है। 'अनुक्रमणी' का लेखक उसे आंगिरस नाम देता है इसके बाद 'छांदोग्य उपनिषद्' में कृष्ण देवकी के पुत्र के रूप में उपस्थित किये जाते हैं। वे घोर आंगिरस के शिष्य हैं। आंगिरस ने उन्हें शिक्षा भी दी है:—

---

१ जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी १९१५, पृष्ठ ५४८

तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्रायोक्त्वो वापाऽपिपास एवस बभूव, सोऽन्तवेलाया-मेतात्त्रयं प्रतिपद्ये ताक्षितमस्य च्युतमसि प्राणसंशितमसीति।[1]

[अर्थात् देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के लिए आंगिरस घोर ऋषि ने शिक्षा दी कि जब मनुष्य का अन्तिम समय आवे तो उसे इन तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिए :—

(१) त्वं अचितमसि—तू अनश्वर है।
(२) त्वं अच्युतमसि—तु एक रूप है।
(३) त्वं प्राणसंशितमसि—तू प्राणियों का जीवनदाता है]

यदि कृष्ण भी आंगिरस थे तो 'ऋग्वेद' के समय से 'छांदोग्य उपनिषद्' के समय तक उनके संबन्ध में जनश्रुति चली आती होगी। इसी जनश्रुति के आधार पर कृष्ण का साम्य वासुदेव में हुआ होगा जब वासुदेव देवत्व के पद पर अधिष्ठित हुए होंगे। कृष्ण और वासुदेव के एकत्व का एक कारण और है। 'जातकी' की गाथा के भाष्यकार का मत है कि कृष्ण एक गोत्र-नाम है और यह क्षत्रियों द्वारा भी यज्ञ समय में धारण किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्ण रूप है कार्ष्णायन। वासुदेव उसी कार्ष्णायन गोत्र के थे, अतः उनका नाम कृष्ण हो गया। इस प्रकार कृष्ण ऋषि का समस्त वेद-ज्ञान और देवकी-पुत्र का गौरव वासुदेव के साथ सम्बद्ध हो गया, क्योंकि वे अब कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व से दो वर्ष बाद, इन चार सौ वर्षों में 'महाभारत' में कृष्ण दैवी अवतार के रूप में ज्ञात होते हैं। सभा पर्व में भीष्म श्रीकृष्ण को अव्यक्त प्रकृति एवं सनातन कर्त्ता कहते हैं, वे उन्हें समस्त भूतों से परे मानते हैं :—

एव प्रकृतिरव्यक्ता कर्त्ताचैव सनातनः।
परश्च सर्व भूतेभ्यः तस्मात्पूज्य तमोऽच्युतः॥[2]

आगे चल कर वे उन्हें परब्रह्म भी कहते हैं :—

एतत्परमकं ब्रह्म एतत्परमकं यशः।
एतदक्षरमव्यक्तं एतत् वै शाश्वतं महः॥[3]

भीष्म द्वारा श्रीकृष्ण की इस प्रशंसा में गोकुल में की हुई कृष्ण की लीलाओं का निर्देश नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि 'महाभारत' में परब्रह्म कृष्ण की भावना है गोपाल कृष्ण की नहीं। सभा पर्व में शिशुपाल अवश्य श्रीकृष्ण की गोकुल-सम्बन्धी लीलाओं का निर्देश करता है, पर वे पंक्तियाँ प्रक्षिप्त जान पड़ती हैं, क्योंकि

---

१ छांदोग्य उपनिषद्, प्रकरण ३, खंड १७
२ महाभारत २८। २५
३ महाभारत ६६। ६

'महाभारत' के समय तक कृष्ण के देवत्व का उतना ही विकास हुआ था जितना भीष्म द्वारा वर्णित है। 'महाभारत' में कृष्ण के लिए एक नाम और आता है। यह नाम है गोविन्द, पर इस शब्द का अर्थ गो (गाय) से सम्बन्ध रखने वाला नहीं है। आदि पर्व मे गोविन्द का अर्थ बाराह अवतार के प्रसंग में है जहाँ विष्णु ने पानी मथ कर पृथ्वी को निकाला है। शान्ति पर्व में भी वासुदेव कृष्ण ने अपना नाम गोविन्द बतलाते हुए पृथ्वी के उद्धार की बात कही है। अतः 'महाभारत' के काल में गायों से सम्बन्ध रखने वाले 'गोविन्द' की कथाएँ प्रचलित नही थी। गोविन्द का वास्तविक इतिहास 'गोविद्' शब्द से है जो 'ऋग्वेद' में इन्द्र के लिए प्रयुक्त है, जिसने गायों की खोज की थी।

'महाभारत' में विष्णु के महत्त्व की पूर्ण घोषणा है। यह बात अवश्य है कि विष्णु के साथ ब्रह्मा और शिव का भी निर्देश है, किन्तु विष्णु का महत्त्व दोनों से अधिक है, क्योंकि विष्णु की भावना में अवतारवाद है। 'महाभारत' में कृष्ण विष्णु के ही अवतार माने गये है। इसी समय बौद्ध धर्म के महायान वर्ग में बुद्ध सम्पूर्ण ईश्वर बन जाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि बौद्ध मत प्रधानतः 'महाभारत' की ईश्वरीय भावना से ही प्रभावित है।

'महाभारत' के बाद 'भगवद्गीता' में भी श्रीकृष्ण विष्णु के पूर्ण अवतार हैं। वे पूर्ण परब्रह्म हैं :—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव॥[1]

'महाभारत' में कृष्ण जो विष्णु के अवतार माने गये हैं, 'भगवद्गीता' में एकान्त ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित होते हैं। विष्णु या कृष्ण का ब्रह्म से एकत्व प्राप्त करना इस बात की घोषणा करता है कि कृष्ण ब्रह्म के साकार रूप हैं। 'गीता' के अनुसार उपासना के तीन मार्ग हैं—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। भक्ति मार्ग ने कृष्ण के रूप को और भी विकसित कर दिया।

मोक्षधर्म के अन्तर्गत 'नारायणीय' में नारद ने बदरिकाश्रम की यात्रा की है और वहाँ उनका नर और नारायण से मिलना वर्णित है। उसमें नारायण अपनी प्रकृति (नर) का ही पूजन करते हैं। इस प्रकार नारायण की अभिव्यक्ति 'नारायणीय' में व्यूह प्रकार से है, जिसके अनुसार नारायण चतुर्व्यूहियों के रूप में आविर्भूत हैं।

---

१ श्री मद्भागवद्गीता ७।७
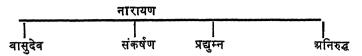
इन चार रूपों से ब्रह्मा की उत्पत्ति है जो दृश्य-जगत् का निर्माता है। नारायण (विष्णु) के ये चार रूप आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार हैं :—

१. वासुदेव—	आदि ब्रह्म	ब्रह्मा—सर्वभूतानि
२. संकर्षण—	प्रकृति	
३. प्रद्युम्न—	मानस	
४. अनिरुद्ध—	अहंकार	

विष्णु अपने चारों रूपों से संसार में अवतरित होते हैं और उन्हीं से अवतार की सृष्टि होती है। 'नारायणीय' में अवतार की भावना का अत्यधिक विस्तार है। इसमें अन्य अवतारों के साथ कंस-वध के निमित्त वासुदेव का अवतार अवश्य निर्देशित किया गया है, पर गोकुल में असुर-वध का या गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का कोई उल्लेख नहीं है। गोपाल कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण 'हरिवंश पुराण', 'वायु पुराण' और 'भागवत पुराण' में हुआ है। गोपाल कृष्ण की कथाएँ इन पुराणों की रचना के पूर्व अवश्य प्रचलित रही होंगी तभी तो वे बाद में लिपिबद्ध हुईं।

'हरिवंश पुराण' ईसा की तीसरी शताब्दी में लिखा गया। अतः गोपाल कृष्ण की जनश्रुतियाँ ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी के बाद से ही प्रचलित हुई होंगी। 'नारायणीय' में अवतार की जो भावना व्यक्त की गई थी उसका परिवर्द्धन विशेष रूप से पुराणों में हुआ, केवल भावनाओं ही में नहीं, वरन् संख्या में भी। 'नारायणीय' में छः अवतारों का उल्लेख है :—

बाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और वासुदेव कृष्ण। पुराणों में अवतारों की संख्या इस प्रकार :—

(१) हरिवंश   ६ अवतार   (उपरिलिखित)

(२) वायु पुराण

(अ) ९७ वें अध्याय में १२ अवतार। उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त शिव और इन्द्र के भी अवतार हैं।

(आ) ९८ वें अध्याय में १० अवतार। उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त दत्तात्रेय, अनामी, वेदव्यास और कल्कि।

(३) वाराह पुराण   १० अवतार—उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि।

(४) अग्नि पुराण — १० अवतार—उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि ।

(५) भागवत पुराण

(अ) प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में २२ अवतार
(आ) द्वितीय स्कंध के सप्तम अध्याय में २३ अवतार
(इ) एकादश स्कध के चतुर्थ अध्याय में १६ अवतार

इन अवतारों में उपर्युक्त ६ अवतारों के अतिरिक्त सनत्कुमार, नारद, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, धन्वन्तरि आदि हैं। ये ऋषभ संभवत: जैन धर्म के तीर्थंकर ज्ञात होते है।

(६) **नृसिंह पुराण**—१० अवतार जो 'बाराह' और 'अग्नि पुराण' में हैं। पर इन अवतारों में कृष्ण के साथ बलराम का नाम भी जोड़ दिया गया है। और इस नाम की सार्थकता अध्याय ५३ के इस श्लोक से की गई है :—

प्रेषयामास द्वे शक्ती सित कृष्णे स्वके नृप।
तयोः सिता च रोहिण्यां वसुदेवाद् बभूव ह ॥
तद्वात्कृष्णा च देवक्यां वसुदेवाद् बभूव ह ।
रौहिणेयोऽथ पुण्यात्मा रामनामाश्रितो महान् ॥
देवकीनन्दनः कृष्ण·························॥

अर्थात् पृथ्वी का भार उतारने के हेतु श्री विष्णु भगवान ने अपनी दो क्तियों को पृथ्वी पर भेजा—एक सफेद, दूसरी काली। श्वेत शक्ति रोहिणी के गर्भ से उत्पन्न होकर 'राम' नाम से प्रसिद्ध हुई और काली शक्ति देवकी के गर्भ से उत्पन्न होकर 'कृष्ण' नाम से प्रसिद्ध हुई।[१]

गोपाल कृष्ण की भावना का विकास 'हरिवंश पुराण' में इस प्रकार हुआ—३८०८ वें श्लोक में कृष्ण ने अपने पिता नन्द से गोवर्धन पूजा की प्रार्थना करते समय अपने को 'पशु-पालक' कहा है और अपना वैभव 'गोधन' से ही माना है। ३५३२ वें श्लोक से उनका निवास व्रज और वृन्दावन ज्ञात होता है। श्रीकृष्ण की गोवर्धन पूजा और व्रज-निवास में एक ऐतिहासिक सामग्री मिलती है।

व्रज और वृन्दावन केन्द्र में दूसरी और तीसरी शताब्दी में आभीर जाति रहती थी। अत: गोपाल कृष्ण इसी आभीर जाति के देवता होंगे। ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी के आभीरों ने राजनीति में भी भाग लिया था और महाराष्ट्र के उत्तर में अपने राज्य की स्थापना की थी। इस जाति में ईश्वरसेन एक बड़ा

१ श्रीकृष्णावतार—महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा एम० ए०, डी० लिट्०
(कल्याण—श्रीकृष्णांक, श्रावण १९८८)

भारी राजा हुआ जिसका एक शिला-लेख नासिक में प्राप्त हुआ है।[1] यह जाति अपने साथ गोपाल कृष्ण को ईश्वर के रूप में लाई। भंडारकर का कथन है कि आभीर जाति का 'कृष्ण' शब्द संभव है पश्चिम के 'क्राइस्ट' (Christ) शब्द से उद्भूत हुआ हो।[2] इसी 'कृष्ण' को आभीर जाति ने अपने महत्त्व से 'वेद', 'उपनिषद्' और 'महाभारत' के वासुदेव कृष्ण से सम्बद्ध कर दिया। अतः वासुदेव कृष्ण जो 'महाभारत' तक ब्रह्म और ब्रह्म के अवतार रहे आभीरों के गोपाल कृष्ण में रूपान्तरित हो गये और गोपाल कृष्ण की बाल-लीलाएँ पुरातन कृष्ण की बाल-लीलाएँ बन गईं। नारद पंचरात्र की 'ज्ञानामृत सार संहिता' में कृष्ण की बाल-लीलाओं का निर्देश है। 'ज्ञानामृत सार संहिता' का रचना-काल सर भंडारकर द्वारा ईसा की चौथी शताब्दी के बाद ही निर्धारित किया गया है।[3] अतः इस समय आभीरों का आतंक अवश्य ही अपने उत्कर्ष पर होगा और उसी आतंक से प्रेरित होकर वासुदेव कृष्ण की सत्ता गोपाल कृष्ण के समस्त बाल-चरित्र में लीन हो गई। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में श्रीकृष्ण की भावना का विकास हुआ।

कृष्ण की ईश्वरीय सृष्टि सर्वप्रथम 'वनदेव' की भावना में मानी जानी चाहिये। प्रकृति में वसन्तश्री से नवीन जीवन की सृष्टि होती है, नवीन पल्लवों में सौंदर्य फूट पड़ता है। इस नवीन जीवन को उत्पन्न करने वाली शक्ति के प्रति प्राचीनतम काल के असंस्कृत हृदय में भक्ति का उद्रेक होना स्वाभाविक है। हमें ज्ञात है कि आर्यों ने प्रकृति के अनेक रूपों को देवताओं के रूप में मान इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत आदि देवों की कल्पना की है। उसी भाँति मृत्यु से जीवन का आविर्भाव करने वाली शक्ति भी किस प्रकार कृष्ण के रूप में आई, यही हमें देखना है।

(अ) कृष्ण के जीवन की भावना स्पष्ट रूप से गोप रूप में है, जिसका सम्बन्ध गौवों से है। प्रकृति के जीवों की रक्षा करने वाले और प्रकृति के प्रांगण में विहार करने वाले देवताओं की कल्पना तो हमारे भक्ति-काल के साहित्य में भी मिलती है। गाएँ प्रकृति की निर्दोष, सरल, और करुण प्रतिमाएँ हैं। श्रीकृष्ण उनके पोषक हैं। इसीलिए वे आदि-भावना में गोप रूप होने के कारण 'वनदेव' के रूप में आप से आप आ जाते हैं। उनका नाम इसीलिए गोपाल अथवा गोपेन्द्र है। यही कारण ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण के हृदय में 'श्रीवत्स' चिह्न है। यह चिह्न हृदय पर रोओं के चक्र से निर्मित है जिसके लिए 'भौरी' एक विशिष्ट शब्द है। यह

---

१ वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (सर भंडारकर) पृष्ठ ३७

२ वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (सर भंडारकर) पृष्ठ ३८

३ वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (सर भंडारकर) पृष्ठ ४१

गाय और बैलों की छाती पर अक्सर रहा करता है। इसी भावना पर कहीं बिहारी ने श्लेष से व्यंग किया था :—

> चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
> को घटि ए वृषभानुजा वे हलधर के वीर ॥[1]

(आ) कृष्ण के भाई का नाम बलराम है। वे भी ऋतु के देव माने गये हैं। उनका संबन्ध विशेष कर धान्यादिकों से है। उनका आयुध भी हल है। अतएव कृष्ण-बलराम प्रकृति की सृजन-शक्ति के प्रतिनिधि हैं।

(इ) गोवर्धन-पूजा का भी यही तात्पर्य है जिसमें अनाज की पूजा का प्रधान विधान है। उस उत्सव का दूसरा नाम अन्नकूट भी है। उसका प्रारम्भ श्रीकृष्ण के द्वारा होना कहा गया है जिसके कारण उन्हें इन्द्र का कोप-भाजन बनना पड़ा।

इससे यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल के ये सब सिद्धान्त जो प्रकृति के प्रति आदर के भाव से परिपूर्ण थे, कृष्ण के देवत्व का निर्माण करने में पूर्ण सहायक थे। बाद में अन्य सिद्धान्तों के मिश्रण से कृष्ण अनेक विचारों के प्रतीक बने, किन्तु उनका आदि रूप निश्चय ही 'वनदेव' से लिया गया जान पड़ता है; क्योंकि वे आभीर जाति के आराध्य थे।

यह कहा ही जा चुका है कि यदि रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर कर राम-भक्ति का प्रचार किया तो निम्बार्क, मध्व और विष्णु स्वामी के आदर्शों को सामने रख कर उनके अनुयायी चैतन्य और वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की ही भक्ति का प्रचार किया। यह भक्ति 'भागवत पुराण' से ली गई है जिसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का ही अधिक महत्त्व है, आत्म-चिन्तन की अपेक्षा आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य है। ईसा की १५ वीं शताब्दी में कृष्ण-भक्ति का जो प्रचार हुआ उसमें वल्लभाचार्य का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने जहाँ दार्शनिक क्षेत्र में शुद्धाद्वैत की स्थापना की वहाँ भक्ति के क्षेत्र में पुष्टि-मार्ग की, दोनों के योग से उन्होंने श्रीकृष्ण को ब्रह्म मान कर उन्हीं की कृपा पर जीव के सत्-चित् के अतिरिक्त आनन्द रूप की कल्पना की। उनके पुष्टि-सम्प्रदाय में अनेक वैष्णव दीक्षित हुए जिन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति पर उत्कृष्ट रचना की। इसमें अष्टछाप बहुत प्रसिद्ध है जिसकी स्थापना श्री वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने की थी। उसी अष्टछाप में सूरदास, नन्ददास आदि ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे जो भक्ति के क्षेत्र में यशस्वी और लोकप्रिय हुए। वल्लभाचार्य ने अपनी गद्दी अपने आराध्य श्रीकृष्ण की जन्मभूमि ब्रज ही में स्थापित की।

---

१ बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ १७८-१७९

इस गद्दी का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ कि श्रीकृष्ण की भक्ति के साथ-साथ ब्रजभाषा का भी बहुत प्रचार हुआ, और वह शीघ्र ही काव्य-भाषा के पद पर अधिष्ठित हो गई। ब्रजभाषा में ऐसे सुन्दर गेय पदों की रचना हुई कि उसके द्वारा कृष्ण-भक्ति उत्तरीय भारत के कोने-कोने में व्याप्त हो गई। कृष्ण-भक्ति के द्वारा ब्रजभाषा का प्रचार हुआ और ब्रजभाषा के द्वारा कृष्ण-भक्ति का। इस तरह कृष्ण-भक्ति और ब्रजभाषा ने पारस्परिक रूप से एक दूसरे को महत्त्व दिया। श्रीवल्लभाचार्य से प्रभावित होकर जिन कवियों ने श्रीकृष्ण-भक्ति पर रचना की उनमें श्री सूरदास सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

श्रीकृष्ण की भावना के विकास के साथ ही साथ राधा के इतिहास पर भी दृष्टि डालना युक्ति-संगत होगा।

'महाभारत' में जहाँ कृष्ण के जीवन का चित्रण है, वहाँ राधा का निर्देश नहीं है। 'महाभारत' में कृष्ण का जीवन महत्त्वपूर्ण है, वे मथुरा में जन्म लेते हैं, कंस के साथ अन्य असुरों को मारते हैं और कंस-वध के बाद द्वारिका चले जाते हैं। उनके पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी है, पर उनके गोप-जीवन की छाया और उनके अलौकिक कृत्यों की कथा महाभारत में नहीं है। गोप-जीवन के अभाव में राधा का उल्लेख भी नहीं है।

'महाभारत' के बाद ईसा की दशम शताब्दी में 'भागवत पुराण' की रचना हुई। उसके आधार पर 'नारद भक्ति सूत्र' और 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' का निर्माण हुआ। इनमें भक्ति का विकास पूर्ण रूप से हुआ, किन्तु इन ग्रन्थों में भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति होते हुए भी भक्ति की साकार मूर्ति राधा का निर्देश कृष्ण के साथ नहीं है। 'भागवत पुराण' में कृष्ण का बाल-जीवन ही वर्णित है, उत्तर-जीवन का विवरण ही नहीं है, केवल संकेत मात्र है। जिस बाल-जीवन का वर्णन 'भागवत' में है वह बहुत विस्तार से है। 'भागवत' में गोपियों का निर्देश अवश्य है, पर राधा का नहीं। यह बात अवश्य है कि श्रीकृष्ण के साथ एकांत में विचरण करने वाली एक गोपी का विवरण अवश्य है, पर उसका नाम नहीं दिया गया। अन्य गोपियाँ उस गोपी की प्रशंसा करती हैं कि उसने पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की आराधना अवश्य की होगी तभी तो वह श्रीकृष्ण को इतनी प्रिय है। महाराष्ट्र के संत ज्ञानेश्वर और उसी वर्ग के अन्य गायकों ने राधा का वर्णन नहीं किया। 'भागवत पुराण' के आधार पर पहला संप्रदाय माधव संप्रदाय है, जिसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना पर विशेष जोर दिया गया है, पर इसमें भी राधा का उल्लेख नहीं है। माधव सम्प्रदाय श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित हुआ जिनका समय सम्वत् १२५६ से १३३५ (सन् ११९९-१२७८) माना गया है।

'भागवत पुराण' के आधार पर जिन अन्य पुराणों की रचना की गई है उनमें राधा का निर्देश है। 'भागवत पुराण' में एक विशेष गोपी का निर्देश अवश्य है जिसने पूर्व जन्म में श्रीकृष्ण की आराधना की है जिस कारण वह श्रीकृष्ण को विशेष प्रिय है। इसी 'आराधना' शब्द से राधा की उत्पत्ति ज्ञात होती है। राधा शब्द संस्कृत धातु **'राध'** से बना है जिसका अर्थ 'सेवा करना या प्रसन्न करना' है। किस ग्रंथ में राधा का नाम पहले पहल इस अर्थ में आता है यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, पर पहला ग्रंथ जिसका परिचय अभी तक प्राप्त हो सका है वह है **गोपालतापनी उपनिषद्**। इसमें राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसि के रूप में है। यह ग्रंथ राधा-सम्प्रदाय के लोगों में बहुत मान्य है। 'गोपालतापनी उपनिषद्' की रचना मध्व के भाष्य और अनुव्याख्यान के बाद ही हुई होगी, क्योंकि मध्व ने राधा का उल्लेख नहीं किया।

माधव सम्प्रदाय के बाद जो अन्य सम्प्रदाय हुए (जिनमें कृष्ण का ब्रह्मत्व स्वीकार किया गया) वे विष्णु स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय हुए। इन दोनों सम्प्रदायों में राधा का निर्देश है। निम्बार्क सम्प्रदाय में जयदेव हुए जिन्होंने राधा और कृष्ण के विहार में 'गीतगोविन्द' की रचना की। राधा की उपासना 'भागवत पुराण' के आधार पर वृन्दावन में ईसा सन् ११०० के लगभग प्रारम्भ हो गई होगी और वहीं से वह बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची होगी। विष्णु स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय के बाद चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदायों में भी राधा को विशिष्ट स्थान मिला। विष्णु स्वामी से प्रभावित होकर वल्लभाचार्य ने राधा की उपासना की, जिससे महाकवि सूरदास प्रभावित हुए और निम्बार्क से प्रभावित होकर जयदेव ने 'गीतगोविन्द' में राधा का वर्णन किया जिससे महाकवि विद्यापति प्रभावित हुए। इस प्रकार विद्यापति और सूरदास की रचनाओं में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला।

कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ विद्यापति से माना गया है। किन्तु विद्यापति पर 'गीतगोविंद' के रचयिता महाकवि जयदेव का विशेष प्रभाव होने के कारण कृष्ण-काव्य का सूत्रपात जयदेव से ही मानना चाहिए।

जयदेव

जयदेव का जीवन-वृत्त अधिकतर नाभादास के 'भक्तमाल' और प्रियादास द्वारा उसकी 'टीका' से ज्ञात होता है। नाभादास के 'भक्तमाल' में जयदेव का परिचय मात्र है।[1] प्रियादास की 'टीका' में जयदेव के जीवन पर कुछ अधिक

[1] जयदेव कब्वि नृप चक्कवै खंड मँडलेश्वर आन कवि।
प्रचुर भयो तिहुँलोक गीत गोविन्द उजागर।
काक काव्य नव रस्स सरस शृंगार को सागर॥

प्रकाश डाला गया है।[1] इनके जीवन की अधिकांश घटनाएँ अलौकिक हैं और वे अधिकतर जनश्रुति के आधार पर ही हैं। इनके जीवन के विषय में प्रामाणिक रूप से यही कहा जा सकता है कि इनका जन्म किंदुविल्व (वीरभूमि, बंगाल) में हुआ था। इनके पिता का नाम भोजदेव और माता का नाम राधादेवी (रामादेवी ?) था। बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के दरबार में इन्होंने बड़ी प्रसिद्धि पाई। राजा लक्ष्मण सेन का समय सन् ११७० (सं० १२२७) है। अतः जयदेव का समय भी यही मानना चाहिये।[2] 'श्री भक्तमाल सटीक' के वार्तिक प्रकाशकार श्री सीता-रामशरण भगवानप्रसाद ने जयदेव का समय सन् १०२५ से ११५० ई० (अर्थात् संवत् १०८२ से १२०७ के मध्य माना है।[3] मानियर विलियम्स ने जयदेव का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी माना है।[4] इतिहास के साक्ष्य से मेकालिफ के द्वारा दिया गया समय ठीक ज्ञात होता है। लक्ष्मण सेन के राज्यारोहण का समय सन् १११९ दिया गया है।[5] मुहम्मद बिन बख्तियार ने बिहार पर सन् ११९७ में चढ़ाई की थी, उसके पूर्व लक्ष्मण सेन की मृत्यु हो गई थी। अतः लस्मण सेन का राजत्व-काल सन् ११९७ के पूर्व मानना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में सन् ११७० (संवत् १२२७) में जयदेव का लक्ष्मण सेन के संरक्षण में रहना संभव है। अतः जयदेव का समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिए।

प्रियादास ने जयदेव के वैराग्य, पद्मावती से विवाह, गृहस्थाश्रम, 'गीत गोविंद' की रचना, ठग मिलन, पद्मावती की मृत्यु और पुनर्जीवन आदि प्रसंगों पर विस्तार से लिखा है जिनमें अनेक अलौकिक घटनाओं का मिश्रण है, पर इतना निश्चित है कि जयदेव ने 'गीत गोविंद' की रचना संस्कृत में लक्ष्मण सेन के राजत्व-काल ही में की थी। 'गीत गोविन्द' में जयदेव ने राधा-कृष्ण का मिलन, कृष्ण की मधुर

अष्ट पदी अभ्यास करै तिहि बुद्धि बढ़ावै।
राधा रमण प्रसन्न सुने तहँ निश्चै आवै॥
शुभ संत सरोरुह खंड को पद्मावति सुख जनक रवि।
जयदेव कब्बि नृप चक्कवै खड मँडलेश्वर आन कवि।

भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ३२७

१ प्रियादास के २० कवित्त—१४४ से १६३ कवित्त

भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ३२८-३४६

२ सिख रिलीजन, भाग ६ (एम० ए० मेकालिफ, १९०९)

३ इनका समय सन् १०२५ ई० से ११५० ईसवी तक निर्णय किया गया है, अर्थात् विक्रमी सम्वत् १०८२ तथा १२०७ के मध्य। भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ३४७

४ ब्रह्मनिज्म ऐंड हिन्दूइज्म, पृष्ठ १४६ (मानियर विलियम्स)

५ मेडीवल इंडिया, पृष्ठ २६ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

लीलाएँ और प्रेम की मादक अनुभूति सरस और मधुर शब्दावली में लिखी है। 'गीत गोविंद' के द्वारा राधा का व्यक्तित्व पहली बार मधुर और प्रेमपूर्ण बना कर साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। 'गीत गोविंद' की पदावली मधुर है। उसमें कामदेव के बाणों की मीठी पीड़ा है। कीथ 'गीत गोविंद' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उसकी शब्दावली इतनी मधुर और भावों के अनुकूल है कि उसका अनुवाद अन्य किसी भाषा में ठीक तरह से हो ही नहीं सकता।[1]

जयदेव ने संस्कृत में 'गीत गोविंद' की रचना कर अपने भाषाधिकार और भाव-प्रदर्शन की कुशलता का परिचय अवश्य दिया, पर हिन्दी में उन्होंने अपनी यह कुशलता नहीं दिखलाई। अपने अनुपम वाग्विलास से उन्होंने विद्यापति और सूरदास जैसे महान् कवियों को प्रभावित अवश्य किया, पर वे स्वयं हिन्दी में उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं कर सके। संस्कृत की कोमलकांत पदावली में उन्होंने जिस संगीत की सृष्टि अपने काव्य 'गीत गोविंद' में की, वह हिन्दी में नहीं हो सकी। संस्कृत के 'गीति-काव्य' में 'गीत गोविंद' अमर है। उसमें यमक और अनुप्रास से जिस प्रकार भाव-व्यंजना की गई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उदाहरणार्थ तृतीयावलोकनम् में राधा का विरह-निवेदन लीजिए :—

ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करम्बित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे॥
बिहरति हरिरिह सरस वसन्ते।
नृत्यति युवति जनेत समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते॥
उन्मद मदन मनोरथ पथिक वधू जन जनित विलापे।
अलि कुल संकुल कुसुम समूह निराकुल बकुल कलापे॥
मृगमद सौरभ रभसवशंवद नवदल माल तमाले।
युवजन हृदय विदारण मनसिज नखरुचि किंशुक जाले॥
मदन महीपति कनक दण्ड रुचि केसर कुसुम विकासे।
मिलित शिलीमुख पाटलि पटल कृतस्मर तूण विलासे॥ इत्यादि

'गीत गोविंद' में आध्यात्मिकता की विशेष छाप नहीं है, लौकिक शृंगार से चाहे आध्यात्मिकता का संकेत भले ही मान लिया जावे। कामसूत्र के संकेतों के आधार पर राधा-कृष्ण का परिरंभन है, विलास है, क्रीड़ा है। इस क्रीड़ा में ही रहस्यवाद का संकेत आलोचकों द्वारा माना गया है।[2]

---

१ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर (हैरीटेज ऑव् इंडिया सीरीज, पृष्ठ १२१) (ए० बी० कीथ)

२ (अ) ए हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिट्रेचर, पृष्ठ १९६ (ए० बी० कीथ)

(आ) ब्रह्मनिज्म ऐन्ड हिन्दूइज्म, पृष्ठ १४६ (मानियर विलियम्स)

जयदेव हिंदी में उत्कृष्ट कोटि की रचना नहीं कर सके। उनके एक-दो पद 'श्रीगुरु ग्रन्थ साहब' में अवश्य पाये जाते हैं जो भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त साधारण हैं। जयदेव के ऐसे पद 'श्रीगुरु ग्रंथ साहब' की राग गूजरी और राग मारू में ही मिलते हैं। उनकी हिन्दी-रचना बहुत कम देखने में आती है। परिचय के लिए उनका राग मारू में एक पद इस प्रकार है :—

चंद सत भेदिया नाद सत पूरिया सूर सत खोड़ सादतु कीया।
अबलबलु तोड़िया अचल चलु थापिया अघड़ु घड़िया तहा अमिउँ पीया।
मन आदि गुण आदि बखानिया। तेरी दुविधा दृष्टि समानिया॥
अरधि कौ अरधिया सरधि कौ सरधिया, सलिल कौ सलिल संमानिआइया।
वदित जयदेव जयदेव कौ रंमिया, ब्रह्म निर्वाण लवलीन पाइया॥[1]

इस पद में न तो जयदेव का भाषा-माधुर्य है और न भाव-सौन्दर्य। जयदेव ने 'गीत गोविंद' में श्रीकृष्ण और राधा के प्रेम का कोमल और विलासपूर्ण जो वर्णन किया है, उसकी छाया भी इस पद में नहीं है। यह पद तो निर्गुण ब्रह्म की शक्ति-संपन्नता के विषय में है। अत: जयदेव ने यद्यपि हिन्दी में संस्कृत की मधुर पदावली के समान कोई रचना नहीं की तथापि उन्होंने हिन्दी के कवियों को राधा-कृष्ण संबन्धी रचना करने के लिए प्रोत्साहित अवश्य किया। इस क्षेत्र में वे हिन्दी के कवियों के लिए आधार-स्वरूप हैं। उनका सब से अधिक प्रभाव विद्यापति पर ही ज्ञात होता है, अत: यहाँ विद्यापति की कविता पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

विद्यापति

विद्यापति बंगाली कवि नहीं थे, वे मिथिला के निवासी थे और मैथिली में उन्होंने अपनी कविता लिखी। लगभग चालीस वर्ष पहले बंगाली विद्यापति को अपना कवि समझते थे, पर जब से उनके जीवन की घटनाओं की जाँच-पड़ताल बाबू राजकृष्ण मुकर्जी और डाक्टर ग्रियर्सन ने की है तब से बंगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं।

विद्यापति एक विद्वान वंश के वंशज थे। उनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'गंगा-भक्ति-तरंगिनी' अपने मृत संरक्षक मिथिला के महाराजा गणेश्वर की स्मृति में समर्पित की थी। गणपति के पिता जयदत्त संस्कृत-विद्वता के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थे वरन् वे एक बड़े सन्त भी थे। उन्हें इसी कारण 'योगेश्वर' की उपाधि मिली थी। जयदत्त के पिता वीरेश्वर थे, जिन्होंने मैथिल ब्राह्मणों की दिनचर्या के लिए नियमसंबद्ध किये थे।

---

१ आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहिब जी (मोहन सिंह) पृष्ठ ५९८
तरनतारन (अमृतसर, पंजाब), १९२७

विद्यापति विसपी के रहने वाले थे । यह दरभंगा जिले में है । यह गाँव विद्यापति ने राजा शिवसिंह से उपहार-स्वरूप पाया था । विद्यापति ने शिवसिंह, लखिमा देवी, विश्वास देवी नरसिंह देवी और मिथिला के कई राजाओं की संरक्षता पाई थी । ताम्र-पत्र द्वारा विसपी गाँव का दान शिवसिंह ने 'अभिनव जयदेव' की उपाधि सहित सन् १४०० ई० में विद्यापति को दिया था ।[१]

कई विद्वान् इस ताम्र-पत्र को जाली समझते हैं । इस लेख की अक्षराकृति उस समय के अक्षरों से नहीं मिलती जब कि यह दान दिया गया होगा । इस प्रमाण के आधार पर ताम्र-पत्र अप्रामाणिक सिद्ध किया जाता है । जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि विसपी गाँव विद्यापति को शिवसिंह ने दान में दिया था । कवि स्वयं इस दान को अपने एक पद्य में लिखता है ।[२] उस स्थान पर प्रचलित जन-श्रुति भी इस दान का समर्थन करती है ।

विद्यापति के आविर्भाव के सम्बन्ध में डा० उमेश मिश्र लिखते हैं :—

"इनके पिता गणपति ठाकुर महाराज गणेश्वरसिंह के राज-सभासद थे और महासभा में अपने पुत्र विद्यापति को ले जाया करते थे । महाराज गणेश्वर की मृत्यु २५२ ल० सं० में हुई थी । अतः विद्यापति उस समय अंततः १० या ११ की अवस्था के अवश्य रहे होंगे जिसमें उनका राजदरबार में आना-जाना हो सकता था । दूसरी बात यह है कि विद्यापति के प्रधान आश्रयदाता शिवसिंह का जन्म २४३ ल० सं० में हुआ और ५० वर्ष की अवस्था में राजगद्दी पर बैठे यह माना जाता है और यह भी लोगों की धारणा है कि कवि विद्यापति उनसे दो वर्ष मात्र बड़े थे । तीसरी बात यह है कि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में अपने को खेलन कवि कहा है, इसलिये वह अवश्य कीर्तिसिंह या वीरसिंह की दृष्टि में अल्पवयस के साथ खेलने के लायक रहे होंगे । इन सभी बातों से अनुमान होता है कि विद्यापति २५२ ल० सं० में लगभग १० या ११ वर्ष के थे ।"[३]

---

१ स्वतिश्रीगजरथइत्यादि समस्त प्रक्रिया विराजमान श्रीमद्रामेश्वरीश्वरलब्ध प्रसादभवानी भव भक्ति भावना परायण—रूप नारायण महाराजा धिराज—श्रीमच्छिवसिंह देव पादाः समर-विजयिनो जरे लतप्पायां विसपी ग्रामवास्तव्य सकल लोकान् भूकर्षकांश्च समादिशन्ति ज्ञातमस्तु भवताम् । ग्रामोऽयमस्माभिः सप्रश्रिया भिनव जयदेव—महाराज पण्डित ठक्कुर—श्री विद्यापतिभ्यः शासनीकृत्य प्रदत्तोऽत ग्रामकस्था यूयमेतेषां वचनकरी भूकर्ष कादिकर्म्म करिष्यथेति लक्ष्मणसेन सम्बत् २९३ श्रावण सुदि ७ गुरौ ।

२ पंचगौडाधिप सिवसिंह भूप कृपा करिलेल निज पास ।
विसपी ग्राम दान कएल मोहि रहइत राजसनिधान ॥

—पदावली

३ विद्यापति ठाकुर (डा० उमेश मिश्र) पृष्ठ ३९
(हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद १९३७)

डाक्टर उमेश मिश्र के इस कथनानुसार विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० (संवत् १४२५) निश्चित होता है ।

विद्यापति की मृत्यु के सम्बन्ध में डा० मिश्र का कथन है—

"वाचस्पति मिश्र भैरवेन्द्रसिंह के सभासद, विद्वान् और विद्यापति के समकालीन थे । वाचस्पति मिश्र का समय सन् १४७५ ईस्वी (प्रिंस ऑव् वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज, ग्रंथ ३, पृ० १२५) तक होना माना जाता है, अतएव विद्यापति को भी इसी समय तक या इसके लगभग रखना ही पड़ेगा । इन सब बातों को विचार कर यह कहा जा सकता है कि विद्यापति लगभग ३५६ ल० सं० अर्थात् सन् १४७५ ईस्वी में अवश्य जीवित रहे होंगे ।"[1]

इस कथन से विद्यापति की मृत्यु सं० १५३२ (सन् १४७५) के बाद ही माननी चाहिये । इस प्रकार विद्यापति ने १०० वर्ष से भी अधिक आयु पाई । नाभादास ने अपनी 'भक्तमाल' में तो विद्यापति का निर्देश मात्र कर दिया है ।

विद्यापति के पदों का बंगला में रूपान्तर बहुत अधिक पाया जाता है । यहाँ तक कि बंगाल में विद्यापति के पद प्रचलित हैं, वे कई अंशों मे मैथिली में प्रचलित पदों से भिन्न है । उसका एक कारण है । विद्यापति का समय मिथिला विश्वविद्यालय के गौरव का समय था और उन दिनों मिथिला और बंगाल में भाव-विनिमय की अधिकता थी । अतएव बंगाल के राधाकृष्ण के गीत मिथिला में पहुँचे और उनका पाठ बिलकुल मैथिल हो गया । उदाहरण-स्वरूप गोविन्ददास के पद दिये जा सकते हैं । वही विद्यापति की कविता का हाल हुआ और उसका पाठ भी बंगला में हो गया । कोई-कोई पद तो केवल बंगला ही में पाये जाते हैं ।

विद्यापति संस्कृत के महान् पंडित थे । प्रधानतः इन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत ही में लिखीं । संस्कृत के अतिरिक्त इन्होंने अवहट्ठ और मैथिली में भी ग्रन्थ और पद लिखे । अतः भाषा की दृष्टि से विद्यापति के ग्रन्थ तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं :—

---

१ विद्यापति ठाकुर (डा० उमेश मिश्र),

२ विद्यापति ब्रह्मदास बहोरन चतुर बिहारी ।
गोविन्द गंगा रामलाल बरसानियाँ मंगलकारी ॥
प्रिय दयाल परसराम भक्तभाई या टीको ।
नन्द सुवन की छाप कवित्त केसौ को नीको ॥
आश करन पूरन नृपति भीषम जन दयाल गुननहिन पार ।
हरि सुजस प्रचुर कर जगत मैं ये कविजन अतिसय उदार ॥

—भक्तमाल (नाभादास)

संस्कृत—१. 'शैव सर्वस्वसार', २. 'शैव सर्वस्वसार प्रमाण-भूत पुराण-संग्रह', ३. 'भूपरिक्रमा', ४ 'पुरुषपरीक्षा', ५. 'लिखनावली', ६. 'गंगा-वाक्यावली', ७. 'दान-वाक्यावली', ८. 'विभाग सार', ९. 'गया पत्तलक,' १०. 'वर्ण कृत्य', ११. 'दुर्गा भक्ति तरंगिणी'।

अवहट्ठ—१. 'कीर्तिलता', २. 'कीर्तिपताका'।

मैथिली—'पदावली'

'कीर्तिलता' की भाषा अपभ्रष्ट या अवहट्ठ कही गई है। डा० बाबूराम सक्सेना ने स्वसंपादित 'कीर्तिलता' की भूमिका में लिखा है :—

"विद्यापति के प्राय: पाँच सौ वर्ष पूर्व कर्पूर मंजरी के रचयिता को संस्कृत के प्रबन्ध परुष जान पड़ते थे और प्राकृत के सुकुमार, इसलिए उन्होंने कर्पूर मंजरी प्राकृत में लिखी। विद्यापति को वही प्राकृत नीरस जान पड़ी और संस्कृत को बहुत लोग पसन्द नहीं करते इसलिए विद्यापति ने देशी भाषा अपभ्रंश में कीर्तिलता बनाई।"

इस भाषा में तत्कालीन अपभ्रंश के लक्षण मिलते हैं, यद्यपि इसे विद्यापति ने 'देसिल बअना' नाम दिया है।[1] विद्यापति की 'कीर्तिलता' में भाषा-विषयक यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है :—

बालचन्द विज्जावइ भाषा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर सिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥

'पदावली' विद्यापति का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। विद्यापति की बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के भिन्न-भिन्न अवसरों पर लिखे गए पद संग्रह कर दिये गये हैं। इन पदों के तीन वर्ग किये जा सकते हैं :—

शृंगार सम्बन्धी—इस वर्ग में राधा-कृष्ण के मिलन के प्रेमपूर्ण पद हैं।

भक्ति सम्बन्धी—इस वर्ग में शिव-प्रार्थना आदि हैं।

काल सम्बन्धी—इस वर्ग में तत्कालीन परिस्थितियों के चित्र हैं।

विद्यापति शैव थे, अत: उन्होंने शिव सम्बन्धी जो पद लिखे हैं वे तो अवश्य भक्ति से ओतप्रोत हैं, किन्तु श्रीकृष्ण और राधा संबन्धी जो पद हैं इनमें भक्ति न होकर वासना है। इस क्षेत्र में जयदेव की शृंगार-भावना ने विद्यापति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। कुमारस्वामी ने विद्यापति के ऐसे पदों को लेकर यह सिद्ध करना चाहा है कि विद्यापति की कविता ईश्वरोन्मुख है और उसमें रहस्यवाद की अनुपम छटा है। किन्तु श्री विनयकुमार सरकार ने कुमारस्वामी के इस मत

---

१ दि लैंग्वेज ऑव् दि कीर्तिलता—डा० बाबूराम सक्सेना
(इंडियन लिंग्विस्टिक्स—भाग ५, पृष्ठ ३२३)

के विरुद्ध ही अपनी सम्मति प्रकट की है ।[१] विद्यापति के पदों को देखते हुए विनय कुमार सरकार का मत ही समीचीन ज्ञात होता है, क्योंकि विद्यापति की कविता में भौतिक प्रेम की छाया स्पष्ट है ।

विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधाकृष्ण के चरणों पर समर्पित की गई है । उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है । उन्होंने शृंगार रस पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधाकृष्ण के जीवन का तत्त्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है ।

विद्यापति की कविता गीतिकाव्य के स्वरों में है । गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार, भावोन्माद, आशा-निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है । कवि के अन्तर्जगत् के सभी विचार, व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्-गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त रहते हैं । विद्यापति की कविता में यद्यपि अधिक व्यक्तिगत विचार नहीं हैं, पर उसमें भावोन्माद की प्रचंड धारा वर्षाकालीन नदी के वेग से किसी प्रकार भी कम नहीं है । वय:सन्धि, नखशिख, अभिसार, मान-विरह आदि से कवि की भावनाएँ इस प्रकार संबद्ध हो गई हैं मानो नायक-नायिका के कार्य-व्यापार कवि की वासनामयी प्रवृत्ति के अनुसार हो रहे हैं । विचार इतने तीव्र हैं कि उनके सामने राधा और कृष्ण अपना सिर झुका कर उन्हीं विचारो के अनुसार कार्य करते हैं ।

विद्यापति की कविता में शृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है । भाव, आलम्बन विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनकी पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है । उनके सामने विश्व के शृंगार में राधा और कृष्ण की ही मूर्तियाँ हैं । स्थायी भाव रीति तो पदावली में आदि से अन्त तक है ही । आलम्बन विभाव मे नायक कृष्ण और नायिका राधिका का मनोहर चित्र खींचा गया है । उसके बीच में ईश्वरीय अनुभूति की भावना नहीं मिलती । एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौंदर्य की सम्पत्ति लिए राधा नायिका ।

कि आरे नव जीवन अभिरामा ।
जत देखल तत कहए न पारिअ छओ अनुपम इक ठामा......

उद्दीपन विभाव में वसन्तादि चित्रित किए गए हैं :—

बाल बसन्त तरुन भए धाओल बढ़ए सकल संसारा ।
दखिन पवन धन अंग उजागरए किसलय कुसुम परागे,
सुललित हार मजरि घन कज्जल अँखितौ अंजन लागे ।
नव बसन्त हितु अगुसर जौवति विद्यापति कवि गावे ।
राजा सिवसिंघ रूप नरायन सकल कला मन भावे ।

---

१ लव इन हिन्दू लिट्रेचर, पृष्ठ ४७-४८
विनयकुमार सरकार (मारूजान कंपनी लिमिटेड, १९१०)

और अनुभाव इस प्रकार है :—

सुन्दरि चललिहु पहु घरना। चहु दिस सखि सब कर धरना॥
जाइतहु हार टुटिए गेल ना। भूखन बसन मलिन भेल ना॥
रोए रोए काजर दहाए देल ना। अदकंहि सिंदुर मिटाए देलना॥
जाइतिहु लागु परम डर ना। जइसे ससि काँप राहु डर ना॥

विद्यापति ने राधा-कृष्ण का जो चित्र खींचा है, उसमें वासना का रंग बहुत ही प्रखर है। आराध्य देव के प्रति भक्त का जो पवित्र विचार होना चाहिए, वह उसमें लेश-मात्र भी नहीं है। सख्यभाव से जो उपासना की गई है, उसमें कृष्ण तो यौवन में उन्मत्त नायक की भाँति है और राधा यौवन की मदिरा में मतवाली एक मुग्धा नायिका की भाँति। राधा का प्रेम भौतिक और वासनामय प्रेम है। आनंद ही उसका उद्देश्य है और सौंदर्य ही उसका कार्य-कलाप। यौवन ही से जीवन का विकास है।

अँगरेजी कवि बाइरन के समान विद्यापति का भी यही सिद्धांत है कि—"यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।"

विद्यापति ने जीवन में श्रृंगार की प्रधानता मानी है। जीवन मानो दो धाराओं में बह गया—एक धारा का नाम है पुरुष और दूसरी का स्त्री। इन्हीं दोनों के मिलाप में जीवन का तत्त्व सन्निहित है; किन्तु जिस जीवन का रूप चित्रित किया गया है, उसमें वासना की प्रधानता है। राधा का शनैः-शनैः विकास, उसकी वयःसन्धि, दूती की शिक्षा, कृष्ण से मिलन, मान-विरह आदि उसी प्रकार लिखे गए हैं, जिस प्रकार किसी साधारण स्त्री का भौतिक प्रेम-विवरण। कृष्ण भी एक कामी नायक की भाँति हमारे सामने आते हैं। कवि के इस वर्णन में हमें जरा भी ध्यान नहीं आता कि यही राधा-कृष्ण हमारे आराध्य हैं। उनके प्रति भक्ति-भाव की जरा भी सुगंधि नहीं है। निम्नलिखित अवतरण में आराधना का स्वरूप है अथवा वासना का?

मोर पिया सखि गेल दुरि देश।
जौवन दए मेल साल सनेस॥
मास असाढ़ उनत नव मेघ।
पिया विसलेख रहओं निरथेघ॥
कौन पुरुष सखि कौन से देश।
करब मोय तहाँ जोगिन भेस॥

कृष्ण और राधा साधारण पुरुष-स्त्री हैं। राधा तो उस सरिता के समान है, जिसमें भावनाएँ तरंगों का रूप लेकर उठा करती हैं। राधा स्त्री है, केवल स्त्री है, और उसका अस्तित्व भौतिक संसार ही में है। उसका बाह्य रूप जितना अधिक आकर्षक है उतना आंतरिक नहीं। बाह्य सौंदर्य ही उसका सब कुछ है, कोमलता

ही उसका स्वरूप है मानो सुनहले स्वप्न मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं । जहाँ उसके पैर पड़ते हैं, वहाँ कमल खिल उठते है, वह प्रसन्नता से पूर्ण है, उसकी चितवन में कामदेव के बाण हैं, पाँच नहीं वरन् सभी दिशाओं में छटे हुए सहस्र बाण ।

विद्यापति ने अन्तर्जगत् का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया, जितना बाह्य जगत् का । उन्हें अन्तर्जगत् की सूक्ष्म वृत्तियाँ बहुत कम सूझी है । उन्हें उनसे मतलब ही क्या ? उन्हें तो सद्यः स्नाता अथवा वयःसन्धि के चंचल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियाँ गूँथनी थीं ।

कामिनि करए सनाने । हेरतहि हृदय हनए पंच बाने ॥

विद्यापति का संसार ही दूसरा है । वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कूजन करती हैं । फूल खिला करते हैं, पर उनमें काँटे नहीं होते । राधा रात भर जागा करती है । उसके नेत्रों ही में रात समा जाती है । शरीर में सौंदर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है । पथ है; उसमें भी गुलाब है, शैया है; उसमें भी गुलाब है, शरीर है; उसमें भी गुलाब । सारा संसार ही गुलाबमय है । उनके संसार में फूल फूलते हैं, काँटों का अस्तित्व ही नहीं है । यौवन-शरीर के आनन्द ही उनके आनन्द हैं ।

सौंदर्य की वस्तु ही आनन्ददायिनी है । विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवत्-भजन कहाँ, इस वयःसन्धि में ईश्वर से सन्धि कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ ! उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं । उससे हृदय मतवाला हो सकता है, शांत नहीं । हम उन भावों में आत्म-विस्मृत हो सकते हैं, पर हममें जागृति नहीं आ सकती ।

विद्यापति के भक्त-हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है । वे एक कल्पित राज्य में विहार करते हैं । वे अपनी कल्पना के सौंदर्य में ऐसे डूब गये हैं कि किसी दूसरी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती । यहाँ कवि की कला मात्र है, उसका भक्ति-भाव-मय व्यक्तित्व नहीं । विद्यापति की राधा प्रेम करती है, इसलिए कि वह स्त्री है और स्त्रियाँ प्रेम करना जानती हैं । राधा प्रेम करती है, इसलिए कि कृष्ण सुन्दर है और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है, पर ऐसे प्रेम में एक दोष आ गया है और वह यह कि इस प्रेम में सदाचार की मात्रा कम है । विद्यापति की राधा सदाचार करना जानती ही नहीं । कवि भक्ति-भावना से उत्तेजित होकर नहीं, वरन् आनन्द में आकर कहता है :—

अधर मंगइते अओंध कर माथ । सहए न पार पयोधर हाथ ॥

इसका एक कारण है, विद्यापति राज-दरबार के बीच कविता पढ़ा करते थे । उन्हें राजसभा और अपनी कला पर ही अधिक ध्यान था, उनका तो—"राजा

सिवसिंघ रूप नरायन लखिमा देइ रमाने" की ओर विशेष आकर्षण था। इसीलिए कदाचित् उन्हें अपने संरक्षकों के मनोविनोद का ही अधिक ध्यान था। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों और भाव, विभाव, अनुभावादि पर उन्होंने अपनी कविता की नींव खड़ी की। यही कारण है कि उन्होंने अपने कला-नैपुण्य-प्रदर्शन के लिए साहित्य-शास्त्र का मन्थन तो कर डाला, पर जीवन का रहस्य जानने के लिए मनुष्य-समाज के अन्तर्रहस्यों की पर्यालोचना नहीं की। विद्यापति की कविता में स्त्रीत्व और पुरुषत्व की भावना जिस प्रबल वेग से बहती है, वैसी हम हिन्दी-साहित्य के किसी भी स्थल पर नहीं पा सकते।

शृंगारिक कविताओं के अतिरिक्त विद्यापति के भक्ति सम्बन्धी पद बहुत कम हैं। ये पद शिव, दुर्गा और गंगा की भक्ति में लिखे गए हैं। इनमें नचारी पद भी हैं जो शिवजी की भक्ति में नृत्य के साथ गाए जाते हैं। काल सम्बन्धी पद शिवसिंह के राज्याभिषेक और युद्ध आदि पर लिखे गए हैं। इन दोनों वर्गो की कविता में विद्यापति की वर्णनात्मकता ही है, कोई विशेष भाव-विन्यास नहीं। कवि ने अपनी विशेष प्रतिभा राधा-कृष्णसम्बन्धी पदों ही में प्रदर्शित की है।

विद्यापति अपने समय के बड़े सफल कवि थे। अतः उन्हें उनके प्रशंसकों ने उपाधियाँ बहुत-सी दीं। ये उपाधियाँ-प्रधानतः १६ हैं:—

(१) अभिनव जयदेव, (२) दशविधान, (३) कविशेखर, (४) कंठहार, (५) कवि, (६) नवकविशेखर, (७) सरस कवि, (८) खेलन कवि, (९) सुकवि कंठहार, (१०) महाराज पंडित, (११) राज पंडित, (१२) कवि रतन, (१३) कवि कंठहार, (१४) कविवर, (१५) सुकवि, एवं (१६) कवि रंजन।

विद्यापति की लोकप्रियता चैतन्य देव के कारण ही बढ़ी। प्रोफेसर जनार्दन मिश्र एम० ए० लिखते हैं:—

"विद्यापति के प्रचार का सब से बड़ा कारण चैतन्य महाप्रभु हुए। बंगाल में वैष्णव सम्प्रदाय के ये सब से बड़े नेता हुए। इन पर लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ये विष्णु के अवतार समझे जाते थे। विद्यापति के ललित और पवित्र भावनाओं से पूर्ण पदों को गाकर ये इस प्रकार भाव में निमग्न हो जाते थे कि इन्हें मूर्छा-सी आ जाती थी। इनके हाथों विद्यापति के पदों की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण लोगों में विद्यापति के प्रति आदर का भाव बहुत बढ़ गया। इसलिए बंगाल में विद्यापति का आश्चर्यजनक प्रचार हुआ।"[1]

---

१ विद्यापति (प्रोफेसर जनार्दन मिश्र, एम० ए०), पृष्ठ ३२ (पटना १९२९)

अभी तक विद्यापति की पदावली के तीन अच्छे संस्करण प्रकाशित हुए हैं :—

(१) ब्रजनन्दन सहाय का आरा संस्करण
(२) बेनीपुरी का लहेरियासराय संस्करण
(३) नगेन्द्रनाथ गुप्त का बंगला संस्करण

ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य

ब्रजभाषा में कृष्ण-काव्य की रचना का समस्त श्रेय श्री वल्लभाचार्य को होना चाहिए, क्योंकि उन्हीं के द्वारा प्रचारित पुष्टि-मार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग का प्रचार किया, जिसका अर्थ है भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति कर उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना। श्रीवल्लभाचार्य ने अपने 'निरोध लक्षणम्' में लिखा है :—

अहं निरुद्धो रोधेन निरोध पदवी गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोध वर्णयामि ते ॥६॥

... ...

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भव सागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायांत्यहर्निशं ॥११॥[1]

[मैंने निरोध की पदवी प्राप्त करली है, क्योंकि मैं रोध से निरुद्ध हूँ। किन्तु निरोध-मार्गियों की निरोध-सिद्धि के लिए मैं निरोध का वर्णन करता हूँ। भगवान के द्वारा जो छोड़ दिए गए हैं, वे संसार-सागर में डूब गए हैं और जो निरुद्ध किए गए हैं वे रात-दिन आनन्द में लीन हैं।]

भारतेन्दु इस निरोध के विषय में लिखते हैं :—

"इस वाक्य से यह दिखाया कि निरुद्ध होना स्वसाध्य नहीं है। जिनको वह (ईश्वर) चाहता है निरुद्ध करता है, नहीं तो उसे छोड़ देता है। मनुष्य का बल केवल उस मार्ग पर प्रवृत्त होना है, परन्तु इससे निराश न होना चाहिए कि जब अंगीकार करना वा न करना उसी के आधीन है तो हम क्यों प्रयत्न करें। हमारे क्लेश करने पर भी वह अंगीकार करे या न करे ऐसी शंका कदापि न करना।"[2]

---

१ षोडश ग्रंथ (निरोध लक्षणम्), पृष्ठ ६-१०
[श्री नृसिंहलाल जी ब्रजभाषा टीका, मुंबई, सं० १६५८]
२ श्री हरीशचन्द्र कला, चतुर्थ भाग (यदीय सर्वस्व) पृष्ठ, ६
[खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपूर, सं० १९८५]

इस श्लोक के अनुसार निरोध-मार्गी और पुष्टिमार्गी पर्यायवाची शब्द हैं। पुष्टिमार्गी हरि के अनुग्रह-पात्र हैं। पुष्टि का विशेष विवरण श्री वल्लभाचार्य के 'पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद' में दिया गया है। प्रारम्भ में ही कहा गया है :—

कश्चिदेव हि भक्तो हि "योमद्भक्त" इतीरणात्।
सर्वत्रोत्कर्ष कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः ॥४॥[१]

इसी प्रकार उन्होंने अपने अनुभाष्य में कहा है :—

कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिमर्यादा। तद्रहितानामपिस्व स्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।

[शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है—और तद्विहित साधन से भक्ति मिलती है। इन साधनों से प्राप्त की हुई मुक्ति का नाम 'मर्यादा' है। ये साधन सर्वसाध्य नहीं। अतः अपनी ही शक्ति से (स्व स्वरूप बलेन) ब्रह्म जो मुक्ति भक्तों को प्रदान करता है, वह पुष्टि कहलाती है।]

अतः पुष्टि का सम्बन्ध शरीर से नहीं है। उसका सम्बन्ध हरि के अनुग्रह से है।[२]

श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य ने गोपी-जनों को ही पुष्टिमार्ग का गुरु माना है। वे ही कृष्ण से प्रेम करना जानती थी और उन्होंने ही कृष्ण का अनुग्रह प्राप्त किया था। अतः पुष्टिमार्गी भक्त को गोप-गोपियों के कृत्यों का ही अनुकरण करना चाहिए, उन्हीं के सुख-दुःख को ग्रहण करने की शक्ति उनमें होनी चाहिए। वल्लभाचार्य 'निरोध लक्षणम्' में इसी भाव को इस प्रकार लिखते हैं :—

यच्च दुःख यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥२॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां ब्रजवासिनाम्।
यत्सुखं समभूत्तन्मे भगवान् किं विधास्यति ॥२॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित् ॥३॥[३]

[जो दुःख यशोदा नन्दादिकों एवं गोपीजनों को गोकुल में हुआ था, वह दुःख मुझे कब होगा? गोकुल में गोपीजनों एवं सभी ब्रज-वासियों को जो भली-भाँति सुख हुआ, वह सुख भगवान कब मुझे देंगे? उद्धव के आने पर वृन्दावन और गोकुल में जैसा महान् उत्सव हुआ था, क्या वैसा मेरे मन में कभी होगा?]

---

१ षोडश ग्रन्थ (पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेदः), पृष्ठ ४

२ श्रीमद्वल्लभाचार्य लल्लू भाई पी० पारेख (दि कन्वेन्शन ऑव् रिलीजस इन इंडिया (१९०९), पृष्ठ ३३

३ षोडश ग्रन्थ (निरोध लक्षणम्), पृष्ठ २-४

यही कारण है कि पुष्टिमार्गी सभी भक्त कवि श्रीकृष्ण के चरित्र में वैसा ही आनन्द लेना चाहते हैं जैसा स्वयं गोपी और गोपजन लेते थे। फलतः वे सभी कृष्णचरित्र का सच्ची अनुभूति से वर्णन करते हैं। इस भावना से प्रेरित होकर सूरदास ने 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद करते हुए भी 'सूरसागर' में दशम स्कन्ध का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। कृष्ण की कथा को वे भाव के चरमोत्कर्ष से वर्णन करते हैं। यही कृष्ण-भक्ति है।

'नारद भक्ति सूत्र' में भक्ति की विस्तृत व्याख्या की गई है। उसमें कहा गया है :—

ॐ त्रिसत्यस्य भक्ति देव गरीयसी भक्ती देव गरीयसी।[1]

ॐ गुण माहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्येका-दशधा भवति।[2]

[तीनों कालों में सत्य (ईश्वर) की भक्ति ही बड़ी है, भक्ति ही बड़ी है। यह भक्ति एक रूप ही होकर गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदना-सक्ति और परम विरहासक्ति, रूप में ग्यारह प्रकार की है।]

यही ग्यारह प्रकार की आसक्ति वल्लभाचार्य ने कृष्ण के प्रति स्थापित की है। कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द, गोप-गोपियों की जो आसक्ति है, वह इन्हीं रूपों में रखी गई है। सूरदास ने इस आसक्ति-वर्ग को अपने 'सूरसागर' में इस प्रकार रक्खा है :—

१. गुण माहात्म्यासक्ति	भ्रमर-गीत[3]
२. रूपासक्ति	दान-लीला[4]
३. पूजासक्ति	गोवर्धन-धारण[5]
४. स्मरणासक्ति	गोपिका-वचन परस्पर[6]
५ दास्यासक्ति	मुरली-स्तुति[7]

१ नारद भक्ति सूत्र—सूत्र संख्या ८०

२ नारद भक्ति सूत्र—सूत्र संख्या ८१

३ संक्षिप्त सूरसागर (बेनीप्रसाद) इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ३३५

४ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ १२८

५ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ १२९

६ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ २६५

७ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ९५

६. सख्यासक्ति	गौ-चारन[1]
७. कान्तासक्ति	गोपिका-विरह[2]
८. वात्सल्यासक्ति	यशोदा-विलाप[3]
९. आत्म-निवेदनासक्ति	भ्रमर-गीत[4]
१०. तन्मयतासक्ति	भ्रमर-गीत[5]
११. परम विरहासक्ति	भ्रमर-गीत[6]

वल्लभाचार्य के सबसे प्रधान शिष्य सूरदास थे। अतः पहले उन्हीं पर विचार करना आवश्यक है।

हिन्दी साहित्य में काव्य-सौन्दर्य का अथाह सागर भरने वाले महाकवि सूरदास का काल-निर्णय अभी तक अन्धकार में है, उसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ। जो कुछ भी विचार हुआ है वह सूरदास के कुछ पदों एवं किम्बदन्तियों के आधार पर। सूरदास के काल-निर्णय के विषय में पहले अन्तर्साक्ष्य पर विचार करना चाहिए।

सूरदास ने दृष्टि-कूट संबन्धी जो पद लिखे हैं उनमें एक पद उनके जीवन-विवरण से संबन्ध रखता है।[7]

प्रथम ही प्रथ जगाते भे प्राग अद्भुत रूप। ब्रह्म राव विचार ब्रह्मा नाम राखि अनूप ॥
पान पय देवी दयो शिव आदि सुर सुख पाय। कहा दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति सुख पाय ॥
शुभ-पार पायन सुरन पितु के सहित अस्तुति कीन। तासु वंश प्रशंस शुभ में चन्द चारु नवीन ॥
भूप पृथ्वीराज दीन्ह्यो तिन्हैं ज्वाला देश। तनय ताके चार कीन्ह्यो प्रथम आप नरेश ॥
दूसरे गुणचन्द ता सुत शीलचन्द स्वरूप। वीर चन्द्र प्रताप पूरण भयो अद्भुत रूप ॥
रन्तभार हमीर भूपत संग सुख अवदात। तासु वंश अनूप भी हरचन्द्र अति विख्यात ॥
आगरे रहि गोपचल में रहो तासुत वीर। पुत्र जनमें सात ताके महाभट गम्भीर ॥
कृष्ण चन्द्र उदार चन्द्र जो रूप चन्द्र सुभाइ। बुद्ध चन्द्र प्रकाश चौथो चन्द्र भे सुखदाइ ॥

---

१ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ९४
२ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ३१५
३ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२ पृष्ठ २६९
४ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ३१७
५ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ४०३
६ संक्षिप्त सूरसागर (बेनी प्रसाद) इंडियन प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२, पृष्ठ ३३२
७ श्री सूरदास का दृष्टिकूट सटीक (जिसका उत्तमोत्तम तिलक श्री महाराजाधिराजा काशिराज श्री महीश्वरी प्रसाद नारायण सिंह की आज्ञानुसार श्री सरदार कवि ने किया है।)
पद नं० ११०, पृष्ठ ७१-७२
नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (चौथी बार), सन् १९१२

देवचन्द्र प्रबोध षष्टम चन्द्र ताको नाम । भयो सातो नाम सूरज चन्द मन्द निकाम ॥
सो समर कर साहि से सब गये विधि के लोक । रह्यो सूरज चन्द्र दृग से हीन भर वर शोक ॥
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार । सातवें दिन आइ यदुपति कियो आप उधार ॥
दिव्य चख दै कही शिशु सुन योग वर जो चाइ । है कही प्रभु भगति चाहत शत्रु नाश स्वभाइ ॥
दूसरो ना रूप देखे देख राधा श्याम । सुनत करुनासिन्धु भाषो एवमस्तु सुधाम ॥
प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें शत्रु ह्व है नास । अषिल बुद्धि बिचारि विद्यामान मानै मास ॥
नाम राखे है सु सूरजदास, सूर सुश्याम । भये अन्तरधान बीते पाछली निशि याम ॥
मोहि मनसा इहै ब्रज की बसी सुख चित थाप । श्री गुसाँई करी मेरी आठ मध्ये छाप ॥
विप्र प्रथ ते जगा को है भाव सूर निकाम ॥ सूर है नँदनन्द जू को लियो मोल गुलाम ॥

इसमें सूरदास ने अपने को चद का वंशज माना है। उनके छः भाई थे, जो युद्ध में मारे गये। सूरदास अन्धे थे। कुएँ में गिरने पर श्रीकृष्ण द्वारा निकाले गए। "जब श्रीकृष्ण ने वर माँगने को कहा तो मैंने उत्तर दिया कि आपको छोड़ कर मैं किसी दूसरे को न देखूँ। श्रीकृष्ण ने एवमस्तु कह कर यह बतला दिया कि दक्षिण के ब्राह्मण कुल से शत्रु का नाश होगा। वे मेरा नाम सूरदास या सूरश्याम रख कर अन्तर्धान हो गए। मैंने फिर ब्रजवास की इच्छा की और श्री गोसाँई (विट्ठलनाथ) ने मेरी 'अष्टछाप' में स्थापना की। मैं जगात कुल का ब्राह्मण हूँ और व्यर्थ होते हुए भी नन्दनन्दन का मोल लिया हुआ गुलाम हूँ।"

'प्रबल दच्छिन विप्र कुल' के संबन्ध में कहा गया है कि "शिवाजी के सहायक पेशवा का कुल जिसने पीछे मुसलमानों का नाश किया"[1] इतिहास में प्रसिद्ध है। अष्टछाप के कवियों में सूरदास का नाम सर्वोपरि ही है।

मुन्शी देवी प्रसाद ने सूरदास को ब्राह्मण न मान कर भाट कुल का ही माना है जिसकी पदवी 'राव' है। वे लिखते हैं :—

"३०-३५ वर्ष पहले मैंने भी एक प्रतिष्ठित राव से जो जम्बू की तरफ से टौंक में आया था, यह बात सुनी थी कि ये ३ महाकाव्य राव लोगों के बनाये हुए हैं :—

१. 'पृथ्वीराज रासो'

२. 'सूरसागर'

३. 'भाषा महाभारत' जो काशी में बनी है।

मैंने बूँदी के विख्यात कवि राव गुलाबसिंह जी से भी इस विषय में पूछा था, उन्होंने आसाढ़ बदि १ सवत् १९५६ को यह उत्तर दिया कि सूरदास जी को

---

१ श्री सूरदास का जीवन चरित, पृष्ठ ४
(श्री सूरसागर—काशी-निवासी श्री राधाकृष्णदास द्वारा शुद्ध प्रतियों से संशोधित) खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८०

में भी ब्राह्मण ही जानता था, परन्तु राज्य के काम को रीवां गया था, वहाँ के सब कवीश्वर मेरे पास आते थे, उन्होंने कहा कि सूरदास जी राव थे . .।"[1]

यदि दृष्टिकूट संबन्धी यह पद प्रामाणिक है तो इससे यह तो स्पष्ट होता है कि सूरदास भाट कुल में उत्पन्न हुए थे और 'राव' थे। पं० राधाकृष्ण ने पं० राधाकृष्ण संग्रहीत सारस्वत ब्राह्मण की जाति-माला में "ग्रंथ जगात", "प्रथ" वा "जगात" नाम पर विचार करते हुए लिखा है कि इस जाति वा गोत्र के सारस्वत ब्राह्मण सुनने में नहीं आए . . "जगा व जगातिया" तो भाट को कहते हे।[2] अतः श्री राधाकृष्णदास के अनुसार भी सूरदास भाट कुल में उत्पन्न हुए थे। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त पद की अन्तिम पंक्ति में जो 'विप्र' शब्द है उसका अर्थ क्या होगा? इस पद में 'विप्र' और 'बह्मराव' दोनों विरोधी शब्दों का साथ ही साथ उल्लेख है। अतः यह विरोध पद की प्रामाणिकता में सन्देह उपस्थित करता है। सूरदास ने अपने वहत् 'सूरसागर' में अपनी जाति के संबन्ध में कुछ नहीं लिखा।

सूरदास के एक अन्य पद से उनके अंधे होने का प्रमाण मिलता है :—

भरोसो दृढ़ इन चरणन केरौ।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरौ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ।
सूर कहा कहि दुबिध आँधिरौ बिना मोल को चेरौ॥[3]

सूर ने 'दुविध आँधिरौ' का अर्थ चर्मचक्षु और मानस-चक्षु लिया है। इससे यह ज्ञात तो नहीं होता कि सूरदास जन्म से ही अंधे थे' पर इतना स्पष्ट है कि वे मृत्यु के समय अंधे हो गए थे। सूरदास के पदों से उनके काल का भी निरूपण किया गया है।

सूरदास जी ने 'सूरसागर' के अतिरिक्त दो ग्रंथ और लिखे हैं, 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसारावली'। ये दोनों ग्रंथ 'सूरसागर' के पीछे बने होंगे; क्योंकि 'साहित्य' लहरी' के पदों का संकलन 'सूरसागर' में कहीं नहीं है, प्रत्युत 'साहित्य-लहरी' ही में 'सूरसागर' के कुछ पदों का संकलन है। सूरसारावली' भी 'सूरसागर' के पीछे बनी

१ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन चरित, भारत जीवन प्रेस, काशी, संवत १९६३ (प्रथमबार)

२ श्री सूरदास जी का जीवन-चरित, पृष्ठ ४

३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८८-२८९
(गंगा विष्णु श्रीकृष्णदास, मुंबई, संवत् १९८५)

होगी; क्योंकि 'सूरसारावली' 'सूरसागर' की विषय-सूची ही है और ग्रन्थ सम्पूर्ण होने के बाद ही उसकी कथा का संकेत दिया जा सकता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसारावली' ये दोनों ग्रन्थ 'सूरसागर' के बाद लिखे गए। 'साहित्य-लहरी' मे उन्होंने उसकी रचना का संवत् इस प्रकार दिया है :—

> मुनि पुनि रसन के रस लेख।
> दसम गौरी नन्द को लिखि सुबल सम्बत पेख ॥[1]
>
> × × × ×
>
> तृतीय ऋक्ष सुकर्म योम विचारि सूर नवीन।
> नन्द नन्दन दास हित साहित्यलहरी कीन ॥[2]

काव्य के नियमानुसार इस पद में से [मुनि = ७, रसन (जिसमें रस नही) = ०, रस = ६, दशन गौरी नन्द = १] १६०७ संवत् निकलता है अर्थात् 'साहित्य लहरी' की रचना का संवत् १६०७ था। 'सूरसारावली' में एक स्थान पर है :—

> गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसठि बरस प्रबीन।
> शिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन॥[3]

अर्थात् 'सूरसारावली' लिखते समय सूरदास की अवस्था ६७ वर्ष की थी। यदि हम 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' का रचना-काल एक ही मानें (जैसा कि बहुत सम्भव है, क्योंकि दोनों पुस्तकें 'सूरसागर' के बाद ही बनी) तो सम्वत् १६०७ में सूरदास की आयु ६७ वर्ष की रही होगी अर्थात् उनका जन्म सम्वत् १५४० में हुआ होगा। जितना अन्तर 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' के रचना-काल में होगा उतना ही अन्तर जन्म-संवत् में पड़ जायगा, पर अनुमान से यह कहा जा सकता है कि दोनों के रचना-काल में अधिक वर्षों का अन्तर नहीं हो सकता। अतएव सूरदास के पदों के अनुसार उनका जन्म सम्वत् १५४० या उसके आस-पास ठहरता है।

अब बाह्य साक्ष्य पर विचार करना है। सूरदास के समकालीन लेखकों ने निम्नलिखित ग्रन्थों में उनका निर्देश किया :—

१. 'भक्तमाल'—नाभादास
२. 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता—गोकुलनाथ
३. 'आईन-अकबरी'

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सूरदास को जन्मान्ध लिखते हैं :—"यह इस असार संसार को न देखने के वास्ते आँखें बन्द किए हुए थे।"
—चरितावली (दूसरी बार १९१७)

२ साहित्य-लहरी, छन्द नं० १०९

३ सूर-सारावली, छन्द नं० १००३।

४. 'मुन्तखिब-उल-तवारीख
५. 'मुन्शियात-अबुलफजल'
६. गोसाँई चरित'

'भक्तमाल' में सूरदास के संबन्ध में एक ही छप्पय है। वह इस प्रकार है :—

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै ॥
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी ॥
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी ॥
बिमल बुद्धि गुन और को, जो वह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै ॥[1]

इस छप्पय में सूरदास के केवल काव्य की प्रशंसा की गई है। उनके जन्म, वंश, जाति, मृत्यु आदि पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' अवश्य ऐसा ग्रंथ है जो सूर के जीवन पर यथेष्ट प्रकाश डालता है; पर उसमें भी तिथि आदि का कोई संकेत नहीं है। संक्षेप में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के वे अंश उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें सूरदास के जीवन की किसी घटना-विशेष का परिचय मिलता है :—

(१) सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतौ सो सूरदास जी स्वामी हैं आप सेवक करते सूरदास जी भगवदीय हैं गान बहुत आछौ करते ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते।[2]

(२) तब सूरदास जी अपने स्थल तें आय के श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन को आये तब श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यो जो सूर आवौ बैठौ तब सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन करिके आगे आय बैठे तब श्री आचार्य-महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्यश वर्णन करौ तब सूरदास जी ने कही जो आज्ञा....सो सुनि कें श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यो जो सूर है के ऐसो घिघियात काहे को है कछु भगवल्लीला वर्णन करि। तब सूरदास ने कह्यो जो महाराज हौं तो समझत नाहीं तब श्री आचार्य जी महाप्रभून ने कह्यो जो जा स्नान करि आउ हम तोकों समझावैंगे तब सूरदास जी स्नान करि आये तब श्री महाप्रभून जी ने प्रथम सूरदास जी कों नाम सुनायौ पाछे समर्पण करवायौ....तब सूरदास

१ श्रीभक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५३९-५४०
२ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७२

जी ने भगवल्लीला वर्णन करी ।[1]....सो जैसो श्री आचार्य जी महाप्रभून ने मार्ग प्रकाश कियौ हौ ताके अनुसार सूरदास जी ने पद कीये ।[2]

(३) और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहियै सो सब जगतप्रसिद्धि भये ।[3]

(४) सो सूरदास जी के पद देशाधिपति ने सुने सो सुनि के यह विचारौ जो सूरदास जी काहू विधि सों मिले तो भलौ सो भगवदिच्छाते सूरदास जी सों कह्यो देशाधिपति ने जो सूरदास जी में सुन्यो है जो तुमने बिसनपद बहुत कीये हैं जो मोकों परमेश्वर ने राज्य दीयौ है सो सब गुनीजन मेरौ जस गावत हैं ताते तुमहूँ कछु गावौ तब सूरदास जी ने देशाधिपति के आगै कीर्तन गायौ[4]....।

(५) और सूरदास जी ने या पद के समाप्त में गायौ। "हो जो सूर ऐसे दर्श कोई मरत लोचन प्यास"। यह गायौ हौ देशाधिपति ने पूछौ जौ सूरदास जी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाहीं सो प्यासे कैसें मरत हैं और बिन देखे तुम उपमा कौं देत हौ सो तुम कैसे देत हौ तब सूरदास जी कछु बोले नाहीं। तब फेरि देशाधिपति बोलौ जो इनके लोचन हैं जो तो परमेश्वर के पास हैं सो उहाँ देखत हैं सो वर्णन करते हैं ।[5]

(६) अब सूरदास जी ने श्रीनाथ जी की सेवा बहुत कीनी बहुत दिन तांई ता उपरांत भगवदिच्छा जानी जो अब प्रभून की इच्छा बुलायबे की है यह विचारि के....जो परासोली तहाँ सूरदास जी आये....तब श्री गुसांई जी ने अपने सेवकन सों कह्यो जो पुष्टिमार्ग कों जिहाज जात हैं जाको कछू लेनो होय तौ लेउ ।

(७) और चतुरभुजदास हू ठाढ़े हुते तब चतुरभुजदास ने कह्यो जो सूरदास जी ने बहुत भगवत् जश वर्णन कीयौ परि श्री आचार्य जी महाप्रभून की जस वर्णन ना कीयौ तब यह वचन सुनि के सूरदास जी बोले जामें तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कीयो है कछू न्यारौ देखूँ तो न्यारौ करूँ ।[6]

इन सात अवतरणों से सूरदास के जीवन के संबन्ध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

सूरदास बड़े गायक थे। वे गऊघाट पर निवास करते थे और विनय-पद

---

१ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७४-२७५

२ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७६

३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७६

४ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७६

५ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८०-२८१

६ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८७

७ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८८

गाते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया और कृष्ण-लीला गाने की प्रेरणा दी। उन्होंने कृष्ण-लीला के 'सहस्रावधि' पद लिखे जिनकी प्रसिद्धि सुनकर देशाधिपति (अकबर) उनसे मिले। सूरदास अन्धे थे। वे ईश्वर और गुरु में कोई अन्तर नहीं मानते थे। उन्होंने परासोली में प्राण-त्याग किए।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' प्रामाणिक ग्रंथ है, अतः सूरदास के संबन्ध की ये बातें सत्य हैं। इस विवरण में जहां सूरदास के जीवन की विविध घटनाओं का निर्देश है, वहाँ तिथि संवत् का एकान्त अभाव है।

अबुल फजल[1] ने 'आइन-ए-अकबरी' में केवल इतना ही लिखा है कि रामदास नामक गाने वाला अकबर के दरबार में गाता था, उसका लड़का सूरदास भी अपने पिता के साथ आया करता था। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

'मुन्तखिबुल तवारीख' में भी रामदास का नाम गायकों में है।[2] बैरम खाँ ने उसे एक लाख टके का पुरस्कार दिया था। ये रामदास सूरदास के पिता थे, अतः सूरदास भी अपने जीवन-काल में अकबर के समकालीन थे।

अबुल फजल ने एक ग्रंथ और लिखा है, उसका नाम है 'मुन्शियात अबुल फजल'। उसमें बहुत से पत्रों का संग्रह है। उसके अन्त में एक पत्र सूरदास के नाम का भी है, जो बादशाह की आज्ञा से सूरदास को काशी में अबुल फजल ने लिखा था। उस पत्र में कोई तिथि नहीं दी गई है, पर मुन्शी देवीप्रसाद 'अकबरनामा' के अनुसार अकबर का प्रयाग में आना और किला तथा बांध बनवाना सं० १६४२ में समझते हैं। इसी समय सूरदास अकबर से मिले होंगे।

'गोसांई चरित' में वेणीमाधवदास ने सूरदास का तुलसीदास से मिलन संवत् १६१६ में लिखा है। इस अवसर पर सूरदास ने अपना 'सूरसागर' तुलसीदास को दिखलाया था।

सोरह सै सोरह लगे कामद गिरि ढिग वास।
सुचित एकांत प्रदेश महँ आए सूरसुदास॥
कवि सूर दिखायउ सागर को, सुचि प्रेम कथा नट नागर को॥[3]

'गोसांई चरित' की प्रामाणिकता में सन्देह है।

बाह्य साक्ष्य के आधार पर सूरदास के जीवन और उनकी मृत्यु पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य से पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए थे। सूरदास ने संवत् १५८७ के पूर्व ही दीक्षा

---

१ आइन-ए-अकबरी, भाग १ पृष्ठ ६१२ (फुटनोट) ब्लाकमैन द्वारा अनूदित १८७३

२ मुंतखिबुल तवारीख, भाग २, पृष्ठ ३७

३ गोसांई चरित दोहा २९ और बाद की चौपाई।

कविराज मुरारीदान के कथन से 'चौरासी वार्ता' और 'आईन-अकबरी' दोनों के मतों की पुष्टि हो जाती है, पर सीकरी में गाना सुनने की वार्ता तो कुम्भनदास के सम्बन्ध में कही जाती है, सूरदास के सम्बन्ध में नहीं। जो हो, सूरदास का अकबर के दरबार से पिता के द्वारा ही सम्बन्ध रहा हो, क्योंकि इस स्थान पर 'आईन-अकबरी' का मत ही अधिक प्रामाणिक मानना चाहिए। चौरासी वार्ताकार ने पुष्टिमार्ग के सन्त सूरदास का महत्त्व घोषित करने के लिए उन्हें किसी के संरक्षण में लाना स्वीकार न किया हो। यदि सूरदास का अकबर के दरबार से कुछ संबन्ध था तो उनका प्रसिद्धि-काल संवत् १६१३ के बाद ही होना चाहिए, क्योंकि इस संवत् मे ही अकबर ने राज्य-सिंहासन प्राप्त किया था।

सूरदास की मृत्यु गोसांई विट्ठलनाथ के सामने ही हुई थी जैसा चौरासी वैष्णवन की वार्ता में लिखा हुआ है। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई, अतएव सूरदास जी संवत् १६४२ में या उसके पहले ही मरे होंगे। मुंशियात अबुल फजल' के दूसरे दफ्तर में जो पत्र है वह अबुल फजल द्वारा सूरदास को लिखा गया है। उस समय सूरदास बनारस में थे। उस पत्र के एक अंश का अनुवाद मुंशी देवीप्रसाद के शब्दों में इस प्रकार है :—

'हजरत बादशाह शीघ्र ही इलाहाबाद को पधारेंगे। आशा है कि आप भी सेवा में उपस्थित होकर सच्चे शिष्य होवें और ईश्वर को धन्यवाद दें कि हजरत भी आपको परम धर्मज्ञ जान कर मित्र मानते है और जब हजरत मित्र मानते हैं तो इस दरगाह के चेलों और भक्तों का उत्तम बर्ताव मित्रता के अतिरिक्त और क्या होगा। ईश्वर शीघ्र ही आपके दर्शन करावे कि जिसमें हम भी आपकी सत्संगति और चित्ताकर्षक वचनों से लाभ उठावें।

यह सुन कर कि वहाँ का करोड़ी आपके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता हजरत को भी बुरा लगा है और इस विषय में उसके नाम कोपमय फर्मान भी जा चुका है और इस तुच्छ शिष्य अबुल फजल को भी आज्ञा हुई है कि आपको दो-चार अक्षर लिखे, वह करोड़ी यदि आपकी शिक्षा नहीं मानता हो तो हम उसका नाम उतार लें और जिसको आप उचित समझें, जो दीन-दुखी और सम्पूर्ण प्रजा की पूरी सँभाल कर सके उसका नाम लिख भेजें तो अर्ज करके नियत करा दूँ। हजरत बादशाह आपको खुदा से जुदा नहीं समझते, इसलिए उस जगह के काम की व्यवस्था आपकी इच्छा पर छोड़ी हुई है। वहाँ ऐसा हाकिम (शासक) चाहिए कि जो आपके अधीन रहे और जिस प्रकार से आप स्थिर करें काम करें आप से यही पूछना है सत्य कहना और सत्य करना है। खत्रियों वगैरह में से जिस किसी को आप ठीक समझें कि वह ईश्वर को पहिचान कर (प्रजा का) प्रतिपाल करेगा

उसी का नाम लिख भेजें तो प्रार्थना करके भेजूँ। ईश्वर के भक्तों को ईश्वर सम्बन्धी कामों में अज्ञानियों के तिरस्कार करने का संशय नहीं होता है सो ईश्वर कृपा से आपका शरीर ऐसा ही है। परमेश्वर आपको सत् कर्मों की श्रद्धा देवे और सत्कर्म से ऊपर स्थिर रक्खे और ज्जादा (ज्यादा) सलाम।"[1]

इस पत्र में कोई तिथि नहीं दी गई है, किन्तु 'अकबरनामा' के तीसरे दफ्तर से इलाहाबाद बसाने और "एक कोस लंबा ४ गज चौड़ा १४ गज ऊँचा एक बाँध" बँधवाने का समय ११ शहरेवर सन् ३० (भादों सुदी १० सम्वत् १६४२) के "दो महीने कुछ दिन" पूर्व स्थिर होता है (अर्थात् श्रावण कृष्ण सम्वत् १६४२) क्योंकि बादशाह इलाहाबाद शहर बसाने के बाद दो महीने और कुछ दिन वहां रहे जब उन्हें उक्त तिथि को काबुल के बल्वे को दबाने के लिए कूच करना पड़ा। अतः सम्वत् १६४२ के श्रावण कृष्ण में सूरदास को अबुल फजल द्वारा यह पत्र लिखा गया। ऊपर लिखा जा चुका है कि सूरदास गोसाँई विट्ठलनाथ के पूर्व ही मरे थे। विट्ठलनाथ की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई—किस मास में हुई, यह निश्चित नहीं। उक्त पत्र से ज्ञात होता है कि सूरदास श्रावण कृष्ण सं० १६४२ में वर्तमान थे, अतः विट्ठलनाथ की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के पहले नहीं हो सकती। श्रावण से फाल्गुन १६४२ तक सूरदास और विट्ठलनाथ दोनों की मृत्यु हुई होगी, पहले सूरदास परासोली में मरे होंगे। उनकी मृत्यु के कुछ दिन या कुछ महीने बाद विट्ठलनाथ भी सम्वत् १६४२ में मरे होंगे।

अतः इस प्रमाण से सूरदास की मृत्यु श्रावण सम्वत् १६४२ के बाद ही हुई। अभी तक के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सूरदास का जन्म-सम्वत् १५४०, प्रसिद्धि-संवत् १५८७ और मृत्यु-संवत् १६४२ है। इस प्रकार सूरदास ने १०२ वर्ष की आयु पाई।

मिश्रबन्धु के अनुसार दृष्टिकूट में जो पद है, वह प्रक्षिप्त है। "हमारा खयाल है कि उनसे लगभग दो सौ वर्ष पीछे, पेशवाओं का अभ्युदय और मुगलों का पतन देखकर किसी भाट ने लगभग बालाजी बाजीराव के समय में ये छंद बना कर सूरदास की कविता में रख दिये हैं। इन छन्दों के कपोल-कल्पित होने का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि श्री गोकुलनाथ ने अपने 'चौरासी चरित्र' में और मियांसिंह ने 'भक्त विनोद' में सूरदास को ब्राह्मण कहा है।..फिर यह भी बहुधा सम्भव नहीं कि यदि इनके छै भाइ मारे गये होते तो ये दोनों लेखक उस बात को लिखते।"[2]

इन विचारों के आधार पर मिश्रबन्धु 'चौरासी वार्ता' का प्रमाण देते हुए

---

१ श्री सूरदास जी का जीवन चरित (मुन्शी देवीप्रसाद जी) पृष्ठ ३०-३१

२ हिन्दी नवरत्न (महात्मा सूरदास) पृष्ठ २३६

मिश्रबन्धु—चतुर्थ संस्करण सं० १९९१

सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं। शिवसिंह सेंगर ने भी अपने 'सरोज' में सूरदास को ब्राह्मण लिखा है :—

९५. सूरदास **ब्राह्मण** ब्रजवासी बाबा रामदास के पुत्र, वल्लभाचार्य के शिष्य सं० १५४० में उ०।[१]

सूरदास के ग्रन्थ

सूरदास का प्रधान ग्रन्थ 'सूरसागर' है, पर खोज करने पर उनके नाम से अन्य ग्रंथ भी मिले हैं। संक्षेप में उनका विवरण इस प्रकार है:—

१. गोवर्धनलीला बड़ी

पद्य-संख्या—३००

विषय—"श्रीकृष्ण की गोवर्धन लीला अथवा श्रीकृष्ण का गोवर्धन को उँगली पर सात दिनों तक रखे हुए ब्रजभूमि को इन्द्र के कोप से बचा लेना।[२]

२. दशम स्कंध टीका

पद्य-संख्या—१९१३

विषय—भागवत की कथा।[3]

३. नागलीला

पद्य-संख्या—४०

विषय—कालीदह की कथा।[४]

४ पद संग्रह

पद्य-संख्या—४१७

विषय—नीति, धर्म, उपदेश।[५]

५. प्राणप्यारी

पद्य-संख्या—३२

विषय—श्याम सगाई।[६]

६. व्याहलो

पद्य-संख्या—२३

विषय—विवाह।[७]

---

१ शिवसिंह सरोज (सेंगर) पृष्ठ ५०२, लखनऊ, १९२६

२ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९, पृष्ठ ३७१

३ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८, पृष्ठ ३२४

४ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८, पृष्ठ ३२४

५ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८, पृष्ठ ३२४

६ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९, पृष्ठ ३७०

७ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८, पृष्ठ ३२३

७. भागवत

पद्य-संख्या—११२६
विषय—कृष्ण की कथा ।[1]

[विशेष—यह प्रति खंडित है । पूर्व के २५६ पृष्ठों का पता ही नहीं है । पृष्ठ २५६ से अंश दशम स्कन्ध का है और अन्त में द्वादश की समाप्ति है ।]

८. सूर पचीसी

पद्य-संख्या—२८
विषय—ज्ञानोपदेश के पद ।[2]

९. सूरदासजी का पद

विशेष विवरण ज्ञात नहीं ।[3]

१०. सूरसागर

पद्य-संख्या—२१०००
विषय—श्री भागवत की कथा ।[4]

[विशेष—इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं ।]

११. सूरसागर सार

पद्य-संख्या—३७०
विषय—ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का वर्णन
विशेष—सूरसागर सार होने पर भी ग्रंथ का प्रारम्भ 'श्रीरामाय नमः' से होता है । प्रारम्भ और अन्त के पद भी श्री रामचन्द्र से ही संबन्ध रखते हैं :—

प्रारम्भ—बिनती कोई विविध प्रभुहिं सुनाऊँ ।
महाराज रघुवीर धीर को, समय न कबहु पाऊँ ॥
अन्त—सियाराम लछमन निरषत सूरदास के नयन सिराये ॥

राम का ऐसा निर्देश सूरसागर सार के संबन्ध में सन्देह उत्पन्न करता है

सूरजदास से नाम से भी दो ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं । अगर ये सूरजदास सूरदास ही हैं तो इन दो ग्रन्थों को भी सूरदास के ग्रन्थों में सम्मिलित करना चाहिए । वे दो ग्रन्थ ये हैं :—

---

१ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९, पृष्ठ ३७०
२ खोज रिपोर्ट सन् १९१२-१९१३-१९१४, पृष्ठ ३३४
३ खोज रिपोर्ट सन् १९०२
४ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९ पृष्ठ, ३७०

१२. एकादशी माहात्म्य

पद्य-संख्या—६३

विषय—वंदना, हरिश्चन्द्र और रोहिताश्व की प्रशंसा, कथा-वार्ता आदि का वर्णन।[1]

१३. रामजन्म

पद-संख्या—६४०

विषय—राम-चरित्र-वर्णन।[2]

इन ग्रंथों के अतिरिक्त सूरदास के तीन ग्रंथ और कहे जाते हैं, जिनके नाम है 'सूरसारावली', 'साहित्य-लहरी' और 'नल-दमयन्ती'। इस प्रकार कुल मिलाकार सूरदास के नाम से १६ ग्रन्थ हैं। इनमें से 'सूरसागर' ही पूर्ण प्रामाणिक है। अन्य ग्रन्थ 'सूरसागर' के ही अंश हैं या 'सूरसागर' की कथावस्तु के रूपान्तर। कुछ ग्रंथ तो अप्रामाणिक भी होंगे। इन ग्रन्थों के परीक्षण की आवश्यकता है।

'सूरसागर' की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में प्रधानतः आठ प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं :—

(१) खोज रिपोर्ट सन् १९०६

(१) 'सूरसागर' (संरक्षण स्थान अज्ञात) लिपि संवत् १७३५

(२) 'सूरसागर' (संरक्षण स्थान अज्ञात) लिपि संवत् १८१६

(२) खोज रिपोर्ट सन् १९०६–१९०७–१९०८

(१) 'सूरसागर' (दतिया राज्य पुस्तकालय) लिपि संवत् अज्ञात

(२) 'सूरसागर' (दतिया राज्य पुस्तकालय) लिपि संवत् अज्ञात

(३) 'सूरसागर' (दतिया राज्य पुस्तकालय) लिपि संवत् अज्ञात

(४) 'सूरसागर' (बिजावर राज्य पुस्तकालय) लिपि संवत् १८७३

(३) खोज रिपोर्ट सन् १९१२–१९१३–१९१४

(१) 'सूरसागर' (पं० लालमणि वैद्य, पुवायाँ, सहारनपुर) लिपि संवत् १९००

(४) खोज रिपोर्ट सन् १९१७–१९१८–१९१९

---

१ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९, पृष्ठ ३७१

२ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९, पृष्ठ ३७१

३ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१०-११, पृष्ठ ८ (रिपोर्ट)

(१) 'सूरसागर' (ठा० रामप्रताप सिंह बरौली, भरतपुर)
लिपि संवत् १७९८

(२ ('सूरसागर' (म.ांगध्वजप्रसाद सिंह, विसवाँ-अलीगढ़)
दो भाग—लिपि संवत् १८७६

बाबू राधाकृष्णदास ने जो 'सूरसागर' का सम्पादन किया था उसके लिए उन्होंने तीन प्रतियों का उल्लेख किया है[1] :—

(१) "श्री भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र जी के पुस्तकालय में पुस्तकों को उलटते-पलटते एक बस्ते में 'सूरसागर' का केवल दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध हाथ आया ।"

(२) "बीच में बांकीपुर जाने का संयोग हुआ और वहाँ मित्रवर बाबू रामदीन सिंह जी के यहाँ 'सूरसागर' का प्रथम से नवम स्कंध तक देखने में आया ।"

(३) "दशम उत्तरार्द्ध और एकादश द्वादश स्कंध श्री १०८ महाराज काशिराज बहादुर के पुस्तकालय से मँगाया गया ।"

ये तीनों प्रतियां किस संवत् की हैं. यह ज्ञात नही । खेमराज श्रीकृष्णदास ने भी अपने निवेदन में "एक प्राचीन पूरी प्रति जानीमल खानचन्द्र जी की कोठी में है" का निर्देश किया है जिससे मिलान कर 'सूरसागर' का परिष्कृत संस्करण प्रकाशित किया गया , पर उस प्रति का भी संवत् नहीं दिया गया । खेमराज श्रीकृष्णदास ने आगे निवेदन में लिखा है :—"मैं बड़े हर्ष के साथ प्रकाशित करता हूँ कि श्री १०८ गोस्वामि बालकृष्ण लाल जी महाराज कांकरौली नरेश ने आज्ञा दी है कि मेरे पुस्तकालय में पूरे सवा लाख पद हैं और उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की है कि यदि तुम चाहोगे तो मैं उसे नकल करने की आज्ञा दूँगा । यदि श्री वेंकटेश्वर भगवान् से प्रेरित हुए हमारे ग्राहकों से उत्साह पाकर उत्साहित हुआ तो मैं उसे छापने की इच्छा करता हुआ उस ग्रंथ को प्राप्त करने का उद्योग करूँगा ।"

किन्तु न तो यह 'उद्योग' ही हुआ और न यही ज्ञात हुआ कि श्री कांकरौली नरेश के यहाँ की प्रति प्राप्त हो सकी या नहीं ।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा अप्रैल सन् १९३४ में प्रकाशित 'सूरसागर' की प्रथम संख्या में निम्नलिखित प्रतियों का आधार लिया गया है :—

प्रकाशित

(१) कलकत्ता और लखनऊ दोनों स्थानों की प्रति — संवत् १८८९

(२) वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई की प्रति — संवत् १९६४

हस्तलिखित

(१) बाबू केशवदास शाह, काशी की प्रति — संवत् १७५३

---

[1] निवेदन, श्रीसूरसागर (श्री वेंकटेश्वर स्टीम यंत्रालय) सं० १९८०

(२) वृन्दावन वाली प्रति	संवत् १८१३
(३) पं० गणेश विहारी मिश्र (मिश्र-बन्धु) की प्रति	सवत् १८५४
(४) श्री श्यामसुन्दर दास अग्रवाल, मशकगंज की प्रति	संवत् १८६६
(५) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति	संवत् १८८०
(६) राय राजेश्वरबली, दरियाबाद की प्रति	संवत् १८८२
(७) कालाकांकर राज्य पुस्तकालय की प्रति	संवत् १८८६
(८) जानीमल खानचंद, काशी की प्रति	संवत् १९०२
(९) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति	संवत् १९०९
(१०) कांकरौली राज्य की प्रति	संवत् १९१२
(११) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति	संवत १९१६
(१२) रायकृष्णदास बनारस की प्रति	संवत १९२६

इन प्रतियों के अतिरिक्त कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ और भी हैं जिनमें संवत् नहीं दिया गया है :—

(१) पं० लालमणि मिश्र, शाहजहाँपुर की प्रति
(२) बाबू गोकुलदास, काशी की प्रति
(३) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की प्रति
(४) बाबू पूर्णचन्द्र नाहर, कलकत्ता की प्रति
(५) रायबहादुर श्यामसुन्दर दास की प्रति

इन प्रतियों में बाबू केशवदास शाह, काशी की प्रति सबसे पुरानी और सबसे विश्वस्त है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी का यह प्रकाशन अपेक्षाकृत प्रामाणिक है। स्वर्गीय जगन्नाथ जी रत्नाकर ने पहले इसके सम्पादन की सामग्री जुटाई थी, पर वे असामयिक मृत्यु के कारण ऐसा न कर सके। उन्होंने जितना सम्पादन किया उसमें "पाठ शुद्धि के अन्तर्गत पदों का संशोधन, चरणों का क्रम-निरूपण, तथा पद भी निश्चित पद्धति का अनुसरण" पर ध्यान दिया गया था। इसके सम्पादन के लिए सभा ने पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित केशवप्रसाद मिश्र, प्रकाशन मंत्री तथा सम्पादक पंडित नंददुलारे बाजपेयी की एक उपसमिति बनाई है। इस कार्य को पंडित नंददुलारे बाजपेयी उक्त समिति के तत्वावधान में, तथा पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय के निरीक्षण में और उनके परामर्श के अनुसार कर रहे हैं।[1]

रचना-काल—'सूरसागर' का रचना-काल संवत् १५८७ के बाद ही होना चाहिए, जिस समय सूरदास श्रीवल्लभाचार्य से दीक्षित हुए। दीक्षित होने से पहले वे

१ निवेदन, सूरसागर संख्या १, अप्रैल १९३४

"घिघियाते" थे, बाद में वे 'भगवल्लीला' वर्णन करने में समर्थ हुए। इसी 'भगवल्लीला' वर्णन करने में उन्होंने 'सूरसागर' की रचना की। यह ग्रंथ किसी तिथि-विशेष में नहीं लिखा गया होगा। समय-समय पर पदों की रचना होती रही और अन्त में उनका संकलन कर दिया गया। 'सूरसारावली' की रचना देखने से ज्ञात होता है कि सूरदास के जीवन-काल ही में 'सूरसागर' की समाप्ति हो गई थी।

कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो। श्री बल्लभ गुरु तत्व सुनायो लीला भेद बतायो॥
तादिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बन्द। ताको सार सूरसारावलि गावत अति आनन्द॥
तब बोले जगदीश जगत गुरु सुनो सूर मम गाथ। तू कृत मम यश जो गावैगो, सदा रहै मम साथ॥[1]

विस्तार—श्री राधाकृष्णदास लिखते हैं—"सूरदास जी के सवा लक्ष पद बनाने की किम्वदन्ती जो प्रसिद्ध है वह ठीक विदित होती है, क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरान्त और 'सारावली' के समाप्त होने तक बनाये, इसके आगे-पीछे के अलग ही रहे।"[2]

इस कथन के अनुसार 'सूरसागर' की रचना सूरदास के जीवन-काल ही में समाप्त हो गई थी और उसमें एक लक्ष पद भी थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनका निर्देश दूसरी भाँति से दिया गया है :—

"और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये है ताको सागर कहियै सो सब जगत में प्रसिद्ध भये।"[3]

इस उद्धरण म 'सहस्रावधि' है 'लक्षावधि' नहीं। अतः इन पदों की संख्या निश्चित रूप से निर्धारित नहीं हो सकती। शिवसिंह सेंगर ने अपने शिवसिंह सरोज में लिखा है :—

"इनका बनाया 'सूरसागर' ग्रंथ विख्यात है। हमने इनके पद ६० हजार तक देखे है। समग्र ग्रंथ कहीं नहीं देखा।"[4]

किन्तु इनके प्राप्त पदों की संख्या अधिक से अधिक ४१३२ है। 'सूरसागर' 'श्रीमद्भागवत' के आधार पर लिखा गया है। इसलिए 'सूरसागर' में १२ स्कन्ध हैं, पर उन स्कन्धो का विस्तार सूरदास ने अपनी काव्य-दृष्टि के अनुसार ही किया है। नीचे के विवरण से ज्ञात हो जायगा कि 'सूरसागर' का विस्तार स्कन्धों की दृष्टि से कितना असमान है।[5]

---

१ सूरसारावली, पद ११०२, ११०३, ११०४

२ श्री सूरदास जी का जीवन चरित, पृष्ठ २

३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २७९ (कल्याण मुंबई संवत् १९८५)

४ शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ५०२ (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ) सन् १९२६

५ श्री सूरसागर (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई) संवत् १९८०

प्रथम स्कंध	२१९ पद	सप्तम स्कंध	८ पद
द्वितीय स्कंध	३८ पद	अष्टम स्कंध	१४ पद
तृतीय स्कंध	१८ पद	नवम स्कंध	१७२ पद
चतुर्थ स्कंध	१२ पद	दशम स्कंध पूर्वार्ध	३४९४ पद
		उत्तरार्ध	१३८ पद
पञ्चम स्कंध	४ पद	एकादश स्कंध	६ पद
षष्ठ स्कंध	४ पद	द्वादश स्कंध	५ पद

वर्ण्य-विषय

प्रथम स्कंध में अधिकतर विनय-पद हैं। इसमें सूरदास के समस्त विनय-पद संग्रहीत ज्ञात होते हैं। यह रचना वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के पूर्व ही सूरदास ने की होगी। इन पदों में सूरदास का दास्य-भक्तिमय दृष्टिकोण है। काव्य की दृष्टि से भी यह स्कंध उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। विनय-पदों में सगुणोपासना का प्रयोजन, भक्ति की प्रधानता, मायामय संसार आदि पर अच्छे पद हैं। विनय-पदों के अतिरिक्त विष्णु के चौबीस अवतारों पर भी अच्छी रचना है।

द्वितीय स्कंध में भी कोई विशेष कथा नहीं। भक्ति सम्बन्धी पदों की ही प्रचुरता है। द्वितीय स्कंध के बाद अष्टम स्कंध तक विष्णु के अवतारों तथा अन्य पौराणिक कथाओं का निरूपण है। नवम स्कंध में रामावतार की कथा है। यह कथा अधिक विस्तार से नहीं है। इसका कारण सम्भवतः यह हो कि राम-कथा का महत्त्व उस समय स्पष्ट रूप से साहित्य में घोषित नहीं हुआ था अथवा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के कारण सूरदास ने कृष्ण-भक्ति की महत्ता राम-भक्ति से अधिक घोषित की थी। जिस प्रकार का दृष्टिकोण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में है वैसा ही दृष्टिकोण सूरदास ने अपने सामने रखा। इस राम-कथा पर तुलसीदास के 'मानस' का किंचित् प्रभाव भी लक्षित नहीं है। 'सूरसागर' की रामकथा अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' से प्रभावित है। परशुराम का राम से मिलन विवाह के बाद ही न होकर अयोध्या को लौटते हुए मार्ग में हुआ है, जैसा प्रसंग 'वाल्मीकि रामायण' में है। 'सूरसागर' में इस प्रसंग का वर्णन निम्नलिखित है :—

मार्ग विषे परशुराम को रामजी सो मिलाप परस्पर विवाद

परशुराम तेहि अवसर आयो।
कठिन पिनाक कह्यो किन तोर्यो क्रोधवन्त यह बचन सुनायो॥
विप्र जान रघुबीर धीर दोउ हाथ जोरि शिर नायो।
बहुत दिनन को हुतो पुरातन हाथ छुअत उठि आयो॥
तुम तौ द्विज कुल पूज्य हमारे हम तुम कौन लराई।
क्रोधवन्त कछु सुन्यो नहीं लियो सायक धनुष चढ़ाई॥

तबहूँ रघुपति क्रोध न कीनो धनुष बान सँभार्यो ।
सूरदास प्रभु रूप समुझि पुनि परशुराम पग धार्यो ।।[1]

सूरदास द्वारा वर्णित रामकथा में लोक-शिक्षा अथवा धार्मिक एवं सामाजिक मर्यादा का भी विचार नहीं है जैसा तुलसीदास के 'मानस' में है। 'सूरसागर' में दशरथ अपने सत्य पर दृढ़ रहने के बदले राम से अयोध्या में रुक जाने की याचना करते हैं :—

राम जू प्रति दशरथ विलाप

रघुनाथ पियारे आज रहो हो ।[2]

अतः यह सिद्ध है कि 'सूरसागर' के नवम स्कन्ध पर 'मानस' का प्रभाव और उसका आदर्श नहीं है ।

'सूरसागर' में दशम स्कन्ध का प्राधान्य है, क्योंकि उस स्कन्ध में श्रीकृष्ण का चरित्र है । श्रीकृष्ण सूर के आराध्य ह, अतः उन्होंने अपने आराध्य का चित्र उत्कृष्ट रूप में चित्रित किया है । दशम स्कन्ध के दो भाग हैं, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध । 'सूरसागर' में पूर्वार्ध उत्तरार्ध से बहुत बड़ा है । पूर्वार्ध में पद-संख्या ३४६४ है और उत्तरार्ध में केवल १३८ । इस विषमता का कारण यह है कि दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में गोकुल और ब्रज में विहार करने वाले श्रीकृष्ण का चरित्र है और उत्तरार्ध में द्वारिका-गमन से मृत्यु तक श्रीकृष्ण की जीवनी है । सूरदास के आराध्य बालकृष्ण ही थे, अतः उन्होंने श्रीकृष्ण के पूर्वार्ध जीवन पर ही विशेष प्रकाश डाला । उत्तराध के राजनीतिक कृष्ण सूरदास को उतने प्रेममय नहीं ज्ञात हुए ।

दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध मे कृष्ण का बाल-जीवन बड़े विस्तार से वर्णित है । उसमें श्रीकृष्ण के प्रति माधुर्य और वात्सल्य भावनाओं की पुष्टि बड़ी कुशलता के साथ की गई । 'श्रीमद्भागवत' का आधार लेते हुए भी सूरदास ने कृष्ण के जीवन का चित्रण नितान्त मौलिक रूप से किया है । भागवत के कृष्ण शक्ति के प्रतीक हैं । सूरदास के कृष्ण इस गुण से समन्वित होते हुए भी प्रेम और माधुर्य की प्रतिमूर्ति हैं । इस प्रेम और माधुर्य की व्यंजना ग्राम्य वातावरण में बड़ी स्वाभाविकता के साथ हुई है । सूरदास ने कृष्ण के प्रेमपूर्ण जीवन में जो विशेषता रखी है, उसमें निम्नलिखित अंग विशेष सौन्दर्य लिये हुए है ।

१. मनोवैज्ञानिक चित्रण

सूरदास ने शिशु और बाल-जीवन की प्रत्येक भावना का इतना गंभीर अध्ययन किया है कि वे प्रत्येक परिस्थिति के चित्र बड़ी कुशलता और स्वाभाविकता

---

१ सूरसागर, पृष्ठ ७३
२ सूरसागर, पृष्ठ ७४

से उतार सकते ह । उन्होंने बालक कृष्ण और माँ यशोदा के हृदयों की भावनाओं को इतने सर्वजनीन रूप (Universal manner) से प्रस्तुत किया है कि वे चिरन्तन और सत्य हैं । विविध मानसिक अवस्थाओं के जो चित्र खींचे गए हैं, वे मानवी भावनाओं के इतिहास में कभी पुराने न होंगे । कवि का यही अमर काव्य है। बालक के सरल से सरल कार्य को वे बालक बन कर ही वर्णन करते हैं और उसका अपार सौन्दर्य पाठकों के सामने बिखेर देते हैं ।

२. लौकिक आचार

ग्राम्य वातावरण में लौकिक आचारों के निरूपण से वालक के जीवन में कितनी स्वाभाविकता और सरसता आ जाती है, यह 'सूरसागर' के स्थलों से स्पष्ट है । जन्मोत्सव, छठी, बरही, नामकरण, अन्नप्रासन, बधावा आदि अनेक लौकिक आचारों मे जहाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण की सामग्री मिलती है वहाँ ग्राम्य वातावरण की स्वाभाविकता भी वर्णन को उत्कृष्ट बना देती है । ग्राम में दूध-दही का प्राचुर्य श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं को कितना प्रश्रय देता है ।

३. साम्प्रदायिक आचार

पुष्टिमार्ग में कीर्तन का विशेष स्थान है । सूरदास पुष्टिमार्गी थे अत: वे श्रीनाथ और नवनीतप्रिया जी के समक्ष कीर्तन किया करते थे । इस कीर्तन में 'सूरसागर' के अनेक पदों की रचना हुई । अत: पुष्टिमार्ग में श्रीकृष्ण का दैनिक कार्यक्रम—प्रभाती से उठना, शृंगार करना, गोचारण, भोजन, शयन आदि पदों में वर्णित होने के कारण—श्रीकृष्ण के स्वाभाविक ग्रामीण जीवन को और भी स्पष्ट करता था । जहाँ मन्दिर की मूर्ति के सामने भजन करने की भावना थी, वहाँ श्रीकृष्ण के जीवन की ललित लीलाओं का वर्णन करने की भी भावना थी । नित्य कीर्तन मे श्रीकृष्ण की दैनिक चर्या की चर्चा थी और नैमित्तिक कीर्तन में हिंडोला, चाचर, फाग और वसन्त के क्रिया-कलाप थे । इस प्रकार इन पदों में जहाँ श्री कृष्ण की लीला गान करने का उद्देश्य था वहाँ साथ ही साथ पुष्टिमार्ग के साम्प्रदायिक आचार 'कीर्तन' की भी पूर्ति थी । इसीलिए अनेक स्थानों पर श्रीकृष्ण की भोज्य सामग्री में अनेक प्रकार के व्यंजनों का वर्णन है, क्योंकि पुष्टिमार्ग के आचार में श्रीकृष्ण को 'भोग-समर्पण' की प्रथा है और उस 'भोग' में अनेक प्रकार के व्यंजनों का रहना अवश्यक है ।

४. साहित्यिक परम्परा

सूर के आराध्य कृष्ण का चित्रण जयदेव और विद्यापति कर चुके थे । इन दोनों महाकवियों ने रस के दृष्टिकोण से श्रीकृष्ण की लीला गायी थी । गीत गोविन्द-कार जयदेव ने तो शृंगार रस के अन्तर्गत कृष्ण की अनेक परिस्थितियों का चित्रण

किया था। विद्यापति ने भी नख-शिख, ऋतु, दूती-मिलन आदि अनेक प्रसंग शृंगार रस के दृष्टिकोण से लिखे थे। इस साहित्यिक परम्परा का प्रभाव सूरदास पर भी पड़ा और उन्होंने नायक-नायिका के आलम्बन विभाव में श्रीकृष्ण और राधा को खड़ा किया। उद्दीपन विभाव में ऋतु-वर्णन और नख-शिख-वर्णन किया। अनुभाव मे स्वेद और कम्प लिखा। इस प्रकार उन्होंने रस-निरूपण का सौंदर्य भी अपने काव्य में यथास्थान सुसज्जित किया। यदि उनका दृष्टिकोण धार्मिक के साथ-साथ साहित्यिक न होता तो वे चित्र-काव्य के अन्तर्गत दृष्टि-कूट पद ही क्यों लिखते? 'श्रीमद्भागवत' में राधा नहीं हैं। सूरदास ने नायिका के आलम्बन के लिए शृंगार रस के उत्कर्ष में राधा को स्थान दिया। यद्यपि जयदेव ने भी राधा को कृष्ण के समीप उपस्थित किया है, पर उनमें धार्मिक भावना का प्रधान स्थान नहीं है। सूरदास ने धार्मिक भावना के साथ ही साथ साहित्यिक आदर्श की रक्षा के लिए राधा को कृष्ण के साथ प्रमुख स्थान दिया। अतः मौलिकता के दृष्टिकोण से सूरदास के सूरसागर में चार प्रसंग बहुत उत्कृष्ट हैं:—

(१) बाल-कृष्ण का मनोवैज्ञानिक चित्रण।
(२) शृंगार रसान्तर्गत ऋतु-वर्णन और नख-शिख।
(३) श्रीकृष्ण और राधा का रति-भाव।
(४) वियोग शृंगार के अन्तर्गत भ्रमर-गीत।

इन प्रसंगों की रूप-रेखा भागवत में अवश्य है, पर वह केवल कंकालवत् है। उसमे सौन्दर्य भरने का समस्त श्रेय सूरदास ही को है।

५. आध्यात्मिक संकेत

श्रीकृष्ण की मुरली 'योगमाया' है। रास-वर्णन में इसी मुरली की ध्वनि से गोपिका-रूप आत्माओं का आह्वान होता है जिससे समस्त बाह्याडम्बरों का विनाश और लौकिक सबन्धों का परित्याग कर दिया जाता है। गोपियों की परीक्षा, उसमें उत्तीर्ण होने पर उनके साथ रास-क्रीड़ा, १६ सहस्र गोपिकाओं के बीच मे श्रीकृष्ण, जिस प्रकार असंख्य आत्माओं के बीच में परमात्मा है। यही रूपक है। लौकिक चित्रण के पीछे सूरदास की यही अलौकिक भावना छिपी हुई है।

सूरदास के पदों को इन पाँच प्रधान दृष्टिकोणों से देखने पर समस्त 'सूर-सागर' का सौंदर्य स्पष्ट हो जाता है।

कवित्व

सूरदास हिंदी-साहित्य के महाकवि है, क्योंकि उन्होंने न केवल भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसज्जित किया, वरन् धार्मिक क्षेत्र में ब्रजभाषा के सहारे कृष्ण-काव्य की एक विशिष्ट परंपरा को जन्म दिया। अतः वे केवल व्यक्तिगत काव्य के आदर्शों को लेकर ही कवि नहीं है, प्रत्युत साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्तियों

को नवीन रूप देने वाले कलाकार भी हैं। उनकी प्रतिभा यद्यपि सर्वतोन्मुखी नहीं है, तथापि जिस क्षेत्र में वे लिखते है उसके वे एकमात्र अधिपति हैं। यदि जीवन की गंभीर विवेचना में सूरदास तुलसीदास से आगे नही बढ़ सके, तो बाल-जीवन के चित्रण में तुलसीदास सूरदास की किसी प्रकार भी समता नही कर सके। तुलसीदास की भाँति सूरदास अनेक भाषाओं में कविता नहीं कर सके, पर जिस ब्रज में सूरदास ने रचना की वह उनकी लेखनी में बहुत मधुर होकर प्रवाहित हुई।

भाषा के विचार से सूरदास प्रथम कवि है, जिन्होंने भाषा को साहित्यिक रूप दिया। उस समय की ब्रजभाषा केवल विचार के पारस्परिक आदान-प्रदान ही में व्यवहृत हुआ करती थी। कुछ गाने वालों के स्वरों में पाई जाती थी, पर सौष्ठव के विचार से सम्भवतः भाषा पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया था। महाप्रभु वल्लभाचार्य के पौत्र श्रीगोकुलनाथ ने अपनी 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में ब्रजभाषा का प्रयोग अवश्य किया है, पर वह ब्रजभाषा का बहुत साधारण रूप है, जिसमें साहित्यिक छटा का अभाव है। उसका कारण यही था कि गोकुलनाथ 'पुष्टिमार्ग' का प्रतिपादन कर रहे थे। वे यह चाहते थे कि धर्म का जितनी सरलता से प्रचार हो सके, उतना ही अच्छा है। धर्म का प्रतिपादन ऐसी भाषा में होना चाहिए, जो सरलता से प्रत्येक की समझ में आ सके। ऐसी परिस्थिति में उनकी भाषा में सरलता का साम्राज्य होना आवश्यक था और ऐसा हुआ भी है। अतः उन्होंने साहित्यिक सौंदर्य के विचार से अपनी 'वार्ताएँ' नहीं लिखीं। ऐसी स्थिति में हम उन्हें साधारण भाषा लिखने अथवा साहित्यिक सहृदयता से शन्य होने का दोष नहीं लगा सकते। उस समय की ब्रजभाषा का उदाहरण इस प्रकार है :—

"तब नारायणदास को बंदीखाने में ते बुलायें सो बुलाय कै पात्साह के पास ठाडौ कीयौ तब नारायणदास ते पात्साह ने पूछौ जो नारायणदास आज थैली क्यौं नाहीं आई पाछे थोड़ो सों गाढ़ी कोरड़ा करिकें कोरड़ावारो बुलायौ और पात्साह ने पॉच सौ कोरड़ा को हुक्म दीयो और पात्साह बोल्यौ जो नारायणदास साँच कहि जो आज थैली क्यौं नाहीं आई द्वारपाल ने तौ मुहर छाप करिके तेरे हवाले कीनी और तैंने यह कहा कीयौ तू साँचि कहि नाहीं तो कोरड़ा लागत है।"[१]

इसी समय सूरदास ने अपने गीतिकाव्य में जिस भाषा का प्रयोग किया वह संस्कृत-मिश्रित साहित्यिक भाषा है। गोकुलनाथ और सूरदास की भाषा में वही अन्तर है, जो मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास की भाषा में है। जिस प्रकार गोकुलनाथ की ब्रजभाषा गँवारू और सूरदास की साहित्यिक है, उसी प्रकार मलिक

---

१ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २२८।

मुहम्मद की भाषा गँवारू अवधी और तुलसीदास की साहित्यिक अवधी है। सूरदास ने यद्यपि गँवारू शब्दों का भी प्रयोग किया है[1], पर अन्तत: उनकी भाषा में साहित्यिकता है। उनके लिखने का ढंग पाण्डित्य-पूर्ण है।

सूरदास ने विशेषत: शृंगार और शांत रस का वर्णन किया है। शान्त रस का वर्णन तो वे उस समय तक विशेष रूप से करते रहे, जब तक कि वल्लभाचार्य ने सूरदास का गान सुनकर यह नही कहा :—"जो सूर है के ऐसो घिघियात काहे को है कछू भगवल्लीला वर्णन करि।" वल्लभाचार्य से दीक्षित होने पर उन्होंने श्रीकृष्ण-लीला गायी। श्रीकृष्ण-लीला-वर्णन में उन्होंने शृंगार रस के वियोग पक्ष पर अधिक दृष्टि डाली और उसी भावोन्माद में गोपियों का विरह-वर्णन साहित्य में उत्कृष्टता को पहुँचा दिया। संयोग शृंगार में भी सूरदास ने हृदय के भावों में मादकता भर दी है, श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा की प्रेम-भावना का मनमोहक चित्र खींच दिया है। किस प्रकार माता यशोदा श्रीकृष्ण को पालने में झुलाती हुई 'जोई सोई'—कभी यह, कभी वह—जो कुछ मुँह में आया, वही गा रही है। किस प्रकार नींद से विनती करती हैं—आकर मेरे कान्ह को सुला जा वह तुझे बुला रहा है। नींद पर क्रुद्ध सी होकर "तू काहे न बेगि सी आवै" कह कर जोर दे रही हैं। कभी यशोदा ईश्वर से विनती करती है कि वह कौन सा दिन होगा जब मेरा लाल 'घुटुरुवनि' चलेगा।

दूसरी ओर श्रीकृष्ण भी सुन्दर क्रीड़ा करते हैं। "हरि किलकत जसुदा की कनियाँ" में एक शिशु का उल्लास पूर्ण रूप अंकित है। श्रीकृष्ण के कुछ बड़े होने पर यशोदा का मन कितना पुलकित होता है, उसकी बाल-लीला देखकर यशोदा कितना सुख पाती हैं!

> भीतर ते बाहर लौं आवत।
> घर आँगन अति चलत सुगम भयो देहरी में अटकावत।
> गिरि गिर परत जात नहिं उलँघी अति श्रम होत न धावत।
> अहुठ पैर वसुधा सब कीन्ही धाम अवधि बिरमावत॥
> मन ही मन बलवीर कहत हैं ऐसे रंग बनावत।
> सूरदास प्रभु अगणित महिमा भक्तन के मन भावत॥[2]

बालक का देहरी तक जाकर पार करने की शक्ति न होने पर बार-बार लौटना कितना सूक्ष्म निरीक्षण है, जिसे कवि ने एक बार ही कह दिया है।

गोपियों का दही बालक कृष्ण चुराकर घर में छिप गया है। वे यशोदा से शिकायत करने के लिए आई हैं। यह शिकायत कितनी स्वाभाविक है!

---

१ लरिक सलोरी, लँगराई, माट पाछपद, पतूखी, छाक।

२ सूरसागर, पृष्ठ ११६, पद १४

जसोदा कहाँ लौं कीजै कानि।
दिन प्रति कैसे सही परति है दूध दही की हानि॥
अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि।
गोरस खाइ ढूँढ़ि सब बासन भली करी यह बानि॥
मैं अपने मन्दिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोइ जाइ तुम्हारे लरिका लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिनि घर में आयो नेकु न संका मानी।
सूर श्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़तु पानी॥[1]

ये तो सयोग शृंगार के चित्र हुए। अब वियोग शृंगार के चित्र देखिये। सूरदास ने मानव-हृदय के भीतर जाकर वियोग और करुणा के जितने भाव हो सकते हैं उन्हें अपनी कुशल लेखनी से ऐसे अंकित कर दिए हैं कि वे अमर हो गए हैं। प्रत्येक भाव में ऐसी स्पष्टता है, मानो हम उन्हें स्वयं अनुभव कर रहे है। किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू और किसी में विदग्धता का कम्पन। हृदय की भावना अनेक रूप से व्यक्त होती है। एक ही भावना का अनेक बार चित्रण होता है—नये-नये रंगों से—और उनमें हृदय को व्यथित करने की शक्ति बराबर बढ़ती जाती है। ऐसा ज्ञात होता है मानो प्रत्येक पद एक गोपी है, जिसमें वियोग की भीषण अग्नि धधक रही है।

गोपियाँ अपनी वेदना में श्रीकृष्ण से लौटने की प्रार्थना करती हैं :—

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहि जगाय पठावौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ दैहौं देन लुटाय।
कबहूँ न दैहौं उराहनों जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देउँगी, लकुटी न जसुमति पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौं मानि॥[2]

कृष्ण और राधा का सहारा लेकर सूर ने शृंगार रस पर अपनी शक्तिशालिनी लेखनी उठाई है। इस शृंगार में रस का पूर्ण परिपाक होते हुए भी अश्लीलता का अंश नहीं आने पाया। राधा और कृष्ण का शृंगार-वर्णन पढ़ते हुए भी हमें यह ध्यान रहता है कि कृष्ण और राधा हमारे आराध्य हैं। आलम्बन विभाव के नायक-नायिका राधा-कृष्ण ईश्वरीय शक्तियों से विभूषित हैं। वे सामान्य स्त्री-पुरुष के विचारों को प्रकट करते हुए भी दिव्य विभूतियों से युक्त हैं। सूर ने पवित्र शृंगार की झाँकी दिखलाई है। यद्यपि कृष्ण, राधा और गोपिकाओं के साथ विहार करते हैं; पर उनका व्यक्तित्व सदैव उच्चतर और पवित्र चित्रित किया गया है।

---

१ भ्रमरगीत सार, पद
२ भ्रमरगीत सार, पद १८२

सूरदास के शृंगार में यही सौन्दर्य है। वासना की सामग्री नेत्र के सामने वे रखते अवश्य हैं; पर इतनी सुन्दरता के साथ कि हृदय उसके रूप पर ही मुग्ध होकर वासना का तिरस्कार कर देता है। उस रूप में हृदय इतना लीन हो जाता है कि उसे वासना की ओर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता। यह बात सूरदास के परवर्ती कवियों में नहीं रहने पाई। उन्होंने तो राधा-कृष्ण को साधारण नायक-नायिका बना डाला है। राधा से अभिसार कराया है, उसे विरहिणी बनाकर वासना की अग्नि में जलाया है। उसे पलँग पर लिटाया है और स्वप्न में कृष्ण से मिलाया है। जागने पर 'एरी गयो गिर हाथ को हीरो' कहला कर शोक भी दिखलाया है। वासना का इतना नग्न चित्र खींचा गया है कि उसके सामने राधा-कृष्ण का अलौकिक सौंदर्य सम्पूर्ण नष्ट हो गया है, उसमें आध्यात्मिक तत्व का पता ही नही चलता। वे काम से पीड़ित नायक-नायिका बनकर आँसू बहाते हैं, विरह में दो हाथ ऊँची आग की लपट अपने शरीर से निकालते हैं और अपनी सखी से कहलाते हैं :—

> वाके तन ताप की कहौं मैं कहा बात,
> मेरे गात ही छुये ते तुम्हें ताप चढ़ि आवैगी। (पद्माकर)

सूर ने जो शृंगार लिखा है, उसकी एक बूँद भी ये बेचारे कवि नहीं पा सके हैं। जिस प्रकार दीपक की उज्ज्वल शिखा से काजल निकलता है, उसी प्रकार सूर के उज्ज्वल और तेजोमय पवित्र शृंगार से अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी का कलुषित शृंगार प्रादुर्भूत हुआ।

सूरदास की कविता का प्रथम गुण है माधुर्य। उन्होंने अपने पद ब्रजभाषा में लिखे हैं। एक तो ब्रजभाषा स्वभावतः ही मधुर है, फिर उसमें सूर की पदयोजना न तो माधुर्य की मूर्ति ही लाकर खड़ी कर दी है। संगीत की धारा इतनी सुकुमार चाल से चलती है कि हमे यह ज्ञात होने लगता है कि हम स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में मंदाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानभव कर रहे हैं। सूरदास तो स्वभावतः ही उत्कृष्ट गायनाचार्य थे। इस कारण उन्होंने जितने पद लिखे हैं, उनमें संगीत की ध्वनि इतनी सुमधुर रीति से समाई है कि वे पद संगीत के जीते-जागते अवतार से हो गये हैं। कोमलता ने प्रत्येक शब्द में वास कर लिया है।

सूरदास की कविता में महत्त्व की एक बात और है। उसमें हम विश्वव्यापी राग सुनते हैं। राग मनुष्य-हृदय का सूक्ष्म उद्गार है। उसी राग में मानव-जाति की सभी वृत्तियाँ अन्तर्हित हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी कविता मनुष्य-जाति के स्वरों में हँसती है और उसी के स्वरों में रोती है। बाल-कृष्ण के शैशव में, श्रीकृष्ण के मचलने में, माँ यशोदा के दुलारे में हम विश्वव्यापी माता-पुत्र-प्रेम देखते हैं :—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनों, तू यशुमति कब जायो ॥
कहा कहों एहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु ।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को तुम्हरो है तातु ॥
गोरे नन्द, यशोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर ।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोंही को मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ।
मोहन को मुख रिस समेत लखि, यशुमति सुनि सुनि रीझै ॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत ।
सूरश्याम मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥ [१]

इन्हीं विश्वव्यापी वृत्तियों के कारण सूर का काव्य विश्वकाव्य की श्रेणी में आ सकता है ।

सूरदास के कहने का ढंग भी बहुत सुन्दर है । जो बात वे कहते हैं, वह इतनी सुन्दरता के साथ कि उसके आगे कहने को कुछ भी नहीं रह जाता । जो कुछ वे कहते हैं, वही कहने की इति है । वियोग-शृंगार में गोपियों ने ऊधो से जो कुछ कहा है, वह वाक्-चातुर्य का उत्कृष्ट नमूना है ।

सूरदास का काव्य-ज्ञान भी बहुत ऊँचा है । इतने सुन्दर अलंकारों का प्रयोग साहित्य में बहुत कम है । अलंकारों का कार्य तो यह है कि वे भावों का रूप स्पष्ट कर दें और उनमें शक्ति भर दें । ये दोनों कार्य सूरदास के अलंकारों से भली-भाँति हो जाते हैं । उनके अलंकारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी अन्तर्दृष्टि बहुत तीक्ष्ण थी । उनका अन्तिम पद ही लीजिये :—

खंजन नैन रूप रस माते
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते ।
चलि चलि जात निकट श्रवननि के उलटि पलटि ताटंक फँदाते ॥
सूरदास अंजन गुन अटकै नातरु अब उड़ि जाते ॥ [२]

इसमें नेत्र रूपी खंजन का अंजन रूपी गुन (रस्सी) से अटकने का रूपक कितना सौन्दर्य-पूर्ण है !

सूरदास की विशेषता यह है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर दिया है । यही विशेषता तुलसीदास की भी है, पर दोनो में अन्तर केवल यही है कि तुलसीदास के मनोविज्ञान का क्षेत्र मनुष्य-जीवन में बहुत व्यापक है और सूरदास का क्षेत्र केवल शृंगारिक जीवन तक ही सीमित है । इतनी बात अवश्य है कि सूरदास के शृंगारमय जीवन का मनोवैज्ञानिक चित्रण जितना

---

१ सूरसागर, पद ८८, पृष्ठ १२६

२ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ २८६-२६०

विश्लेषणात्मक है उतना तुलसीदास के किसी भी क्षेत्र का नहीं। सूरदास अपने काव्य-विषय के विशेषज्ञ हैं, यही उन्हें महाकवि के आसन पर अधिष्ठित करने में समर्थ है। इन शृंगार-चित्रों के साथ रस का जितना सुन्दर निरूपण किया गया है उतना हिन्दी साहित्य में बहुत कठिनता से मिलता है। शृंगार-चित्र दो भागों में विभाजित हैं, बाल-जीवन के चित्र और विरह-जीवन के चित्र। इन दोनों प्रकार के चित्रों में विरह-जीवन के चित्र भावनाओं की गहरी अनुभूति लिये हुए हैं। भ्रमर-गीत में तो जैसे वियोग-शृंगार की प्रत्येक भावना गोपिकाओं के आँसुओं में साकार हो गई है। विरह की एकादश अवस्थाओं का चित्रण सूरदास की कुशल लेखनी से बड़ी स्वाभाविकता के साथ हुआ है। विषय की स्पष्टता के लिए उदाहरण देना अयुक्तिसंगत न होगा।

अभिलाषा

निरखत अंक श्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई श्याम श्याम की पाती॥[1]

चिन्ता

मधुकर ये नैना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमल नयन को प्रेम मगन भये भारे॥[2]

स्मरण

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नँदलाल कही॥[3]

गुण कथन

सँदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुतकी, कृपा करत ही रहियो।
उबटन तेल और तातो जल, देखे ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती, धर्म कर्म के नाते॥
तुम तो टेव जानती ह्वै हौ तऊ, मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहिं, माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसि बासर, बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन, ह्वै है करत संकोच॥[4]

उद्वेग

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि।
दृष्टिधार करि मारि साँवरे, घायल सब ब्रजनारि॥[5]

---

१ भ्रमरगीत सार (पं० रामचन्द्र शुक्ल)
साहित्य सेवासदन, काशी, सं० १९८३, पृष्ठ २४
२ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६०
३ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६४
४ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६३
५ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ५८

प्रलाप

कैसे के पनघट जाऊँ सखीरी डोलौं सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ चली है, इन नैनन के नीर॥
इन नैनन के नीर सखीरी, सेज भई धरनाउँ।
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै श्याम मिलन को जाउँ॥[1]

उन्माद

माधव यह ब्रज को व्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नन्दकुमार॥
एक ग्वालि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति।
एक मंडली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति॥[2]

व्याधि

ऊधोजू मैं तिहारे चरन, लागौं बारक या ब्रज करवि भाँवरी।
निशि न नीद आवै, दिन न भोजन भावै मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी॥[3]

जड़ता

बालक सग लिये दधि चोरत, खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं, अब काहे न मुख बोलत॥[4]

मूर्छा

सोचति अति पछताति राधिका, मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते, बिथा न जात सही॥[5]

मरण

जब हरि गवन कियो पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरि कै भस्म ह्वै निबर्‌यो बहुरि मसान जगायो॥
कै रे, मनोहर आनि मिलाओ, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥[6]

शृंगार रस के साथ सूरदास ने करुण और हास्य रस का निरूपण भी कुशलता के साथ किया है। श्रीकृष्ण के ब्रज न लौटने की निराशा ने करुण रस की सृष्टि की है और उद्धव के ज्ञान-मार्ग के परिहास ने हास्य रस का उत्कर्ष उपस्थित किया है। जहां करुण रस में शोक के स्थायी भाव की व्यापकता निस्सीम है, वहाँ हास्य रस में हास्य की भावना शिष्ट और मर्यादित है।

---

१ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६२
२ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६६
३ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६२
४ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ २१
५ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ६४
६ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ४२

करुण रस

(१)

अब नीके कै समुझि परी।
जिन लगी हुती बहुत उर आसा सोउ बात निबरी॥
ऊपर मृदु भीतर तें कुलिस सम, देखत के अति भोरे॥
जोइ जोइ आवत वा मथुरातें एक डार के से नोरे॥[1]

(२)

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरिश्रम जल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी॥
अधो मुख रहति उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी॥
छूटे चिंहुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई इक विरहिन दूजे अलि जारीं।
सूरस्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रज बनिता सब श्याम दुलारी॥

हास्य-रस

(१)

निर्गुन कौन देश को वासी।
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥
कोहै जनक जननि को कहियत, कौन नारि को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो वहि रस में अभिलासी॥[3]

(२)

हमते हरि कबहूँ न उदास।
तुमसो प्रेम कथा को कहिबो कनहुँ काटिबो घास॥[4]

इन रसों के अतिरिक्त सूरदास ने अन्य रसो का वर्णन भी किया है। पर वे सब गौण रूप से हैं। इन रसों में कोमल रस ही प्रधान है, जिनमें अद्भुत और शान्त की अधिकता है।

सूरदास ने रस-निरूपण में मनोवैज्ञानिक भावनाओं को सरस राग-रागिनियों में वर्णित किया है। इन राग-रागिनियों के कारण सूरदास का गीतिकाव्य बहुत ही मधुर और आकर्षक हो गया है। रस-निरूपण में प्रधानतः सूर ने जिन राग-रागिनियों का वर्णन किया है उनका संक्षेप में परिचय इस प्रकार है :—

शृंगार रस—ललित, गौरी, बिलावल, सूहो और बसन्त।

करुण—जैतश्री, केदारा, धनाश्री, आसावरी।

---

१ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ३४
२ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ३७
३ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ २७
४ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ १५

हास्य—टोड़ी, सोरट, सारंग ।

शान्त—रामकली ।

वर्णन—विभास, नट, सारंग, कल्याण, मलार ।

विशेष

सूरदास की रचना पर यद्यपि पुष्टिमार्ग का प्रभाव अवश्य है, पर उन्होंने अधिकतर कृष्ण और गोपियों के प्रेम-वर्णन पर ही रचना की है । सूरदास की रचनाओं में विशेष दार्शनिक तत्व नहीं हैं ।

> रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु, निरालम्ब मन चक्रित धावै ।
> सब बिधि अगम विचारिहिं ताते, सूर सगुन लीला पद गावै ।।[१]

इन सिद्धान्तों पर ही सूरदास ने अपने दार्शनिक विश्वासों की सूचना-मात्र दी है । इसीलिए सूरदास किसी विशेष पन्थ के प्रवर्त्तक नहीं हो सके । सूरदास ने तो अपने गुरु वल्लभाचार्य पर भी विशेष रचना नहीं की । यहाँ तक कि सूरदास के अन्तिम समय में 'चत्रभुज दास' को कहना पड़ा—

"जो सूरदास जी ने भगवद जस वर्णन कीयौ पर श्री आचार्य जी महाप्रभन को जस वर्णन ना कीयौ ।"[२]

फलस्वरूप सूरदास को अपने गुरु पर अन्तिम समय में एक पद लिखना पड़ा :—

> भरोसौ दृढ़ इन चरनन केरौ ।
> श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरौ ।।
> साधन और नही या कलि में, जासों होत निबेरौ ।
> सूर कहा कहि द्विविध आँधिरौ, बिना मोल कौ चेरौ ।।[३]

इस प्रकार सूरदास अपनी भक्ति-भावना में दार्शनिक तत्व से दूर ही रहे । उनकी भक्ति-भावना में विकास निरन्तर ही होता गया । उनके प्रारंभिक पद दास्य भाव के हैं जो तुलसीदास के दृष्टिकोण से मेल खाते हैं, परवर्ती पद सख्य भाव के हैं जिनमें कृष्ण की लीला बड़े मनोरंजक ढंग से वर्णित की गई है । तुलसी की भाँति सूर ने धर्म का विशेष उपदेश नहीं दिया और न मूर्तिपूजा, तीर्थ-व्रत, वेद-महिमा, वर्णाश्रम-धर्म पर ही जोर दिया । वे तो अपने आराध्य श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में लीन थे । न उन्हें लोकादर्श की चिन्ता थी और न धर्म के प्रचार ही की । वे तुलसी की भांति धार्मिक सहिष्णु अवश्य थे, क्योंकि उन्होंने सूरसागर में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य अवतारों में राम का वर्णन भी किया ।

---

१ सूरसागर, पृष्ठ १, पद २

२ अष्टछाप, पृष्ठ १६

३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ १७

सूरदास की रचना गीति-काव्य में हुई, पर उनका गीति-काव्य केवल ब्रजभाषा तक ही सीमित रहा। तुलसी की भाँति उन्होंने अनेक भाषाओं में कविता नहीं लिखी। वे ब्रज के निवासी थे, अतः ब्रजभाषा ही उन्हें काव्य के उपयुक्त जान पड़ी। गायन के स्वरों में ब्रजभाषा और भी माधुर्य-पूर्ण हो गई है, अतः कवि की वाणी ब्रजभाषा के स्वरों का ही उच्चारण कर सकी। सूरदास की परम्परागत गीति-शैली ने उनके काव्य को बहुत प्रभावित किया।

सूरदास का काव्य कहीं-कहीं शास्त्रीय ढंग का भी हो गया है। उसमें गोपियों की विपुलता में नायिका-भेद का विस्तार आप से आप हो गया है। कृष्ण के नख-शिख एवं वसन्तादि में उद्दीपन विभाव की सृष्टि हो गई है। सूरदास के काव्य में अलंकार भी अधिक आ गये हैं। यद्यपि अलंकारों ने सूर की सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को स्पष्ट किया है तथापि उनके कूटों ने कहीं-कहीं अलंकार के साधारण सौन्दर्य को भी खो दिया है। पुष्टिमार्ग का रूप बालकृष्ण की आराधना में होने के कारण कला-प्रियता ही पुष्टिमार्ग की कविता की प्रवृत्ति हो गई है। 'गीत गोविन्द' का कृष्ण-चित्रण भी शृंगार रसात्मक होने के कारण सूर की कविता पर कलात्मक प्रभाव डालता है। अकबर के राज्य-काल की कला-प्रियता ने भी संभवतः सूर को सौंदर्य की उपासना में सहायता दी हो।

सूर की कविता में कृष्ण-चरित्र की प्रबन्धात्मकता गीति-काव्य के कारण स्पष्ट नहीं है, तथापि कृष्ण के जीवन की घटनाओं की विविधता और उनके साथ कृष्ण के बाल और किशोर जीवन की छवि, मानवी जीवन के इतिहास में चिरस्थायी हो गई है।

नन्ददास

नन्ददास विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के प्रसिद्ध कवियों में थे। साहित्यिक महत्त्व के दृष्किोण से सूरदास के बाद इन्हीं का स्थान है। नन्ददास अष्ट-छाप में विट्ठलनाथ के शिष्य थे। इनका तिथि-पूर्ण जीवन-चरित्र अभी तक ज्ञात नहीं हो सका, बाह्य साक्ष्य से केवल परिचयात्मक विवरण ही मिलता है।

नन्ददास ने स्वयं अपने विषय मे कुछ नहीं लिखा। 'रासपंचाध्यायी' के प्रारंभ में नन्ददास ने केवल अपने एक मित्र का संकेत किया है :—

परम रसिक एक मित्र, मोहि तिन आज्ञा दीनी।
ताही तें यह कथा, जथामति भाषा कीनी॥[1]

---

१. राम पञ्चाध्यायी, प्रथमोऽध्यायः, पद्य-संख्या २०

नन्ददास के ये रसिक मित्र कौन थे, इनका नाम भी अज्ञात है। वियोगी हरि के अनुसार "मित्र से यहाँ गंगाबाई जी से आशय है। गंगाबाई श्री गोसांई विट्ठलनाथ जी की शिष्या थी। यह कविता में अपना नाम 'श्री विट्ठल गिरिधरन' लिखा करती थीं।"[१]

'रासपंचाध्यायी' के अन्त में नन्ददास ने अपनी कविता के विषय में भी निर्देश किया है :—

इहि उज्ज्वल रसमाल, कोटि जतनन करि पोई।
सावधान ह्वै पहिरौ, वरु तोरौ मति कोई॥[२]

इससे यह ज्ञात होता है कि ये अपनी कविता 'कोटि जतनन करि' लिखा करते थे। रचना करने में इस परिश्रम के कारण ही संभवतः यह जनश्रुति चल पड़ी हो, "और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया"। खोज-रिपोर्ट (सन् १९०१) में 'दसमस्कंध भागवत' नामक नन्ददास रचित ग्रंथ का निर्देश है। उसमें भी नन्ददास ने अपने एक मित्र का निर्देश किया है :—

परम विचित्र मित्र इक रहै। कृष्ण चरित्र सुन्यौ सो चहै॥
तिन कही दसम स्कंध जु आहि। भाषा करि कछु बरनौं ताहि॥
सबद सहंसकृति के हैं जैसे। मो पहि समुझि परैं नहि तैसे॥
ताते सरल सुभाषा कीजै। परम अमृत पीजै सुख भीजै॥ आदि

इस सम्बन्ध में खोज-रिपोर्ट के संपादक लिखते हैं :—

"इस ग्रंथ के कर्ता नन्ददास जी हैं जो एक मित्र के कहने पर इस दसम स्कंध को भाषा में करने में प्रवृत्त हुए। कहीं-कहीं तो कथा को ऐसे वर्णन किया है मानो दोनों मित्र परस्पर सम्वाद करते हों। ग्रंथ के बनने अथवा समाप्त होने का ठीक समय विदित नहीं होता। अंत के लेख से यह निकलता है कि ग्रंथ फाल्गुन सुदी ७ मंगलवार को समाप्त हुआ, पर सम्वत् कौन यह नही लिखा।"[३]

अतः अन्तर्साक्ष्य से हमें केवल यही ज्ञात होता है कि नन्ददास अपने ग्रंथों की रचना अधिकतर अपने मित्रों के अनुरोध से ही किया करते थे।

बाह्यसाक्ष्य के अन्तर्गत नाभादास का यह छप्पय प्रसिद्ध है :—

श्री नन्ददास आनन्द निधि, रसिक सुप्रभु हित रँगमँगे।
लीला पद रस रीति ग्रंथ रचना में नागर।
सरस युक्ति युत युक्ति, भक्ति रस गान उजागर॥
प्रचुरय पद्य लौं सुजसु रामपुर ग्राम निवासी'

---

१ ब्रजमाधुरी सार (श्री वियोगी हरि), हिंन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग सं० १९९०
२ रासपञ्चाध्यायी, पञ्चमोऽध्यायः पद्य-संख्या ८०
३ खोज-रिपोर्ट, सन्, १९०१, पृष्ठ १८

सकल सुकल संवलित, भक्त पद रेनु उपासी ।।
चंद्रहास अग्रज सुहृद, परम प्रेम पथ में पगे ।
श्री नन्ददास आनन्द निधि, रसिक सुप्रभु हित रँगमँगे ।।[1]

इस छप्पय से यह ज्ञात होता है कि नन्ददास 'चन्द्रहास अग्रज सुहृद' थे। 'चन्द्रहास अग्रज सुहृद' के दो अर्थ हो सकते हैं :—

(१) चंद्रहास के बड़े भाई के मित्र
(२) चंद्रहास के सुहृद बड़े भाई

इन दोनों अर्थों में कौन सा अर्थ नन्ददास के पक्ष में प्रयुक्त होता है, यह अनिश्चित है, क्योंकि चन्द्रहास का निर्देश अन्य किसी बाह्य साक्ष्य में नहीं है।

अत: नन्ददास चंद्रहास के बड़े भाई या चंद्रहास के बड़े भाई के मित्र थे और रामपुर के निवासी थे।[2]

गोकुलनाथ की 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में नन्ददास का परिचय विस्तारपूर्वक दिया गया है। निम्नलिखित अवतरण नन्ददास के जीवन-विवरण के संबन्ध में सहायक हैं :—

(१) नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हुते।[3]

(२) सो नंददास जी के ऊपर श्री गुसांई जी ने ऐसी कृपा करी तब सब ठिकानेन सों विनको मन खीच के श्री प्रभून में लगाय दीनों।[4]

(३) सो वे नन्ददास जी ब्रज छोड़ के कहूँ जाते नहीं हूते।[5]

(४) सो एक दिन नंददास जी के मन में आई जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें। ये बात ब्राह्मण लोगन ने सुनी तब सब ब्राह्मण मिल कें श्री गुसांई जी के पास गये। सो ब्राह्मण ने बिनती करी, जो श्रीमद्भागवत भाषा होयगो तो हमारी आजीविका जाती रहेगी। तब श्री गुसांई जी ने नंददास जी सुं आज्ञा करी जो तुम श्रीमद्भागवत भाषा मत करो और ब्राह्मणन के क्लेश में मत परो, ब्रह्म क्लेश आछो नहीं है और कीर्तन करके ब्रज-लीला गाओ। जब नंददास जी ने श्री गुसांई जी की आज्ञा मानी, श्रीमदभागवत भाषा न कर्यो।[6]

---

१ भक्तमाल सटीक (नाभादास)
२ रामपुर ग्राम एटा में है।
३ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९२९) पृष्ठ ९४
४ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९२९) पृष्ठ ९६
५ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९२९) पृष्ठ ९८
६ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९२९) पृष्ठ ९९-१००

(५) सो वे नन्ददास जी श्री गुसांई जी के ऐसे कृपा पात्र भगवदीय हते जिनके कहे तें श्री गोवर्द्धननाथ जी कुं तथा श्री रघुनाथ जी कुं श्री रामचन्द्र जी का स्वरूप घर के दर्शन देणे पड़े ।[१]

इससे नंददास जी का जीवन-वृत्त यही ज्ञात होता है कि वे तुलसीदास के छोटे भाई थे और ब्रज में निरंतर निवास करते थे। वे श्री गोसांई विट्ठलनाथ जी द्वारा पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हुए थे। उनका विचार 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद भाषा में करने का था, पर बाद में विट्ठलनाथ जी की आज्ञा से उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे पुष्टि-मार्ग में प्रभावशाली और लोक-प्रिय भक्त थे। वार्ता से यह भी ज्ञात होता है कि ये सिन्धुनद ग्राम की एक खत्रानी के रूप पर आसक्त हो गये थे और रात-दिन उसके घर का चक्कर लगाया करते थे। बाद में गोसांई विट्ठलनाथ के उपदेश से इन्हें ज्ञान हुआ। 'दो सौ बावन वष्णवन की वार्ता' डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार प्रामाणिक नहीं कही जाती।[२] इसके अनेक कारण हैं।

ग्रन्थ में लेखक का नाम आदरसूचक शब्द के रूप में आया है। कोई भी लेखक अपना नाम इस प्रकार अपने ग्रंथ में नहीं लिख सकता। "तब श्री बालकृष्ण जी तथा श्री गोकुलनाथ जी तथा श्री रघुनाथ जी तीनों भाई वैष्णवन के मंडल में विराजत हते।" दूसरी बात यह है कि इसमें श्री गोसांई जी के सेवक लाड़बाई और धारबाई शीर्षक १९९ वीं वार्ता में औरंगजेब की मन्दिर तोड़ने की नीति का वर्णन किया गया है।[३] गोकुलनाथ का समय संवत् १६०८ से संवत् १७०४ माना गया है। अतएव औरंगजेब की इस नीति का वर्णन जो सन् १६६९ की घटना है, 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में गोकुलनाथ के द्वारा वर्णित नहीं की जा सकती। तीसरी बात यह है कि चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं के व्याकरण के अनेक रूपों में अन्तर है। एक ही लेखक अपनी दो रचनाओं में व्याकरण के इन छोटे-छोटे रूपों में इस तरह के भेद नहीं कर सकता। इन कारणों से यह कहा जा सकता है कि चौरासी वार्ता को देखकर किसी पुष्टिमार्गी ने १६ वीं शताब्दी के बाद इसकी रचना की होगी।

---

१ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा, १९२९) पृष्ठ १०३

२ हिन्दुस्तानी, अप्रेल सन् १९३२, पृष्ठ १८३-१८९

३ साठ वर्ष पीछे औरंगजेब बादशाह की जुलमी के समय में म्लेच्छ लूंटवे कुं आये तब श्री गोकुल में सुं सब लोग भाग गये ॥ और मन्दिर सब खाली होय गये कोई मनुष्य गाम में रह्यो नहीं ॥ तब विन म्लेछन ने वे छात खोदीं ॥ सो नव लक्ष रूपैय्यान को द्रव्य निकर्‍यो ॥ तब गाम में जितने मंदिर हते सब मंदिरन की छात खुदाय डारी ॥

—दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ ३३

ऐसी स्थिति में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में जो 'भागवत भाषा न करन का' उल्लेख है वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में जो 'दशमस्कंध भागवत' ग्रन्थ मिला है उसके विषय में कुछ भी विश्वस्त रीति से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभी उसका ठीक परीक्षण नहीं हुआ। अतः नंददास ने 'भागवत' का अनुवाद भाषा में किया था अथवा नहीं, यह अभी संदिग्ध है।

नंददास का निर्देश वेणीमाधवदास के 'गोसांई चरित' में भी मिलता है :—

नन्ददास कनौजिया प्रेम मढ़े। जिन सेस सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु बन्धु भये तेहि ते। अति प्रेम सों आय मिले यहि ते॥[1]

तुलसीदास की ब्रज-यात्रा में नंददास उनसे मिले थे। इस निर्देश के अनुसार नंददास कनौजिया थे और तुलसीदास के साथ शेष सनातन से उन्होंने विद्योपार्जन किया था। इस प्रकार वे तुलसीदास के गुरु-भाई थे।

इस उद्धरण से 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के इस कथन की पुष्टि किसी प्रकार हो जाती है कि 'नंददास जी तुलसीदास के छोटे भाई हते।' पर 'गोसांई चरित' की प्रामाणिकता भी संदिग्ध है। अतः इस कथन का निर्देश मात्र यहाँ पर्याप्त है।

नंददास के जीवन-विवरण की प्रामाणिक सामग्री बहुत कम है। नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९२०-२१-२२ की खोज रिपोर्ट में नंददास के 'नाममाला' ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति में ग्रंथ का रचना-संवत् दिया गया है। यह संवत् १६२४ है। अतः इसके अनुसार यह निश्चित है कि नंददास तुलसीदास और सूरदास के समकालीन थे। इस प्रकार नन्ददास विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए। चन्द्रहास उनके भाई थे या चन्द्रहास के बड़े भाई उनके मित्र थे। संदर्भ को देखते हुए नन्ददास को चन्द्रहास का बड़ा भाई मानना ही युक्तिसंगत है। तुलसीदास नन्ददास के भाई थे अथवा नहीं, यह किसी अन्य प्राचीन प्रमाण से सिद्ध होना चाहिए। नन्ददास की जाति भी निश्चित नहीं है। वेणीमाधवदास ने उन्हें 'कनौजिया' लिखा है। शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में उन्हें केवल ब्राह्मण लिखा है :—

४१. नन्ददास ब्राह्मण रामपुर निवासी, विट्ठलनाथ जी के शिष्य, सं० १५८५ में उ०।[2]

---

१ गोसांई चरित के ७५ वें दोहे की चौपाई।

२ शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४४२

मिश्रबन्धु ने नन्ददास को 'केवत' ब्राह्मण माना है।[1] 'केवत' से तात्पर्य कान्यकुब्ज का निकलता है। 'सुकवि सरोज' में नन्ददास को शुक्ल कहा गया है :—

"सोरों जिला एटा के समीप रामपुर एक नगर था। १५ वीं शताब्दी में वर्तमान सोरों-निवासी समस्त ब्राह्मणों के पूर्वज उसी ग्राम में रहते थे और उसी ग्राम में नन्ददास जी का जन्म हुआ था। पश्चात् नन्ददास जी के पिता सोरों के योग मार्ग मुहल्ले में आबाद हो गये थे, पीछे नन्ददास जी के धन संपन्न होने पर रामपुर को हस्तगत किया था और उसका नाम बदल कर रामपुर से श्यामपुर रख दिया था। इसकी पुष्टि सोरों और उसके निकटवर्ती गाँवों में प्रचलित इस कहावत से कि 'नन्ददास सुकुल कियो रामपुर से श्यामपुर' भली-भाँति होती है।"[2]

इन प्रमाणों से कम से कम यह भली-भाँति सिद्ध हो ही जाता है कि नन्ददास ब्राह्मण थे और रामपुर के निवासी थे।

नन्ददास के ग्रन्थ

नन्ददास के ग्रंथों में 'रास पंचाध्यायी' और 'भँवर गीत' प्रसिद्ध हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट से नन्ददास के निम्नलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं :—

१. अनेकार्थ भाषा

पद्य-संख्या—११६

विषय—शब्दकोष।[3]

उच्चरि सकत न संस्कृत, पराकृत समरर्थ्य। तिन लगि नन्द सुमति यथा, भाषि अनेका अर्थ्य॥

[विशेष—इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १६२४ दिया गया है।]

२ अनेकार्थ मञ्जरी

पद्य-संख्या—२२८

विषय—अनेक शब्दों के अनेक अर्थ।[4]

[विशेष—इसकी एक प्रति खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१९१०-१९११ में भी प्राप्त हुई है।

३ जोगलीला

पद्य-संख्या—१३०

विषय—योगी वेश में कृष्ण का राधा के पास जाना।[5]

---

१ मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २८१

२ सुकवि सरोज (द्वितीय भाग) पृष्ठ ६

३ खोज रिपोर्ट सन् १९२०-१९२१-१९२२

४ खोज रिपोर्ट सन् १९२०-१९२१-१९२२

५ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८

४. दसम स्कंध भागवत

पद्य-संख्या—१७००

विषय—श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध का पद्यमय अनुवाद ।[1]

[विशेष—इसकी एक प्रति खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८ में भी प्राप्त हुई है । "इस ग्रंथ के कर्त्ता नन्ददास जी हैं जो एक मित्र के कहने पर इस दशम स्कंध को भाषा में करने में प्रवृत्त हुए । कहीं-कहीं तो कथा को ऐसे वर्णन किया है मानों दोनों मित्र परस्पर सम्वाद करते हों । ग्रन्थ के बनने अथवा समाप्त होने का ठीक समय विदित नहीं होता । अन्त के लेख से यह निकलता है कि ग्रन्थ फाल्गुण सुदी ७ मंगलवार को समाप्त हुआ, पर सम्वत् कौन था यह नहीं लिखा । प्रस्तुत प्रति तो सम्वत् १८३३ मार्गशीर्ष बदी १२ को समाप्त हुई थी । इस प्रति के लेखक राम-कृष्ण के पुत्र राघोदास महाजन हैं ।"]

५. नाम चिन्तामणि माला

पद्य-संख्या—४१

विषय—कृष्ण की नामावली ।[2]

६. नाम माला

पद्य-संख्या—३०८

विषय—नामों का कोष । भिन्न-भिन्न विषयों के विविध नाम ।[3]

"समुझि सकत नहिं संस्कृत, जान्यो चाहत नाम ।
तिन लगि नन्द सुनति जथा, रचत नाम की दाम ॥"

[विशेष—इस ग्रन्थ का रचना-काल भी सम्वत् १६२४ दिया गया है । इसकी एक प्रति खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१९१०-१९११ में प्राप्त हुई है ।]

७. नाम मंजरी

पद्य-संख्या—३८०

विषय—पर्यायवाची शब्दों का कोष ।[4]

उच्चरि सकत न संस्कृत, जान्यो चाहत नाम ।
तिन लगि नन्द सुमति यथा, रचन नाम की दाम ॥

८. नासिकेत पुराण भाषा

विषय—नासिकेत की कथा

[विशेष—यह ग्रन्थ गद्य में है][5]

---

१ खोज रिपोर्ट सन् १९०१, पृष्ठ १८
२ खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८
३ खोज रिपोर्ट सन् १९२०-१९२१-१९२२
४ खोज रिपोर्ट सन् १९२०-१९२१-१९२२
५ खोज पिपोर्ट सन् १९०९-१९१०-१९११

९. पञ्चाध्यायी

पद्य-संख्या—३७८

विषय—रास-वर्णन।[1] इसके अतिरिक्त—

श्रवन कीरतन सार सार सुमिरन को है फुनि।
ज्ञान सार हरि ध्यान सार रति सार ग्रन्थ गुनि।।
अघहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
नन्ददास के कण्ठ बसौ नित मङ्गल करनी।।

[विशेष—इसकी एक प्रति खोज रिपोर्ट सन् १९०१ में और दो प्रतियाँ (सन् १८१५ और १८३६ की खोज रिपोर्ट १९०६-१९०७-१९०८ में प्राप्त हुई हैं। कवि ने इस ग्रन्थ को अपने एक मित्र के कहने से लिखा था।]

१०. विरह मंजरी

पद्य-संख्या—१४७

विषय—नायिकाओं का विरह-वर्णन।[2]

११. भंवरगीत

पद्य-संख्या—२१६

विषय—सगुण और निर्गुण पर गोपी और उद्धव का संवाद।[3]

[**विशेष**—इसमें नन्ददास का उपनाम 'जनमुकुन्द' दिया गया है।]

१२ रसमंजरी

पद्य-संख्या—२७०

विषय—नायिका-भेद।[4]

१३. राजनीति हितोपदेश

पद्य-संख्या—३६५०

विषय—राजनीति।[5]

१४. रुक्मिणी मंगल

पद्य-संख्या—९०

विषय—रुक्मिणी-हरण की कथा।[6]

---

१ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९
२ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१९१०-१९११
३ खोज रिपोर्ट सन् १९२०-१९२१-१९२२
४ खोज रिपोर्ट सन् १९०९-१९१०-१९११
५ खोज रिपोर्ट सन् १९०५
६ खोज रिपोर्ट सन् १९१२-१९१३-१९१४

१५. श्याम सगाई

पद्य-संख्या—६३

विषय—श्यामा-श्याम की सगाई। इसमें सभी घटनाएँ विस्तारपूर्वक वर्णित हैं।[1] संक्षेप रूप यही विषय है :—

जसुमति रानी गृह सज्यो चंदन चौक पुराय,
बढ़त बधाई नन्द के नंददास बलि जाय। सगाई श्याम की॥

[विशेष—इसकी एक प्रति खोज रिपोर्ट सन् १९०६-१९०७-१९०८ में भी मिली है।]

१६. मान (नाम ?) मंजरी नाम माला

[विशेष विवरण ज्ञात नहीं]।[2] इसकी प्रति खोज रिपोर्ट १९०९-१९१०-१९११ में भी प्राप्त हुई है। यह कोष ही ज्ञात होता है।

शिवसिंह सेंगर ने इनके ग्रन्थों में 'नाममाला', 'अनेकार्थ', 'पंचाध्यायी', 'रुक्मिणी मंगल' और 'दशम स्कन्ध' के साथ-साथ 'दानलीला' और 'मानलीला' का भी निर्देश किया है।[3] "इन ग्रन्थों के सिवा इनके हजारों पद भी हैं।" नन्ददास ने पद लिखे हैं, पर वे "हजारों" नहीं हैं।

नन्ददास ने सोलह ग्रन्थों की रचना की। उनमें 'रासपंचाध्यायी' और 'भँवरगीत' मुख्य हैं। पहले 'रास पंचाध्यायी' पर विचार करना चाहिए। शिवसिंह-सरोज के अनुसार नन्ददास का जन्म-काल संवत् १५८५ है। अतः 'रास पंचाध्यायी' का रचना-काल कम से कम बीस वर्ष बाद तो होना चाहिए। अतः संवत् १६१० के बाद 'पंचाध्यायी' की रचना हुई होगी।

इसकी रचना का कारण नन्ददास ने स्वयं अपनी पुस्तक के प्रारम्भ में दे दिया है :—

परम रसिक इक मित्र, मोहि तिन आज्ञा दीनी।
ताही ते यह कथा यथा मति भाषा कीनी॥[4]

कथानक

'रासपंचाध्यायी' में श्रीकृष्ण की रास-लीला रोला छंद में वर्णित है। इसमें पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में शुकदेव जी का शिख-नख वर्णन बड़ी ही सुन्दर रीति से किया गया है। तत्पश्चात् श्रीवृन्दावन की छवि के वर्णन के साथ शरद-रजनी की शोभा अंकित की गई है। उसी समय हम श्रीकृष्ण को मुरली में स्वर भरते हुए

---

१ खोज रिपोर्ट सन् १९१७-१९१८-१९१९

२ राजपूताना में हिन्दी की खोज (मुंशी देवीप्रसाद) सं० १९६८

३ शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ४४३

४ रासपञ्चाध्यायी और भंवरगीत (बालमुकुन्द गुप्त) पृष्ठ २
पं० कृष्णानन्द शर्मा (कलकत्ता १९०४)

पाते हैं। फलतः सभी ब्रज-गोपिकाएँ उस मुरली-स्वर से आकृष्ट हो उसी वन में आ जाती हैं। पर जब श्रीकृष्ण उन्हें स्त्री-धर्म की शिक्षा देकर घर लौट जाने के लिए कहते हैं तो वे सभी "बालमृगन की माल" के समान स्तब्ध रह जाती है। इस अवसर पर गोपियों की दशा का बड़ा ही भाव-पूर्ण चित्र खींचा गया है। कभी उलाहना दिया गया है, कभी प्रेम प्रदर्शित किया गया है, और कभी मरने का भय दिखलाया गया है। अन्त मे मनमोहन गोपियों की बात मानकर कुंज में विहार करते हे। इस पर गोपियों का हृदय कुछ गर्वित हो उठता है। यह देखकर श्रीकृष्ण कुछ देर के लिये अन्तर्धान हो जाते है। यहीं 'रासपंचाध्यायी' का पहला अध्याय समाप्त होता है।

द्वितीय अध्याय में गोपिकाएँ श्रीकृष्ण को प्रत्येक कुंज में खोजती हुई लता-वृक्षों से कृष्ण का पता पूछती हे। यह वर्णन बहुत ही सरस और करुणा से ओतप्रोत है।

तृतीय अध्याय में गोपिकाओं का प्रलाप है। कहीं-कहीं उनका उपालम्भ वहुत ही मनोहर है। वे सभी कृष्ण से पुनः दर्शन देने की याचना करती हैं। व्याकुलता का बड़ा ही विदग्ध वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते हैं और गोपिकाएँ विरह के पश्चात् बड़ी उत्सुकता और उमंग के साथ मिलती हैं। यह मिलना बड़ा ही स्वाभाविक है। अन्त में श्रीकृष्ण गोपियों से अपने अपराध की क्षमा मांगते हैं।

पांचवें अध्याय में श्रीकृष्ण की रास-लीला का सुन्दर वर्णन है। पद-योजना इस प्रकार की गई है कि रास का दृश्य आंखों के सामने खिंच जाता है। फिर जल-क्रीड़ा होती है और प्रातःकाल होने के पूर्व गोपियां अपने-अपने स्थान को चली जाती हैं। अध्याय के अन्त में नन्ददास ने कथा का माहात्म्य कहकर इस "उज्ज्वल रस-माल" को अपने कंठ में बसने की प्रार्थना की है।

आधार

नन्ददास ने अपनी 'रासपंचाध्यायी' का कथानक मुख्यतः 'भागवत' ही से लिया है। उसमें अनेक स्थलों पर 'भागवत' की कथा का ही रूपान्तर है; और उन्होंने जो बातें 'भागवत' से ली है, वे इस प्रकार व्यक्त की गई हे कि उन पर मौलिकता का रंग नजर आता है। उनकी वर्णन-शैली और शब्द-माधुर्य में भागवत का अंश भी नन्ददास-कृत मालूम पड़ता है। यही नन्ददास की काव्य-शक्ति का उत्कृष्ट प्रमाण है। कथानक चाहे एक ही हो; किन्तु दोनों की वर्णन-शैली में भिन्नता है। नन्ददास रास के पांच अध्यायों के लिए 'भागवत' दशम स्कन्ध के २९ से लेकर ३३ अध्याय तक के ऋणी अवश्य हैं।

'रासपंचाध्यायी' का दूसरा आधार 'हरिवंशपुराण' कहा जा सकता है; क्योंकि उस पुराण के विष्णु-पर्व में उसी रास का वर्णन है, जिसका वर्णन नन्ददास ने अपनी 'पंचाध्यायी' में किया है। पुराण में उसका नाम 'हल्लीस-क्रीडन' दिया गया है। इसी रास के आधार पर 'रासपंचाध्यायी' ग्रन्थ 'हरिवंशपुराण' का ऋणी है।

'पंचाध्यायी' का तीसरा आधार जयदेव का 'गीतगोविन्द' है। यद्यपि 'गीतगोविन्द' और 'रासपंचाध्यायी' के कथानक में आकाश-पाताल का अन्तर है, तथापि दोनों की प्रवाह-गति, मधुरता और शैली एक ही साचे में ढली हुई है। नन्द-दास ने कदाचित् 'गीतगोविन्द' के माधुर्य के वशीभूत होकर ही अपने काव्य की रचना की है। दोनों की मधुरता का ढंग एक ही है। वियोगी हरि तो इसे "हिन्दी का गीत गोविन्द' मानते हैं।[१]

रस

नन्ददास ने अपने काव्य में रस और गुण की सृष्टि बड़ी सुन्दरता के साथ की है। रसों में उन्होंने श्रृंगार, करुण और शांत का बड़ी विशद रीति से वर्णन किया है। उनका श्रृंगार रस इस प्रकार है :—

इहि विधि विविधि बिलास हास सुख कुंज सदन के।
चले जमुन जल क्रीड़न, व्रीड़न कोटि मदन के॥[२]

कितना सरस श्रृंगार-वर्णन है !

नन्ददास ने करुण रस का वर्णन करने में भी कुशलता दिखलाई है। आंसुओं की स्वच्छ मालाओं में उन्होंने जो हृदय-बेधी भाव गूँथे हैं, उन्हें हम केवल अनुभव कर सकते है, कह नहीं सकते। इस प्रकार का करुण रस हिन्दी साहित्य में बहुत कम है :—

प्रनत मनोरथ करत चरण सरसीरुह पिय के।
कह घटि जैहै नाथ, हरत दुख हमरे हिय के॥
कहँ यह हमरी प्रीति, कहाँ तुमरी निठुराई।
मनि पखान ते खचै दई तें कछु न बसाई॥
जब तुम कानन जात सहस जुग सम बीतत छिन।
दिन बीतत जिहि भाँति हमहि जाने पिय तुम बिन॥[३]

अंत में शांत रस का कितना उज्जवल स्वरूप है !

श्रवन कीरतन ध्यान सार सुमिरन को है पुनि।
ज्ञान-सार हरि-ध्यान-सार, श्रुतिसार गुथी गुनि॥

---

१ ब्रजमाधुरी सार, पृष्ठ ५४

२ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २३

३ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १५-१६

अघहरनी, मनहरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
नन्ददास के कंठ बसौ नित मंगल करनी।।[१]

'रासपंचाध्यायी' में दो गुणों की प्रधानता है। वे दोनों गुण हैं, माधुर्य्य और प्रसाद। माधुर्य्य तो उच्च श्रेणी का है। प्रत्येक पद मानो अंगूर का एक गुच्छा है, जिसमें मीठा रस भरा हुआ है। शब्दों मे कोमलता भी बहुत है। पंक्तियों में न तो संयुक्ताक्षर हैं और न लंबे-चौड़े समास ही। शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का निर्देश करती है। जो कुछ कहा गया है वह भी बहुत थोड़े शब्दों में सुन्दरता के साथ। "अर्थ अमित अति आखर थोरे" रास-वर्णन मधुर और सरस है!

गुण

नूपुर कंकन किंकिनि करतल उपग मंजुल मुरली।
ताल मृदंग उपंग चंग एकै सुर जुरली।।
मृदुल मधुर टंकार ताल झंकार मिली धुनि।
मधुर जंत्र की तार भँवर गुंजार रली पुनि।।
तैसिय मृदुपद पटकनि चटकनि कटतारन की।
लटकनि मटकनि झलकनि कल कुंडल हारन की।
साँवरे पिय के संग नृतत या ब्रज की बाला।।
जनु घनमंडल मंजुल खेलति दामिनिमाला।।[२]

पदों में प्रसाद गुण का भी अच्छा स्थान है।

नव मरकत मनि श्याम कनक मणिगण ब्रजबाला।
वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला।।[३]

काव्य का बाह्य रूप सजाने में भी नन्ददास का कौशल दर्शनीय है। पद-योजना का सुन्दर आयोजन है। मुख्य-मुख्य अलंकारों का विस्तार और छन्द का स्वच्छन्द प्रवाह है। नीचे के उद्धरणों में यह कथन और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा।

पद-योजना, अलंकार, छन्द

१. पद-योजना :

या बन की बर बानक या बन ही बन आ।
सेस महेस सुरेस गनेसहु पार न पावै।।[४]
ठे पुनि तिहिं पुलिनहि परमानन्द भयौ है।
छबिलिन अपनो छादनि-छबि सु'बछाय दयौ है।।[५]

---

१ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २५
२ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २०-२१
३ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २०
४ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ३
५ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १८

२. अनुप्रास :

हे चन्दन, सुख नन्दन सब की जरन जुड़ावहु।
नँदनन्दन, जगबन्दन चन्दन हमहिं बतावहु ॥[1]

३. रूपक : नव मरकत मणि श्याम, कनक मणिगण ब्रजबाला।[2]

४. उत्प्रेक्षा : वृन्दावन को रीझि मनो पहिराई माला ॥[3]

इसके अतिरिक्त अन्य अलंकार भी सुन्दर रीति से सजाये गये हैं। समस्त ग्रन्थ रोला और दोहा छंदों में लिखा गया है। रोला छंद लिखने में नन्ददास को बहुत सफलता मिली है। भावों के अनुसार ही छंद का प्रवाह है। किन्तु कहीं-कहीं यति पर विचार नहीं किया गया, जैसे :—

छंद

'मोहनलाल रसाल की लीला इनहीं सोहै।'[4]

बहुत से पिंगल के आचार्यों का कथन है कि रोला में ११ और १३ मात्रा की यति के २४ मात्राएँ होनी चाहिए। इसके अनुसार नन्ददास की रचना से यति-भंग दोष आ जाता है, किन्तु बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'रोला के लक्षण' शीर्षक लेख में लिखा है कि—"रोला छन्द में ग्यारह मात्राओं पर विरति होना आवश्यक नहीं है, पर यदि हो तो अच्छी बात है।"

नन्ददास ने भाव-निरीक्षण में अपनी काव्य-कला का अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने मनुष्य के हृदय के गूढ़तम भावों को अन्तर्दृष्टि से देखकर उन्हें ललित शब्दों में स्पष्ट प्रकट कर दिया है।

वियोगिनी ब्रजबालाओं का स्वाभाविक वियोग-कथन भावपूर्ण और कितना करुणाजनक है!

नैन मूँदिबो महा अस्त्र लै हाँसी हाँसी।
मारत हो कित सुरतनाथ बिन मोल की दासी ॥
विष तें जल तें व्याल अनल तें दामिनि झर तें।
क्यों रखी नहिं मरन दई नागर नगधर तें ॥[5]

---

१ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ११

२ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २८

३ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २०

४ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १२

५ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १५

वियोग के बाद आकस्मिक संयोग की छटा कितनी स्वाभाविक है :—

> कोउ चटपट सों झपटी, कोउ पुनि उरवर लपटी।
> कोउ गर लपटी कहत भले जू कान्हर कपटी ॥
> कोउ नागर नगधर की गहि रहि दोउ कर पटकी।
> मानों नव घन ते सटकी दामिनि दामन अटकी ॥[1]

प्रथम अध्याय में शरद् ऋतु की राका-रजनी खिली हुई है। उस निस्तब्ध एवं मनोरम काल में श्यामसुन्दर ने 'जोगमाया सी मुरली' उठाई वह ओठों के स्वर से मिली। ब्रजबनिताओं ने उस गाने को सुना। उनके हृदय उल्लसित हो उठे। जिस ओर से ध्वनि आ रही थी उसी ओर उन्होंने अपने पैर बढ़ा दिये। श्रीकृष्ण के कानों में धीरे-धीरे नूपुर की मधुर ध्वनि पहुँची। उस ध्वनि से श्रीकृष्ण कितनी सुन्दर रीति से सजग हुए :—

> जिनके नूपुर नाद सुनत जब परम सुहाये।
> तब हरि के मन नयन सिमिटि सब स्रवननि आये ॥
> रुनुक झुनुक पुनि भली भाँति सों प्रगट भई जब।
> पिय के अँग-अँग सिमिटि मिले हैं रसिक नयन तब ॥[2]

कितना स्पष्ट स्वाभाविक चित्र है! मानो हम स्वयं श्रीकृष्ण को ऐसी उत्सुक और ध्यानावस्थित दशा में विचलित देखते हैं। गोपियों की नूपुर-ध्वनि सुनने के लिए उनके नेत्र और हृदय कानों के पास सिमिट आये हैं और जब नूपुर-ध्वनि स्पष्ट हो जाती है तो उन्हें देखने के लिए श्रीकृष्ण का प्रत्येक अंग आँखों से मिलना चाहता है। केवल इसी स्थल से ज्ञात हो जाता है कि नन्ददास में साधारण से साधारण भावों के अनुसार मुख पर आई मुद्रा को उसी समय पहचानने की कितनी विलक्षण शक्ति थी।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति-वर्णन कवि के वैयक्तिक सिद्धान्तों के अनुसार बदला करता है। अँग्रेजी में वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) का प्रकृति-वर्णन टेनीसन (Tennyson) के प्रकृति-वर्णन से सर्वथा भिन्न है। उसका कारण यह है कि वर्ड्स्वर्थ ने प्रकृति को सजीव मान कर अपनी सहचरी समझा है; किन्तु टेनीसन ने प्रकृति को मानवीय विचारों के चित्र के लिए केवल चित्रपट समझा है। उसने प्रकृति का अस्तित्व हृदय के विविध विचारों के अनुकूल प्रदर्शन के लिए ही माना है। हिन्दी के प्राचीन कवियों का भी प्रकृति के लिए अन्ततः यही विचार था। वियोग में उनकी प्रकृति वियोगिनी बनकर रोती थी और संयोग में उनकी प्रकृति में हर्ष के चिन्ह नजर आते थे। यद्यपि

---

१ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १०

२ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ७

यहाँ-वहाँ इस सिद्धांत के कुछ प्रतिवाद अवश्य देखने में आते हैं, पर मुख्यतः यह स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन कवि टेनीसन की भाँति प्रकृति को अपने भावों ही के रंग म रँगते थे।

नन्ददास ने प्रकृति-वर्णन तीन प्रकार से किया है :—

(१) प्रकृति का सुखमय श्रृंगारयुक्त चित्रण।

(२) आगामी कार्यों के क्रीड़ास्थल के उपयुक्त प्रकृति का रूप-प्रदर्शन।

(३) केवल अलंकार के रूप में लाने के लिए ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग।

प्रथम प्रकार के प्रकृति-वर्णन में प्रकृति एक नवयौवना स्त्री के समान दृष्टि-गोचर होती है जिसका स्वाभाविक श्रृंगार नेत्र और हृदय को आनन्द देने वाला है। प्रकृति के प्रत्येक अंग में स्त्री के बाह्य सौन्दर्य की झलक है। कवि वर्णन करता है केवल सजीव सौन्दर्य का और वह भी सीधे शब्दों में। नन्ददास का इस प्रकार का वर्णन यह है :—

कुसुम धूरि धूमरी कुञ्ज मधुकरनि पुञ्ज जहँ।
ऐसेहु रस आवेस लटकि कीनों प्रवेस तहँ॥
नव पल्लव की सैनी अति सुखदैनी सरसे।
सुंदर सुमन ससि निरखत अति आनंद हिय बरसे॥[1]

दूसरे प्रकार के वर्णन में नन्ददास प्रकृति का रूप इस भाँति वर्णन करते हैं कि आगे होने वाले कार्यों की तीव्रता बढ़ती है अथवा उनमें उद्दीपन होता है। जिस प्रकार नाटक में श्रृंगार-कथानक की सरसता रंगमंच के दृश्य में उपवन, राज्य-प्रासाद या चन्द्र-दर्शन से और भी बढ़ जाती है, उसी प्रकार कथानक का वेग और भी तीव्र करने के लिए नन्ददास ने प्रकृति का सहारा लेकर कथानक के अनुकूल ही वायुमंडल की सृष्टि कर दी है। प्रथम अध्याय में कृष्ण की मुरली की ध्वनि को अधिक प्रभावशालिनी बनाने के लिए कवि ने शरद् की निस्तब्ध रात्रि का सहारा लिया है। प्रकृति यहाँ उद्दीपन विभाव का काम करती है :—

कोमल किरन अरुन मानो वन व्याप रही ज्यों।
मनसिज खेल्यो फागि घुमड़ घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटिक छटा सी किरन कुञ्ज रन्ध्रन जब आई।
मानहु बितन बितान सुदेस तनाव तनाई॥
मन्द-मन्द चल चारु चन्द्रमा अति छवि पाई।
झलकत है जनों रमारमण पिया कौतुक आई॥
तब लीनी करकमल जोगमाया सी मुरली।[2] इत्यादि।

---

१ रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ६

२ रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ५

यहाँ कविता के चित्र के लिए प्रकृति ने सचमुच ही चित्रपट का रूप ले लिया है।

नन्ददास के तीसरे प्रकार के प्रकृति-वर्णन में कोई विशेषता नहीं है। प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का प्रयोग केवल अलंकार लाने के बहाने उन्होंने किया अवश्य है, पर बहुत कम। कारण यह है कि वे वास्तव में अलंकार के उतने प्रेमी नहीं थे, जितने भाव के। अतएव ऐसे वर्णन जहाँ कहीं भी आए हैं यदि उनमें अलंकार हैं, तो भाव का भी सर्वथा अभाव नहीं है। वे लिखते हैं:—

टूटी मुक्तनमाल छूटि रही साँवरे ऊपर।
गिरि तें जिमि सुरसरी गिरि द्वैधार धारिधर॥

विशेषताएँ

'रासपचाध्यायी' एक स्वतन्त्र काव्य-ग्रथ है। कवि ने आरम्भ में श्री शुकदेवजी का शिख-नख वर्णन करते हुए मंगलाचरण लिखा है। यदि रचना 'श्रीमद्-भागवत' का अनुवाद मात्र होती तो इसके आरम्भ में ऐसा मंगलाचरण लिखा ही नहीं जाता। कथानक का प्रवाह एक ही वेग से आगे बढ़ता जाता है। अंत में नन्ददास इस 'पंचाध्यायी' को इस प्रकार समाप्त करते हैं, मानो वे एक पूरे ग्रंथ की समाप्ति कर रहे हैं:—

अघहरनी मनहरनी सुन्दर प्रेम बितरनी।
नन्ददास के कण्ठ बसौ नित मंगल करनी॥[२]

नन्ददास ने यह रचना स्वतन्त्र रूप से लिखी है; इसका सम्बन्ध अन्य किसी ग्रंथ की रचना से नहीं है।

दूसरी विशेषता है—इसकी भाषा। ब्रजभाषा का प्रवाह बहुत ही स्वाभाविक और सरस है। हम आजाद के शब्दों में इनके लिए भी कह सकते हैं कि "इनके अल्फाज मोती की तरह रेशम पर ढलकते हुए चले आते हैं।" शब्दों का विकृत रूप कहीं भी देखने में नहीं आता। सभी शब्द यथास्थान इस प्रकार सजे हुए हैं, मानो किसी ने रत्नों को जड़ दिया हो। सचमुच नन्ददास 'जड़िया' थे।

हे अवनी नवनीत चोर चित चोर हमारे॥ राखे कितहुँ दुराय बता देउ प्रान पियारे॥[३]

तीसरा गुण है इनके अनुप्रास की विशेषता। नन्ददास की रचना में अनुप्रास इस तरह स्वाभाविक रीति से चला आता है, मानो इनके शब्द-भाण्डार में अनुप्रास युक्त शब्दों के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं था। अनुप्रास भी इस तरह आता है कि उससे भावों की लेश-मात्र भी क्षति नहीं होती। इसी में कवि की प्रतिभा का परिचय है:—

---

१ रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ २३
२ रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ ८५
३ रासपञ्चाध्यायी और भँवरगीत, पृष्ठ १२

(१) संवत् १८६४ की कलकत्ता की प्रति।
(२) संवत् १६४५ की मथुरा की छपी हुई लीथो की प्रति।
इनमें कलकत्ते की प्रति अधिक शुद्ध और प्रामाणिक है।

नन्ददास का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ 'भँवरगीत' है। यह 'भँवरगीत' भ्रमरगीत शब्द का अपभ्रंश है। गोपियों के लिए उद्धव के द्वारा भेजा हुआ कृष्ण-सन्देश कृष्ण-काव्य के कवियों को बड़ा रुचिकर था। इसी का वर्णन 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूरदास ने भी 'भ्रमरगीत' लिखा है। उसमें अनेक मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित कर गोपियों के प्रेम-मार्ग का निरूपण किया गया है। नन्ददास के 'भ्रमरगीत' में कथा की उतनी प्रधानता नहीं है जितनी दार्शनिकता की। प्रारंभ में 'भ्रमरगीत' की प्रस्तावना भी नहीं है। सूरदास ने तो 'भ्रमरगीत' के प्रारंभ में कृष्ण की गोकुल-विषयक चिन्ता, उद्धव का अहंकार, कृष्ण का उद्धव के अहंकार को हटाने का बात सोचना, उन्हीं को अपने सन्देश के साथ गोकुल भेजने का विचार, नन्द, यशोदा, गोपियों को पत्र, कुब्जा द्वारा भी पत्र, उद्धव की ब्रज-यात्रा, उद्धव का ब्रज-प्रवेश, ब्रज-युवतियों का उन्हें दूर से देख कर कृष्ण मानना, युवतियों का भ्रम-निवारण, इस घटना-शृंखला के बाद उद्धव का उपदेश लिखा है। इस प्रकार 'भ्रमरगीत' की अनुक्रमिणका बहुत बड़ी है। नन्ददास ने अपने 'भँवरगीत' में यह प्रस्तावना नहीं दी। उनका 'भँवरगीत' उद्धव के उपदेश से ही प्रारंभ हो जाता है :—

> ऊधव को उपदेश सुनो ब्रजनागरी। रूप सील लावन्य सबै गुन आगरी॥
> प्रेम धुजा रस रूपिनि उपजावनि सुख पुञ्ज।
> सुन्दर स्याम विलासिनि नवबृन्दावन कुञ्ज॥ सुनो ब्रजनागरी।[1]

इसके बाद ही—

> कहन स्याम सन्देस एक मैं तुमपै आयो।[2] है

इसका कारण यह है कि इसमें दार्शनिकता का अधिक अंग है। गोपियों और उद्धव में प्रश्नोत्तर के रूप में सगुण और निर्गुण के सापेक्ष्य महत्त्व की घोषणा की गई है। अन्त में गोपियों ही की विजय होती है और उद्धव परिताप-पूर्ण शब्दों में कहते हैं :—

> अब रहिहौं ब्रजभूमि की है पग मारग धूरि। विचरत पद मोपै परै सब सुख जीवन मूरि।
> मुनिन हूँ दुर्लभ॥[3]

---

१ भँवरगीत (विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा) पृष्ठ १
२ भँवरगीत (विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा) पृष्ठ १
३ भँवरगीत, पृष्ठ ३०

सूरदास के 'भ्रमरगीत' में जितने मनोवैज्ञानिक चित्र हैं, उतने तो नन्ददास के 'भँवरगीत' में नहीं, किन्तु उनकी कमी भी नही है । अलंकार के साथ एक मनोवैज्ञानिक चित्र इस प्रकार है :—

कोउ कहै री मधुप भेष उन्हीं को धार्यो, स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकार्यो।
वापुर गोरस चोरि कै फिरि आयो यहि देस, इनको जनि मानहु कोउ कपटी इनको भेस।
चोरि जनि जाय कछु ॥[1]

'भँवरगीत' का छंद रोला और दोहा के मिश्रण से बनाया हुआ एक नवीन छंद है । इस छंद के अन्त में १० मात्रा की एक छोटी सी पंक्ति है जिससे भाव-पूर्ति के साथ छंद की संगीत-पूर्ति भी होती है । यह छंद संभवतः सूरदास से ही लिया गया ज्ञात होता है, क्योंकि सूरदास ने पदों के अतिरिक्त इस छंद में भी 'भ्रमरगीत' लिखा है—

कोउ आयो उत ताँय जितै नँद सुवन सिधारे।
वहै बेनु धुनि होय मनो आए नँदप्यारे।
धाईं सब गलगाजि कै ऊधो देखे जाय।
लै आईं ब्रजराज मैं, हो, आनँद उर न समाय ॥[2]

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अन्तिम दस मात्रा की पंक्ति नन्ददास की मौलिक पंक्ति है । यह पंक्ति छंद को बहुत मधुरता दे देती है । इस पंक्ति का प्रयोग सत्यनारायण कविरत्न ने भी अपने 'भ्रमरगीत' में किया है ।

'भँवरगीत' में अलंकारों का वैसा प्रयोग नहीं हुआ जैसा 'रासपंचाध्यायी' में हुआ, क्योंकि कवि का समस्त ध्यान काव्य-कला की ओर न जाकर विषय-प्रतिपादन और ज्ञान-भक्ति की चर्चा में ही उलझ गया है । किंतु इससे 'भँवरगीत' काव्यहीन है, यह नहीं कहा जा सकता । उपमा, रूपक, वक्रोक्ति, व्याजस्तुति, दृष्टांत और अनुप्रास अलंकार स्थान-स्थान पर पाये जाते हैं ।

निम्न पंक्ति में व्यंजना कितनी सरस और स्पष्ट है :—

गोकुल में जोरी कोऊ, पाई नाहिं मुरारि,
मदन त्रिभंगी आपु हैं, करी त्रिभंगी नारि।
रूप गुन सील की ॥[3]

रसों में वियोग शृंगार प्रधान है । शांत और अद्भुत रस गौण रूप से प्रयुक्त हुए हैं। वियोग की एकादश दशाओं में अनेक दशाओं का वर्णन है । अद्भत और शांत की भावना भी पूर्ण है :—

१ भँवरगीत, पृष्ठ २१
२ भ्रमरगीत सार, पृष्ठ ७
३ भँवरगीत, पृष्ठ २६

रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै रहि साँवर गात, कल्प तरोरुह साँवरो ब्रज बनिता भईं पात।
उलभि अंग अंग ते ॥[१]

(अद्भुत)

अपनौ रूप दिखाय कै लीन्हौं बहुरि दुराय, नन्ददास पावन भयो जो यह लीला गाय।
प्रेम रस पुंजनी ॥[२]

(शान्त)

वियोग शृंगार के लिए तो संपूर्ण रचना ही उदाहरण-स्वरूप दी जा सकती है। गोपियों के विरह का एक चित्र यह है :—

कोउ कहैं अहो दरस देहु पुनि बेनु बजावौ,
दुरि दुरि बन की ओट कहा हिय न लौन लगावौ।
हमको तुम पिय एक हौ तुमकों हमसी कोरि,
बहुत भाँति के रावरे प्रीति न डारौ तोरि।
एक ही बार यों ॥[३]

'भँवरगीत' की भाषा बड़ी सरस और प्रवाहयुक्त है। नन्ददास की भाषा उन्हें 'और सब गढ़िया, नन्ददास जड़िया' के पद के योग्य अवश्य बना देती है। वे किसी शब्द को उपयुक्त स्थल पर बड़ी मनोहरता से जड़ देते हैं। उदाहरण के लिए 'गुन' शब्द लिया जा सकता है। भँवरगीत के १६, २० और २१ छंदों में गुन शब्द का सौन्दर्य संदर्भ के अनुसार कितने अर्थ और कितने रूप में है :—

१—जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।[४]
२—वा गुन की परछांह री माया दर्पन बीच,
गुन ते गुन न्यारे भये अमल बारि मिलि कीच।[५]
३—माया के गुन और और गुन हरि के जानो।[६]
४—जाके गुन अरु रूप को जान न पायो वेद,
ताते निर्गुन ब्रह्म को वदत उपनिषद वेद।[७]

शब्दों को 'जड़ने' के अतिरिक्त उन्होंने भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति अनेक मुहावरों का प्रयोग कर बढ़ा दी है :—

---

१ भँवरगीत, पृष्ठ ३२
२ भँवरगीत, पृष्ठ ३३
३ भँवरगीत, पृष्ठ १४
४ भँवरगीत, पृष्ठ १०
५ भँवरगीत, पृष्ठ १०
६ भँवरगीत, पृष्ठ १०
७ भँवरगीत, पृष्ठ १०

'घर आयो नाग न पूजहीं, बाँबी पूजन जाहिं।'
'कहा हिय लोन लगावौ'
'छुधित ग्रास मुख काढ़ि'
'जे तुमको अवलंबहीं तिनको मेलो कूप'
'जबहीं लौं नहिं लखौं तबहि लौ बाँधी मूठी'

आदि मुहावरों से उन्होंने भाषा को बड़ा सरस और व्यावहारिक रूप दिया है। इसी भाषा ने उनकी रचना में माधुर्य और प्रसाद गुण की सृष्टि की है। साधारण शब्दों में ही नन्ददास कितनी कुशलता से माधुर्य गुण रख देते थे :—

स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकार्‌यो।[1] अथवा—
ब्रज बनितन के पुंज माँहि गुंजत छवि छाया।[2]

दूसरे उदाहरण में तो शब्द-माधुर्य के साथ शब्द-चित्र भी है। शब्दों की ध्वनि में जैसे भ्रमर गूँज रहा है।

नन्ददास ने अपने 'भँवरगीत' में गोपिकाओं की विरह-दशा का करुणापूर्ण चित्र खींचते हुए ब्रह्म, माया और जीव की जो विवेचना की है वह उनके पांडित्य की परिचायिका है। हिन्दी के समस्त भ्रमरगीतों में नन्ददास का 'भँवरगीत' दार्शनिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ है।

ब्रजरत्नदास द्वारा संपादित 'भ्रमरगीत' की प्रति पाठ की दृष्टि से प्रामाणिक है। विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा की प्रति भी विश्वस्त है।

नन्ददास के ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि वे भक्ति के साथ कवित्व में भी पारंगत थे। काव्य-शास्त्र में उनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी है। उन्होंने काव्य की अनेक शैलियों में रचना कर अपनी बहुज्ञता और काव्य-ज्ञान का प्रमाण दिया है। 'रासपंचाध्यायी' में उन्होंने भक्तिमय रहस्यवाद का परिचय देते हुए रीति-शास्त्र का पांडित्य भी प्रदर्शित किया। कृष्ण-गोपी-चित्रण में आध्यात्मिक संकेत के साथ शृंगार रस के लिए नायक-नायिका का आलम्बन अनेक गुणों के साथ प्रस्तुत किया गया है। उद्दीपन में ऋतु-वर्णन है। शैली की दृष्टि से पंचाध्यायी खंड-काव्य की कथावस्तु लिये हुए है। अलंकार और छंद का उपयुक्त प्रयोग, भावों की अनु-गामिनी भाषा का महत्त्व नन्ददास के कवित्व का गौरव है। अतः ज्ञात होता है कि वे श्रेष्ठ भक्त के साथ ही साथ रीति-शास्त्र के भी आचार्य थे। 'रस मंजरी' में तो उन्होंने नायिका-भेद ही लिखा है। उन्होंने केशव की भाँति अपनी प्रतिभा को पांडित्य के कठिन पाश में नहीं जकड़ दिया। नन्ददास पर रीति-शास्त्र का उतना ही प्रभाव है जहाँ तक कि उनकी भक्ति-भावना को अनियंत्रित रूप में प्रकट करने

---

१ भँवरगीत, पृष्ठ २१
२ भँवरगीत, पृष्ठ २०

की आवश्यकता है। इसके लिए उनका शब्द-चयन और अलंकार-प्रयोग भी सुरुचिपूर्ण है। नन्ददास यमक और अनुप्रास के पंडित हैं, पर उनका अनुप्रास पद्माकर के 'मल्लिकान मंजुल मलिन्द मतवारे मिले मंद-मंद मारुत मुहीम मनसा की है' के समान नहीं है। अनुप्रास प्रवाह का सहायक है, बाधक नहीं। कहीं-कहीं शब्दों का स्वरूप अवश्य विकृत हो गया है, यथा—दुराय (तिनसे भूत भविष्य कौं जानत कौन दुराय[1]) 'दूखरे' के अर्थ में, बेकारी (लिए फिरत मुख जोग गाँठ काटत बेकारी[2]) 'व्यर्थ' के अर्थ में तथा हमरो के लिए 'हमार', 'हम्हारो' आदि अप्रयुक्त शब्द देखे जाते हैं।

नन्ददास ने जिस प्रकार काव्य-रचना की है उससे ज्ञात होता है कि वे 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव और पदावली के रचयिता विद्यापति से अधिक प्रभावित थे।

सूरदास और नन्ददास गोसांई विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित अष्टछाप के प्रधान कवि थे। इनके अतिरिक्त अष्टछाप के शेष छः कवि निम्नलिखित थे:—

कृष्णदास

इनका समय संवत् १६०० माना जाता है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में इनका चरित्र विस्तारपूर्वक वर्णित है। ये वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। शूद्र होते हुए भी ये कृष्ण-भक्ति के कारण वल्लभाचार्य जी द्वारा बहुत सम्मानित हुए। ये भक्त प्रथम थे और कवि बाद में। इनकी कविता सूरदास अथवा नन्ददास की कविता से हीन है। इन्होंने अधिकतर पद ही लिखे हैं, जिनमें अधिकतर संयोग शृंगार वर्णित है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं :—

'भ्रमरगीत' और 'प्रेमतत्व निरूपण'

इनकी 'जुगल मान चरित्र' रचना भक्तों में अधिक मान्य है।

परमानन्ददास

इनका समय संवत् १६०७ के आस-पास है। ये श्री वल्लभाचार्य के प्रिय शिष्यों में से थे। इनकी रचना बड़ी मधुर और सरस हुआ करती थी। इनकी कविता का विशेष गुण तन्मयता है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं :—

'ध्रुव चरित्र' और 'दानलीला'।

इनके अतिरिक्त इनके पदों का भी एक संग्रह पाया जाता है।

कुंभनदास

इनका कविता-काल भी सम्वत् १६०७ के लगभग माना जाता है। संसार के गौरव और सम्मान से ये बहुत दूर थे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार एक बार इन्हें अकबर ने फतहपुर सीकरी बुलाया। लाचार होकर इन्हें जाना पड़ा। किन्तु उन्हें अपनी इस यात्रा का बड़ा

---

१ भँवरगीत, पृष्ठ १६

२ भँवरगीत, पृष्ठ २३

खेद रहा। उन्होंने एक पद में लिखा है :—

> जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
> कुंभनदास लाल गिरधर बिनु और सबै बेकाम॥

इनका कोई विशेष ग्रंथ नहीं मिलता। फुटकर पद अवश्य काव्य-संग्रहों में पाये जाते हैं।

चतुर्भुजदास

ये कुंभनदास के पुत्र और विट्ठलनाथ के शिष्य थे। कृष्ण-लीला का वर्णन ये सूरदास के समान ही करते थे। इनके पद अधिकतर कृष्ण के क्रिया-कलापों से ही सम्बन्ध रखते हैं। इनकी भाषा बहुत स्वाभाविक और सरस है। इनके तीन ग्रंथ प्राप्त हुए हैं :—

१. 'द्वादश यश', २. 'भक्तिप्रताप' और ३. 'हितजू को मंगल।'

इनके पदों के अनेक संग्रह हैं, जिनमें भक्ति और प्रेम के सुथरे चित्र मिलते हैं।

छीत स्वामी

इनका कविता-काल संवत् १६१२ माना गया है। पहले ये राजा बीरबल के पंडा थे, बाद में पुष्टि-मार्ग में दीक्षित हो गये। ये ब्रजभूमि के बड़े प्रेमी थे और जन्मजन्मान्तर उसी में बसना चाहते थे। इनकी कविता बहुत सरस होती थी। इनके स्फुट पद ही प्राप्त होते हैं, कोई संपूर्ण रचना नहीं। अष्टछाप के कवियों में इनका आदरणीय स्थान है।

गोविन्द स्वामी

इनका कविता-काल भी संवत् १६१२ माना जाता है। विट्ठलनाथ के शिष्यों में थे और गोवर्द्धन पर्वत पर निवास करते थे। इनके भी स्फुट पद प्राप्त होते हैं।

मीराँबाई

मीराँबाई राजस्थान की कवयित्री थीं। कृष्ण-काव्य में उनकी रचनाओं का विशेष स्थान है। उन्होंने क्रमानुसार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन नहीं किया, वरन् दीनता से अपने हृदय की समस्त भावनाओं को भक्ति के सूत्र में बाँध कर कृष्ण की आराधना की। बीच-बीच में कभी उद्धव और राधा आदि का प्रसंग कह दिया है। उन्होंने माधुर्य भाव से अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप निर्धारित किया और स्वयं विरहिणी बन कर अपने आराध्य श्रीकृष्ण से प्रणय-भिक्षा माँगी। यही कारण है कि मीराँ की कविता में गीति-काव्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है।

मीराँ का जीवनवृत्त संपूर्ण रूप से विश्वस्त नहीं है। स्त्री होने के कारण और उत्तर की राजनीति की रंगभूमि से दूर रहने के कारण आइने-अकबरी जैसे ऐतिहासिक ग्रंथों में वे स्थान नहीं पा सकीं। मीराँ स्वयं राजस्थान की राजनीति से सम्बन्ध रखती हैं, अतः राजस्थान के इतिहास में उनका किसी प्रकार उल्लेख है। किन्तु राजस्थान के इन ऐतिहासिक उल्लेखों में भी कहीं-कहीं भूल है। अतः मीरां की रचनाओं में जो व्यक्तिगत निर्देश हैं, उन्हें ही प्रामाणिक मानना ठीक है। इस क्षेत्र में एक कठिनाई है। मीरा की रचनाओं की प्रामाणिकता बहुत संदिग्ध है। जो रचनाएँ मीरां के नाम से मिलती हैं, उनमें बहुत सी प्रक्षिप्त हैं। अतः जब तक मीरां की रचनाओं का कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित न हो जावे तब तक मीरां की रचनाओं का अन्तर्साक्ष्य भी संदिग्ध ही रहेगा। मीरां की अभी तक की प्रकाशित रचनाओं में बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग की 'मीरांबाई की शब्दावली' सबसे अधिक मान्य है। अतः उसी के आधार पर मीरां के जीवन संबन्धी अन्तर्साक्ष्य पर विचार होगा :—

जन्म-तिथि ×

कुल (अ) राठौड़ाँ की धीयड़ी जी सीसोद्याँ के साथ।
ले जाती बैकुंठ को म्हारी नेक न मानी बात ॥[१]

(आ) थे बेटी राठौड़ की थाँ ने राज दियो भगवान ॥[२]

(इ) बड़ा घरा का छोरु कहावों नाचो दै दै तारी ॥[३]

नाम (अ) मेड़तिया घर जनम लियो है मीराँ नाम कहायो ॥[४]

(आ) सब ही लाजै मेंड़तिया जी थाँसू बुरा कहे संसार ॥[५]

जन्म-स्थान

(अ) मेड़तिया घर जन्म लियो है मीराँ नाम कहायो।[६]

(आ) पीहर मेढ़ता छोड़ा अपना, सुरत निरत दोउ चटकी ॥[७]

(इ) पीहर लाजे जो थांरो मेड़तो।[८]

(ई) मारू घर मेवाड़ मेरतो त्याग दियो थांरो महर।[९]

---

१ मीराँबाई की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) तीसरा संस्करण, सन् १९२०, पृष्ठ ६५

२ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३७

३ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४०

४ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७

५ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३७

६ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७

७ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ २६

८ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३८

९ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५५

माता-पिता

(अ) मात पिता तुमको दियो तुमही भल जानो हो ।[1]

पति-गृह

(अ) बर पायो हिंदुवाणी सूरज, अब दिल में कहाधारी ।[2]
(आ) सीसोद्यो रूठयो तो म्हांरो कांई कर लेसी ।[3]

गुरु

(अ) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी ।[4]
(आ) सतगुरु मिलिया सुंज पिछाणी ऐसा ब्रह्म मैं पाती ।।[5]
(इ) रैदास संत मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी ।।[6]
(ई) गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुर से कलम भिड़ी ।
सतगुरु सैन दई जब आके जोत में जोत रली ।।[7]

(उ) मीरा ने गोविंद मिल्या जी गुरु मिलिया रैदास ।।[8]
(ऊ) मीरा ने सतगुरुजी मिलिया चरण कमल बलिहारी ।।[9]

भक्ति में कठिनाइयाँ

(अ) साँप टिपारो राणा जी भेज्यो दयो मेड़तणी गलडार ।
हँस हँस मीरा कंठ लगायो यो तो म्हारै नौसर हार ।।
विष को प्यालो राणाजी भेल्यो द्या मेड़तणी ने प्याय ।
कर चरणामृत पी गई रे गुण गोबिन्दरा गाय ।।[10]

(आ) राणाजी भेजा विष का प्याला सो अमृत कर दीज्यो जी ।।[11]
(इ) (ऊदा) भाभी राणा जी कियो छै थाँ पर कोप,
रतन कचोले विष घोलियो,
(मीरा) बाई ऊदा घोल्यो तो घोलण दा, कर चरणामृत वाही मैं पावस्याँ ।।
(ऊदा) भाभी मीराँ देखतड़ा ही मर जाय, यो विष कहिये बासक नाग को,

---

१ मीराँबाई की शब्दावली, (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) तीसरा संस्करण सन् १९२०, पृष्ठ ८
२ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४०
३ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ २६
४ मीराँबाई का शब्दावली, पृष्ठ २५
५ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ १
६ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ २०
७ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३६
८ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३७
९ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४०
१० मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ १६
११ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३४

(मीरा) बाई ऊदा नहीं म्हाँरे माय बाप, अमर डाली धरती झेलिया।
(ई) राजा बरजै राणो बरजै, सब बरजै परिवारी।
कुँवर पाटवी सो भी बरजै, और सेहल्या सारी॥[२]

(उ) जहर का प्याला भेजिया रे दीजो मीरां हाथ।
अमृत करके पी गई रे भली करे दीनानाथ॥
मीरां प्याला पी लिया रे बोली दोउ कर जोर।
तैं तो मारण की करी रे, मेरा राखण हारा ओर॥[३]

(ऊ) बरबस रचल धमारी हम घर मातु पिता पारें गारी॥[४]

(ऋ) जब मैं चली साध के दरसण तब राणो मारण कूँ दौर्‌यो।[५]

(ॠ) जहर देन की घात विचारी निरमल जल में ले विष घोर्‌यो।
जब चरणोदक सुण्यो सरवणा, राम भरोसे मुख ठोर्‌यो॥[६]

(ऌ) मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हठ कर पी गइ जहर॥[७]

(ॡ) दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोंई।
राणा विष को प्याल्यो भेज्यो पीय मगन होई॥[८]

(ए) विष रा प्याला राणो जी भेज्या दीजो मेड़तणी के हाथ।
कर चरणामृत पी गई म्हाँरा सबल धणी का साथ॥
विष को प्यालो पी गई भजन करे उस ठौर।
थारी मारी न मरूँ म्हाँरो राखण हारो और॥[९]

(ऐ) साँप पिटारा राणा भेज्या मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिग राम गई पाय॥
जहर का प्याला राणा भेज्यो अमृत दीन्ह बनाय।
न्हाय धोय जब पीवण लागी हो अमर अँचवाय॥[१०]

(ओ) विष का प्याला भेजिया जी जावो मीरा पास।
कर चरणामृत पी गई, म्हारे रामजी के विश्वास॥
धिष का प्याला पी गई जी, भजन करे राठोर।
थारी मारी ना मरूँ म्हार राखण हारो ओर॥

---

१ मीराँबाई की शरदावली (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) तीसरा संस्करण, सन् १९२०, पृष्ठ ३९
२ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३९
३ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४१
४ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४६
५ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५३
६ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५०
७ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५५
८ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५८
९ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६०
१० मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६४

पेयां बासक भेजिया जी ये है चन्दन हार।
नाग गले में पहिरिया म्हारो महलां भयो उजार ॥[1]

(औ) विष का प्याला राणा भर भेज्या अमृत कर आरोगी रे।[2]

(अं) राणा जी तें जहर दियो मैं जाणी।
जैसे कंचन दहत अगिन में निकसत बाराबाणी ॥[3]

(अः) सीसीद्यां राणो प्यालो म्हाने क्यूंरें पठायो।
भलो बुरी तो मैं नही कीन्हीं राणा क्यूं है रिसायो ॥
थांने म्हाने देह दिवी है ज्यां रो हरि गुण गायो।
कनक कटोरे ले विष घोल्यौ दयाराम पंडो लायो।[4]

पूर्व भक्तों का निर्देश

(अ) धना भगत पीपा पुन सेवरो मीरां की हू करो गनना।[5]

(आ) पीपा कूं प्रभु परच्यौ दीन्हो दिया रे खजीना पूर।[6]

(इ) दास कबीर घर बालद जो लाया नामदेव की छान छवन्द।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनन्द ॥[7]

(ई) धना भक्त का खेत जमाया कबिरा बैल चराया।[8]

(उ) सदना और सेना नाई को, तुम लीन्हा अपनाई ॥[9]

वैराग्य

(अ) माता पिता परिवार सूं रे रही तिनका तोड़।[10]

(आ) तुम तजि और भतार को मन में नहि आनौं हो।[11]

(इ) पीहर बसूं न बसूं सास घर सतगुरु शब्द सँगाती।
ना घर मेरा ना घर तेरा मीरा हरि रँग राती ॥[12]

(ई) तेरी सुरत के कारणे धर लिया भगता भेस ॥[13]

---

१ मीराँबाई की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) तीसरा संस्करण, सन् १६२०, पृष्ठ ६५
२ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७
३ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७
४ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७
५ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ २
६ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ १५
७ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३६
८ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ७०
९ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ७०
१० मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५
११ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ८
१२ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ १०
१३ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ १२

(उ) मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गया ज्यूं तागा ।[१]
(ऊ) मात पिता और कुटुम्ब कबीलो सब मतलब के गरजी ।[२]
(ऋ) भाभी मीरा साधाँ का संग निवार । सारो सहर थांरी निन्दा करै ।[३]
(ॠ) साधू संगत महँ दिल राजी भई कुटुंब सूं न्यारी ।[४]
(ऌ) मीरां सूं राणा ने कही रे सुण मीरां मोरी बात ।
साधों की संगति छोड़ दे रे सखियां सब सकुचात ॥[५]
(ॡ) भाव भगत भूषण सजे सील सन्तोष सिंगार ।
ओढ़ी चूनर प्रेम की गिरिधर जी भरतार ॥
ऊदाबाई मन समझ जावो अपने धाम ।
राज पाट भोगो तुम्हीं हमें न तासूँ काम ॥[६]
(ए) छापा तिलक बनाइया तजिया सब सिंगार ।
मैं तो सरने राम के भल निन्दो संसार ॥[७]
(ऐ) सासु लड़े मेरी नणद खिजावे राणा रह्या रिसाय ।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्‌यो ताला दियो जड़ाय ॥[८]

अन्तर्साक्ष्य के इन प्रमाणों से मीरां की जीवनी के संबंध में निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं :—

मीरांबाई राजस्थान के गौरवपूर्ण राठौड़वंश में उत्पन्न हुई थीं । इनकी जन्म-भूमि मेड़ता थी इसीलिए इनका नाम मेड़तणी जी भी था । माता-पिता का वियोग अल्प काल ही में इन्हें सहन करना पड़ा । इनका विवाह सीसोदिया वंश में हुआ था और इनके पति हिन्दू जाति के सूर्य (हिंदुवाणी सूरज) थे । इनके हृदय में श्रीकृष्ण की भक्ति स्थान पा गई थी । यह भक्ति रैदास जैसे सतगुरु मिलने से और भी बढ़ गई थी । भक्ति-मार्ग में इन्हें अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं । इनकी ननद-ऊदाबाई तथा सास ने इन्हें भक्ति-मार्ग छोड़ने के लिए बहुत कहा-सुना, पर इन्होंने उससे मुख न मोड़ा । ये साधु सत्संग करती ही रहीं । राणा ने राज्य-वंश की मर्यादा रखने के लिए मीरां से बैरागियों का साथ छोड़ने के लिए कहा, पर यह मीरां ने अस्वीकार किया । क्रुद्ध होकर मीरां को मारने के लिए राणा ने विष का प्याला भेजा, मीरां ने उसे चरणामृत मान कर पी लिया । उस विष का प्रभाव मीरां पर

१ मीराँबाई की शब्दावली, (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद) तीसरा संस्करण, सन् १९२०, पृष्ठ २९
२ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३७
३ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३८
४ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४०
५ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४०
६ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४२
७ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६०
८ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६८

कुछ भी नहीं हुआ। राणा ने फिर मीरां के मारने को एक पिटारे में साँप भेजा, पर मीरां ने ज्योंही पिटारा खोला, उन्हें उसमें फूल की एक माला मिली। मीरां ने कुल, लज्जा और वंश की मर्यादा भूल कर श्रीकृष्ण की भक्ति में वैराग्य धारण कर लिया।

अंतर्साक्ष्य में मीरां ने अपने वैधव्य का वर्णन नहीं किया। उन्होंने जब श्रीकृष्ण को अपना पति मान लिया था, फिर वैधव्य कैसा? इसी प्रकार उन्होंने अत्याचार करने वाले राणा का नाम भी नहीं लिखा। केवल 'सीसोद्यो' ही कह कर उन्होंने राणा का संकेत कर दिया है।

बाह्यसाक्ष्य के अनुसार मीरां का जीवन-वृत्त अनेक अलौकिक घटनाओं से पूर्ण है। कहीं-कहीं वह केवल परिचयात्मक है, उसमें तिथि आदि का कोई निर्देश नहीं है।

नाभादास के 'भक्तमाल' में मीरांबाई पर यह छप्पय मिलता है:—

> लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी॥
> सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहिं दिखायो।
> निर अंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
> दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
> बार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो॥
> भक्ति निशान बजाय कैं, काहूँ ते नाहिन लजी।
> लोक लाज कुल शृंखला तजि मीरां गिरिधर भजी।[1]

इस छप्पय के अनुसार मीरां का भक्ति-भावना में लीन होकर विषपान करना सिद्ध होता है। मीरां ने अपने गिरिधर की भक्ति में तो लोकलाज छोड़ ही दी थी।

इस छप्पय पर प्रियादास ने जो 'टीका' लिखी है, उससे मीरां का परिचय अधिक विस्तार में मिलता है:—

(१) 'मेरतौं जनम भूमि' भूमि हित नैन लगे,
पगे गिरधारी लाल पिता ही के धाम मैं।[2]

(२) 'राना कै सगाई भई' करी ब्याह सामा नई,
गई मति बुड़ि व रँगीले घनश्याम मैं॥[3]

(३) 'देवी के पुजायबे को' कियो लै उपाय सासु,
वर पै पुजाइ पुनि बधू पूजि भाखिये॥[4]

---

१ भक्तमाल सटीक (नाभादास), पृष्ठ ६९४
२ भक्तमाल सटीक (नाभादास), पृष्ठ ६९५
३ भक्तमाल सटीक (नाभादास), पृष्ठ ६९५
४ भक्तमाल सटीक (नाभादास), पृष्ठ ६९७

(४) आय कै ननँद कहै गहै किन चेत भाभी,
साधुन सो हेतु में कलंक लागै भारिये ।[१]
(५) सुनि कै, कटोरा भरि गरल पठायो,
लियो करि पान रँग चढ्यो को निहारिये ॥[२]
(६) रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये,
लिये संग तानसेन देखिबे को आयो है ।[३]
(७) वृन्दावन आई जीव गुसांई जू सों मिली झिली,
तिया मुख देखबे को पन लै छुटायो है ।[४]
(८) राना कों मलीन मति देख बसी द्वारावति,
इति गिरधारी लाल नित ही लड़ाइये ।[५]
(९) सुन बिदा होन गई राय रणछोर जू पै,
छाँड़ौं राखो हीन लीन भई नही पाइये ।[६]

अन्तर्साक्ष्य के अतिरिक्त प्रियादास की 'टीका' में चार बातें नवीन मिलती है :—

(१) अकबर का तानसेन के साथ मीरांबाई से मिलना ।
(२) मीरांबाई का श्रीजीव गुसांई से मिलना ।
(३) मीरांबाई का द्वारिका में निवास करना ।
(४) मीरांबाई का रणछोड़ जी के मन्दिर में अदृश्य होना ।

'भक्तमाल' के टीकाकार श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद ने यह भी लिखा है कि गनगौर की पूजा न करने पर मीरां की सास ने जब अपने पति से मीरां की शिकायत की तब बात यहाँ तक बढ़ी कि "मीरां जी के लौकिक पति राना के कुमार ने दूसरा विवाह कर लिया और इस संसार से भी चल दिया ।"[७] उपर्युक्त चार बातों की पुष्टि तो जनश्रुति से हो जाती है, किन्तु 'राना के कुमार' के दूसरे विवाह की पुष्टि किसी प्रकार भी नहीं होती ।

'भक्तमाल' के टीकाकार के अनुसार प्रभु ने सप्रेम प्रार्थना सुन मीरां जी को सदेह अपनी मूर्ति में (प्रायः संवत् १६५३) लीन कर लिया, मीरां जी का केवल एक वस्त्र प्रभु के बाहर रह गया ।[८]

१ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ६९९
२ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ६९९
३ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७०२
४ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७०२
५ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७०३
६ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७०३
७ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ६८९
८ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७०४

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में मीरांबाई पर कोई स्वतन्त्र वार्ता नहीं है, पर मीरांबाई के संबन्ध में निम्नलिखित अवतरण मिलते हैं :—

(१) गोबिंद दुबे साचोरा ब्राह्मण तिनकी वार्ता

और एक समय गोविंद दुबे मीरांबाई के घर हुते तहाँ मीरांबाई सो भगवद्वार्ता करत अटके तब श्री आचार्य जी ने सुनी जो गोबिंद दुबे मीरांबाई के घर उतरे हैं सो अटके हैं तब श्री गुसांई जी ने एक श्लोक लिखि पठायो सो एक ब्रजवासी के हाथ पठायौ तब वह ब्रजवासी चल्यौ सो वहाँ जाय पहुँचौ ता समय गोबिंद दुबे संध्यावन्दन करत हुते तब ब्रजवासी ने आय के वह पत्र दीनों सो पत्र बांचि के गोबिंद दुबे तत्काल उठे तब मीरांबाई ने बहुत समाधान कीयो, परि गोबिंद दुबे ने फिर पाछें न देख्यो ।।प्रसंग।।२।।[1]

(२) अथ मीरांबाई के पुरोहित रामदास तिनकी वार्ता

सो एक दिन मीरांबाई के श्री ठाकुर जी के आगे रामदास जी कीर्तन करत हुते सो रामदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के पद गावत हुते तब मीरांबाई बोली जो दूसरो पद श्री ठाकुर जी को गावो तब रामदास जी ने कह्यो मीरांबाई सो जो अरी यह कोन को पद है । जा आज ते तेरो मुहड़ौ कबहूँ न देखूंगो...मीरांबाई ने बहुत बुलाये परि वे रामदास जी आये नाहीं तब घर बैठे भेंट पठाई सोई फेरि दीनी और कह्यो जो रांड तेरो श्री आचार्य जी महाप्रभून ऊपर समत्व नहीं जो हमको तेरी वृत्ति कहा करनी है ।[2]

(३) अथ कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता

सो वे कृष्णदास शूद्र एक बेर द्वारिका गये हुते सो श्री रणछोर जी के दर्शन करिके तहाँ ते चले सो आपन मीरांबाई के गाँव आयौ सो वे कृष्णदास मीरांबाई के घर गये तहाँ हरिवंश व्यास आदि दे विशेष सह वैष्णव हुते...और कृष्णदास ने तौ आवत ही कही जो हूँतौ चलूंगौ तब मीरांबाई ने कही बैठो तब कितने कमहौर श्री नाथजी को देन लागी सो कृष्णदास ने न लीनी और कह्यो जो तू श्री आचार्य जी महाप्रभून की सेवक नाही होत ताते तेरी भेंट हम हाथ ते छवेंगे नाहीं सो ऐसे कहि के कृष्णदास उहाँ ते उठि चले ।[3]

'दो सौ बावन बष्णवन की वार्ता' में भी तीन स्थानों पर मीरांबाई का उल्लेख है :—

---

१ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, (नं० ४१) पृष्ठ १६२

२ चौरासी वैष्णवन की वार्ता (नं० ५४) पृष्ठ २०७-२०८

३ चौरासी वैष्णवन की वार्ता (नं० ६२) पृष्ठ ३४२-३४३

(१) श्री गुसांई जी के सेवक हरिदास बनियाँ तिनकी वार्ता

सो वे हरिदास बनियाँ मेरता गाम में रहते ।। वा गाम में एक ही वैष्णव हतो ।। और वा गाम को राजा जैमल हतो सो स्मार्तधर्म में हतो ।। एकादशी पहेली करते हते ।। और जैमल राजा की बेन के घर हरिदास बनियां के सामें हुतो ।। सो जब श्री गुसांई जी हरिदास के घर पधारे हुते तब जमल की बेन कुंबारी में सूं श्री गुसांई जी के साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम के दर्शन भए ।। जब जैमल की बेन ने पत्र द्वारा श्री गुसांई जी को वीनती लिख के पत्र द्वारा सेवक भये इतने में श्री गुसांई जी द्वारका सों मेरते पधारे और सब कुटुंब सहित गाम सहित जैमल जी वैष्णव भए ।[1]

(२) श्री गुसांई जी सेवक अजब कुँवर बाई तिनकी वार्ता

सो वे अजब कुंवर बाई मेवाड़ में रहेती हती मीरांबाई की देरानी हती ।[2]

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के पृष्ठ ४३४-४३५ में पुनः रामदास वैष्णव और मीरांबाई के बीच वाग्युद्ध की चर्चा है ।

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) मीरांबाई पुष्टिमार्ग में नहीं थी । इसलिए पुष्टिमार्ग के संत जब मीरांबाई से प्रायः मिलते थे तब वे मीरांबाई का अपमान करते थे ।

(२) मीरांबाई द्वारिका में भी थीं, क्योंकि कृष्णदास अधिकारी द्वारिका में उनसे मिले ।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' से निम्नलिखित बातें मालूम होती हैं :—

(१) मीरांबाई (जिनका नाम प्रसंग में नहीं दिया) राजा जयमल की बहिन थी और मेड़ता में रहती थीं । वे परदे में रहती थीं, अतः पत्र द्वारा उन्होंने श्रीगोसांई विट्ठलनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया था । मेड़ता के राज जयमल जो पहले स्मार्त थे, पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए ।

(२) मीरांबाई की देवरानी का नाम अजब कुँवर बाई था ।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' की प्रामाणिकता संदिग्ध है, अतः उपर्युक्त निष्कर्ष भी प्रामाणिक नहीं है । इस प्रमाण से जो बातें भी ज्ञात होती हैं वे विशेष महत्त्व की नहीं हैं । इन वार्ताओं से यही ज्ञात होता है कि मीरांबाई गोकुलनाथ की समकालीन थीं ।

वेणीमाधव दास ने भी अपने 'गोसांई चरित' में मीरां के सम्बन्ध में दो दोहे लिख हैं :—

तब आयो मेवाड़ ते विप्र नाम सुखपाल । मीराबाई पत्रिका लायो प्रेम प्रबाल ।।
पद पाती उत्तर लिखे गीत कवित्त बनाय ।

---

१ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (नं० १५), पृष्ठ ६४-६६

२ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (नं० ४७), पृष्ठ १०६

सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिया विप्र पठाय ॥[1]

यह निर्देश संवत् १६१६ और १६२८ के बीच का है।

इस निर्देश से ज्ञात होता है कि मीरांबाई और तुलसीदास में पारस्परिक पत्र-व्यवहार हुआ था और मीरांबाई सं० १६१६ के बाद भी वर्तमान थीं। उस पत्र-व्यवहार को जनश्रुति ने यह रूप दे दिया है :—

मीराँबाई का पत्र

श्री तुलसी सब सुख निधान, दुख हरन गुसांई।
बारहिं बार प्रनाम करूं अब हरो शोक समुदाई ॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करन मोंहि देत क्लेश महाई ॥
बालपने तैं मीरां कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तौ अब छूटत नहिं क्योंहू लगी लगन बरियाई ॥
मेरे मात पिता के सम हौ, हरि भक्तन सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखियो समझाई ॥

तुलसीदास का उत्तर

पद

जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजबनिता, भये सब मंगलकारी ॥
नातों नेह राम सों मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहाँ आँखि जौ फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासो होय सनेह राम पद एतो मतो हमारो ॥

सवैया

सो जननी सो पिता सोइ भ्रात सो भामिन सों सुत सो हित मेरो।
सोई सगो सो सखा सोई सेवक सो गुरु साहब चेरो ॥
सो तुलसी प्रिय प्रान समान कहाँ लौं बनाइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि गेह को देह को नेह सनेह सो राम को होय सबेरो ॥

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मीरां की शब्दावली में इस घटना का निर्देश नहीं है। मीरांबाई के पत्र की उपर्युक्त पंक्तियाँ भी मीरां की शब्दावली में प्राप्त नहीं होतीं।

संवत् १८०० के लगभग दयाराम ने 'मीरां चरित्र' और राधाबाई ने 'मीरां माहात्म्य' लिखा किन्तु जनश्रुति के अनुसार मीरां की भक्ति और विष-पान प्रसंग को

---

१ गोसांई चरित, दोहा ३१,३२

छोड़ कर कोई विशेष महत्त्वपूर्ण बात नहीं लिखी गई। इसी समय दयाराम ने 'भक्तवेल' नाम का ग्रंथ लिखा, उसमें ५ से २१ छंदों में केवल मीराँ के विष-पान का उल्लेख है। दयाबाई ने संवत् १८१० के लगभग 'विनय मालिका' की रचना की। उसमें भी मीराँ के विष-पान का निर्देश है :—

विष को प्याला घोर के राणा भेज्यो छान। मीरां अँचयो राम कहि हो गयो सुधा समान॥

ध्रुवदास ने अपनी 'भक्तनामावली' में मीराँबाई के चरित्र का कुछ संकेत किया है :—

लाज छांड़ि गिरिधर भजी करी न कछु कुल कानि।
सोई मीरा जगविदित प्रगट भक्ति की खानि॥
ललिता हूँ लइ बोलि कैं तासौं हौ अति हेत। आनँद सों निरखत फिरै वृन्दावन रस खेत॥
नृत्यत नूपुर बाँध कै गावत लै करतार। विमल होय भक्तन मिल्यौ तृन सम गन्यो संसार॥
बन्धुनि विष ताकौं दयौ विचार चित आन।
सो विष फिर अम्रत भयो तब लागे पछितान॥[१]

मीरांबाई का प्रथम ऐतिहासिक संबद्ध विवरण कर्नल टाड ने अपने 'एनल्स ऐण्ड एन्टिक्विटीज ऑव् राजस्थान' में दिया है। वे लिखते हैं—"राणा कुम्भ ने मेड़ता के राठौर की लड़की मीरांबाई से विवाह किया, जो अपने समय में अपनी भक्ति और सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी।"[२] विलियम क्रुक ने इस अवतरण पर प्रकाश डालते हुए हरविलास सारदा का मत भी लिख दिया है, जिसके अनुसार मीराँबाई कुम्भ की स्त्री न होकर राणा सांगा के पुत्र भोजराज की स्त्री थीं। हरविलास सारदा के मतानुसार मीराँ राव दूदा (सन् १४६-१६२) के चौथे पुत्र रत्नसिंह की पुत्री थीं। उनका विवाह भोजराज के साथ सन् १५१६ में हुआ और उनकी मृत्यु सन् १५४६ में हुई।[३]

श्री नरोत्तमदास स्वामी ने भक्त कवि हरिदास के भजन के आधार पर उपर्युक्त कथन की पुष्टि की है। श्री हरीदास का ठीक पता ज्ञात नहीं होता; इनका समय भी निश्चित नहीं है। श्री हरीदास का भजन बीकानेरस्थ शान्ति आश्रम के सरस्वती भवन में एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ में मिलता है। उसमें संत और भक्त कवियों के भजनों का संग्रह है। उसमें पुराने कवियों के पदों का संग्रह होने के कारण, कवि हरिदास के भी पुराने होने का अनुमान है। श्री हरिदास के भजन में मीराँ के

---

१ भक्त नामावली (सिलेक्शन फ्राम हिन्दी लिट्रेचर पुस्तक २) पृष्ठ ३७४ लाला सीताराम बी० ए०

२ एनल्स ऐण्ड एंटिक्विटीज ऑव् राजस्थान (जेम्स टाड, विलियम क्रुक द्वारा संपादित) भाग १, पृष्ठ ३३७

३ महाराणा साँगा (हर विलास सारदा, पृष्ठ ९५-९६ अजमेर) (१९१८)

पति का नाम 'भोजराइ जी' स्पष्ट शब्दों में दिया हुआ है। वह पद इस प्रकार है :—

> अ राणी गढ़ चीतोड़ा की। मेड़तणी निज भगति कुमावै भोजराइजी का जोड़ा की॥
> हिंमरू सिमरू साल दुसाला बैठण गादी मोड़ा की॥
> असा सुख छाड़ि भयी वैरागिणि सादी नरपति जोड़ा की॥
> साइण वाइण रथ पालकी कभी न हसती घोड़ा की।
> सब सुख छाड़ि छनक मैं चाली लाली लगायी रणछोड़ा की॥
> ताक बजावै गोविंद गुण गावै लाज तजी बड़ल्होड़ा की।
> निरति करै नीकां होइ नाचै भगति कुमावैं बाई चोड़ा की॥
> नवा नवा भोजन भाँति भाँति का करिहैसार रसोड़ा की॥
> करि करि भोजन साध जिमावै भाजी करत गिंदोड़ा कीं॥
> मन धन सिर साँधा कै अरपण प्रीति नहीं मन थोड़ा की।
> हरीदास, मीरां बड़ा भागणि सब राण्याँ सिरमोड़ा की॥[1]

टाड ने अपने राजस्थान के तीसरे भाग में राणा कुम्भ के बनवाये हुए मन्दिर का उल्लेख किया है।[2] उस मन्दिर के समीप एक छोटा मन्दिर और है, जो मीरांबाई के द्वारा बनवाया हुआ कहा जाता है। इस संबन्ध में रायबहादुर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'राजपूताने का इतिहास' में लिखा है :—

"लोगों में यह प्रसिद्धि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराणा कुंभ ने और छोटा उसकी राणी मीरांबाई ने बनवाया था, इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नल टाड ने मीरांबाई को महाराणा कुंभा की राणी लिख दिया है, जो मानने के योग्य नहीं है। मीरांबाई महाराणा संग्राम सिंह (सांगा) के ज्येष्ठपुत्र भोजराज की स्त्री थी।"[3]

जो मन्दिर मीरांबाई के द्वारा बनवाया गया कहा जाता है, वह वास्तव में राणा कुंभ के द्वारा ही सम्वत् १५०७ में बनवाया गया था। इस प्रकार कुंभ स्वामी और आदिवराह के दोनों मन्दिर, (पोल) विशिखा सम्वत् १५०७ में राणा कुंभ के द्वारा बनवाये गये थे।[4] उन पर ये प्रशस्तियाँ हैं :—

कुम्भ स्वामी—

> कुंभ स्वामिन आलयं व्यरचयच्छी कुम्भकर्णो नृपः॥

आदि वराह—

> अकारयच्चादि वराह गेहमनेकधा श्रीरमणस्य मूर्तिः—

---

१ राजस्थानी, भाग ३, पृष्ठ ४८

२ एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज आव् राजस्थान, भाग ३, पृष्ठ १८१८

३ राजपूताने का इतिहास (ओझा) दूसरा खंड, पृष्ठ ६७०

४ वर्षे पंचदसे शते व्यपगते सप्ताधिके कार्तिक—
स्याद्यानंगतिथौ नवीन विशिर्षां (खां) श्री चित्रकूटे व्यधात् ॥१८४॥
—राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ ६२२

जिस समय इन मन्दिरों का निर्माण हुआ, उस समय तो मीरांबाई का जन्म भी नहीं हुआ था, राणा कुंभ से विवाह होने की बात तो बहुत दूर है।[१]

शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में मीरांबाई का जीवन विवरण कर्नल टाड के 'राजस्थान' के आधार पर ही लिखा है। वे लिखते हैं:—

"मीरांबाई का विवाह संवत् १४७० के करीब राना मोकलदेव के पुत्र राना कुंभकर्ण सी चित्तौर-नरेश के साथ हुआ था। संवत् १४७५ में ऊदा राना के पुत्र ने राना को मार डाला।"[२]

कर्नल टाड के इतिहास ने ही मीरां के सम्बन्ध में भ्रान्तियों को जन्म दिया है। मीरां के प्रामाणिक जीवन-विवरण पर हरविलास सारदा और मुंशी देवीप्रसाद ने प्रकाश डाला है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने तो 'राजपूताने का इतिहास' लिखते हुए मीरां के जीवन की अनेक भ्रान्तियों का निराकरण किया।

मुन्शी देवीप्रसाद ने भी 'मीरांबाई का जीवन-चरित्र' में यह लिखा है :—

"यह बिलकुल गलत है, क्योंकि राणा कुंभा तो मीरांबाई के पति कुंवर भोजराज के परदादा थे और मीरांबाई के पैदा होने से २५ या ३० बरस पहले मर चुके थे, मालूम नहीं कि यह भूल राजपूताने के ऐसे बड़े तवारीख लिखने वाले से क्योंकर हो गई...राणा कुंभा जी का इन्तकाल सं० १५२५ में हुआ है उस वक्त तक मीरांबाई के दादा दूदा जी को मोड़ता मिला ही नहीं था। इसलिए मीरांबाई राणा कुंभा की राणी नहीं हो सकतीं।"[३]

अभी तक की खोज के अनुसार मीरां के जीवन-वृत्त का यह रूप है :—

राव जोधा जी जोधपुर के संस्थापक थे। उनके पुत्र राव दूदा जी बड़े पराक्रमी थे। उन्होंने अपने पराक्रम से मेड़ते में राज्य स्थापित किया था। राव दूदा जी के चतुर्थ पुत्र का नाम था रत्नसिंह। उन्हें मेड़ता राज्य की ओर से १२ गाँव निर्वाह के लिए मिले थे।[४] उन गाँवों का नाम था कुड़की। उसी कुड़की गाँव में सम्वत् १५५५ के लगभग रत्नसिंह के गृह में एक पुत्री हुई, उसका नाम रखा गया मीरां।

मीरां की बाल्यावस्था ही में उनकी माँ का देहान्त हो गया था।[५] अतएव

---

१ महाराणा कुम्भा वि० सं० १५२५ (सन् १४६८) में मारा गया, जिसके ६ वर्ष बाद मीरां के पिता के बड़े भाई वीरमदेव का जन्म हुआ था। ऐसी दशा में मीरांबाई का महाराणा कुम्भ की राणी होना सर्वथा असंभव है। राजपूताने का इतिहास, पृष्ठ ६७१

२ शिवसिंह सरोज, पृष्ठ ४७५

३ मीरांबाई का जीवन-चरित्र (मुंशी देवीप्रसाद) (लखनऊ, संवत् १६५५) पृष्ठ ३१-३२

४ उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृष्ठ ३५६

५ देवीप्रसाद कृत मीरांबाई का जीवन-चरित्र।

मीरां का क्रीड़ा-स्थल माँ की गोद से हट कर पितामह दूदा जी की गोद में आ गया। दूदा जी बड़े भारी वैष्णव थे। निरन्तर उनके साथ रहने के कारण बालिका मीरां में भी वैष्णव धर्म के तत्त्वों का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ। मीरां के जीवन में इसी घटना का प्राधान्य हो गया था, यह बात ध्यान में रखने योग्य है।

दूदा जी की मृत्यु के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव जी राज्य-सिंहासनासीन हुए। उन्होंने १८ वर्ष की अवस्था में मीरां का विवाह चित्तौड़ के महाराजा सांगा जी के ज्येष्ठ कुमार भोजराज के साथ कर दिया।[1] विवाह के कुछ वर्षों बाद संभवतः १५८० संवत् के लगभग भोजराज का देहान्त हो गया। उसी समय से मीरां के हृदय में अलौकिक भक्ति का उदय हुआ, जिसने उन्हें हिन्दी साहित्य में अमर कर दिया।

संवत् १५८४ में बाबर और साँगा के युद्ध में मीरां के पिता रत्नसिंह मारे गये। उधर ससुर साँगा का भी देहान्त हो गया।[2] साँगा के बाद भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह मेवाड़ के राजा हुए। संवत् १५८८ में रत्नसिंह का भी देहान्त हो गया। फलतः रत्नसिंह के सौतेले भाई विक्रमादित्य चित्तौड़ के राजा हुए।

राज्यासन के इस प्रकार शून्य और अलंकृत होने की सन्धि में—राज्य का उत्थान और पतन होने के परिवर्तन-काल में—मीरां की भक्ति का स्रोत वेगवान नदी के समान तीव्र वेग से बहने लगा था। साधु-सन्दर्शन, कृष्ण-कीर्तन के आध्यात्मिक प्रवाह में बह कर वे संसार की असारता का स्वप्न देखा करती थीं। इनके भजनों की लहर में भक्ति की ऐसी धाराएँ उठी कि उनसे न जाने कितनी पापात्माएँ पुण्य के उज्ज्वल रंग में रंग गईं। साधु-सन्तों का समागम उस समय चित्तौड़ के महाराणा विक्रमादित्य जी सहन नहीं कर सके, उन्होंने मीरां को समझाने का बहुत प्रयत्न किया। अनेक स्त्रियों को भेजा, स्वयं अपनी बहिन ऊदाबाई को भी समीप रखा, पर कुछ फल नहीं हुआ। कहते हैं, क्रोध में आकर राना ने विष भेजा, यह कह कर कि वह भगवान् का चरणामृत है। मीरांबाई ने उसे सहर्ष पान कर लिया। उनके लिए वह अमृत हो गया। कुछ लोगों का मत है कि इसी विष से मीरां का अन्त हुआ, पर मीरां नें इस घटना का निर्देश किया है। भाव-भाषा-शैली के विचार से उस पद की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं होते।

म्हाँरे सिर सालिगराम,
राणा जी म्हाँरो काँई करसी।
मीराँ सूँ राणा ने कही रे सुण मीराँ मोरी बात।
साधों की संगत छोड़ दे रे, सखियाँ सब सकुचात॥

---

१ उदयपुर का इतिहास (ओझा) पृष्ठ ३५८-३६०

२ तुजुक बाबरी, पृ० ५७३।

मीराँ ने सुन यों कही रे, सुन राणा जी बात। साध तो भाई बाप हमारे, सखियाँ क्यूँ घबरात ॥
जहर का प्याला भेजिया रे, दीजो मीराँ हाथ। अमृत करके पी गई रे, भली करें दीनानाथ ॥
मीराँ प्याला पी लिया रे, बोलौ दोउ कर जोर। तैं तो मरण की करी रे, मेरो राखण हारो और ॥[१]

जिस समय मीरांबाई इस उलझन में थीं, उसी समय मीरां के कष्ट सुनकर वीरमदेव ने मीरां को चित्तौड़ से बुला लिया और वे उन्हें बड़े प्रेम से रखने लगे। मीरां के चित्तौड़ से आ जाने पर उस पर बड़ी विपत्तियाँ आईं। गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ छीन लिया। अंत में विक्रमादित्य जी मारे गये।

इधर जोधपुर के राव मालवदेव ने वीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। इन दोनों स्थानों में विपत्तियों के बादलों ने मीरां का मुख मलीन कर दिया। उनके हृदय में वैराग्य का अंकुर फूट निकला और उन्होंने वृन्दावन और द्वारिका तीर्थ करने के लिए अपनी जीवन-नौका अनिश्चित परिस्थिति-प्रवाह में डाल दी।

कुछ वर्षों बाद चित्तौड़ और मेड़ते में पुनः वैभव और श्री का साम्राज्य हुआ। वहाँ से मीरां को बुलाने के लिए अनेक आदमी भेजे गये। कहते हैं, चित्तौड़ से आए हुए कुछ ब्राह्मणों ने मीरांबाई के सम्मुख सत्याग्रह कर दिया। उन्होंने कहा जब तक आप चित्तौड़ न लौट चलेंगी हम लोग अन्न-जल भी ग्रहण न करेंगे। मीरांबाई ने हार मान कर चलना स्वीकार किया, पर रणछोड जी से मिलने के लिए वे मन्दिर में चली गई। वहाँ विरह के आवेश में इतनी मग्न हुई कि कहते हैं मूर्ति ने उन्हें अपने में अन्तर्हित कर लिया। इस प्रकार मीरां ने अपनी जीवन-लीला संवत् १६०३ में समाप्त की।

मुंशी देवी प्रसाद मुंसिफ ने भी उनका देहांत संवत् १६०३ माना है। बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित 'संतबानी' सीरीज की 'मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र' में इस पर आपत्ति की गई है। उसमें लिखा है :—

"मुन्शी देवीप्रसाद जी मुंसिफ राज जोधपुर ने इनके जीवन-चरित्र में एक भाट के जबानी लिखा है[२] कि इनका देहांत संवत् १६०३ विक्रमी अर्थात् सन् १५४६ ई० में हुआ; परन्तु भक्तमाल से इन दो बातों का प्रमाण पाया जाता है :—

(१) अकबर बादशाह तानसेन के साथ इनके दर्शन को आया।

(२) गुसांई तुलसीदास जी से इनका परमार्थी पत्र-व्यवहार था।

समझने की बात है कि अकबर सन् १५४२ ई० में पैदा हुआ सन् १५५६ ई० में तख्त पर बैठा और गुसांई तुलसीदास सन् १५३३ ई० (सम्वत् १५८९ वि०)

---

१ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४०-४१

२ राठाड़ों का एक भाट जिसका नाम भूरिदास है गाँव लूणवे परगने भारोठ इलाके मारवाड़ में रहता है। उसकी जबानी सुना गया कि मीराँबाई का देहान्त सं० १६०३ में हुआ था और कहाँ हुआ यह मालूम नहीं।

—मीराँबाई का जीवन-चरित्र, पृष्ठ २८

में पैदा हुए तो यदि मीरांबाई के देहान्त का समय सन् १५४६ ई० में मान लिया जाय तो अकबर की उम्र उस समय चार बरस की होती है और गुसांई जी की १४ बरस की, जो कि न तो अकबर को साधु-दर्शन की उमंग उठने की अवस्था मानी जा सकती है और न गुसाँई जी की भक्ति और कीर्ति की प्रसिद्धि का समय कहा जा सकता है। इसलिए हमको भारतेंदु श्रीहरिश्चन्द्र जी स्वर्गवासी का अनुमान कि मीरांबाई ने संवत् १६२० और १६३० विक्रमी दर्मियान शरीर त्याग किया, ठीक जान पड़ता है जैसा कि उन्होंने उदयपुर दरबार की सम्मति से निर्णय किया था और कवि-बचन-सुधा की एक प्रति में छापा था।"[1]

वेणीमाधवदास के 'गुसांईचरित' में तुलसीदास जी की जन्म-तिथि इस प्रकार दी गई है :—

पन्द्रह से चउवन विषैं कालिंदी के तीर। स्रावन सुक्ला सत्तमी, तुलसी धरेउ शरीर ॥[2]

इसके अनुसार तुलसीदास की जन्म-तिथि संवत् १५५४ है। यदि मीरांबाई ने संवत् १६०३ में अनन्त यात्रा की, जैसा मुंशी देवी प्रसाद लिखते हैं, तो उस समय तुलसीदास की आयु ४८ वर्ष की होगी। उस समय तक तुलसीदास काफी ख्याति पा चुके होंगे और वैष्णव धर्म के बड़े भारी साधु गिने जाते होंगे, अतएव मीरां और तुलसीदास में पत्र-व्यवहार होना संभव है, किन्तु वेणीमाधवदास की इस तिथि पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

रही अकबर से मिलने की बात। यह बात अवश्य है कि अकबर सन् १५४२ ई० में अमरकोट में पैदा हुआ। इस तिथि के अनुसार वह मीरां की मृत्यु के समय ४ वर्ष का अवश्य रहा होगा। इतनी छोटी सी आयु में वह मीरां से मिलने की इच्छा रखने में असमर्थ होगा। यदि नाभादास के भक्तमाल की यह बात कि अकबर तानसेन के साथ मीरां से मिलने आया सत्य है तो मीरां की मृत्यु संवत् १६०३ के बहुत पीछे होनी चाहिए। उस स्थिति में भारतेन्दु की तिथि का सहारा लेना पड़ता है।

हरविलास सारदा आदि इतिहासज्ञों ने मीरांबाई की मृत्यु तिथि के विषय में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। जब प्रियादास आदि भक्तों ने मीरांबाई के अकबर से मिलने का उल्लेख किया है, तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निर्णय की सार्थकता ज्ञात होती है। सर मानियर विलियम्स ने मीरां को अकबर का समकालीन माना है।[3] अतः मीरां की मृत्यु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कथनानुसार संवत् १६२०

---

१ मीरांबाई की शब्दावली और जीवन-चरित्र, पृष्ठ १-२

२ गोसांई चरित, दोहा २

३ ब्रह्मनिज्म एण्ड हिंदूइज्म, पृष्ठ २६८ (मानियर विलियम्स)

से संवत् १६३० तक मानना उचित है । बृहत् काव्य दोहन में भी यह बात मानी गई है ।[1]

इसके अनुसार मीरांबाई की आयु अधिक से अधिक (संवत् १५५५-१६३०) ७५ वष होती है जो किसी प्रकार भी अधिक नहीं कही जा सकती ।

मीरांबाई के ग्रन्थ

मीरांबाई के ग्रंथों की प्रामाणिकता संदिग्ध है । मीरांबाई के समकालीन और परवर्ती संतों ने मीरां के नाम से पद-रचना कर मीरां की कविता दूषित कर दी है । आवश्यकता इस बात की है कि मीरां के समय में प्रचलित भाषा के व्याकरण के आधार पर मीरां के उन पदों का संग्रह किया जावे जिनमें मीरां का दृष्टिकोण है । अभी तक की खोज से मीरांबाई के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं :—

१. गीत गोविन्द की टीका

विषय—गीत गोविन्द की भाषा टीका ।[2]

२. नरसी जी का माहरा

बिषय—नरसी जी की भक्ति का वर्णन ।[3]

३. फुटकर पद

विषय—मीरांबाई आदि दस भक्तो के पदों का संग्रह ।[4]

४. राग सोरठ पद संग्रह

विषय—मीरां, कबीर, नानदेव के पद ।[5]

[विशेष— इसकी दो प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १६०२ की खोज रिपोर्ट में भी प्राप्त हुई हैं ।[6] खोज रिपोर्ट के अनुसार इस ग्रन्थ का नाम **राग सोरठ का पद है।**

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'राग गोविन्द' नामक एक ग्रन्थ का और उल्लेख किया है ।[7]

---

१ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो मारांना तानसेन तथा तुलसीदास साथे ना समागमो ने सत्य गणी मीरांनो शरीर त्याग संवत् १६२८ थी १६३० मध्ये थयानु अनुमाने छे अने तेने बहुजनो प्रामाणिक माने छे ।

बृहत् काव्य दोहन (मीरांबाई) भाग ७, पृष्ठ २४

२ राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज (मुंशी देवीप्रसाद) सम्वत् १९६८, पृष्ठ ५

३ राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज (मुंशी देवीप्रसाद) सम्वत् १९६८, पृष्ठ ६

४ राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज (मुंशी देवीप्रसाद) सम्वत् १९६८, पृष्ठ १२

५ राजपूताना में हिन्दी पुस्तकों की खोज, पृष्ठ १७

६ खोज रिपोर्ट सन् १९०२, पृष्ठ ८१

७ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १८४

गीति-काव्य के अनुसार मीरां की कविता आदर्श है। मीरां ने न तो रीति-शास्त्र की गवेषणा की और न अलंकार-शास्त्र की। उनके हृदय में निर्झर की भाँति भाव आए और अनुकूल स्थल पाकर प्रकट हो गये। भाव, अनुभाव, संचारी भावों के बादलों में उनकी कविता-चन्द्रिका नहीं छिपी, वरन् निरभ्र हृदयाकाश से बरस पड़ी। हृदय की भावना मन्दाकिनी की भाँति कलकल करती हुई आई और मीरां के कंठस्थ सरस्वती की संगीतधारा में मिल गई। वह भावना संगीत का सार बनी और उसी में मीरां के हृदय की अनुभूति मिली।

मीरां ने 'गिरधर गोपाल' को रिझाया है, उन्हें अपना लिया है। वे 'गिरधर गोपाल' को अपने पति के रूप में देखती हैं :—

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

माधुर्य भाव की उपासना के कारण उन्हें महाप्रभु चैतन्य से प्रभावित कहा जाता है, यद्यपि मीरां की व्यक्तिगत भावना अत्यन्त स्वतन्त्र है।

मीरां ने श्रृंगार-रस में अपनी लेखनी डुबा कर अपने भावों का प्रकाशन किया है, पर इस श्रृंगार में वासना की दुर्गंधि भी नहीं आने पाई। कविता में आत्म-निवेदन है, विरह है, पर वह है आध्यात्मिक, सांसारिक नहीं।

रैन अँधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निस जात।
लै कटारी कंठ चीरूँ करूँगी अपघात॥
पाट न खोल्या, मुखाँ न बोल्या, साँझ लाग परभात।
अबोलना में अवध बीती, काहे की कुशलात॥

यह विरह की सच्ची कहानी है। अन्धकारमय रजनी है। प्रियतम मौन है, हृदय में विरह-ज्वाला है। बेचारी विरहिणी आकाश के तारों पर दृष्टि डाल कर उन्हें गिन रही है। संध्या से प्रभात तक न प्रियतम ने द्वार ही खोला है और न मुख से एक शब्द ही कहा। सारा समय मौन ही में व्यतीत हो गया।

यह एक विरहिणी की स्वाभाविक उक्ति है, पर इसमें आध्यात्मिक तत्व की व्यथा भी सन्निहित है। पाट का अर्थ यदि माया के परदे से ले लिया जावे तो सारे पद पर आध्यात्मिक सत्य का प्रकाश पड़ जाता है और भौतिकता में अलौकिकता आ जाती है। यही मीरां की करुणा है, यही उसकी वेदना है और इसी वेदना के हटाने का उपाय मीरां स्वयं करती है :—

'मीरां की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद समलिया होय'

बात यह है कि मीरां अन्तस्थल से गाती है, उसे बाह्य श्रृंगार की परवाह नहीं है। वह प्रेम की योगिनी है। उसकी कविता प्रकृति के झरने के समान उमड़ पड़ती है।

---

१ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ २

मीरां एक कोकिला-सी बैठ कर अपने गिरिधर गोपाल का गीत गाती है। वह पृथ्वी पर नहीं है, वृक्ष की सबसे ऊँची डाल पर स्वर्ग के कुछ पास है।

मीरांबाई की रचनाओं में दो प्रकार के दृष्टिकोण पाये जाते हैं। पहला दृष्टिकोण तो वह है जिसमें मीरांबाई कृष्ण की भक्ति माधुर्य रूप में करती हैं। वे श्रीकृष्ण को पति मान कर उनसे प्रणय-भिक्षा माँगती हैं। 'जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई' की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने 'कुल की कान' छोड़ दी है। यह भावना संभव है चैतन्य महाप्रभु के माधुर्य भाव से ली गई हो। किन्तु मीरां का व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में इतना स्पष्ट है कि वे अपनी भक्ति-भावना में किसी से प्रभावित हुई नहीं ज्ञात होतीं। श्रीकृष्ण से होली खेलने की आकांक्षा उन्हें व्याकुल कर रही है। ऐसी स्थिति में उनकी भावना रहस्यवाद से बहुत मिलती है जिसमें विरहिणी आत्मा प्रियतम ईश्वर के वियोग में दुःखी है :—

होली पिया बिन लागै खारी।
सुनो री सखी मेरी प्यारी॥
सूनो गाँव देश सब सूनो, सूनी सेज अटारी।
सूनी बिरहन पिव बिन डोलै, तज दइ पीव पियारी॥
भई हूँ या दुःख कारी॥
देस विदेस सँदेस न पहुँचै, होय अँदेसा भारी।
गिणताँ घिस गईं रेखा, आँगरियाँ की सारी॥
अजहूँ नहिं आये मुरारी॥
बाजत झाँझ मृदंग मुरलिया, बाज रही इकतारी।
आई बसंत कंत घर नाहीं, तन मे जर भया भारी॥
स्याम मन कहा विचारी॥
अब तो मेहर करो मुझ ऊपर, चित दे सुणो हमारी।
मीरां के प्रभु मिलज्यो माधो, जनम जनम की कवाँरी॥
लगी दरसन की तारी॥[1]

ऐसे पदों में कृष्ण का स्वरूप पौराणिक कथाओं के अनुरूप नहीं है। उनमें न तो कृष्ण के विष्णु-रूप की भावना है और न शक्ति-रूप ही की। भगवान के समान अलौकिक घटनाओं का भी वातावरण नहीं है। न तो कृष्ण-लीला का वर्णन है और न कृष्ण के सख्य एवं वात्सल्य की भावना है। मीरां ने केवल व्यक्तिगत ईश्वर की भावना रक्खी है जिसमें रूप-सौंदर्य और प्रेमाभिव्यक्ति है। पदों में इष्टदेव का वर्णनात्मक रूप नहीं रक्खा गया, उनमें अनुभूति का चित्रण ही प्रधान है। मीरां की इस प्रकार की रचनाओं में हृदय की दयनीय परिस्थितियों का ही विशेष प्रदर्शन हुआ है।

---

१ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४३

दूसरा दृष्टिकोण वह है जिसमें उन्होंने सन्त-मत के अनुसार ईश्वर की भक्ति की है। सम्भव है संतों की भक्ति-भावना का प्रभाव उन पर पड़ा हो। ऐसे पदों में सन्त मत में प्रयुक्त रूपक और शब्दावली का ही प्रयोग अधिक पाया जाता है, पर मीरां की रचना में ऐसे पद कम हैं। उदाहरणार्थ एक पद इस प्रकार है :—

नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं साहिब पाऊँ ॥
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलकन नाऊँरी ॥
त्रिकुटी महल में बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री ॥
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री ॥
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर बार-बार बल जाऊँ री ॥[1]

काव्यत्व

गीति-काव्य—मीरांबाई की रचनाओं में राग-रागिनियों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है, क्योंकि मीरां की भक्ति में कीर्तन का प्रधान स्थान है। 'मीरां के प्रभु गिरिधर नागर' की भक्ति मन्दिर के कीर्तन के रूप में विशेष प्रसिद्ध है। साथ ही मीरां की गीति-काव्यमयी भावना के लिए रागों की उपयुक्त सृष्टि परमावश्यक है। इतना होते हुए भी मीरां में कलात्मक अंग कम है। यद्यपि विरह का वर्णन गोपिका-विरह के समान ही है तथापि इष्टदेव से दूर होने के कारण हृदय की दशा का ही मार्मिक चित्रण है। मीरां स्वयं स्त्री थीं, अतः उनके विरह-निवेदन में स्वाभाविकता है, सूर के समान कृत्रिमता या कल्पना नहीं। मीरां की स्वभावोक्ति चरम सीमा पर है।

व्यक्तिगत निर्देश—मीरां की रचनाओं में व्यक्तिगत निर्देश बहुत अधिक है। बहुत से पदों में तो मीरां और ऊदा का[2] अथवा मीरां और सास का[3] वार्तालाप ही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त 'जहर का प्याला' अथवा 'साँप पिटारा'[4] का भी उल्लेख अनेक स्थलों पर है। यहाँ तक कि विष का प्याला लाने वाले का नाम भी दयाराम पंडे दिया गया है 'कनक कटोरे ले विष घोल्यो, दयाराम पंडो लायो'।[5] गीतिकाव्य में व्यक्तिगत निर्देश रहने के कारण मीरां ने अपने जीवन की घटनाओं का निर्देश कर दिया है।

पौराणिक भक्तों का उल्लेख—भक्ति के आदर्श की व्याख्या करते हुए मीरां ने पौराणिक कथाओं का भी सकेत किया है।

---

१ मीराँबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३०
२ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३७-३८
३ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३७
४ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ १६, ३४, ६४, ६५, ६७
५ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७

अजामील अपराधी तारे, तारे नीच सदान ।
जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान ।।
और अधम तारे बहुतेरे भाखत संत सुजान ।
कुबजा नीच भीलनी तारी, जानै सकल जहान ।।[१]

इन प्राचीन भक्तों के साथ मीरां ने अपने पूर्ववर्ती भक्तों का भी निर्देश किया है :—

दास कबीर घर बालद जो लाया, नामदेव की छान छवंद ।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनंद ।।[२]
धना भगत पीपा पुन सेवरी मीरा की हूँ करो गनना ।।[३]

तुलसीदास की भाँति मीरां का भी पौराणिक कथाओं पर पूर्ण विश्वास है।

विशेष

(१) मीरांबाई के अन्तर्साक्ष्य से ज्ञात होता है कि रैदास उनके गुरु थे। रैदास कबीर के समकालीन थे और उनका समय 'पंद्रहवें शतक के पिछले हिस्से से सोलहवें शतक के मध्य तक' माना गया है ।[४] इसके अनुसार रैदास अधिक से अधिक संवत् १५५० या १५६० तक जीवित रहे होंगे । मीराबाई का जन्म सं० १५५५ में हुआ था, अतः इन संवतों को ध्यान में रखते हुए मीरांबाई रैदास से मिल कर उन्हें अपना गुरु नहीं मान सकतीं । 'भक्तमाल' की टीका अथवा मेकालिफ के अनुसार चित्तौड़ की रानी झाली अवश्य रैदास की समकालीन थीं और बाद में उनकी शिष्या भी हो गई थीं ।[५] संभव है, यही चित्तौड़ की रानी भ्रम से मीरांबाई मान ली गई हों और संतों ने मीरांबाई की रचना में रैदास सम्बन्धी पद लिख कर मिला दिये हों। ऐसी अवस्था में मीरांबाई के वे समस्त पद जिनमें रैदास का उल्लेख है, प्रक्षिप्त मानने होंगे । जब मीरांबाई का 'गिरिधर नागर' के प्रति इतना उत्कृष्ट प्रेम था कि वे पुष्टिमार्ग भी अंगीकार नहीं कर सकीं[६] तो रैदास का शिष्यत्व स्वीकार करना भी एक असंभव बात ज्ञात होती है ।

ऊदाबाई का नाम भी राणा साँगा की संतान में नहीं मिलता । संभव है, ऊदा राणा भोजराज की या राणा विक्रमाजीत की सगी बहन न होकर किसी अन्य सम्बन्ध से बहन होंगी । इसी प्रकार 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में 'जेमल की

---

१ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३२
२ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ३६
३ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ २
४ संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६५
५ दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ ३१८
६ चौरासी वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ ३४२-३४३

वन' का उल्लेख है ।[1] जयमल की वेन यही मीरां थीं । स्पष्टता के लिए मीरां और राणा विक्रमादित्य की वंशावली इस प्रकार है[2] :—
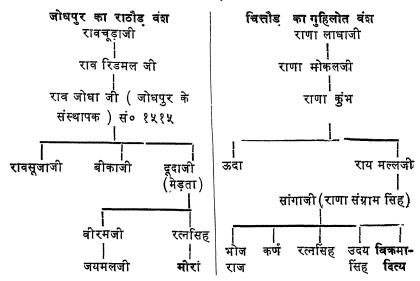
अपनी रचनाओं में मीरांबाई ने यद्यपि अलंकारों के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया तथापि उपमा और दृष्टान्त अनेक स्थानों पर मिलते हैं ।

पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे, अन्न नहि खाती ।
हरि बिन जिंवड़ा यूँ जलै रे, ज्यूँ दीपक संग बाती (उपमा)[3]
राणा जी तै जहर दियो मैं जाणी ।
जैसे कंचन दहत अगिन मैं निकसत बारह बाणी ॥[4]

अलंकारों से भी अच्छे रूप में उनके मानसिक चित्र हैं, जो सरल होते हुए भी सजीव हैं । मीरां की भाषा भी बड़ी अभिव्यंजक शक्ति लिए हुए है, यद्यपि उसमें एकरूपता नहीं । मीरां का जीवन चार स्थानों में व्यतीत हुआ, मारवाड़, मेवाड़, ब्रज और गुजरात । अतः उनकी रचनाओं में चारों भाषाओं के उदाहरण मिल सकते हैं । रचना की प्रामाणिकता का प्रश्न यहाँ भी उपस्थित होता है । उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा के अधिक पद हैं, यद्यपि उन पर मारवाड़ी प्रभाव है ।

मीरां के पदों के संपादन की आवश्यकता है । पदों का वैज्ञानिक वर्गीकरण

---

१ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, पृष्ठ ६४-६६
२ बृहत काव्य दोहन भाग ७, पृष्ठ १६
३ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ १४
४ मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ ६७

भी नहीं है । मीरां की शब्दावली में १६७ पद हैं, जिनमें अधिकांश पद विरह और प्रेम के हैं । इनमें राग सावन के १० पद और राग सोरठ के ११ पद भी हैं ।

मीरांबाई के पदों में छंदों का कम ध्यान है । मात्राएँ भी कही घटी-बढ़ी हैं, पर राग-रागिनियों में रचना का रूप रहने के कारण गान की लय मात्रा की विषमता को ठीक कर लेती है । मीरां में छंद-शास्त्र न देखकर उनकी उस भक्ति-भावना की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसने उन्हे कृष्ण-काव्य के कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान दे रक्खा है ।

कृष्ण-काव्य की रचना प्रधानत: सख्य भाव के आधार पर ही है । अत: भक्ति-भावना के साथ शृंगार का आधिक्य भी इसी प्रकार की रचनाओं में हो गया है । शृंगार रस ने काव्य के कलात्मक रूप की सृष्टि की । इसी कला में नखशिख और नायिका-भेद है । अतः कृष्ण-काव्य की शृंगार-प्रियता ने रीति-शास्त्र की नींव भी डालनी प्रारंभ कर दी । अनेक भक्त कवि ऐसे हुए जिन्होंने श्रीकृष्ण की भक्ति करते हुए भी शृंगार रसान्तर्गत उद्दीपन विभाव में ऋतु-वर्णन और नखशिख-वर्णन भी किया । इस परिस्थिति में भक्ति और कला का विकास साथ ही साथ होने लगा । भक्ति-काल में भक्ति प्रधान और कला गौण रही, रीति-काल में कला प्रधान हो गई और भक्ति-गौण हो गई । इस भाँति कृष्ण-काव्य के कवियों में भक्ति के साथ कला की उपेक्षा नहीं की जा सकती । इसी दृष्टि से कालक्रमानुसार हम कृष्ण-काव्य के कवियों पर विचार करते हैं ।

छीहल

इनका कविता-काल संवत् १५७५ माना जाता है । इनकी 'पंच सहेली' नामक रचना प्रसिद्ध है । भाषा पर राजस्थानी प्रभाव यथेष्ट है, क्योंकि ये स्वयं राजपूताने के निवासी थे । रचना में वियोग शृंगार का वर्णन ही प्रधान है ।

लालदास

इनका कविता-काल संवत् १५८५ माना है । इनकी दो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं । 'हरिचरित्र' और 'भागवत दशम स्कन्ध भाषा' । दोनों की भाषा अवधी है । कविता में कोई विशेष प्रतिभा के लक्षण नहीं हैं । दोहा-चौपाई ही इनका विशेष प्रिय छंद है ।

श्री गदाधर भट्ट

ये भागवत बहुत सुनाया करते थे । बड़े सरल और उदार थे । इनका कविता-काल संवत् १५९० के लगभग माना जाता है, क्योंकि ये चैतन्य के शिष्य थे । चैतन्य का गोलोकवास सं० १५८४ है । अत: उनसे दीक्षित होकर इन्होंने कृष्ण-कथा कहनी प्रारम्भ कर दी होगी । ये संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे, अत: इनकी कविता में संस्कृत की छाप स्पष्ट है । इनकी भाषा सुन्दर और सरस है । बहुत से पद तुलसीदास जी की विनय-पत्रिका की कोटि के हैं । इनके स्फुट पद ही उपलब्ध हैं ।

कृपाराम

इनका आविर्भाव-काल संवत् १५९८ माना जाता है। उसी समय इन्होंने रीति-शास्त्र पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ की रचना की। हिन्दी साहित्य में रीति-शास्त्र पर यह पहला सफल ग्रंथ उपलब्ध है। इसीलिए 'हिततरंगिणी' के साथ कृपाराम का विशेष महत्त्व है। 'हिततरंगिणी' की रचना बहुत सरस और मधुर है। भाषा भी बहुत सुथरी और मँजी हुई है। इनके दोहे बिहारी के दोहों से किसी प्रकार भी भाव-व्यंजना में कम नहीं हैं। 'हिततरंगिणी' हिन्दी साहित्य का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इन्होंने भक्ति-काल में भी रीतिकाल के आदर्शों की सृष्टि की।

सूरदास मदनमोहन

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०० के लगभग है। ये अकबर के समकालीन थे। ये बड़े साधु-सेवी और भक्त थे। कहा जाता है कि उन्होंने अकबर के खजाने के तेरह लाख रुपये साधु-संतों को खिला दिए और रातोरात भाग गये। अकबर के द्वारा क्षमादान होने पर भी ये वृन्दावन से नहीं हटे और इन्होंने वहीं अपने जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत किए।

इस संबन्ध में यह पद प्रसिद्ध है :—

तेरह लाख सँडीले उपजे, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदन मोहन आधी राति कों सटके॥

प्रियादास ने इस घटना का निर्देश करते हुए 'भक्तमाल की टीका' में एक कवित्त लिखा है :—

पृथ्वीपति संपति लै साधुन खवाय दई,
भई नही शंकयों निशंक रंग पागे हैं।
आये सो खजानो लैन मानो यह बात अहो,
पाथर लै भरे आप आधी निशि भागे हैं॥
रुक्का लिखि डारे, "दाम गटके ये संतनि ने,
याते हम सटके हैं" चले जब जागे हैं।
पहुँचे हजूर, भूप खोल कै सन्दूक देखैं,
पेखै आंक कागद में रीझि अनुरागे हैं॥[1]

'भक्तमाल' में इन पर यह छप्पय है :—

(श्री) मदन मोहन सूरदास की नाम श्रृंखला जुरी अटल॥
गान काव्य गुण राशि सुहृद सहचरि अवतारी।
राधा कृष्ण उपास्य रहसि सुख के अधिकारी॥
नवरस मुख्य सिंगार विविध भाँतिनि करि गायो।
बदन उच्चरित बेर सहस पायनि है धायो॥
अंगीकार की अवधि यह, ज्यों आख्या भ्राता जमल।
(श्री) मदन मोहन सूरदास की, श्रृंखला जुरी अटल॥[2]

---

१ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७२९

२ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ७२६

इनका नाम सूरध्वज था, पर काव्य में इन्होंने सूरदास मदन-मोहन लिखा। "आपके दोनों नेत्र फूले कमल के समान थे, प्रभु का प्रेम रंग पी के सुन्दर अनुराग से झूलते थे।"

इनकी रचना सरस है। इनका कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं है, कुछ स्फुट पदों के संग्रह ही मिलते हैं।

नरोत्तमदास

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०२ माना जाता है। ये सीतापुर जिले के बाड़ी ग्राम के निवासी थे। इनके दो ग्रंथ कहे जाते हैं—'सुदामा चरित्र' और 'ध्रुव चरित्र'। 'सुदामा चरित्र' तो प्राप्य है, 'ध्रुव चरित्र' अभी तक नही मिला। 'सुदामा चरित्र' बहुत छोटी रचना है, पर वह इतनी सरस और श्रेष्ठ है कि उसी ने कवि को बहुत लोकप्रिय बना दिया है। उसमें दीन हृदय के बड़े सच्चे चित्र हैं। भाषा बहुत स्वाभाविक और चलती हुई है। उसमें प्रवाह है। भावों के साथ भाषा का इतना सुन्दर मिलाप 'सुदामा चरित्र' की श्रेष्ठता का कारण है।

हरिराय (वल्लभी)

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०७ है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे। इनके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये गद्य के प्रमुख लेखक थे। इनके तीन ग्रंथ तो गद्य में हैं। 'श्री यमुनाजी के नाम', 'श्री आचार्य महाप्रभु को स्वरूप' एंव 'श्री आचार्य महाप्रभु की द्वादश निज वार्ता।' 'श्री यमुनाजी के नाम' में श्री यमुनाजी और उनके घाटों की वन्दना और महिमा का वर्णन है। 'श्री आचार्य महाप्रभु को स्वरूप' में वल्लभ संमदाय के आचार्यों के आत्म-स्वरूप का वर्णन है और 'श्री आचार्य जी महाप्रभु की द्वादश निज वार्ता' में श्री वल्लभाचार्य जी का जीवन-वृत्त वर्णित है। इनकी चौथी पुस्तक पद्य में है। उसका नाम 'वर्षोत्सव' है जिसमें वर्ष भर के उत्सवों पर गाने योग्य पद लिखे गए हैं। प्रमुखतः ये गद्य लेखक हैं।

ललीर

ये तिरहुत के क्षत्रिय थे। इनका परिचय अभी ज्ञात हुआ है। इन्होंने 'महाभारत' पर एक 'डंगी पर्व' नामक पुस्तक लिखी है। रचना साधारण है। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६०८ है।

गोविन्ददास

इनका जन्म संवत् १६११ में हुआ था। इन्होंने भक्ति पर अच्छे पद लिखे ह। इनके ग्रंथ का नाम 'एकान्त पद' है जिसमें राधाकृष्ण के सुन्दर भजन लिखे हैं। भाषा ब्रजभाषा है, उस पर पूर्वी प्रभाव भी है। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६४० माना गया है।

स्वामी हरिदास

इनके विषय में कुछ विशेष विवरण ज्ञात नहीं। ये निम्बार्क संप्रदाय के अन्तर्गत टट्टी संप्रदाय के प्रवर्तक थे और प्रसिद्ध गायक भक्त थे। कहा जाता है कि ये तानसेन के गुरु थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६१७ के लगभग है, क्योंकि ये अकबर के समकालीन थे। इनकी रचना

में भावों की सुन्दर छटा है, पर शब्दों के चयन में विशेष चातुर्य नहीं है। इनके पद राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं। इनके पदों के अनेक संग्रह प्राप्त हुए हैं। उनमें हरिदास जी की बानी और हरिदास जी के पद मुख्य हैं।

नाभादास ने इनके विषय में जो छप्पय लिखा है, वह इस प्रकार है :—

आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की ॥
जुगल नाम सों नेम जगत नित कुञ्ज बिहारी।
अवलोकत रहैं केलि सखी सुख के अधिकारी॥
गान कला गंधर्व श्याम श्याम को तोषैं। उत्तम भोग लगाय मोरमरकट तिमि पोषैं॥
नृपति द्वार ठाढ़े रहे दरशन आशा जास की।
आसधीर उद्योत कर रसिक छाप हरिदास की॥[1]

इनके सम्बन्ध में 'भक्तमाल' के वार्त्तिककार ने यह भी लिखा है कि "उस समय का बादशाह (अकबर) वेष छपा के तानसेन के साथ जाकर आपके दर्शनों से कृतार्थ हुआ। संवत् १६११ से १६६२ के मध्य किसी समय की यह बात है।"[2]

भक्ति-काल में हितहरिवंश का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जिस प्रकार इनके पदों में सरसता पाई जाती है, उसी प्रकार इनके सिद्धान्तों में मौलिकता भी। इन्होंने राधावल्लभी नामक एक नए संप्रदाय का सूत्रपात किया।

हितहरिवंश

ये पहले मध्वाचार्य के द्वैत संप्रदाय के समर्थक थे। बाद में इन्होंने अपना स्वतंत्र हित संप्रदाय चलाया। कहते हैं, स्वप्न में इन्हें राधिका जी ने दर्शन देकर मंत्र दिया था। तभी से इन्होंने राधा की उपासना प्रधान मानी।

इनका जन्म संवत् १५६६ और आविर्भाव-काल संवत् १६२२ माना जाता है। उसी समय ओरछा-नरेश के राजगुरु श्री हरिराम व्यास इनसे दीक्षित हुए। इनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था। ये संस्कृत के पण्डित भी थे। इन्होंने ब्रजभाषा की बड़ी मधुर रचना की, इसीलिए ये श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते थे। इनकी रचना तो थोड़ी सी है, पर वह है बड़ी हृदयग्राहिणी और सरस। इनका 'हित चौरासी' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है जिसमें इनके ८४ पदों का संग्रह है। इनमें वर्णनात्मकता के साथ भाव-व्यंजना उच्चकोटि की है। इन्होंने राधा की शोभा में सरसता की सीमा उपस्थित की। ये ब्रजभाषा के बड़े लोकप्रिय कवि थे। इनकी शंसा में 'अष्टछाप' के कवि चतुर्भुज दास ने 'हित जू को मंगल' लिखा था। इनकी रचना में ब्रजभाषा का सुन्दर और व्यवस्थित रूप है। इनके संबन्ध में नाभादास ने अपने 'भक्तमाल' में अधोलिखित छप्पय लिखा था :—

---

१ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५८२
२ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५८३

श्री हरि वंश गुसांई भजन की रीति सकृत कोउ जानि है ॥
राधा चरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी । कुञ्ज केलि दम्पती तहाँ की करत खवासी ॥
सर्वस महा प्रसाद प्रसिधता के अधिकारी ।
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उतकट व्रतधारी ॥
व्यास सुवन पथ अनुसरै सोंइ भले पहिचानि है ।
श्री हरिवंश गुसांई भजन की रीति सकृत कोउ जानि है ॥[1]

इनका कविता-काल संवत् १६२२ के लगभग माना जाता है । इनका काव्य यद्यपि परिमाण में अधिक नहीं है तथापि कवित्व में श्रेष्ठ है । इनकी रचना सरस

श्रीभट्ट

और मधुर होती थी । इनकी प्रधान रचना 'युगलशतक' है जिसमें १०० पदों का संग्रह है । इसमें श्रीकृष्ण की भक्ति बड़े सरल पदों में कही गई है । पदों में तन्मयता का भाव यथेष्ट है । इनके संबन्ध में नाभादास का यह छप्पय है :—

श्रीभट सुभट प्रगट्यो अघट रसा रसिकन मन मोद घन ।
मधुर भाव सम्मिलित ललित लीला सुवलित कवि ।
निरखत हरषत हृदय प्रेम बरखत सुकलित कवि ॥
भव निस्तारन हेतु देत दृढ़ भक्ति सबनि नित ।
जासु सुजस ससि उदै हरत अति तम भ्रम श्रम चित ॥
आनन्द कन्द श्री नन्द सुत श्री वृषभानु सुता भजन ।
श्रीभट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन मन मोद घन ॥[2]

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६२२ माना गया है । ये ओरछा-नरेश श्री मधुकर शाह के राजगुरु थे । ये संस्कृत के बड़े पंडित थे । ज्ञानार्जन के लिए पर्यटन

व्यास जी

किया करते थे । वृन्दावन में हितहरिवंश के महत्त्व को देखकर ये उनके शिष्य हो गए । इनकी कविता बड़ी लोकप्रिय हुई । इन्होंने ज्ञान और भक्ति की विवेचना बड़े सरल और स्पष्ट ढंग से की । ये कृष्ण-लीला के बड़े प्रेमी थे और उन्हीं लीलाओं के पद बनाकर सुनाया करते थे । बुन्देलखंड के ये बड़े लोकप्रिय कवि थे । इनकी रचना अधिकतर स्फुट पदों में मिलती है ।

इनका प्रथम नाम हरीराम था । ४५ वर्ष की अवस्था (सं० १६१२) में ये ओरछा छोड़कर वृन्दावन गए । वहाँ ये श्री राधावल्लभी संप्रदाय में दीक्षित हुए । नाभादास ने इनकी प्रशंसा में यह छप्पय लिखा है :—

उतकर्ष तिलक अरु दामको, भक्त इष्ट अति व्यास कें
काहू के आराध्य मच्छ कच्छ नरहरी सूकर ! वामन फरसाधरन सेत बंधन जु सैलकर ॥
एकन तें यह रीति नेम नवधा सों लायें । सुकुल सुमोखन सुवन, अच्युत गोत्री जु लड़ायें ॥
नौगुण तोरि नूपुर गुह्यो, महत सभा मधि रास कें ।
उतकर्ष तिलक अरु दामको भक्त इष्ट अति व्यास कें ॥[3]

---

१ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५७६
२ भक्तमाल सटीक, पृष्ठ ५४६
३ भक्तमाल, सटीक पृष्ठ ५८४

इनके संबन्ध में भक्ति और अनुभूति की अनेक कथाएँ कही जाती हैं, जिन्हें प्रियादास ने अपनी 'टीका' में वर्णन किया है। इनके परिचय में प्रियादास ने लिखा है :—

आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि,
गयो हियो पागि होय न्यारो तासों खीजिये।
राजा लैन आयो ऐपै जायबो न भायो,
श्री किशोर उरझायो मन सेवा मति भीजिये॥
चीरा जरकसी शीश चीकनो खिसित जाय,
लेहु जू बंधाय नहीं आप बाँधि लीजिये।
गये उठि कुंज सुधि आई सुख पुंज,
आये देख्यो बँध्यो मुंजु कही कैसे मौपै रीझिये॥[1]

ये राधावल्लभी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु इन्होंने हरिव्यासी पंथ की स्थापना की। ये अपनी भक्ति-भावना में बड़े प्रवीण थे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्यास की बानी' है जिसमें भक्ति-पदों के साथ 'रास पंचाध्यायी' भी वर्णित है। इनकी रचना बहुत सरस है।

निपट निरंजन

ये अकबर के समकालीन थे। इनका जन्म संवत् १५९६ में हुआ था। ये बड़े ही शक्तिशाली कवि थे। इन्होंने बहुत सी स्फुट रचना की जिसमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य के कवित्त हैं। इनकी रचना, बहुत लोकप्रिय है। आविर्भाव-काल संवत् १६३० है।

लक्ष्मीनारायण

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६३७ माना गया है। ये 'प्रेमतरंगिणी' के लेखक थे। 'प्रेमतरंगिणी' का कथानक 'भ्रमरगीत' जैसा ही है, जिसमें गोपियों को धैर्य देने के लिए उद्धव व्रजागमन करते हैं और उन्हें उपदेश देते है। रचना साधारण है।

बलभद्र मिश्र

ये ओरछा-निवासी महाकवि केशवदास के बड़े भाई थे और भाषा के अच्छे कवि थे। इनका कविता-काल संवत् १६३७ के लगभग माना जाता है। इन्होंने 'नखशिख' पर उत्कृष्ट रचना की है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और सन्देह का इन्होंने विशेष सफलता के साथ कविता में प्रयोग किया। भाषा मँजी हुई है और उस पर कवि को पूर्ण अधिकार है। अभी तक इनके चार ग्रन्थों का पता लगा है—'बलभद्री व्याकरण', 'हनुमन्नाटक' 'गोवर्द्धन सतसई टीका' और 'दूषण विचार।' ऐसा ज्ञात होता है जैसे बलभद्र मिश्र की रचना में रीति-काल की कविता अपना रूप बना रही है। अंगों का सजीव और कल्पनापूर्ण वर्णन बलभद्र की रचना की विशेषता है।

---

१ भक्तमाल, पृष्ठ ५८४, ५८५

गणेश मिश्र

इनका आविर्भाव-काल सं० १६४५ है। ये माथुर वंश के थे। इन्होंने 'विक्रम विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें इन्होंने अनेक कथाएं लिखीं। इनकी रचना साधारणतः अच्छी है।

कादिर

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। ये हरदोई जिले के मिहानी नामक स्थान के रहने वाले थे। इनका कोई पूर्ण ग्रंथ प्राप्त नहीं हुआ। स्फुट रचना अवश्य पाई जाती है। इनकी भाषा सरस और स्वाभाविक है।

मोहन

ये मथुरा-निवासी थे और इन्होंने 'केलिकल्लोल' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें प्रेमदेव की वंदना और राधा-कृष्ण-एकत्व-निरूपण है। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६६७ है।

मुबारक

इनका कविता-काल संवत् १६७० माना जाता है। ये अनेक भाषाओं के विद्वान् थे, संस्कृत और फारसी पर तो पूर्ण अधिकार था। इनका शृंगार रस वर्णन बहुत प्रसिद्ध है। नखशिख पर इन्होंने विशेष लिखा है। एक अंग पर इन्होंने सौ दोहों के हिसाब से रचना की है। ये अपनी वर्णनात्मकता और कल्पना के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता सरस और भावपूर्ण होती है। स्फुट कवित्तों और सवैयों के अतिरिक्त इनके ये ग्रंथ प्राप्त हुए हैं 'अलक शतक' और 'तिल शतक'। इनमें इन्होंने अधिकतर उत्प्रेक्षाओं के सहारे सौन्दर्य-वर्णन किया है।

बनारसीदास

ये जैन कवि थे। अपने ग्रन्थ 'अर्धकथानक' के अनुसार इनका जन्म संवत् १६४३ में जौनपुर में हुआ था। इनका आविर्भाव-काल १६७० है। जैन भाषा के कवियों में सब से श्रेष्ठ यही हुए। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, उनमें प्रधान ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—

१. 'वेंदनिर्णय पंचमटीका'—इसमें जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की जन्म-कथा तथा गुण-वर्णन है। जैनियों के मतानुसार इसमें चारों वेदों का संक्षिप्त परिचय भी है।

२. 'मार्गना विधान'—इसमें जैन मत के अनुसार जीव के बासठ मार्ग-विधान का वर्णन है।

३. 'नाम माला'—इसमें पर्यायवाची शब्द कोष है।

४. 'मोष पैंडी'—इसमें जैनियों को ज्ञानोपदेश है।

५. 'साधु वन्दना'—इसमें जैन साधुओं के लक्षण हैं।

इन्होंने तीन पुस्तकें और लिखी हैं—'समयसार नाटक', 'बनारसी पद्धति' और 'कल्याण मन्दिर भाषा'। इन्होंने अपना आत्म-चरित 'अर्धकथानक' में लिखा। उसमें संवत् १६९८ तक की घटनाओं का वर्णन है। ये बादशाह शाहजहाँ

के समकालीन थे। इनकी बहुत सी पुस्तकें जैन धार्मिक पुस्तकों के अनुवाद मात्र हैं। इन्होंने पद्य के साथ-साथ गद्य भी लिखा। इनकी रचनाएँ सरस और परिमार्जित हैं।

मुसलमान कवियों में रसखान अपने श्रीकृष्ण-प्रेम और तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि इनके जीवन का प्रारम्भिक भाग भौतिक प्रेममय था।

रसखान

इनकी प्रेमासक्ति के विषय में दो कथाएँ प्रसिद्ध हैं। एक तो बनिये के लड़के से प्रेम की कथा और दूसरे एक मानवती स्त्री के प्रेम-संबध की कथा। दोनों ही कथाओं में इनके भौतिक प्रेम की प्रतिक्रिया के रूप में श्रीकृष्ण के प्रति आकृष्ट होने की बात है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार तो ये एक बनिये के लड़के पर आसक्त थे।[1] लोगों को इन्होंने कहते हुए सुना कि जैसा रसखान का प्रेम उस बनिये के लड़के पर है वैसा प्रेम भगवान् से होना चाहिए। रसखान यही बात सुन विरक्त हो विट्ठलनाथ जी के पास आए और उनसे दीक्षित हुए।

इनका कविता-काल संवत् १६७१ माना जाता है, क्योंकि उसी समय इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रेम वाटिका' लिखी गई। रसखान ने प्रेम की अनुभूति जितने रसपूर्ण शब्दों में की वैसी हिन्दी में कम है। इनकी भावना सीधे हृदय को जाकर स्पर्श करती है। ब्रजभाषा का सरस और स्वाभाविक रूप इनकी रचना में बड़े व्यवस्थित रूप में मिलता है। उसमें किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं है। तन्मयता इनकी कविता का विशेष गुण है। अनुप्रास और यमक का सरस और उचित प्रयोग इनकी रचना में अनेक स्थानों पर पाया जाता है। सबसे विशेष बात तो यह है कि इन्होंने अपने काल में प्रचलित गीत-पद्धति को छोड़ कर कवित्त और सवैयों में अधिकतर अपनी रचना की। इनकी दो रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं—'प्रेम वाटिका' और 'सुजान रसखान'। 'प्रेम वाटिका' में दोहे हैं और 'सुजान रसखान' में कवित्त और सवैये। मुसलमान होते हुए भी रसखान ने श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की जो भावना प्रदर्शित की है वह हिन्दी साहित्य में चिर स्मरणीय रहेगी।

ब्रजभार दीक्षित

ये वल्लभ के अनुयायी थे। इन्होंने 'वल्लभख्यात' की टीका ब्रजभाषा-गद्य में लिखी। शैली साधारण है। इनका समय संवत १६७७ माना गया है।

---

१ सो वा दिल्ली में एक साहूकार रहेतो। सो वा साहूकार को बेटो बहुत सुन्दर हतो॥ वा छोरा सों रसखान को मन बहुत लग गयो॥ वाही के पाछे फिर्‌यो करै और वाको झूठा खावे और आठ पहेर वाही की नौकरी करे॥ पगार कछू लेवे नही दिन रात में आसक्त रहे॥ दूसरी बड़ी जात के रसखान की निंदा बहुत करते हते॥ परन्तु रसखान कोइ कुं गणते नही हते॥

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', पृष्ठ ३६१

अहमद इनका आविर्भाव-काल संवत् १६७८ माना गया है। ये जहाँगीर के समकालीन थे। इनका दूसरा नाम ताहिर भी है। इन्होंने हस्तरेखा विज्ञान पर 'सामुद्रिक' नाम की एक पुस्तक लिखी। काव्य में कोई विशेषता नहीं है। इनकी दूसरी पुस्तक का नाम 'गुण सागर' है जिसमें कोकशास्त्र का निरूपण है। कहीं-कहीं ग्रन्थ बहुत अश्लील हो गया है। ग्रियर्सन का कथन है कि ये सूफी थे, पर इनकी रचनाओं में वैष्णव धर्म की ही छाप है।

भीष्म इस नाम के दो कवि हो गए हैं। एक तो भीष्म अन्तर्वेदी और दूसरे भीष्म बुन्देलखंडी। ये भीष्म अन्तर्वेदी हैं। इन्होंने 'श्रीमद्भागवत' का अनुवाद दोहा-चौपाई में किया। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६८१ माना जाना चाहिए।

ध्रुवदास ये हितहरिवंश जी के शिष्य कहे जाते हैं। इनका निवास-स्थान वृन्दावन था। इन्होंने अनेक शैलियों में अपनी रचना की। गीत तथा दोहे-चौपाई के अतिरिक्त इन्होंने कवित्त, सवैयों में अपनी रचना की। श्रीकृष्ण-लीला के साथ ही साथ इन्होंने प्रेम और भक्ति पर भी बहुत लिखा। इन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। इनके मुख्य ग्रन्थ है, 'ध्रुवदास कृत बानी', 'सिद्धान्त विचार' और 'भक्त नामावली'। 'ध्रुवदास कृत बानी' में अनेक विषय लिखे गये हैं जिनमें जीवदशा, सिद्धान्त विचार, ब्रजलीला, भजन-शत, मन-शिक्षा, वृन्दावन-शत, भजन कुण्डली, अनुराग लता, अनेक लताएँ और अनेक मंजरियाँ हैं। 'सिद्धांत विचार' में भक्ति के सिद्धांत लिखे हैं और 'भक्त नामावली' में अनेक भक्तों के चरित्र संक्षेप में वर्णन किये हैं। ध्रुवदास प्रकांड लेखक और भक्त थे। धार्मिक काल में इनके ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। इनका कविता-काल संवत् १६८२ माना गया है।

सुन्दरदास इनका आविर्भाव-काल संवत् १६८८ है। ये ग्वालियर के निवासी थे और शाहजहाँ के दरबार में जाया करते थे। ये पहले कविराज और फिर महा कविराज की पदवी से विभूषित किये गये थे। इनके ग्रंथ का नाम 'सुन्दर श्रृंगार' है जिसमें नायिका भेद-वर्णित है।

चतुरदास ये कोई संतदास के शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल संवत् १६९२ माना जाता है। इन्होंने 'भगवद्गीता' के ग्यारहवें अध्याय का हिन्दी-पद्य में अनुवाद किया। इनकी रचना साधारण है। इन्होंने भी दोहा-चौपाई में यह अनुवाद किया है।

भुवाल ये कवि वीरगाथाकाल के कवि नहीं थे जैसा कि अन्य इतिहासों में वर्णित है। ये तुलसीदास के बाद हुए। इन्होंने तुलसीदास के अनुकरण पर 'भगवद्गीता' का अनुवाद दोहा-चौपाई में किया। इनका ग्रन्थ संवत् १७०० में समाप्त आ। इस कवि पर विचार पहले हो चुका है।

सकने में, ही वरन् अपने धार्मिक विचारों को प्रकट करने भी में असमर्थ थे। इसी की प्रतिक्रिया के रूप में कबीर, नानक, तुलसी और सूर का आविर्भाव हुआ था और उन्होंने अपने धर्म की मर्यादा का निर्भीकतापूर्वक प्रचार किया था। यह धार्मिक क्रान्ति राजनीति से सम्बन्ध रखती थी और शासकों के समक्ष जनता के हृदय का क्रान्तिकारी चित्र रखने की चेष्टा कर रही थी। शासक की सहानुभूति अभी तक जनता के साथ नहीं थी, किन्तु अकबर के राज्यारोहण ने अभी तक की शासन-नीति में परिवर्तन ला दिया। अकबर बड़ा उदार शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य के प्रारम्भ से ही धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। फलस्वरूप हिन्दू धर्म भी स्वच्छन्दता से विकसित हुआ। पर अब उसमे प्रतिक्रिया के अभाव में वह क्रांति की भावना नहीं रह गई थी। तुलसी की 'बाढ़े बहु खल चोर जुआरा, जे लम्पट पर-धन पर-दारा' की शक्ति अब नष्ट हो गई थी। अब तो धार्मिक स्वतंत्रता के साथ धार्मिक विलास और उच्छृंखलता की भावना भी अपने विकास का मार्ग खोजने लगी थी। नीति और उपदेश की साधु प्रवृत्तियाँ अवकाश के साथ कवियों के द्वारा प्रतिपादित होने लगी थीं। धर्म की ज्वलन्त एवं निर्भीक भाव-धारा अब समतल बाधारहित मार्ग पाकर शान्त-सी हो गई थी। अब तो राजाओं के आश्रित होकर ही नहीं स्वयं अकबर के दरबार का सहारा पाकर कविगण अपने काव्य का चमत्कार स्वयंवर में आए हुए राजकुमार के कौशल की भाँति प्रदर्शित करने लगे। धर्म की पवित्र भावना अब कला का रूप लेने लगी। अतः साहित्य अब अपने चमत्कार पूर्ण प्रकाशन का मार्ग खोजने लगा। उसका उद्देश्य अब निश्चित न होकर विश्रृंखल हो गया। धर्म की भावना तो केवल नाममात्र को रह गई। तुलसी और सूर की प्रतिभा का प्रकाश अभी तक कवियों का पथ-प्रदर्शन कर रहा था, अतएव कविगण राम और कृष्ण का नाम तो नहीं छोड़ सके, हाँ राम और कृष्ण के भीतर छिपे हुए धार्मिक उन्मेष को अवश्य भूलने लगे। अब राम और कृष्ण की कविता पर अत्याचार के बदले पुरस्कार मिलने लगा। अकबर और रहीम भी कविता करने लगे। भक्ति में श्रृंगार की भावना का सूत्रपात यहीं से आरम्भ हुआ। कवि निर्भीक होकर भक्ति में श्रृंगार और श्रृंगार में नीति की रचनाएँ करने के लिए उत्सुक हो उठे और एक बार फिर हिन्दी साहित्य मे विविध विषयों पर रचना करने के लिए कई लेखनियाँ एक साथ स्वच्छन्दता के साथ चल पड़ीं। इस समय के प्रधान कवि निम्नलिखित हैं :—

मनोहर कवि

इनका कविता-काल संवत् १६२७ के लगभग माना जाता है। ये अकबर के समकालीन थे और उन्हीं के दरबारी कहे जाते हैं। फारसी और संस्कृत पर इनका पूर्ण अधिकार था। इनकी कविता में कहीं-कहीं फारसी के शब्द भी आ जाते थे। इनकी एक रचना प्राप्त है—वह है 'शत प्रश्नोत्तरी'। ये अधिकतर दोहों में ही रचना किया

करते थे, जिनमें नीति और शृंगार की सूक्तियाँ रहा करती थीं ।

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६३० है । ये अकबर के दरबार के कवि थे । इन्होंने 'भगवद्गीता' की पद्यबद्ध टीका की थी । यह श्रीधर कृत टीका का भाषानुवाद है ।

जयराम

ये हिंदी के प्रसिद्ध सूक्तिकार और जीवन की परिस्थिति के कुशल चित्रकार हैं । ये अकबर के अभिभावक बैरमखाँ के पुत्र थे । अतः इनका सम्बन्ध अधिकतर राज्यकुल से ही था । इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ था । ये बड़े दानी थे और एक-एक बार में अपरिमित धन दान करते थे । एक बार इन्होंने गंग की एक रचना पर छत्तीस लाख रुपये दान कर दिये थे । अंत में जहाँगीर ने इन्हें राजद्रोह के अपराध में कैद कर लिया और इनकी सारी जागीर जब्त कर ली । उस समय इनकी दशा एक भिक्षुक सी हो गई थी । इस प्रकार इन्हें जीवन की दो सीमांत परिस्थितियों का अनुभव हो गया था और उसी अनुभव से इन्होंने जीवन के ऐसे मार्मिक तथ्यों का उल्लेख किया जो सदैव के लिए सत्य हैं और हृदय को स्पर्श करने वाले हैं ।

रहीम

ये बड़े विद्वान् थे । डा० ईश्वरी प्रसाद ने भी इनका निर्देश अपने इतिहास में किया है ।[१]

ये तुर्की, फारसी, अरबी और संस्कृत के ज्ञाता थे । ब्रजभाषा और अवधी पर तो इनका पूर्ण अधिकार था । इन्होंने फारसी का एक 'दीवान' लिखा और 'वाकयात बाबरी' का अनुवाद तुर्की से फारसी में किया । इनके बनाये हुए कुछ संस्कृत के श्लोक भी हैं । ब्रजभाषा में इनके दोहे पद-लालित्य और उक्ति के लिए प्रसिद्ध ही हैं और अवधी में इन्होंने इस सुन्दरता से नायिका-भेद की रचना की कि वह हिंदी की एक अमूल्य निधि मानी जाती है ।

इनकी कविता बड़ी ही सरस है । शब्दों का प्रयोग ये बड़ी उपयुक्त रीति से करते हैं । भाषा के पीछे जो भाव हैं, वे एकान्त सत्य होकर सजीव हैं जिनसे मानव-जीवन का अटूट संबन्ध है । मर्म की बात कहने में रहीम बड़े पटु हैं । उनकी रचना के पीछे एक ऐसा हृदय है जिसमें अनुभव, अन्तर्दृष्टि और सरसता है । इसी कारण उनकी कविता लोकप्रिय और अमर है । कहा जाता है रहीम और तुलसी में बड़ा स्नेह था । किंवदंती का यह दोहा प्रसिद्ध ही है :—

सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहत सब कोय । गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय ॥

---

१ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ५०८ (डा० ईश्वरी प्रसाद)

वेणीमाधवदास ने भी अपने 'गोसांई चरित' में तुलसीदास की 'बरवै रामायण' की रचना का कारण रहीम को माना है :—

कवि रहीम बरवा रचैं पठए मुनिवर पास । लखि तेहि सुन्दर छंद में, रचना कियौ प्रकास ।।[१]

इनकी कविता इतनी श्रेष्ठ है कि इसमें कल्पना के चित्र रहते हुए भी सत्यता है और वह हमारे जीवन के अत्यन्त निकट है। इनके ग्रंथों में 'रहीम दोहावली', 'बरवै नायिका', 'मदनाष्टक', 'रासपचाध्यायी' और 'शृंगार सोरठ' प्रसिद्ध हैं। काव्य के दृष्टिकोण से इनकी 'बरवै नायिका भेद' सबसे सफल रचना है। इसमें अवधी के भाषा-सौंदर्य के साथ ही साथ नायिकाओं के जो चित्र हैं वे सरस और भावपूर्ण हैं। रहीम की मृत्यु संवत् १६८२ में हुई। मुसलमान होते हुए भी उनमें हिंदू धर्म की ऐसी छाप थी कि उससे किसी प्रकार की भी कृत्रिमता नहीं प्रकट होती। यह रहीम की सहृदयता, भावुकता और प्रतिभा ही थी। इनका रचनाकाल संवत् १६४० माना गया है।

बीरबल

इनका आविर्भाव-काल संवत् १६४० है। ये अकबर के प्रसिद्ध मंत्रियों में थे। इनका विनोद तो प्रसिद्ध ही है। महाकवि भूषण के अनुसार इनका जन्मस्थान तिकवांपुर के समीपवर्ती एक गाँव था जिसे आजकल अकबर बीरबलपुर कहते हैं। कवि होने के साथ ही ये बड़े उदार भी थे। इन्होंने एक बार केशवदास को उनकी कविता पर छः लाख रुपये दिए थे। इनकी कविता अधिकतर नीतियुक्त ही रहती है, पर इनका ऋतु-वर्णन भी प्रसिद्ध है। इनकी भाषा मँजी हुई और सरस है। उसमें अलंकार की छटा भी यत्र-तत्र पाई जाती है। कविता में ये अपना उपनाम 'ब्रह्म' रखते थे। इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में अकबर का यह सोरठा प्रसिद्ध है :—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्यो दुसह दुख। सो अब हम कहँ दीन्ह, कछु नहिं राख्यो बीरबल ॥

अकबर ने बीरबल को कविराय की उपाधि से विभूषित किया था। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी इस विषय में लिखते हैं :—

"यह तो स्पष्ट है कि कोई बात उनमें ऐसी विशेष होगी कि गंग और नरहरि आदि के रहते भी 'कविराय' की महत्वपूर्ण पदवी अकबर ने उन्हीं को दी। अकबर स्वयं साधारण कवि और कविता का प्रेमी न था। यद्यपि उसके दरबार में फारसी और हिंदी आदि के कवि आते-जाते रहते थे, किन्तु वह उन्हीं कवियों का सम्मान करता था, जिनमें उसे सार और तत्व दिखाई पड़ता था। अतएव 'कविराय' पद से विभूषित करने के पहले ही उसने विचार कर लिया होगा। दरबार में आने के पहले ही से बीरबल की कविता की प्रशंसा होती थी। उनकी मृत्यु के उपरान्त शायद वह पद अकबर ने किसी दूसरे को नहीं दिया।"[२]

१ गोसांई चरित, दोहा ६३

२ हिन्दुस्तानी, जनवरी १९३१, पृष्ठ ६

होलराय

ये अकबर के समकालीन थे और प्रायः अकबर के दर्शन करने के लिए दरबार में भी जाया करते थे। इनका कविता-काल सं० १६४२ है। ये अधिकतर चारण रचनाएँ किया करते थे और अपने आश्रयदाता श्री हरिवंस राय की विरुदावली गाया करते थे। इनकी कविता अधिकतर वर्णनात्मक है। उसमें काव्य के किसी अंग का निरूपण नहीं है, वरन् वे तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियों से सम्बन्ध रखती हैं। कहते हैं, तुलसीदास के लोटे पर ये रीझ गये थे। इन्होंने कहा था—

लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।

तुलसीदास ने निम्नलिखित चरण कह कर इन्हें अपना लोटा दे दिया था—

मोल तोल कछु है नहीं लेहु रायकवि हाेल।।

इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता, स्फुट रचना देखने में आती है, वह भी साधारण है।

टोडरमल

इनका जन्म सम्वत् १५८० और मृत्यु सम्वत् १६४६ में हुई। ये अकबर के मन्त्रियों में से थे। इन्होंने हिन्दी की स्फुट रचनाएँ की थीं, कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखा। इनकी रचनाएँ अधिकतर नीति से सम्बन्ध रखने वाली हैं। इनका कविता-काल सम्वत् १६१० माना जाता है।

नरहरी बन्दीजन

ये अकबर के दरबार के माननीय व्यक्ति थे। इन्हें अकबर ने महापात्र की उपाधि दी थी। इनका आविर्भाव-काल सम्वत् १६५० कहा जाता है। इनके तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। 'रुक्मिणी मंगल', 'छप्पय नीति' और 'कवित्त-संग्रह'। छप्पय और कवित्त इन्हें विशेष प्रिय थे। कहते हैं, इनके एक छप्पय पर प्रसन्न होकर अकबर ने अपने राज्य में गोवध बन्द कर दिया था।

गंग

अकबर के दरबार में गंग श्रेष्ठ कवि माने जाते थे। अतः इनका कविता-काल सम्वत् १६५० के लगभग ही मानना चाहिए। इनका विशेष विवरण ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जाता है कि किसी राजा या नवाब ने इन्हें हाथी से चिरवाये जाने का मृत्यु-दण्ड दिया था जो इन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। गंग अपने समय के बहुत बड़े कवि कहे जाते हैं। दास के 'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार' कथन से इस प्रमाण की पुष्टि होती है। इन्होंने बड़ी सरस रचना की है। एक ओर यदि स्वाभाविक शृंगार-वर्णन है तो दूसरी ओर विरह-वर्णन की अतिशयोक्ति है। इनकी रचना देखने से ज्ञात होता है कि इनका भाषा पर पूर्ण अधिकार था। यद्यपि इनकी कोई स्वतंत्र रचना प्राप्त नहीं होती तथापि इनके पद अनेक संग्रहों में मिलते हैं। इनकी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हैं।

भक्ति-काल की राधा-कृष्ण संबन्धी परंपरा रीतिकाल में भी चलती रही। किन्तु भक्तिकाल के आदर्शों की रक्षा रीतिकाल में न हो सकी। रीतिकाल में कृष्ण एकमात्र नायक और राधा एकमात्र नायिका रह गईं। अतः राधाकृष्ण संबन्धी रीति-कालीन रचनाओं का विवेचन रीतिकाल के प्रकरण मे होगा।

बीसवीं शताब्दी में राधाकृष्ण की भक्ति से प्रेरित होकर पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास', बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'उद्धव-शतक' और बाबू मैथिलीशरण ने 'द्वापर' की रचना की। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' में श्रीकृष्ण और राधा का आधुनिक स्वरूप रक्खा। श्रीकृष्ण ने आधुनिक विचारों के अनुकूल 'स्वजाति उद्धार महान् धर्म है' अथवा 'विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का, मनुष्य का सर्वप्रधान धर्म है' आदि आदर्श उपस्थित किए। रत्नाकर ने 'उद्धव शतक' में तर्क के साथ मनोवैज्ञानिक चित्र भी रखे। 'उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै, पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छ्वै लगी' की चित्रावली उपस्थित की जिसमें निर्गुणवाद का व्यंग्यपूर्ण सफल चित्र है। 'द्वापर' में भी मैथिलीशरण ने कृष्ण-काव्य लिखा जिसमें उन्होंने प्रत्येक पात्रों के चरित्र की रेखा स्पष्ट करते हुए सुन्दर रचना की। 'द्वापर' में भी भ्रमरगीत है और वह गोपी शीर्षक कथा के अन्तर्गत है। इस 'भ्रमरगीत' में भावनाओं की जैसी सरलता और स्वाभाविकता है वैसी सूरदास को छोड़ अन्य भ्रमरगीतकारों में नहीं मिलती। 'यही बहुत हम ग्रामीणों को जो न वहाँ वह भूला' में ग्रामीण सरलता का सरल उदाहरण है। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने भी श्रीकृष्ण-भक्ति पर कुछ कवित्त लिखे। उनमें सूक्तियों के साथ आत्मानुभूति है। 'मेरे चित्त में ही छिपा मेरा चित्त चोर है' जैसी पंक्तियों में गोपालशरणसिंह ने कृष्ण-भक्ति का सरस रूप प्रस्तुत किया।

कृष्ण-भक्ति का भविष्य किसी प्रकार भी पौराणिक न होगा। यदि कृष्ण-भक्ति पर रचनाएँ होंगी, तो उनमें राष्ट्रीयता की भावना अवश्य पाई जावेगी।

कृष्ण-काव्य का सिंहावलोकन

राम-काव्य के समानान्तर प्रवाहित होते हुए भी कृष्ण-काव्य की धारा राम-काव्य से प्रभावित न हो सकी। राम-काव्य का मर्यादावाद केवल अपने ही में सीमित होकर रह गया। राम-काव्य के दास्य भाव ने भी कृष्ण-काव्य को प्रभावित नहीं किया। कृष्ण-चरित्र का रूप इतना अधिक आकर्षक हो गया कि जीवन की पूर्णता केवल कृष्ण के बाल और किशोर जीवन ही में केन्द्रीभूत हो गई।

वर्ण्य-विषय

कृष्ण-काव्य में कृष्ण की लीलाओं का गान मुख्य विषय है। यह चरित्र 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कंध से लिया गया है। श्रीकृष्ण के इन चरित्रों में 'रास' और 'भ्रमरगीत' ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

कृष्ण-काव्य के प्रायः सभी कवियों ने कृष्ण के रास और प्रकृति की शोभा । चित्रण किया है। अनेक कवियों द्वारा 'भ्रमरगीत' भी लिखा गया है। अपवाद-स्वरूप मीरां ने कृष्ण की भावना अपने एकान्त प्रियतम के रूप में कर केवल अपनी भक्ति की रूप-रेखा निर्धारित की। मीरां के दृष्टिकोण में कृष्ण-लीला का उतना महत्त्व नहीं जितना कृष्ण के प्रेममय स्वरूप का। इन चरित्रों के साथ भक्ति का उन्मेष भी है जो सख्य भावना की विशेषता है। इस भक्ति को सबसे अधिक प्रोत्साहन पुष्टि-मार्ग से मिला। पुष्टि मार्ग में कृष्ण के अनुग्रह का प्रधान अंग है। श्रीकृष्ण का अनुग्रह भक्ति से ही प्राप्त होगा। अतः पुष्टिमार्ग में भक्ति की सार्थक भावना है।

श्रीकृष्ण की भक्ति का नाम लेकर नायक-नायिका-भेद की सृष्टि भी प्रारंभ हो गई थी। श्रीकृष्ण की शोभा लेकर नख-शिख की परंपरा भी चल पड़ी थी। श्रीकृष्ण के रास का आधार लेकर ऋतु-वर्णन भी प्रारंभ हो गया था। अतः श्री-कृष्ण की भक्ति में ही रीति-शास्त्र का परिशीलन होने लगा था। कृष्ण-काव्य का वर्ण्य-विषय केवल कृष्ण-भक्ति ही में सीमित न रह कर नखशिख, ऋतु-वर्णन और नायिका-भेद में भी विस्तार पाने लगा था। इस समय भाषा भी परिमार्जित हो गई थी, अतः अलंकार-योजना भी भाषा के साथ होने लगी थी। इस प्रकार कृष्ण-काव्य का वर्ण्यविषय भक्ति के साथ-साथ साहित्य की कला की ओर भी उन्मुख होने लगा था।

छंद

कृष्ण-काव्य ने अधिकतर गीति-काव्य का स्वरूप धारण किया। कृष्ण-चरित्र मुक्तक रूप में वर्णित होने के कारण अधिकतर गेय रहा। अतः कृष्ण-काव्य में उन पदों का अधिक प्रयोग हुआ जो राग-रागिनियों के आधार पर लिखे गए। पुष्टिमार्ग के सांप्रदायिक आचार ने भी कृष्ण-मूर्ति के आगे कीर्तन का विधान रक्खा। इस प्रकार कृष्ण-काव्य आपसे आप संगीतात्मक हो गया। सूरदास, मीरां, विद्यापति आदि प्रधान कवियों ने पदों ही में कृष्ण-काव्य की रचना की। नन्ददास आदि कुछ कवियों ने रोला, दोहा आदि का प्रयोग किया। सूरदास ने भी 'सूरसागर' के कुछ स्थलों में रोला और चौपाई का प्रयोग किया, पर प्रधानतः उन्होंने पद ही लिखे। अष्टछाप के कवियों के पद तो प्रसिद्ध ही हैं। राग-रागिनियों के अतिरिक्त जिन छन्दों का प्रयोग कृष्ण-काव्य में हुआ उनमें चौपाई, रोला और दोहा ही प्रधान हैं।

भाषा

कृष्ण-काव्य की भाषा एकमात्र ब्रजभाषा है। श्रीकृष्ण का बाल और किशोर जीवन कोमल भावनाओं से पूर्ण रहने के कारण ब्रजभाषा जैसी मधुर भाषा म और भी सरस और मधुर हो गया। ब्रजभाषा श्रीकृष्ण के जीवन-वर्णन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त भाषा सिद्ध हुई। राम-काव्य में तो ब्रजभाषा के अतिरिक्त अवधी का भी प्रयोग हुआ है,

किन्तु कृष्ण-काव्य में केवल ब्रजभाषा प्रयुक्त हुई है। यह बात दूसरी है कि सूरदास द्वारा ब्रजभाषा संस्कृतमय हो गई और मीरां के द्वारा ब्रजभाषा मारवाड़ीमय। नन्ददास ने 'जड़ने' की प्रवृत्ति में ब्रजभाषा को कोमल रूप देते हुए उसे तद्भव शब्दों से अलंकृत किया, किन्तु भाषा का रूप ब्रजभाषा ही रहा। कृष्ण-काव्य की भाषा एक ही रहने के कारण साहित्य के विकास की धारा ही बदल गई। एक ही भाषा में अनेक प्रकार की रचनाएँ हुईं। इसलिए उसे परिमार्जन और परिष्करण का यथेष्ट अवसर मिला। फलतः भाव-सौन्दर्य की अपेक्षा भाषा-सौन्दर्य ही प्रधान हो गया और कृष्ण-काव्य के बाद साहित्य में रीतिकाल आ गया, जिसमें श्रीकृष्ण आराध्य होते हुए भी नायक के सभी गुणों और कार्यों से विभूषित हुए। यह ब्रजभाषा के परिमार्जन का ही परिणाम है कि कृष्ण-भक्ति को आघात लगा और वह अनुभूति की वस्तु न रह कर केवल शब्द का चातुर्य और रसिकता कीवस्तु बन गई।

रस

कृष्ण-काव्य में तीन रस प्रधान हैं। शृंगार, अद्भुत और शान्त। शृंगार अपने दोनों विभागों के साथ वर्णन किया गया है। संयोग और वियोग के इतने अधिक रूप साहित्य में कभी इससे पूर्व प्रस्तुत नहीं किए गये थे। संचारी भावों की व्यापकता रस की पूर्णता में बहुत सहायक हुई है। श्रीकृष्ण में रति-भाव का प्राधान्य होने के कारण शृंगार की प्रधानता कृष्ण-काव्य की विशेषता हुई। गोपिकाओं का आलंबन, श्रीकृष्ण की शोभा का उद्दीपन, श्रीकृष्ण-गोपिका-मिलन में स्वेद, कम्प और रोमांच का अनुभाव एवं मोह और चपलता के संचारी भाव शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष को विस्तृत बना देते हैं। साहित्य के किसी भाग में रस की इतनी व्यापकता नहीं पाई जाती। अतः कृष्ण का व्यक्तित्व ही शृंगार का सहायक है।

पुष्टिमार्ग ने अद्भुत और शान्त को प्रश्रय दिया। श्रीकृष्ण का दैवत्व और अलौकिक कार्य-व्यापार अद्भुतु रस की सृष्टि में सहायक हुआ और 'अनुग्रह'-याचना से शान्त की सृष्टि हुई। इन रसों के साथ हास्य और वीर रस गौण रूप में हैं। 'भ्रमरगीत' में गोपियों का व्यंग्य और श्रीकृष्ण की लीलाओं में असुरों का वध तथा दावानल-पान आदि कार्य क्रमशः हास्य और वीर रस के उद्रेक में सहायक हैं। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व शील और सौन्दर्यमय होने के कारण कोमल रसों के प्रयोग के लिए ही अधिक सहायक हुआ। प्रधानता केवल शृंगार रस ही की है।

विशेष

मध्य देश और राजस्थान में तो कृष्ण-काव्य की रचनाएँ भक्ति के उच्चतम आदर्शों के साथ हो ही रही थीं, साथ ही साथ जूनागढ़ (काठियावाड़) का एक कवि भी कृष्ण-भावना का विकास पश्चिम में कर रहा था। यह कवि नरसिंह

मेहता था। नरसिंह मेहता ने भी राधाकृष्ण के गीत अनेक भाँति से गाये, जिनमें श्रृंगार रस का प्राधान्य है। नरसिंह मेहता की भाषा गुजराती है, पर उन्होंने हिन्दी में भी कुछ रचनाएँ की। नरसिंह मेहता का आविर्भाव-काल संवत् १५०७ से १५३७ माना गया। 'वृहत् काव्य दोहन' के सातवें भाग में उनकी गुजराती रचनाओं का संग्रह है। उन्होंने अधिकतर राग-रागनियों में पद ही लिखे हैं जिनमें कृष्ण जन्मनी बधाई नां पद, श्रीकृष्ण विहार, श्रीकृष्ण जन्म समानां पद, ज्ञान वैराग्यानां पदो हैं। नरसिंह मेहता ने पदों के साथ-साथ साखियाँ भी लिखी हैं, पर उनकी साखियाँ कबीर की साखियों से भिन्न हैं। एक साखी का उदाहरण यह है :—

> दे दर्शन दयाल जी, हरिजन नी पूरो आ रे।
> कहे नरसैया आशा धणी, मुने चरणे राखो पास रे॥[1]

श्रीकृष्ण विहार के अन्तर्गत नरसिंह मेहता का एक पद इस प्रकार है :—

> जशोदाना आंगणीए सुन्दर शोभा दीसे रे।
> मुक्ताफल नां तोरण बांध्यां, जोई जोई मनडुँ हीसे रे॥ जशोदा ने
> महाला महाल करे मानुनीं आनन्द उर न माँय रे।
> केसर कुंकुम चर्चे सहुने, घरे घरे उच्छव थाय रे॥ जशोदा ने
> धन धन लीला नन्द भुवन की प्रकट्या ते पूरण ब्रह्म रे।
> रंग रेल नरसैंयो गायो मन बाढ़्यो आनन्द रे॥ जशोदा ने

नरसिंह के पदों में भक्ति और श्रृंगार समानान्तर धारा में प्रवाहित होते हैं। भाषा में सरलता और सरसता दोनों है। नरसिंह मेहता के अतिरिक्त 'रसिक गीता' के कवि भीम और 'रासपंचाध्यायी' के कवि रणछोड़ भक्त भी हुए। कहानदास ने भी कृष्ण-जन्म पर विशेष सरस पद लिखे हैं।

मध्यदेश और दक्षिण में कृष्ण-भक्ति ने अनेक संप्रदायों का स्वरूप धारण किया।

१. दत्तात्रेय संप्रदाय—इस मत के अनुयायी दत्तात्रेय को अपने पन्थ का प्रवर्तक मानते हैं। संभव है, दत्तात्रेय कोई मुनि हों, पर दत्तात्रेय का रूप तीन सिरों से युक्त है। उनके साथ एक गाय, चार कुत्ते हैं। तीन सिरों का संकेत त्रिमूर्ति से, गाय का पृथ्वी से और चार कुत्तों का चार वेदों से ज्ञात होता है। इस प्रकार दत्तात्रेय में दैवी भावना है और वे कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। इस संप्रदाय में श्रीकृष्ण ही आराध्य हैं और 'भगवद्गीता' ही धर्म-पुस्तक है। इस संप्रदाय की उन्नति विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में खूब हुई और इसका मुख्य केन्द्र महाराष्ट्र ही रहा।

---

१ वृहत् काव्य दोहन, भाग ७, पृष्ठ ३१

२. **माधव संप्रदाय**—इस मत के अनुयायी मध्वाचार्य से प्रभावित हुए। इनकी प्रधान पुस्तक 'भक्ति रत्नावली' है जिसमें भक्ति के आदर्श निरूपित हैं। ईश्वरपुरी इस संप्रदाय का एक नेता था जिसने संप्रदाय के प्रचार में विशेष योग दिया। संकीर्तन और नगरकीर्तन इस संप्रदाय में भक्ति के साधन प्रसिद्ध हुए। इसका स्वर्णयुग विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में मानना चाहिए।

३. **विष्णु स्वामी संप्रदाय**—विष्णु स्वामी ने अपने शुद्धाद्वैत से इसकी स्थापना की थी। बाद में विल्वमंगल संन्यासी ने 'कृष्ण-कर्णामृत' नामक कविता में राधा-कृष्ण का यश गाकर इस मत का विशेष प्रचार किया। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त मे यह संप्रदाय वल्लभ सम्प्रदाय में मिल गया, क्योंकि महाप्रभु वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी के सिद्धान्तों को लेकर पुष्टिमार्ग की स्थापना की।

४. **निम्बार्क संप्रदाय**—इस संप्रदाय का विकास यद्यपि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ, पर इसका इतिहास साधारणतः अज्ञात ही है। इस संप्रदाय में केशव काश्मीरी, हरिव्यास मुनि और श्रीभट्ट प्रसिद्ध हुए जिनकी रचनाओं ने इसे विशेष बल प्रदान किया। इन्होंने भी श्रीकृष्ण के संकीर्तन को प्रधान स्थान दिया। हरिव्यास मुनि चैतन्य और वल्लभाचार्य के समकालीन थे, अतः ज्ञात होता है कि संकीर्तन का भाव हरिव्यास मुनि नें चैतन्य से ही ग्रहण किया था।

५. **चैतन्य संप्रदाय**—सोलहवीं शताब्दी में चैतन्य संप्रदाय की स्थापना हुई। विश्वम्भर मिश्र (श्रीकृष्ण चैतन्य) ने ईश्वरपुरी के सिद्धान्तों के अनुसार भागवत पुराण की भक्ति का आदर्श स्वीकार किया। जयदेव, चंडीदास और विद्यापति के कृष्ण-विषयक पदों को गाकर उन्होंने कृष्ण-भक्ति का विशेष प्रचार किया। कृष्ण-भक्ति में चैतन्य ने राधा को विशेष स्थान दिया। संकीर्तन और नगर-कीर्तन के द्वारा चैतन्य ने श्रीकृष्ण-भक्ति से समस्त उत्तर भारत को प्लावित कर दिया। चैतन्य के अनुयायियों में सार्वभौम, ओड़ीसाधिपति, प्रताप रुद्र और रामानन्द राय थे। चैतन्य की भक्ति का प्रचार करने तथा राधा-कृष्ण संबन्धी पद-रचना करने वालों में नरहरि, वासुदेव और वंशीवादन प्रसिद्ध हुए। नित्यानन्द ने चैतन्य मत का संगठन किया और रूप और सनातन ने वृन्दावन के आसपास धर्मतत्व का स्पष्टीकरण किया। चैतन्य मत में निंबार्क का द्वैताद्वैत मत ही ग्राह्य है, मध्व का द्वैत मत नहीं। चैतन्य सम्प्रदाय में जाति-बन्धन विशेष नहीं है।

६. **वल्लभ संप्रदाय**—यह सम्प्रदाय वल्लभाचार्य द्वारा विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में स्थापित हुआ था। इस सम्प्रदाय की भक्ति का नाम पुष्टि है जो केवल कृष्ण के अनुग्रह-स्वरूप है। इस मत का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत है। वल्लभाचार्य के चार शिष्य और विट्ठलनाथ के चार शिष्य (जिनसे अष्टछाप की स्थापना हुई) इस सम्प्रदाय के प्रचार में विशेष सहायक हुए। गोकुलनाथ की 'चौरासी

वैष्णवन की वार्ता' ने भी इस सम्प्रदाय को जनता में खूब फैलाया। संप्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में ब्रजवासीदास ने 'ब्रज-विलास' लिखकर इस संप्रदाय के अन्तर्गत राधा का स्थान विशेष निर्दिष्ट किया। इस संप्रदाय में कृष्ण की भक्ति सख्य भाव से की गई। गुरु का महत्त्व कृष्ण के महत्त्व के समान ही निर्धारित किया गया, स्त्रियों ने गोपी-रूप से उनकी पूजा की, जिससे आगे चल कर अनाचार की वृद्धि हुई। इस सम्प्रदाय की प्रधान पुस्तकें वल्लभाचार्यकृत 'वेदान्त सूत्र अनुभाष्य', 'सुबोधिनी' और 'तत्व दीप निबन्ध' हैं।

७. राधावल्लभी संप्रदाय—इस संप्रदाय की स्थापना सं० १६४२ में हितहरिवंश ने वृन्दावन में की थी। इस मत को विशेष आधार माधव और निंबार्क संप्रदाय से मिला। हितहरिवंश ने 'राधा सुधानिधि' नामक संस्कृत ग्रंथ की रचना १७० पदों में की। हिन्दी में उन्होंने 'चौरासी पद' और 'स्फुट पद' की रचना की। इस संप्रदाय में राधा का स्थान कृष्ण से ऊँचा है और भक्त-गण कृष्ण का अनुग्रह राधा का पूजन करके ही प्राप्त करते हैं। वल्लभ संप्रदाय ने राधा को महत्त्वपूर्ण पद दिया, किन्तु राधावल्लभी संप्रदाय ने राधा को सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान किया।

८. हरिदासी संप्रदाय—इस संप्रदाय की स्थापना स्वामी हरिदास के द्वारा हुई थी, जिनका आविर्भाव-काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अन्त मानना चाहिए। इस संप्रदाय के सिद्धान्त चैतन्य संप्रदाय से बहुत मिलते हैं। स्वामी हरिदास के पदों का कीर्तन इस संप्रदाय का प्रधान आचार है।

इस प्रकार कृष्ण-भक्ति के आठ संप्रदाय स्थापित हुए :—

संप्रदाय	केन्द्र	प्रवर्त्तक
१. दत्तात्रेय संप्रदाय	महाराष्ट्र	दत्तात्रेय, चक्रधर
२. माधव संप्रदाय	कनारा	मध्वाचार्य, ईश्वरपुरी
३. विष्णु स्वामी संप्रदाय	त्रिविंद्रम, त्रावणकोर	विष्णुस्वामी, श्रीकान्त
४. निंबार्क संप्रदाय	वृन्दावन	निंबार्क, हरिव्यास मुनि
५. चैतन्य संप्रदाय	पुरी, वृन्दावन	चैतन्य, रूप, सनातन
६. वल्लभ संप्रदाय	वृन्दावन, मथुरा	वल्लभाचार्य, विट्ठलनाथ
७. राधावल्लभी संप्रदाय	वृन्दावन	हितहरिवंश
८. हरदासी संप्रदाय	वृन्दावन	हरिदास

कृष्ण-काव्य में पद्य के साथ ही साथ गद्य-रचना भी हुई। यह गद्य-रचना साहित्यिक आदर्शों से युक्त नहीं थी, केवल धर्म-प्रचार और भाव-प्रकाशन की सरलता की दृष्टि से ही लिखी गई थी। साहित्य की प्रधान धारा तो पद्य ही में प्रवाहित हो रही थी, पर जहाँ धार्मिक भावना की विवेचना करना था अथवा धर्म की मर्यादा समझा कर जनता में उसे लोकप्रिय बनाना था वहाँ गद्य का आश्रय लिया गया था। गद्य का यह प्रयोग गोरखनाथ के 'नाथ-पंथ' के प्रचार में भी हो चुका था। अतः पुष्टि-मार्ग ने उसी परम्परा को हृदयंगम कर गद्य का प्रयोग किया। उसे साहित्यिक प्रगति न मान कर धार्मिक प्रगति मानना ही समीचीन है। किन्तु गद्य के इतिहास में इस प्रकार की रचनाओं का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। ऐसी रचनाओं में १. श्रीविट्ठलनाथ कृत—'शृंगार रस मंडन' (राधा-कृष्ण-विहार) और २. श्री गोकुलनाथ कृत—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' प्रधान हैं।

विट्ठलनाथ

ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुत्र और शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५१५ में हुआ था। ये पुष्टिमार्ग के संत और अष्टछाप के स्थापक थे। इन्होंने ब्रजभाषा के प्रचार के लिए जो कार्य किया वह हिन्दी साहित्य में सदैव स्मरणीय रहेगा। ये लेखक भी थे। इनका अभी तक एक ही ग्रन्थ ज्ञात था—शृंगार रस मंडन'। अब इनके निम्नलिखित ग्रन्थ भी पाये गये हैं जिनसे ये ब्रजभाषा गद्य के महत्त्वपूर्ण लेखक माने जा सकते हैं। वे ग्रन्थ निम्नलिखित हैं :—

१. **यमुनाष्टक**—यह पुस्तक पद्य में वल्लभाचार्य द्वारा लिखी गई है। उसी का अनुवाद विट्ठलनाथ ने ब्रजभाषा-गद्य में किया—'इति श्रीवल्लभाचार्य कृत श्रीयमुनाष्टक तउपरि श्रीगुसांई जी कृत टीका' इसमें श्री यमुना की वन्दना की गई है। यह २७० श्लोकों की टीका है। अतः ग्रंथ काफी बड़ा है।

२. **नवरत्न सटीक**—इसमें वल्लभ संप्रदाय के सिद्धान्त वर्णित हैं। "यह ग्रंथ में सिद्धान्त भयो" कह कर विट्ठलनाथ जी ने इसका परिचय दिया है। "जा भाँति की सेवा श्रीवल्लभाचार्य जी के मार्ग में कही है सो करत रहे....और कदाचित् जीव बुद्धि ते समर्पण साधि आवें नहीं तो नाम को मंत्र जो श्रीकृष्णः शरणं नमः याही को स्मरण भजन करत ठाकुर की सेवा कर्‌यों करे ता करिके सर्वथा उधार होय"—आदि सिद्धांत पर प्रकाश डाला गया है।

गोकुलनाथ

ये विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनकी पुस्तकों का उद्देश्य एक मात्र धार्मिक ही है, क्योंकि उनमें साहित्यिक सौंदर्य नाममात्र को भी नहीं है। एक ही बात अनेक बार दुहराई गई है। "सो वे ऐसे भगवदीय हैं, इनकी वार्ता को पार नहीं पाते इनकी वार्ता कहाँ ताँई कहिए" प्रत्येक वैष्णव के जीवन-चरित्र में कही गई है। उसमें अनेक भाषाओं के शब्द भी हैं। कारण यही ज्ञात होता है कि गोकुलनाथ

को अपने धर्म-प्रचार में यथेष्ट पर्यटन करना पड़ा होगा और अनेक स्थानों में जाने के कारण वहाँ के शब्द भी अज्ञात रूप से इनकी भाषा में मिल गए होंगे। इनकी 'वार्ता' के वैष्णव भी अनेक स्थानों तथा अनेक जाति के हैं। इसीलिए उनके चरित्र-वर्णन में जिस प्रकार की भाषा लेखक को समझ पड़ी, वैसी ही उसने लिख दी। इतनी बात अवश्य है कि उस चित्रण में स्वाभाविकता अधिक है, उसमें जीवन के अनेक चित्र मिलते हैं। जीवन के इतने विभिन्न चित्रों का संग्रह एक ही स्थान पर मिलता है, यही पुस्तक का महत्त्व है।

'वार्ताओं' की भाषा ब्रजभाषा है। यदि सूरदास के काव्य में साहित्यिक ब्रजभाषा के दर्शन होते हैं तो गोकुलनाथ की भाषा में बोलचाल की ब्रजभाषा मिलती है। उसके शब्द-कोष का क्षेत्र भी विस्तृत है। उसमें पंजाबी, राजस्थानी और कन्नौजी के शब्द मिलते हैं। सर्वनाम के स्थान पर संज्ञा का प्रयोग ही अधिक है, इसलिए भाषा में अनेक बार नामों में भी पुनरुक्ति मिलती है। ब्रजभाषा का माधुर्य उसमें अवश्य है।

इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी में गद्य व्यावहारिक रूप से साहित्य में प्रयुक्त होने लगा था और उसमें धर्म जैसी पवित्र भावनाओं का भी प्रकाशन होने लगा था। ब्रजभाषा में काव्य की प्रधानता होते हुए भी धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न गद्य में होने लगा था। इसका उत्कृष्ट प्रमाण नन्ददास लिखित 'नासिकेत पुराण' (भाषा) है, जो ब्रजभाषा-गद्य में लिखा गया था।

इसी समय खड़ीबोली-गद्य का रूप आता है। यह गद्य दक्षिण में मुसलमानों के द्वारा साहित्य में प्रयुक्त हुआ। इसकी आधारभूत भाषा खड़ीबोली थी, जो दिल्ली और मेरठ में बोली जाती थी। आश्चर्य तो इस बात का है कि खड़ीबोली का गद्य अपने स्थान में पल्लवित होने के बदले दक्षिण में हुआ जहाँ उसके लिए कोई उपयुक्त वातावरण नहीं था। जो मुसलमान दक्षिण में फैलते गए उन्हीं के प्रयास द्वारा खड़ीबोली का गद्य अपने पैरों पर खड़ा हुआ। साहित्य में असंगति का सबसे स्पष्ट उदाहरण खड़ीबोली-गद्य के विकास में स्पष्ट रूप से दीख पड़ रहा है। वह उत्पन्न तो हुआ दिल्ली में और उसका विकास हुआ दक्षिण में। अमीर खुसरो ने खड़ीबोली का प्रयोग पद्य में तो अवश्य किया था, पर गद्य में नहीं। दक्षिण में ही उसका विकास हुआ जो एक साहित्यिक कौतूहल है।

खड़ीबोली-गद्य का सबसे प्रथम लेखक था गेसू दराज बन्दा नवाज शहबाज बुलन्द। उसका जन्म संवत् १३७८ में हुआ और उसकी मृत्यु १४७९ में। लेखक पन्द्रह वर्ष की उम्र में दक्षिण छोड़ कर दिल्ली में आया और वृद्धावस्था से पहले दक्षिण नहीं लौटा। अतएव उसके गद्य को तत्कालीन दिल्ली की भाषा का सच्चा रूप समझना चाहिए। उसने दो छोटी-छोटी पुस्तकों की रचना की। 'मिराज-उल-

आशकीन' और 'हिदायतनामा'। इसमें प्रथम-पुस्तक प्राप्त हुई है और वह प्रकाशित भी हो गई है। उसमें केवल १९ पृष्ठ हैं, जिनमें सूफी-सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। भाषा का रूप खड़ीबोली है। उसमें फारसी शब्द भी हैं, ब्रजभाषा के रूप और कारक चिह्न भी। इस भाषा को 'दकनी उरदू' कहा गया है जिसे 'मिराज-उल-आशकीन' के सम्पादक मौलाना अब्दुल हक साहब बी० ए० ने हिन्दी भी कहा है।

बन्दानवाज की शैली इसी प्रकार की थी। यद्यपि वे फारसी के विद्वान् थे और उन्होंने फारसी में ग्रंथ-रचना भी की थी, पर इस प्रकार की रचना भी व प्राय: किया करते थे। इसके सम्बन्ध में मौलाना अब्दुल हक 'मिराज-उल-आशकीन' के 'दीवाचे' में लिखते ह :—

"हजरत उन बुजर्गाने दकन में से हैं, जिनकी तसनीफ़ातों तालीफ़ात कसरत से हैं और तक़रीबन सब की सब फ़ारसी में हैं। लेकिन तहकीक से यह भी मालूम हुआ है कि आपने बाज़ रिसाले हिन्दी दकनी उरदू में भी तसनीफ़ फ़रमाये हैं।"

मिराज-उल-आशकीन में आये हुए हिन्दी रूप नमूने के तौर पर नीचे दिए जाते हैं :—

१. इस आपकँ देखिया सो खालिक में ते खालिक की इजहार किया।[1]
२. मुहम्मद हमें ज्यों दिखलाये त्यों तुम्हें देखो।[2]
३. ऐ भाई सुनो जे कोई दूध पीवेगा सो तुम्हारी पैरवी करेगा शरियत पर कायम अछेगा। पानी पीवेगा सो विश्वास के कतरया में डूबेगा।[3]
४. जबराईल हजरत कूँ बोले ऐ महमद दुरस्त।[4]
५. ये तीनों झाड़ हरएक मेमिन के तन में हैं।[5]
६. हदीस व नबी फ़रमाय है।[6]
७. इसका माना न देख सकेंगे अपने अँखियाँ सूं मगर देखेंगे मेरे अँखियाँ सूं ओ सूरत साहब की।[7]

इस प्रकार और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इसी समय की 'भुवन दीपक' नाम की एक पुस्तक मिलती है जो संस्कृत में ज्योतिष पर लिखी गई है और जिसकी व्याख्या ब्रजभाषा-गद्य में की गई है।

---

१ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ १४, १५
२ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ १५
३ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ १६
४ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ २२
५ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ २५
६ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ २५
७ मिराज-उल-आशकीन, पृष्ठ २७

इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति की तिथि सन् १६१४ (संवत् १६७१) दी गई है। इससे ज्ञात होता है कि अनुवाद इस तिथि से भी पहले का होगा। पुस्तक में ३५० श्लोक हैं और उनकी विस्तृत व्याख्या की गई है। उदाहरण के लिए उसका गद्य इस प्रकार है :—

जउ अस्त्री पुत्र तणी प्रछा करइ। आ ८ ठ मह नवमई स्थानि एक तो शुक्र होई तउ स्वभाव रमतो कहिवउ॥ जउ विजह शुक्र ग्रह होई तउ संभोग सुबइ कहिवउ॥ चन्द्र सरिसउ होय। शुक्र होई तउ अधिक द्राव कहिवउ। शुक्र सरिसउ क्रूर ग्रह होइ तउ संभोग पीड़ा कहवी॥

इस गद्य में केवल सिद्धान्त-निरूपण है। साहित्यिक गद्य के सौंदर्य का इसमें एकदम अभाव है। गद्य के नमूने के लिए ही इस ग्रन्थ का नाम स्मरणीय है।

इसके बाद गंग कवि की 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' नामक एक छोटा सा गद्य-ग्रन्थ अकबर के समय में लिखा गया मिलता है। इसकी भाषा खड़ीबोली है, क्योंकि यह ग्रन्थ दिल्ली की भाषा के प्रभाव में ही लिखा गया था। इस ग्रन्थ में भी ब्रजभाषा के 'जुहार', 'विराजमान' आदि शब्दों का प्रचुरता से प्रयोग है। इसमें साहित्यिक गद्य तो नहीं है, पर व्यावहारिक गद्य का रूप अवश्य है। पुस्तक कुछ विशेष महत्त्व की नहीं है, पर हिन्दी-गद्य के विकास में अपना स्थान रखती है।

संवत् १६८० में जटमल के द्वारा लिखी हुई एक 'गोरा-बादल की कथा' पुस्तक का निर्देश मिलता है।

बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए० द्वारा संपादित हिन्दी-हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट १६०१ के ४५ वें पृष्ठ में, संख्या ४८ पर 'गोरा-बादल की कथा' की हस्तलिखित प्रति का विवरण दिया गया है जिसके अनुसार कथा गद्य और पद्य में है। ४३ पृष्ठ हैं। पद्य-संख्या १००० है। आकार ६½ × ७½ है। प्रत्येक पृष्ठ पर २० पंक्तियाँ हैं और वह बंगाल की एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में सुरक्षित है। उसकी भाषा का उदाहरण इस प्रकार दिया गया है :—

प्रारम्भ—श्री राम जी प्रसन्न होये। श्री गनेश साये नमः। लक्ष्मी कांत-हेवात की सा चित्तौड़ गड़ के गोरा बादल हुआ है, जिनकी बारता की कीताब हींदवी में बनाकर तयार करी है॥

सुक सपत दा येक सकल सीदं बुद सहेत गनेस वीगण वीजर ला वीन सो वे लो नुज परण मेस ॥१॥ दूहा ॥ जग मल वाणी सर सरस कहता सरस वर वन्द चहवाण कुल उवधारों हुवा जुवा चावन्द ॥२॥

अन्त—गोरे की आवरत आवे सा वचन सुन कर आपने षावन्द की पगड़ी हाथ में लेकर वाहा सती हुई सो सीवपुर में जाके वाहा दोनों मेले हुवे ।।१४४।। गोरा बादल की कथा गुरू के बस सरस्वती के महरवानगी से पुरन भई तीस वास्ते गुरू कू व सरस्वती कू नमस्कार करता हु ।।१४५।। ये कथा सोल से आसी के साल में फागुन सुदी पुनम के रोज बनाई । ये कथा मे दोर सेह बीरा रस व सीनगार रस हे [दो रस है बीरा रस व सीनगार रस हे ?] सो कथा ।।१४६ ।। मोर छोड़ नाव गाव का रहने वाला कवेसर जगहा उस गाव के लोग भोहोत सुकी हे घर घर में आनन्द होता है कोई घर में फकीर दीखता नहीं ।।१४७।।

उस जग आली षान बाबा राज करता हे मसीह वाका लड़का है सो सब पठानों में सरदार है जयेसे तारो मे चन्द्रमा हे ओयेसा वो ये ।।१४८।। धरम सी नाव का वेत लीन का बेटा जटमल नाम कवेसर न ये कथा सवल में पुरण करी ।।१४९।।

इसमें मेवाड़ की महारानी पद्मावती की रक्षा में गोरा-बादल की कीर्ति-कथा है, जिसको मोरछड़ो गाँव के निवासी जटमल ने संवत् १६८० में लिखा । किन्तु इस रिपोर्ट में यह नहीं लिखा कि यह प्रति स्वयं जटमल की लिखी हुई है, अथवा किसी और की । यदि जटमल ने लिखी है तो संवत् १६८० माना जा सकता है । यदि किसी और ने लिखी है तो किस संवत् में लिखी है ?

मिश्रबन्धुओं ने यह कथा गद्य में मानी है, और उदाहरण वही दिया है जो खोज-रिपोर्ट में है । वे लिखते हैं :—

"इस कवि ने संवत् १६८० में गोरा-बादल की कथा गद्य में कही और इस भाषा में खड़ीबोली का प्राधान्य है, अतः खड़ीबोली-प्रधान गद्य का गंग भाट के पीछे सबसे प्रथम रचयिता यही जटमल कवि है ।"[1]

एक बार मिश्रबन्धुओं द्वारा यह घोषित होने पर कि यह ग्रंथ गद्य में है, परिवर्ती इतिहासकारों ने उसे गद्य ग्रन्थ मान लिया :—

"इसी प्रकार १६८० में जटमल ने 'गोरा-बादल की कथा' भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है"—बा० श्यामसुन्दरदास, 'हिन्दी भाषा और साहित्य'—पृष्ट ४९० ।

"संवत् १६८० में मेवाड़ के रहने वाले जटमल ने गोरा-बादल की जो कथा लिखी थी वह कुछ राजस्थानीपन लिए खड़ीबोली में थी"—पं रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पृष्ठ ४७३ ।

---

१ मिश्रबन्धु-विनोद, पृष्ठ ४१६ [संवत् १९७०]

इधर राजस्थान में हस्तलिखित पुस्तकों की जो खोज की गई है उसमें जटमल-कृत 'गोरा-बादल की कथा' की जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं वे सब पद्य में हैं। राजपूताने के चारणों और ऐतिहासिक ग्रन्थों का जो विवरण बंगाल को एशियाटिक सोसायटी की ओर से, डा० एल० पी० टेसीटरी ने सन् १९१८ में प्रकाशित कराया है उसके प्रथम भाग के द्वितीय खंड में ५२ वें पृष्ठ पर 'गोरा-बादल की कथा' के संबन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें मालूम होती हैं। डा० टेसीटरी को एक गद्य का हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ है जिसका नाम है—'फुटकर बातां रो संग्रह।' इसे उन्होंने हस्तलिखित ग्रन्थ नं० १५ माना है। इस ग्रन्थ में ४२५ पन्ने हैं, जिनका आकार १२ × ८ है। यह ग्रन्थ बड़ी बुरी दशा में है। इसके कई पन्ने फट गए हैं। अन्त के कुछ पन्ने गायब भी हो गये हैं। प्रत्येक पृष्ठ में २६ या २७ पंक्तियाँ है, और प्रत्येक पंक्ति में २० से २४ अक्षर हैं। इसका कुछ भाग तो सम्वत् १८४५ में देसणोक में और कुछ भाग सम्वत् १८९२ में दासोड़ी में रतन मन रूप के द्वारा लिखा गया था। इस वृहत् ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न ३९ फुटकर वार्ताओं का संग्रह है। इन्हीं वार्ताओं में तीसवीं वार्ता गोरा-बादल के संबन्ध में है। इस ग्रन्थ में टेसीटरी उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

गोरा बदाल री कथा—(पृष्ठ २८८ अ० से २९५ अ० तक) जटमल द्वारा लिखित चित्तौड़ की सुन्दरी पद्मिनी और उसके सम्बन्धी गोरा-बादल की पद्यबद्ध प्रसिद्ध कहानी। उसका प्रारम्भ इस प्रकार है :—

चरण कमल चीत लायक। स्मरु श्री सारदा। मुझ अष्यर दे माय। कहो सकथा चीत लायक ॥१॥ जम्बू दीप मंझार। भरतषंड षंडा सिरै। नगर भलो इ संसार। गढ़ चित्तौड़ है विषम अ़त ॥२॥ आदि

इसी खंड के ७३ वें पृष्ठ पर गोरा-बदल की कथा के सम्बन्ध में एक दूसरी प्रति मिलती है। यह प्रति हस्तलिखित ग्रन्थ नम्बर २२ 'फुटकर बातां रो संग्रह' म है। इस संग्रह में ४३६ पन्ने हैं, जिनका आकार ११$\frac{3}{4}$ × ९$\frac{1}{4}$ है। प्रत्येक पृष्ठ में ३० पंक्तियाँ हैं; और प्रत्येक ंक्ति में २४ से ३० अक्षर हैं। इस संग्रह में कई पन्ने कोरे हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह किसी दूसरे ग्रन्थ की प्रतिलिपि है, जिसके कुछ पृष्ठ या तो खो गए हैं या पढ़े नहीं जा सके। ड और ड़ में कोई अन्तर नहीं रखा गया। यह संग्रह महाराजा राजसिंह बीकानेर वालों ने संवत् १८२० में लिखाया था। इसी से १५ (१८४५ सम्वत्) १८, २०, २१ नंबर के संग्रहों की बहुत सी वार्ताएँ नकल की गई हैं। इसमें ५ वीं वार्ता में गोरा-बादल की कथा का विवरण इस प्रकार है :—

गोरै-बादल री कथा—(पृष्ठ ८७ अ० से ९३ अ० तक) यह लगभग

वही वार्ता है जो हस्तलिखित ग्रन्थ नंबर १५ में है; पर पाठान्तर बहुत है। उदाहरण के लिए इस प्रति का प्रारंभिक भाग देखिए :—

चरण कमल चित लाय के समरूं सरसति माय।
कहिस कथा बनाय के प्रणमू सद्गुरु पाय ॥१॥
जंबू दीप मझारि भरथखेत्र सोभित अधिक।
नगर भलो चित्रौड़ है ता परि दृढ़ दुरग।
रतनसेन राणो निपुण अमली माण अभंग ॥२॥ आदि

इस प्रति के अन्त में एक दोहा है, जो संग्रह नंबर १५ में नहीं है। इसमें कवि का नाम (जटमल) और कथा का लेखनकाल (संवत् १६८०) दिया गया है :—

सौलै सै असी थै समै फागुण पूनिम मास।
बीरारस सिणगाररस कहि जटमल सुपरकास [१] ४६ ॥

इस प्रकार गोरा-बादल की कथा की ये दोनी प्रतियाँ जो क्रमशः संवत् १८२० और १८४५ (अथवा १८६२) में लिखी गई थीं, पद्य ही में हैं। हाँ, दोनों के पाठ में भेद बहुत है। भाव तो अधिकतर वही हैं, पर उनका प्रकाशन उन्हीं शब्दों में होते हुए भी भिन्न है।

महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने "कवि जटमल-रचित गोरा-बादल की बात" शीर्षक एक लेख लिखा है।[1] आपने गोरा-बादल की कथा के विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत से उसका कथा-साम्य दिखलाया है। ओझा जी ने भी "गोरा-बादल की बात" नामक पुस्तक को पद्यात्मक ही बतलाया है। (पृष्ठ ३८७) आपको यह प्रति बीकानेर में पुरानी राजस्थानी एवं हिन्दी भाषा के परम प्रेमी ठाकुर रामसिंह जी एम० ए० और डूँगर कालेज के प्रोफेसर स्वामी नरोत्तमदास जी एम० ए० की कृपा से प्राप्त हुई। ओझा जी ने अंत में यह स्पष्ट रूप से लिखा है :—

"नागरी-प्रचारिणी सभा की हिन्दी-पुस्तकों की खोज-सम्बन्धी सन् १६०१ ईसवी की रिपोर्ट के पृ० ४५ में संख्या ४८ पर बंगाल-एशियाटिक सोसाइटी में जो जटमल-रचित 'गोरा-बादल की कथा' है, उसके विषय में लिखा है कि वह गद्य और पद्य में है; किन्तु स्वामी नरोत्तमदास जी द्वारा जो प्रति अवलोकन में आई वह पद्यमय है। इन दोनों प्रतियों का आशय एक होने पर भी रचना भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई है। रचनाकाल भी दोनों पुस्तकों का एक है और कर्त्ता भी दोनों पुस्तकों का एक है।"

१ नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, अंक ४

इससे ज्ञात होता है कि स्वामी नरोत्तमदास जी ने उपर्युक्त टेसीटरी द्वारा प्राप्त लिखित ग्रंथ नं० २२ के अन्तर्गत "गोरै-बादल री कथा" की प्रति ही ओझा जी बतलाई है; क्योंकि इसी प्रति में कथा का संवत् हमें मिलता है। संवत् १८४५ ग्रंथ नं० १५ में नहीं, फिर भी यह संदेह रह जाता है कि श्री नरोत्तमदास द्वारा दी हुई प्रति का नाम ओझा जी "गोरा-बादल की बात" देते हैं; पर हस्त-खित ग्रंथ नं० ३२ के अनुसार उस प्रति का नाम है "गोरै-बादल री कथा।"

इस पुस्तक के संपादक पं० अयोध्याप्रसाद शर्मा ने अपनी प्रस्तावना में तीन तलिखित प्रतियों का आधार लिया है। प्रथम प्रति, जिसको उन्होंने अधिक माणिक माना है, संवत् १७६३ की है, जो बड़ा उपासरा बीकानेर के पूज्य चारित्र्यसूरिजी महाराज के पास है। इसके अनुसार मूल ग्रंथ संवत् १६८५ में खा गया—

संवत् सोल पचासिये. पूनम फागुन मास। गोरा-बादल वर्ण्या, कहि जटमल सुप्रगास॥

शेष दो प्रतियाँ बीकानेर-पुस्तकालय में हैं, जिनमें एक का संवत् १८२० गया है। यह प्रति शायद टेसीटरी द्वारा प्राप्त उपर्युक्त हस्तलिखित ग्रंथ नं० हो, जिसका रचना-काल भी १८२० ही दिया गया है। इसके अन्त में वही है, जिसे इस पुस्तक के सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में दिया है।

इस प्रकार जटमल-रचित 'गोरा-बादल की कथा' के सम्बन्ध में हमारे सामने प्रतियाँ आती हैं :—

१. संवत् १७६३ वाली प्रति श्रीचारित्र्यसूरि जी महाराज के पास सुरक्षित इसके अनुसार ग्रंथ-रचना सं० १६८५ में हुई। ग्रंथ का नाम "गोरा-बादल कथा" है।

२. संवत् १८२० वाली प्रति—डा० एल० पी० टेसीटरी द्वारा संपादित की एशियाटिक सोसायटी की ओर से प्रकाशित चारणों और ऐतिहासिक ग्रंथों विवरण में संग्रहीत। इसके अनुसार ग्रंथ-रचना १६८० में हुई। ग्रंथ का नाम गोरै-बादल री कथा" है।

३. सम्वत् १८४५ वाली प्रति—डा० एल० पी० टेसीटरी द्वारा खोजी ई है। ग्रंथ-रचना की तिथि नही दी गई। इसके अनुसार ग्रंथ का नाम "गोरा बादल कथा" है।

४. स्वामी नरोत्तमदासजी द्वारा प्राप्त प्रति—इसके अनुसार ग्रंथ-रचना १६८०। ग्रंथ का नाम "गोरा बादल की बात" है।

५. बीकानेर-राज्य-पुस्तकालय वाली प्रति—ग्रंथ-रचना की तिथि नही दी इसके अनुसार ग्रंथ का नाम "गोरा-बादल की कथा है। ये पाँचों प्रतियाँ

पद्य में हैं। अब रह जाती है बात नागरी प्रचारिणी सभा की १६०१ की वार्षिक रिपोर्ट में बतलाई हुई 'गोरा-बादल की कथा' के सम्बन्ध में, जो गद्य और पद्य दोनों में है, और जिसका रचना-काल भी १६८० सम्वत् दिया हुआ है, और जिसे मिश्र-बन्धुओं ने अपने 'विनोद' में केवल गद्य में ही माना है। सम्भव है, जटमल ने गद्य में भी यह कथा लिखी हो, पर इसके प्रमाण में हमारे सामने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित प्रति के अतिरिक्त कोई भी दूसरी प्रति नहीं है। यह असम्भव तो नहीं है कि एक ही वर्ष में (सं० १६८०) में एक ही लेखक (जटमल) एक कथा को दो तरह से (गद्य और पद्य में) अलग-अलग कहे; पर यह कुछ स्वाभाविक—और उस समय के अनुकूल नहीं जान पड़ता कि उसी वर्ष पद्य में कथा लिखने के बाद कोई लेखक उसी बात को गद्य में दुहरावे। सम्भव है, किसी दूसरे व्यक्ति ने जटमल की पद्यबद्ध पुस्तक को गद्य का रूप दे दिया हो; और रचना-कालसूचक दोहे का भी गद्य में अनुवाद कर दिया हो। अनुवाद भी अक्षरशः हुआ है। इससे हमारे अनुमान की और भी पुष्टि होती है।[1]

यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक गद्य-रचनाएँ धर्म-प्रचार के लिए थीं और उत्तर-कालीन रचनाएँ ऐतिहासिक वृत्त अथवा किसी घटना-प्रसंग के सम्बन्ध में।

धार्मिक काल का ह्रास

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के लगभग धार्मिक काल की पवित्रता नष्ट होने लगी थी। उसमें शृंगार के अत्यधिक प्राधान्य ने वासना के बीज बो दिए थे। राधा और कृष्ण की विनय अब कवित्त और सवैयों में प्रकट होकर नायिका और नायक के भेदों की कौतूहल-वर्धक पहेलियाँ सुलझाने लगी थी। उसके कारण निम्न-लिखित थे :—

१. राजनीतिक सन्तोष—जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्यकाल ने प्रजा की सुखशान्ति की समृद्धि की। उसमें युद्ध-प्रियता की अपेक्षा कला-प्रियता की ओर शासकों का विशेष आकर्षण था। शाहजहाँ हिन्दुस्तान के बड़े वैभवशाली शासकों में था। उसका साम्राज्य विस्तार में अपने सभी पूर्वजों के साम्राज्य से बड़ा था और

---

१ पद्यरूप—सौलै सै असी थै समै फागुण पूनिम मास।
वीरा रस सिणगार रस कहि जटमल सुपरकास॥

गद्यरूप—ये कथा सोंल से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोंज बनाई। ये कथा में दो रस हे वीरारस हे सिणगार रस हे सो क्या।

इसमें तीस वर्ष तक अखंड शान्ति स्थापित रही । साम्राज्य की आमदनी पहले से अधिक थी और खजाना मालामाल था ।[1]

इस भाँति राजनीतिक वातावरण की शान्ति ने साहित्य में भी कला की सृष्टि की। मुसलमानी अत्याचार अब सीमित थे। हिन्दू हृदय भी मुसलमानी आतंक से स्वतन्त्र हो गए थे । मुसलमान भी अपने को इस देश का निवासी समझने लगे थे । अब हिन्दू इस्लाम से त्रस्त नहीं थे और वे संतोष की साँस लेकर विश्राम करने का अवसर चाह रहे थे । अब हिन्दू और मुसलमानों की रक्त से परितृप्त दो तलवारें देश के एक ही म्यान में रक्खी हुई थीं । इस अवकाश-काल में भक्ति की, अपेक्षा शृंगार की मतवाली भावना अपना विकास कर रही थी ।

२. राज्य-संरक्षण—राजनीतिक शान्ति के कारण कला की उन्नति तो हो ही रही थी, साथ ही साथ भिन्न-भिन्न राज्यवंश भी स्थापित हो चले थे। जहाँगीर की विलास-प्रियता ने शासन की शक्ति कम कर दी थी । "खजाने से तनख्वाह देने के बजाय जागीर देने की प्रथा बढ़ी ।"[2] फलतः अनेक जागीरदार हुए, जिन्होंने अपने वैभव की खूब वृद्धि की। कविगण संरक्षण पाने के लिए इन्हीं जागीरदारों और राजाओं की शरण में आने लगे। भक्ति-काल के प्रारम्भ में धर्म की जो मर्यादा संतों और कवियों के द्वारा सुरक्षित हो चुकी थी, उत्तर-काल में वह कवियों को सम्मान नहीं दे सकी, इसलिए वे अब अपना यश और सम्मान बढ़ाने के लिए राज-दरबारों का आश्रय खोजने लगे। राज-दरबार ने उन्हें शृंगारपूर्ण रचनाओं की सृष्टि के लिए बाध्य किया। अतः राजाओं और जागीरदारों के संरक्षण ने धार्मिक काल की पवित्रता को कलुषित कर दिया। मुगल दरबार ने भी हिन्दी-कविता को प्रोत्साहित किया। जहाँगीर ने तो बहुत से हिन्दी कवियों को पुरस्कृत भी किया।[3] ऐसी परिस्थिति में जब कवियों को राज्य-संरक्षण के साथ सब प्रकार का सुख और वैभव प्राप्त होने लगा तब उन्हें भक्ति की करुणापूर्ण अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। विलास-प्रियता में भक्ति नहीं होती। जब अत्याचार के बदले उन्हें पुरस्कार प्राप्त होने लगा तब भगवान् को पुकारने की आवश्यकता नहीं रह गई और कवियों की लेखनी या तो राजाओं के गुण-गान की ओर अथवा विलासिता की सामग्रियों और शृंगारपूर्ण परिस्थितियों के चित्रण की ओर चल पड़ी। राजाओं ने भी युद्ध के शस्त्रों को विश्राम देकर अपनी दृष्टि रंगमहल की ओर की । वे लोग

१ हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास (डा० ताराचन्द), पृष्ठ २६१, मेकमिलन ऐण्ड कम्पनी (१९३४)

२ हिन्दुस्तान के निवासियों का इतिहास—पृष्ठ २५९

३ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ४८० (डा० ईश्वरी प्रसाद)

दिन में ही वियोग और संयोग के स्वप्न देखने लगे। अपने भावों के उद्दीपन के लिए उन्होंने कवियों को नियुक्त किया। कवियों ने भी धन के लिए अपनी काव्य-कला को 'वासक सज्जा' की भाँति सँवारा और उसे अलंकारों से अलंकृत किया।

३. **कला का विकास**—राजनीतिक संतोष के साथ राज्य वैभवशाली हुआ और राज्य के वैभव ने कला को जन्म दिया। शाहजहाँ के गौरवपूर्ण शासन के स्वर्णकाल में कला बहुमुखी होकर विकसित हुई। यह कला केवल साहित्य ही में सीमित होकर नहीं रही वरन् चित्रकला और वास्तुकला में भी प्रकट हुई। जहाँगीर ने अकबर की ललित कला देखी थी और जहाँगीर के आदर्शों ने शाहजहाँ को प्रभावित किया था। जहाँगीर ने चित्रकारों को पुरस्कृत ही नहीं किया, वरन् चित्र-कला के अंगों का अध्ययन भी किया।[१] शाहजहाँ ने तो ताजमहल में कला की चरम सीमा उपस्थित की। समय के कपोल पर रक्खा हुआ वह उज्ज्वल अश्रु-विन्दु शाहजहाँ के कलापूर्ण हृदय की चित्रशाला है। सम्राट ने अपनी शृंगार-प्रियता और प्रणय-चिह्न के रूप में ताजमहल की साकार विभूति बाइस वर्षों में निर्मित की, जिसकी नींव विरह के आँसुओं से भरी गई थी। जब राजनीति में कला इतनी व्यापक हो रही थी तो साहित्य में उसका प्रादुर्भाव अनिवार्य था और इसी कला की व्यापकता ने हिन्दी-कविता का भक्तिमय दृष्टिकोण भी बदल दिया।

४. **कृष्णभक्ति का स्वरूप**—महाप्रभु वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने कृष्ण-पूजा का जो रूप निर्धारित किया था, वह अत्यन्त आकर्षक था। वात्सल्य और माधुर्य भाव की उपासना में श्रीकृष्ण के शृंगारिक पक्ष ही की प्रधानता थी। कृष्ण का सौन्दर्य, गोपियों का प्रेम, कृष्ण और गोपियों का विहार, ये विषय बड़ी कुशलता के साथ प्रतिपादित हुए। किन्तु इन सभी वर्णनों के प्रारम्भ में अलौकिक और आध्यात्मिक तत्व सन्निहित थे। शारीरिक आकर्षण के साथ आध्यात्मिक आकर्षण भी इंगित था, किन्तु यह रूप आगे चल कर स्थिर न रह सका। चैतन्य महाप्रभु ने माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना कर कृष्ण के दाम्पत्य प्रेम के चित्रण की सामग्री प्रस्तुत की। इस प्रेम के अलौकिक रहस्य की धारा अपने वास्तविक रूप में अधिक दूर तक प्रभावित न हो सकी। उसके आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण सभी भक्तों और कवियों से एक ही रूप में नहीं हो सका। प्रेम के क्षेत्र में प्रेम ही का पतन हुआ और उसमें सांसारिक और पार्थिव आकर्षण की दूषित गन्ध आ गई। फल यह हुआ कि श्रीकृष्ण सूरदास के 'प्रभु बाल सँघाती' न रह कर गोपियों द्वारा होली खेलने के लिए बार-बार निमंत्रित किए जाने वाले "लाला, फिर आइयो खेलन होरी" वाले श्री कृष्ण हो गए।

---

१ हिस्ट्री ऑव् मुस्लिम रूल, पृष्ठ ४८० (डॉ० ईश्वरी प्रसाद)

५. भाषा का परिमार्जन--कृष्ण-काव्य की ब्रजभाषा परिमार्जित होकर इतनी मँज चुकी थी कि प्रत्येक प्रकार के भावों का प्रकाशन सरल और अलंकारमय हो गया था। भक्तिकाल के पूर्ववर्ती कवियों ने भाषा में इतनी अधिक भाव-व्यंजना की थी कि भाषा उनके हाथ में 'करतल आमलक' के समान थी। इसी भाषा के परिष्करण ने कवियों को कला-चातुर्य-प्रदर्शन के लिए आकर्षित किया। कविगण इस लोभ का संवरण नहीं कर सके और उन्होंने भाव की अपेक्षा कला के सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान रखा। शब्दालंकार और अर्थालंकार लाने के लिए उन्हें यदि भावों की अवहेलना भी करनी पड़ी तो उन्होंने संकोच नहीं किया। उन्होंने शृंगार की भावना को उलट-पुलट कर भाषा के पाश में अपनी कविता को कस दिया। अब कविता जीवन की संदेश-वाहिनी न होकर केवल भाषासौन्दर्य की परिधि ही में केन्द्रीभूत हो गई। जीवन की स्वतन्त्र भावना प्रत्येक नायिका के साथ शब्दों की शृंखला से बाँध दी गई।

६. रीतिकाल की परम्परा—हिन्दी-कविता में रीतिकाल की परम्परा जयदेव के 'गीत गोविन्द' से होकर विद्यापति की कविता में आई थी। विद्यापति की पदावली में नायिका-भेद, नखशिख, ऋतु-वर्णन, दूती शिक्षा, अभिसार आदि बड़े आकर्षक ढंग में वर्णित है। कृष्ण-काव्य की यह धारा वास्तव में रीतिशास्त्र से पूर्ण है। पर भक्ति में भावना की अनुभूति इतनी तीव्र थी कि सूर और मीरां ने राधाकृष्ण के शृंगारमय गीत गाकर भी उन्हें मर्यादा-विहीन नहीं किया। भवितकाल की यही मर्यादा है कि विद्यापति की मधुर 'पदावली' सामने रहते हुए भी किसी कवि ने उसका अनुकरण नहीं किया और विद्यापति की रीतिकालीन शृंगार-भावना लगभग तीन सौ वर्षों तक निश्चेष्ट पड़ी रही। भवितकाल की भाव-तीव्रता में कमी आते ही रीतिशास्त्र अपने लौकिक शृंगार से सज्जित हो हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में स्वाभाविक रूप से आ गया।

इन सभी कारणों से भक्तिकाल की कविता का उच्च आदर्श सुरक्षित नहीं रह सका। मुगलकालीन वैभव और राजाओं की सुखसाधना ने उसे काव्य के ऊँचे गौरव से गिरा दिया।

—:o:—

सहायक ग्रन्थों की सूची

हिन्दी

१ अनुराग सागर (स्वामी युगलानन्द जी)

२ अमरसिंह बोध (स्वामी युगलानन्द जी)

३ अरब और भारत के संबन्ध (सैयद सुलेमान नदवी)

४ अष्टछाप (डा० धीरेन्द्र वर्मा)

५ आदि श्री गुरु ग्रन्थ साहब (भाई मोहन सिंह वैद्य)

६ उदयपुर राज्य का इतिहास (महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)

७ कबीर का रहस्यवाद (डा० रामकुमार वर्मा)

८ कबीर ग्रन्थावली (रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दर दास)

९ कबीर-गोरख-गुष्ट (हस्तलिपि, जोधपुर)

१० कबीर-चरित्र-बोध (स्वामी युगलानन्द)

११ कबीर वचनावली (पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय)

१२ कविप्रिया (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)

१३ कवित्त रत्नाकर (उमाशंकर शुक्ल)

१४ काव्य निर्णय (वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई)

१५ कोशोत्सव स्मारक संग्रह (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

१६ खोज रिपोर्ट (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)

१७ ग्रन्थ भवतारण (धर्मदास लिखित)

१८ गरीबदास जी की बानी (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)

१९ गुलाल साहब की बानी (बेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद)

२० गोरखबानी (डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग)

२१ गोरख सिद्धान्त संग्रह (राहुल सांकृत्यायन)

२२ गोस्वामी तुलसीदास (बाबू श्यामसुन्दर दास और डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)

२३ चरितावली (खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर)

२४ चित्रावली (जगन्मोहन वर्मा)

२५ चौरासी वैष्णवन की वार्ता (लक्ष्मी वेंकटेश्वर छापाखाना, मुंबई).

२६ जायसी ग्रंथावली (पं० रामचन्द्र शुक्ल)
२७ जैन साहित्य और इतिहास (नाथूराम 'प्रेमी')
२८ तुलसीदास (डा० माताप्रसाद गुप्त)
२९ तुलसीदास और उनकी कविता (पं० रामनरेश त्रिपाठी)
३० तुलसी ग्रंथावली (खंड १, २, ३, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
३१ तुलसी चर्चा (लक्ष्मी प्रेस, कासगंज)
३२ दरिया साहब की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३३ दरिया सागर (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३४ दरिया साहब के चुने हुए पद (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३५ दादू दयाल की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३६ दूलनदास जी की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३७ दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (गोकुलदास जी, डाकौर)
३८ धनी धरमदास जी की शब्दावली (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
३९ नया गुटका (शिवप्रसाद सितार-ए-हिन्द)
४० पुरातत्व निबन्धाली (राहुल सांकृत्यायन)
४१ बिहारी रत्नाकर (बाबू जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर)
४२ बुल्ला साहब का शब्द सागर (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
४३ बेलि क्रिसन रुक्मिनी री (डा० एल० पी० टेसीटरी)
४४ ब्रजमाधुरी सार (वियोगी हरि)
४५ भँवरगीत (विश्वम्भरनाथ मेहरोत्रा)
४६ भक्तमाल नाभादास (सीताराम शरण भगवान प्रसाद)
४७ भक्तमाल हरि भक्ति प्रकाशिका (पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र)
४८ भक्तमाला राम रसिकावली (महाराज रघुराज सिंह)
४९ भ्रमरगीत सार (रामचन्द्र शुक्ल)
५० भीखा साहब की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५१ भारतेन्दु नाटकावली (बाबू श्यामसुन्दर दास)
५२ मलूकदास की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५३ मिश्रबन्धु-विनोद (मिश्रबन्धु)
५४ मीराबाई का जीवन चरित्र (मुं० देवीप्रसाद)
५५ मीराबाई की शब्दावली (बेलवेडियर प्रयाग, प्रेस)
५६ मूल गोसाँई चरित्र (गीता प्रेस, गोरखपुर)
५७ यारी साहब की रत्नावली (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
५८ राजपूताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज (मुं० देवीप्रसाद)

५९ राजपूताने का इतिहास (पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा)
६० रामचन्द्रिका (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
६१ रामचरित मानस (खंग विलास प्रेस, बाँकीपुर)
६२ रामचरित मानस की भूमिका (रामदास गौड़)
६३ रासपंचाध्यायी और भँवरगीत (बालमकुन्द गुप्त)
६४ रैदास जी की बानी (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
६५ विद्यापति (जनार्दन मिश्र)
६६ विद्यापति ठाकुर (डा० उमेश मिश्र)
६७ शिवसिंह सरोज (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
६८ श्री कबीर साहब का जीवन-चरित्र (सरस्वती विलास प्रेस, नरसिंहपुर)
६९ श्रीनाथ जी की प्राकट्य-वार्ता (श्री गोवर्द्धनलाल जी महाराज, श्रीनाथ द्वारा)
७० श्री सद्गुरु गरीबदास की बानी (श्री अजरानन्द रमताराम)
७१ श्री महाराज सूरदास जी का जीवन-चरित्र (भारतजीवन प्रेस, काशी)
७२ श्री सूरदास जी का जीवनचरित्र (मुंशी देवीप्रसाद)
७३ श्री सूरदास जी का दृष्टिकूट सटीक (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)
७४ श्री सूरसागर (राधाकृष्ण दास—वेंकटेश्वर प्रेस, काशी)
७५ श्री हरिश्चन्द्र-कला (खंगविलास प्रेस, बाँकीपुर)
७६ श्री ज्ञानेश्वर चरित्र (गीताप्रेस, गोरखपुर)
७७ षोडश-रामायण (नुटबिहारीलाल, कलकत्ता)
७८ संक्षिप्त-सूरसागर (डा० बेनीप्रसाद)
७९ संत कबीर (डा० रामकुमार वर्मा)
८० संत तुकाराम (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)
८१ संतबानी-संग्रह (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)
८२ सुन्दर-ग्रंथावली (पुरोहित हरिनारायण शर्मा)
८३ सतसई-सप्तक (बाबू श्यामसुन्दर दास)
८४ सरब-गोटिका (हस्तलिखित प्रति)
८५ सावत्री धरम दोहा (डा० हीरालाल, कारमा बरार)
८६ सुकवि-सरोज (गौरीशकर द्विवेदी)
८७ हर्षनाथ-ग्रन्थावली (डा० अमरनाथ झा)
८८ हिन्दी-काव्य-धारा (राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद)
८९ हिन्दी-जैन साहित्य का इतिहास (नाथूराम 'प्रेमी')

९० हिन्दी नवरत्न (मिश्रबन्धु)
९१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल)
९२ हिन्दी साहित्य की भूमिका (हजारी प्रसाद द्विवेदी)
९३ हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिच्छेद (भास्कर रामचन्द्र भालेराव)
९४ हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता (डा० बेनीप्रसाद)

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ

१ कल्याण (श्री रामायणांक, श्री कृष्णांक, गोरखपुर)
२ गंगा (पुरातत्वांक, सुल्तानगंज, भागलपुर)
३ चाँद (मारवाड़ी अंक, इलाहाबाद)
४ जैन-हितैषी, (बंबई)
५ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी)
६ मनोरमा (इलाहाबाद)
७ माधुरी (लखनऊ)
८ राजस्थानी (कलकत्ता)
९ विश्वभारती (शान्ति-निकेतन)
१० सरस्वती (इलाहाबाद)
११ हिन्दी बंगवासी (कलकत्ता)
१२ हिन्दुस्तानी (इलाहाबाद)

अंगरेजी ग्रन्थ

१ अकबर नामा (वेकीज)
२ अपभ्रंश एकारांडंग टु मारकंडेय (जी० ए० ग्रियर्सन)
३ आइन-ए-अकबरी (एच० ब्लाकमैन)
४ आक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑव् इंडिया (व्ही० ए० स्मिथ)
५ ओरीजिन ऑव् दि टाउन ऑव् अजमेर
६ इंडियन इम्पायर (जी० बुलर)
७ इंडियन एंटिक्विटी (लैसन)
८ इंडियन क्रोनोलॉजी (पिले)
९ इनफ्लुएन्स ऑव् इस्लाम आन इंडियन कल्चर (डा० ताराचन्द),
१० इम्पीरीयल गजेटियर (आक्सफोर्ड)
११ ऋगवेद संहिता कमन्ट्री बाई सायनाचार्य (डा० मैक्समूलर)

१२ ए क्लासिकल डिक्शनरी ग्राव् हिन्दू माइथालोजी एण्ड रिलीजन (जॉन डान्सन)
१३ ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ग्राव् बार्डिक एवं हिस्टारिकल मैनुस्क्रिप्ट (डा० एल० पी० टैसिटरी)
१४ ए शार्ट हिस्टरी ग्राव् मुस्लिम रूल इन इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद)
१५ एन ग्राउटलाइन ग्राव् दि रिलीजस लिट्रेचर ग्राव् इंडिया (डा० जे० ए० फर्कुहार)
१६ एन ग्रोरियंटल बायोग्रेफिकल डिक्शनरी (टी० डबल्यू० बील)
१७ एनल्स एण्ड एंटिक्विटीज ग्राव् राजस्थान (विलियम क्रुक)
१८ एनसाइक्लोपीडिया ग्राव् रिलीजन एण्ड एथिक्स (जेम्स हेस्टिंग्स)
१९ एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (जे० ए० गारविन)
२० ग्रोरियंटल संस्कृति टैक्स्ट (जे० म्योर)
२१ कनवेन्शन ग्राव् रिलीजन इन इंडिया (१९०९)
२२ कबीर एण्ड दि कबीरपंथ (जे० एच० बेसकर)
२३ कबीर हिज बायोग्रेफी (श्री मोहन सिंह)
२४ कलकत्ता संस्कृत सिरीज (डा० प्रबोधचंद्र बागची)
२५ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर (ए० बी० कीथ)
२६ गोरखनाथ एंड मिडीवल हिन्दू मिस्टीसिज्म (डा० मोहनसिंह, लाहौर)
२७ डिटेल्ड रिपोर्ट ग्राव् ए टूग्रर इन सर्च ग्राव् संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स मेड इन काश्मीर एण्ड राजपूताना, सेन्ट्रल इंडिया (जी० बुलर)
२८ तबकात-इ-नासिरी (एच० जी० रेवर्टी)
२९ दि ग्राइडिया ग्राव् परसोनासिटी इन सूफिज्म (रेनाल्ड ए० निकल्सन)
३० दि टेन गुरूज एण्ड देयर टीचिंग्स (बाबू छज्जूसिंह)
३१ दि नाइंथ इंटरनेशनल काँग्रेस ग्राव् ग्रोरियंटलिस्ट्स (फुटनोट लंडन)
३२ दि निर्गुन स्कूल ग्राव् हिन्दी पोइट्री (डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)
३३ दि रामायन ग्राव् तुलसीदास (एफ० ए० ग्राउज)
३४ दि रामायन ग्राव् तुलसीदास (जे० एम० मेक्फी)
३५ दि लिस्ट ग्राव् मान्यूमेन्टल एन्टिक्विटीज एण्ड इन्सक्रिपशन्स इन नार्थ वेस्ट प्राविंसेज एण्ड ग्रवध
३६ दि सिक्ख रिलीजन (एम० ए० मेकालिफ)
३७ दि हिस्ट्री ग्राव् इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ग्रोन हिस्टोरियन्स—दि मोहमडन पीरियड (इलियट)

३८ न्यू हिस्ट्री ऑव् इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद)
३९ नोट्स आन तुलसीदास (ग्रियर्सन)
४० प्रोसीडिंग्स ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल
४१ बारडिक एण्ड लिट्रेरी सर्वे ऑव् राजपूताना (डा० टैसीटरी)
४२ ब्रह्मनिज्म एण्ड हिन्दूइज्म (सर मानियर विलियम्स)
४३ महाराना साँगा (हरिविलास सारदा)
४४ माडर्न वर्नाक्युलर लिट्रेचर आव् हिन्दुस्तान (ग्रियर्सन)
४५ मिडिवल इंडिया (डा० ईश्वरी प्रसाद)
४६ मिस्टीसिज्म इन महारष्ट्र (प्रो० रानाडे)
४७ मुन्तखबुल तवारीख—(जार्ज एम० ए० रैंकिंग और डब्ल्यू० एच० लो)
४८ मेटीरियल्स फार ए क्रिटिकल एडीशन ऑव् दि बेंगाली चर्यापदाज (डा० प्रबोधचन्द बागची)
४९ रिलीजन एण्ड फोकलोर इन नार्दर्न इंडिया (डब्ल्यू० क्रुक)
५० रीसेन्ट थीस्टिक डिसकशन्स (व्ही० एल० डेविडसन)
५१ लव इन हिन्दू लिट्रेचर (डा० विनयकुमार सरकार)
५२ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव् इंडिया [९ (१)](सर जार्ज ग्रियर्सन)
५३ ले आव् आल्हा (वि० वाहरफील्ड)
५४ वियना ओरियंटल जर्नल
५५ बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल
५६ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स (डा० आर० जे० भंडारकर)
५७ संस्कृत ड्रामा—(ए० बी० कीथ)
५८ सलेक्शन्स फ्राम हिन्दी लिट्रेचर (रायबहादुर लाला सीताराम)
५९ सेकरेड बुक आव् दि ईस्ट (डा० जैकोबी)
६० सेकेंड ट्रिनियल रिफोर्ट आव् दि सर्च फार हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स
६१ हिस्ट्री आव् दि राइज आव् दी मोहमडन पावर (जान ब्रिग)

अँगरेजी पत्र-पत्रिकाएँ

१ इंडियन एंटिक्विटी (बम्बई)
२ इंडियन लिंग्विसटिक्स (लाहौर)
३ जर्नल आव् दि बाम्बे ब्रांच आव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (बम्बई)

४ जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (लंदन)
५ जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बेंगाल (कलकत्ता)
६ जर्नल ऑव् दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी (पटना)

अन्य सहायक ग्रन्थ

१ अध्यात्म रामायण, ऐतरेय ब्राह्मण, छांदोग्य उपनिषद, नारद भक्ति सूत्र, महाभारत, वाल्मीकि रामायण, शतपथ ब्राह्मण, शिव संहिता, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भागवतगीता, षोडष ग्रंथ (वल्लभ) [संस्कृत]
२ श्रीज्ञानेश्वरी [मराठी]
३ दादू (श्री क्षितिमोहन सेन) [बंगला]
४ वृहद् काव्य दोहन (इच्छाराम सूर्यराम देसाई) [गुजराती]
५ सूरदास जी नूँ जीवन चरित्र [गुजराती]
६ आबे हयात (आजाद) [उर्दू]
७ उर्दू शयपारे (डा० महीउद्दीन कादरी) [उर्दू]
८ इस्तवार दला लितरात्यर ऐंदुई ए ऐन्दुस्तानी (गार्सां द तासीच) [फ्रेंच]
९ फुतुहल बुलदान बिलाजुरी
१० अहसनुत तकासीम फी मारफति अकालीम बुशारी
११ तुजुकबाबरी
१२ मिराज-उल-आशकीन

—:o:—

नामानुक्रमणिका

'आ'

'क'

'गौ'

'जा'

'जि'

'भ'

'भा'

'भृ'

'भ्र'

'म'

'मा'

'रि'

'री'

'वि'

'वी'

"श्रे"

"श्व"

'ष'

'स'

'हे'

'है'

'हो'

'क्ष'

———